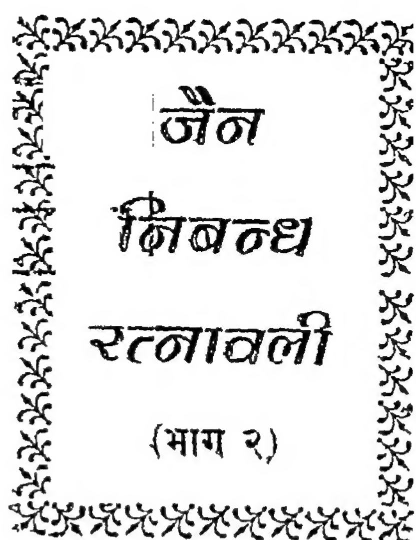
प्रकाशक :
प्रधानमंत्री, भा० दि० जैन संघ
चौरासी-मथुरा

प्रथम संस्करण (प्रति १०००)
जनवरी १९९०
मूल्य : ३० रुपये

मुद्रक :
दिनेश प्रिंटिंग प्रेस
६१ जगन्नाथपुरी, मथुरा


जैन
निबन्ध
रत्नावली
(भाग २)

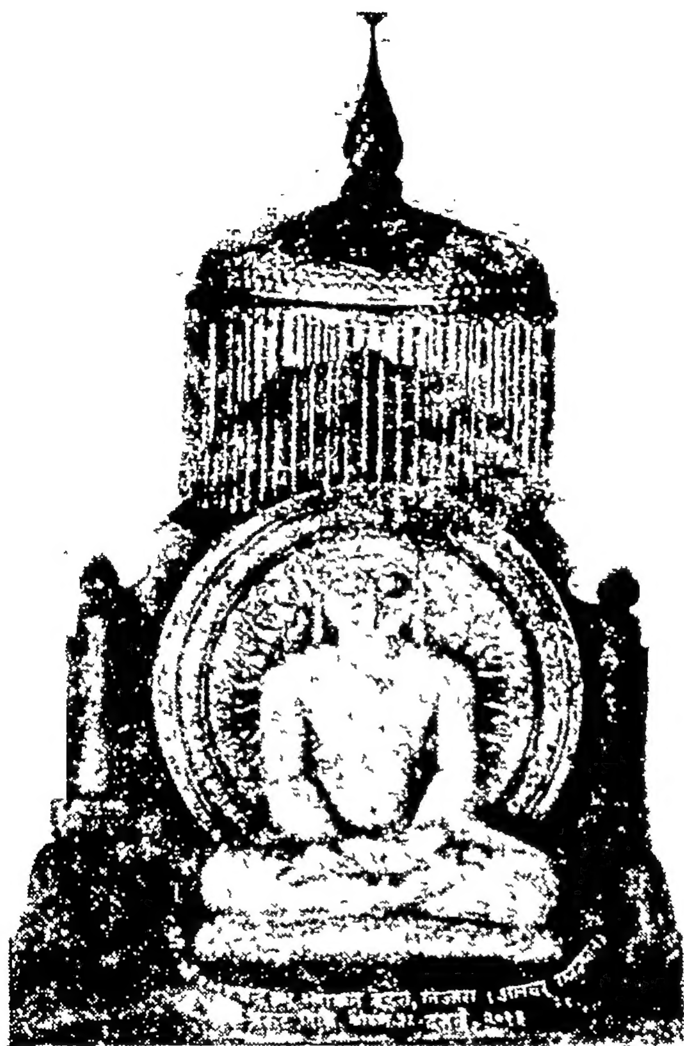
❀ साधुवाद ❀

जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् स्व० प० मिलाप चन्द्र जी कटारिया केकडी निवासी के विद्वत्ता पूर्ण लेख स्व० पं० कैलाश चन्द जी शास्त्री के सम्पादन मे जैन सन्देश को वर्षो पूर्व निरन्तर प्रकाशित करने का गौरव प्राप्त हुआ है कुछ लेख अन्यत्र भी छपे हैं उस समय इन लेखो की भारतीय विद्वत् स्तर पर काफी सराहना की गई, हमे हर्ष है कि वर्षो बाद इन निबन्धो को सग्रहीत करके स्व० मिलाप चन्द्र जी कटारिया के सुयोग्य सुपुत्र प० श्री रतनलाल जी कटारिया के सहयोग से इस जैन निबन्ध रत्नावली भाग २ को प्रकाशित करने का सौभाग्य भारतवर्षीय दिगम्बर जैन सघ चौरासी मथुरा को हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे निम्न महानुभावो और ट्रस्ट की ओर से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ तदर्थ हार्दिक साधुवाद।

५०००) स्व० पूज्य श्री मिश्रीलाल जी कटारिया केकड़ी की पुण्य स्मृति मे बाबू श्रीपाल जी कटारिया [फर्म किस्तूरमल जी मिश्रीलाल जी कटारिया केकड़ी]

५०००) सिंघई श्री टोडरमल कन्हैया लाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक ट्रस्ट कटनी [म० प्र०]

तारा चन्द प्रेमी
प्रधानमन्त्री



देहरा (तिजारा) मे भगवान चन्द्रप्रभु की
५०० वर्ष प्राचीन प्रतिमा

॥ श्री ॥

प्रदीपेनार्चयेदर्कं, उदकेन महोदधिं ।
वागीश्वरं तथा वाग्भि, मंगलेन च मंगलं ॥

● त्वदीयं वस्तु हे विज्ञ ! तुभ्य मेव समर्प्यंते ●

(अर्पित है गुणवंत, तुम्ही को वस्तु तुम्हारी)

समर्पण



विद्वद्रत्न, प्रतिभामूर्ति, पाण्डित्य विभूति, सरस्वती पुत्र,
प्रज्ञापुंज, शोधखोज पटु, प्रख्यात उद्भट सम्पादक,
शुद्ध प्रामाणिक कुशल लेखक, प्राच्य विद्या-
महोदधि, शताधिक निबन्ध प्रणेता, अनेक
भाषा निष्णात, मार्मिक समालोचक,
निष्पक्ष विचारक, इतिहास
मर्मज्ञ, अनेक ग्रन्थमाला
निर्देशक, पुरातत्वज्ञ,
गुणिजनानुरागी,
सज्जनोत्तम, प्राध्यापक, मान्यवर, दिवंगत-

श्रीमान् डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय

की पुनीत सेवा में
यह विद्वज्जनमनरंजनी ज्ञाननिधि महान् मौलिक कृति
सादर समर्पित

जन्म -
६ फरवरी सन् १९०६
सदलगा (बेलगाव)

स्वर्गवास
८ अक्टूबर सन् १९७५
कोल्हापुर (महाराष्ट्र)

प्रस्तुत 'रत्नावली' भाग २ मे विद्वान् लेखक के उन मौलिक निबन्धो का महान सग्रह है जिनसे जैन साहित्य, संस्कृति, इतिहास, सिद्धांत, धर्म और समाज के सम्बन्ध मे प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होता है



इस निबन्ध रत्नावली भाग २ के लेखक स्व० प० मिलापचन्द्र जी कटारिया केकडी (अजमेर-राजस्थान) निवासी हैं अपने व्यवसाय मे व्यस्त रहते हुए भी ज्ञानकी आराधना मे लग कर इन्होने इन रोचक शोध खोज पूर्ण निबन्धो का प्रणयन किया है. शास्त्रीय अध्ययन मे तुलनात्मक एव आलोचनात्मक पद्धति की प्रमुखता का दिग्दर्शन इनके प्रस्तुत निबन्धों मे प्राप्त होता है.

इनके निबन्ध जनसाधारण एव विद्वान् दोनो के लिए ज्ञातव्य सामग्री से परिपूर्ण रहते हैं



निबन्ध-सूची



संशोधन

नोट—पृष्ठ ६१ पर निबन्ध का नं० ४ दिया है वहाँ ५ होना चाहिये इसीतरह पृष्ठ८७ पर निबन्ध का नं० ६ दिया है वहाँ ७ होना चाहिये। पृष्ठ १०४ पर नं० ७ दिया है वहाँ ८ होना चाहिये, पृष्ठ ११८ पर ८ दिया है वहाँ ९ होना चाहिये, पृष्ठ १२६ पर ९ दिया है वहाँ १० होना चाहिये। सिर्फ निबन्धो के नं० मे गडबड है और कोई गडबड नही है। आगे क्रम नं० ठीक हो गया है जहाँ गडबड है कृपया वहाँ पहिले से ठीक कर लेवे।

भूमिका

"जैन निबन्ध रत्नावली" का यह द्वितीय भाग है इसका प्रथम भाग सन् १९६६ मे कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है।

इस ग्रन्थ (भाग २) के लेखक स्व० प० मिलापचन्द जी कटारिया केकडी (अजमेर) निवासी है ।

प्रथम भाग की तरह इस भाग मे भी दि० जैन धर्म के अनेक विषयो पर–ग्रन्थोपर–और ग्रन्थकारो पर शोध पूर्ण दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। ५० निबन्ध प्रथम भाग मे निबद्ध है और ५५ निबन्ध इस भाग मे निबद्ध हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से शोध पूर्ण निबन्धो के लिखने मे दिगम्बर जैन लेखको मे स्व० प० नाथूरामजी "प्रेमी", स्व० प० जुगलकिशोर जी मुख्तार, स्व० सूरजभानजी वकील, स्व० डॉ० ज्योति प्रसाद जी, स्व० डॉ० ए एन उपाध्याय, स्व० डॉ० हीरालालजी, स्व० प० परमानन्दजी शास्त्री आदि अनेक विद्वान इस युग मे हो चुके है। इन सबमे स्व० प० मिलापचन्दजी कटारिया का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

शोध की दिशायें दो धारा मे बहती हैं। प्रथम धारा मे लेखक अपने तर्क और विश्वास को प्रमुख रखकर उपलब्ध प्रमाणो का उपयोग करता है। इससे उसके विचारो का पोषण होता है साथ ही ऐतिहासिक तथ्यो का प्रकाशन भी होता है। इस पद्धति को स्वीकार करने वाले लेखक प्रमाणो के आधार पर तो लिखते हैं पर प्राय उन प्रमाणो का सग्रह करते है जो उनकी

श्रद्धा और विचार श्रेणी के पोषक हो। आगम के अनुकूल तत्वो के निर्णय पर उनकी दृष्टि नही रहती, बल्कि उसके विपरीत दृष्टिकोण भी अनेको का रहता है और वे इसे बडी उपलब्धि मानते हैं कि लेखक प्राचीन आचार्यो के विरुद्ध भी निरकुश होकर लिख सके हैं। इसे वे अपना पक्षपात रहित निर्णय मान लेते हैं और इसी के अनुरूप जनता मे अपना रूप निखारते है।

दूसरी धारा के विद्वान्–आगम के श्रद्धानी होते है उनका विश्वास है कि जिनागम वीतरागी सन्तो की वाणी है जो सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर महावीर भगवान के द्वारा प्रसूत है अत सत्य तो वही है। भले ही उसके अनुकूल तर्क या प्रमाणो को हम अपनी छद्मस्थता से एकत्र न कर सके हो उनकी शक्ति उन प्रमाणो के अन्वेषण मे लगती है, उसे विरुद्ध सिद्ध करने मे नही।

स्व० प० मिलाप चन्द जी कटारिया दूसरी धारा के निष्णात विद्वान् थे। आगम की प्ररूपणा को तर्क की कसौटी पर रखकर उसका यथार्थ रूप निखारते थे। यह भी अवश्य है कि उनकी दुधारू तलवार के सामने जिनागम के नाम से लिखे लेख व कपोल कल्पित विचार टुकडे-टुकडे हो जाते थे और जिनागम का यथार्थ रूप सामने आ जाता था।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे कटारिया जी के प्राय सही प्रमाणो व तर्कों का दर्शन होता है। यह स्वीकार करने योग्य है कि आज कुछ ऐसे ग्रथ भी भण्डारो मे पाये जाते है जो वास्तव मे न तो जिनागम हैं, न उनके लेखक जैनाचार्य हैं-जिनके नामो का उल्लेख उन ग्रन्थो मे ग्रथकर्त्ता के रूप मे लिखा गया है। इसका प्रमाण यह है कि उन आचार्यों के अन्य सुप्रसिद्ध ग्रथो से उनका विषय मेल नही खाता, किन्तु उन आचार्यों के ही नही अन्य

सुप्रसिद्ध वीतरागी सन्तो के ग्रन्थो मे प्रतिपादित विषयो से भी विरुद्ध पडते है।

यहाँ मैं उन ग्रथो की विस्तृत चर्चा नही करना चाहता कारण वह विषयान्तर हो जायेगा तथापि "त्रिवर्णाचार", "सर्वोदय तीर्थ" आदि इसी कोटि के अनेक ग्रन्थ हैं। द्वादशाग का मूल रूप पूर्ण अ-प्रकट है मात्र उनके आशिक ज्ञान के आधार पर ही आचार्यो ने षट्खडागम–कषायपाहुड–गोम्मटसार महा-पुराण–रत्नकरण्ड श्रावकाचार–त्रिलोकसार लब्धिसार आदि ग्रन्थो का निर्माण किया है। आचाराग आदि अग और उत्पाद पूर्वादि पूर्वों का सद्भाव नही है तो भी आज लघु विद्यानुवाद आदि नाम से कल्पित ग्रन्थ प्रकाश मे आ रहे है। जिनका विषय और प्रक्रिया स्पष्ट रूप से जैन धर्म के मूल सिद्धातो के प्रतिकूल है।

जैनाचार्यों के नाम से शासन देवता पूजा के ग्रन्थ ज्वालामालनी कल्प, भैरव-पद्मावती कल्प आदि प्रकाशित हैं जिनमे मात्र उनकी पूजा आदि ही जिनागम विरुद्ध नही, किन्तु पूजा पद्धति भी हिंसा पूर्ण अभक्ष, अग्राह्य पदार्थों से लिखी गई है जैन प्रतिष्ठा पाठो के नाम पर गोबर-पूजा–आरती का भी विधान लिखा गया है।

यह सब कपोल कल्पित है। अथवा जिनागम को भ्रष्ट करने का ही प्रयास उन लेखको द्वारा कल्पित जैनाचार्यों के नाम पर किया गया है।

स्व० प० मिलापचन्दजी कटारिया ने अपने अनेक शोध पूर्ण लेखो मे कतिपय विषयो का विश्लेषण करते हुये उनके

निराकरण पूर्वक जिनागम के रहस्य का उद्घाटन किया है।
धवल पुस्तक ६ मे आगम का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—
पेज २५१

जो पूर्वापर विरोधरहित, निर्दोष हो, पदार्थ प्रकाशक हो ऐसे आप्त वचन ही आगम है

पूर्वापर विरुद्धादेर्व्यपेतो दोष सहते. ।
द्योतकः सर्वभावना, आप्त व्याहृति रागम. ॥६१॥



ग्रन्थ का विषय परिचय

इस ग्रन्थ मे ५५ निबन्ध है ।

(१) कुछ मे ग्रन्थो और ग्रन्थकारो की प्रचलित मान्यता की शोध पूर्ण समीक्षा है ।

(२) कुछ मे इतिहास की दिसगत्तियो का तर्क पूर्ण खण्डन है ।

(३) कुछ लेख आचारो-विचारो मे जो जो विकृतिया आगई हैं उनपर तीखा प्रहार है ।

(४) अनेक लेख सिद्धातो की सतर्क प्रमाणता के निरूपक हैं ।

(५) कुछ सिद्धात प्ररूपक हैं ।

सब लेखो के शीर्षक निवन्ध-सूची से जाने जा सकते हैं अत पुनरावृत्ति न हो उनके नाम यहा न देकर केवल वर्गीकरण किया गया है तथापि कुछ लेख तो अवश्य अपनी विशेषता रखते हैं। जैसे

१-रात्रि भोजन त्याग (१) २-पचकल्याणक तिथिया और नक्षत्र (२) ३-अलब्धपर्याप्तक और निगोद (४) ४-ऐलक-चर्या (५) ५-"समाधिमरण के समय मुनि दीक्षा" (१८) आदि अनेक लेख सतर्क सप्रमाण लिखे गये है जिनसे अनेक गलत धारणाओ का परिमार्जन होता है ।

कुछ लेख विद्वानो के लिए विशेप विचारणोय है उनमे ३ लेख निम्न प्रकार हैं :-

(१) सिद्धाताध्ययन पर विचार (१०)
(२) उद्दिष्ट दोष मीमासा (५३)
(३) साधुओ की आहार चर्या का समय (५०)

ग्रन्थकार का परिचय

स्व० प० मिलापचन्द जी कटारिया का जन्म केकडी (अजमेर) मे वि स १९५८ मे हुआ था। ये किसी विद्यालय या विश्वविद्यालय के छात्र न थे। स्कूल मे स्वय उपलब्ध साधारण शिक्षा प्राप्त थे तथापि जन्म जात सस्कारो या पूर्वोपार्जित धार्मिक सस्कारो से उनकी आत्मा सस्कारित थी अतः स्वय के सत्प्रयत्न से उन्होने सस्कृत-प्राकृत भाषा का अध्ययन किया तथा जैनधर्म, जैन सिद्धात, जैन न्याय, जैन ज्योतिष और जैन प्रतिष्ठा विधि आदि विषयो की उल्लेखनीय जानकारी प्राप्त कर विद्वानो मे अग्रगण्य बने।

वे अपनी सन्तान को भी उसी प्रकार धार्मिक सस्कारो से सस्कारित करते रहे उनके सुपुत्र श्री प० रतनलाल जी कटारिया से और उनकी लेखनी से जैन जगत् परिचित है उनके भी लेख निबन्धावली के प्रथम भाग मे हैं। पिता पुत्र दोनो की विचार धारायें जैसे एक ही मस्तिष्क से प्रसूत हो ऐसा लगता है।

कटारिया जी खण्डेलवाल दि० जैन जाति के भूषण हैं इनके पिताजी श्रेष्ठिवर्य श्री नेमिचन्द जी कटारिया थे। माता श्री का नाम दाखा बाई जैन पहाडिया गोत्र की थी। श्री मिलाप चन्द जी की पत्नी का नाम फूलबाई है वे श्री जीवन लाल जी चांदवाड, बघेरा की सुपुत्री हैं। श्रीमती फूलबाई का स्वर्गवास आषाढ सुदी ९ स २०३७ को हो गया है।

स्व० प० मिलापचन्दजी के २ पुत्र हैं? १ श्री रतनलाल कटारिया २ पदमचन्द कटारिया २ पुत्री हैं १ श्रीमती सुशीला कुमारी (बम्बई) तथा २. श्रीमती चन्द्रकांता देवी (ब्यावर)

प० मिलापचन्द जी का स्वर्गवास वैशाख सुदी १० वि. स २०२८ बुधवार (५ मई १६७१) मे हो चुका है। आपके स्वर्गवास होने से एक श्रेष्ठ विद्वान् का अभाव हो गया। समाज के समस्त विद्वानो और समाज प्रमुख नेताओ ने "जैन संदेश" पत्र के विशेषाक मे जो ४ मई १६७२ को प्रकाशित हुआ था उसमे शोक सवेदना के समाचार श्रद्धाजलियां संस्मरणात्मक लेख प्रकट हुये थे यह प० जी के सम्बन्धमे एक सचित्र परिचयात्मक विशेषाक था।

प० जी चारो अनुयोगो के विद्वान् थे, विवादग्रस्त विषयो को सुलझाने की उनकी अपनी निराली पद्धति थी। सामने वाले व्यक्ति के हृदय पर वे अपनी अमिट छाप छोडते थे। देहली पचकल्याणक प्रतिष्ठा उनके आचार्यत्व मे हुई थी और वहाँ मुझे उनका गहरा परिचय हुआ था। वे विद्वान् तो थे ही सुप्रतिष्ठित प्रतिष्ठाचार्य भी थे अनेक स्थानो पर पचकल्याणक प्रतिष्ठाये कराईं साथ ही वेदी प्रतिष्ठा, कलशध्वजारोहण अनेक प्रकार के विधि विधान, जैन पद्धति से विवाह आदि भी बहु सख्या मे उनके द्वारा सम्पन्न हुये हैं।

"विद्याभूषण" की उपाधि समाज ने उन्हे २०२४ मे दी थी। वे शुद्ध आम्नायी मर्मज्ञ विद्वान् थे।

उनके कुछ अप्रकाशित लेख व ग्रथ हैं जो प्रकाशन योग्य हैं। प्रतिष्ठा शास्त्र पर उनके कुछ शोध पूर्ण लेख अभी भी अप्रकाशित है। समाज के धनी सज्जनो से अनुरोध है कि उनके द्वारा लिखित अमूल्य सामग्री को प्रकाशित कर उसे सामने लावें। उनके सुपुत्र श्री रतनलालजी कटारिया के पास वह सब सामग्री सुरक्षित है। श्री रतनलाल जी भी स्वय एक निष्णात

विद्वान् है जैन सदेश के वे यशस्वी सम्पादक व सुलेखक है पाठक उनकी लेखनी से सुपरिचित है।

यह निबन्धावली का दूसरा भाग–हम दि० जैन सघ मथुरा से प्रकाशित करने मे लेखक के दिवगत होने के १८ वर्षों के बाद सफल हो सके है। इसमे पडितजी के ५५ निबन्ध संगृहीत हैं।

इस प्रकाशन मे अपना योगदान देने वाली सस्था श्री दिगम्बर जैन संघ मथुरा के तथा आर्थिक सहयोग देने वाले सज्जनो के आभारी हैं जिनकी नामावली अन्यत्र प्रकाशित है।

जगमोहन लाल शास्त्री
कुण्डलपुर (दमोह) म० प्र०

मायामयौषध शास्त्र, शास्त्र पुण्य निबधनम्।
चक्षु सर्वगत शास्त्र, शास्त्र सर्वार्थ साधकम्॥
स्वाध्यायाद्ध्यान मध्यास्ते, ध्यानात्स्वाध्याय मातनोत्।
ध्यान स्वाध्याय सपत्या, परमात्मा प्रकाशते॥
जिणवयण मोसह मिण, विसयसुह विरेयण आमिद भूत।
जरमरण वाहिहरण, खयकरण सव्वदुक्खाण॥



१

रात्रि-भोजन त्याग



ऐसा कौन प्राणी है जो भोजन विना जीवित रह सके। जब तक शरीर है उसकी स्थिति के लिए भोजन भी साथ है। और तो क्या वीतरागी निस्पृटप्ही साधुओ को भी शरीर कायम रखने के लिए भोजन की आवश्यकता पडती ही है, तो भी जिस प्रकार विवेकवानो के अन्य कार्य विचार के साथ सम्पादन किये जाते हैं उस तरह भोजन मे भी योग्यायोग्य का ख्याल रक्खा जाता है। कौन भोजन शुद्ध है, कौन अशुद्ध है, किस समय खाना, किस समय नही खाना आदि विचार ज्ञानवानो के अतिरिक्त अन्य मूढ जन के क्या हो सकते हैं। कहा है—"ज्ञानेन हीना पशुभि समाना" वास्तव मे जो मनुष्य खाने-पीने मौज उडाने मे ही अपने जीवन की इतिश्री समझे हुए हैं उन्हे तो उपदेश ही क्या दिया जा सकता है किन्तु नरभव को पाकर जो हेयोपादेय का ख्याल रखते है और अपनी आत्मा को इस लोक से भी बढकर परजन्म मे सुख पहुँचाने की जिनकी पवित्र भावना है उनके लिए ही सब प्रकार का आदेश उपदेश दिया जाता है। तथा ऐसो ही के लिए आगमो की रचना कार्यकारी है।

आगम मे श्रावको के आठ मूलगुण कहे है, जिनमे रात्रि भोजन त्याग भी एक मूलगुण है जैसा कि निम्न श्लोक से प्रगट है—

> आप्तपंचनुतिर्जीवदया सलिलगालनम्।
> त्रिमद्यादि निशाहारोदुंबराणां च वर्जनम्॥
>
> — धर्मसंग्रह श्रावकाचार

इसमे देव वन्दना, जीवदया पालन, जल छानकर पीना, मद्य, मास, मधु का त्याग, रात्रि-भोजन त्याग और पचोदवर फल त्याग, ये आठ मूलगुण वताये है। जव रात्रि भोजन त्याग श्रावको के उन कर्तव्यो मे है जिन्हे मूल (खास) गुण कहा गया है तव यदि कोई इसका पालन नही करता तो उसे श्रावक कोटि मे गिना जाना क्यो कर उचित कहा जायगा ? यदि कोई कहे कि रात्रिभुक्ति त्याग तो छठवी प्रतिमा मे है इसका समाधान यह है कि—छठवी प्रतिमा को कई ग्रन्थकारो ने तो दिवामैथुन त्याग नाम से कही है। हाँ ! कुछ ने रात्रिभुक्ति त्याग नाम से भी वर्णन की है, जिसका मतलब यही हो सकता है कि इसके पहिले रात्रि भोजन त्याग मे कुछ अतीचार लगते थे सो इस छठवी प्रतिमा मे पूर्ण रूप से निरतिचार त्याग हो जाता है। यदि ऐसा न माना जावे तो रात्रि भोजन त्याग को मूलगुणो मे क्यो कथन किया गया वलिक वसुनन्दि श्रावकाचार मे तो यहाँ तक कहा है कि—रात्रि भोजन करने वाला ग्यारह प्रतिमाओ मे से पहिली प्रतिमा का धारी भी नही हो सकता। यथा—

एयादसेसु पढग विजदो णिसिभोयणं कुण तस्स।
ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्त परिहरे णियमा ॥ ३१४ ॥
— वसुनन्दि श्रावकाचार

छपी हरिवश पुराण हिन्दी टीका के पृष्ठ ५२६ मे कहा है कि—

"मद्य, मास, मधु, जूआ, वेश्या, परस्त्री, रात्रि भोजन, कन्दमूल इनका तो सर्वथा ही त्याग करना चाहिए। ये भोगोपभोग परिमाण मे नही है।" मतलव कि हरएक श्रावक को चाहे वह किसी श्रेणी का हो रात्रि भोजन का त्याग अत्यन्त

आवश्यक है। यहाँ भोजन से मतलव लड्डू आदि खाद्य; इलायची, ताबूल आदि स्वाद्य, रबडी आदि लेह्य, पानी आदि पेय इन चारो प्रकार के आहारो से है। रात्रि के समय उक्त चार प्रकार के आहार के त्याग को रात्रि भोजन त्याग कहते हैं। शास्त्रकारो ने तो यहाँ तक जोर दिया है कि सूर्योदय और सूर्यास्त से दो घडी पूर्व भोजन करना भी रात्रि भोजन में शुमार किया गया है। यथा—

वासरस्य मुखे चांते विमुच्य घटिकाद्वयम् ।
योऽशनं सम्यगाधत्ते तस्यानस्तमितव्रतम् ॥

प्रथमानुयोग की कथनी पद्मपुराण मे कथन है—जिस समय लक्ष्मण जी जाने लगे तो उनकी नव विवाहिता वधू वनमाला ने कहा कि—"हे प्राणनाथ ! मुझ अकेली को छोड कर जो आप जाने का विचार करते हो तो मुझ विरहिणी का क्या हाल होगा ?" तब लक्ष्मण जी क्या उत्तर देते है सुनिये—

स्ववधूं लक्ष्मणः प्राह मुंच मां वनमालिके ।
कार्ये त्वां लातुमेष्यामि देवादिशपथोऽस्तु मे ॥ २८ ॥
पुनरूचे तयेतोशः कथमप्यप्रतीतया ।
ब्रूहि चेन्नैमि लिप्येऽहं रात्रिभुक्तेरघैस्तदा ॥ २९ ॥
— धर्मसंग्रह श्रावकाचार

भावार्थ—हे वनमाले ! मुझे जाने दो, अभीष्ट कार्य के हो जाने पर मैं तुम्हे लेने के लिए अवश्य आऊँगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अगर मैं अपने वचनों को पूरा न करूँ तो जो दोष हिसादि के करने से लगता है उसी दोप का मैं भागी होऊँ।

सुनकर वनमाला लक्ष्मण जी से बोली—मुझे आपके आने में फिर भी कुछ सन्देह है इसलिए आप यह प्रतिज्ञा करें कि—"यदि मैं न आऊँ तो रात्रि भोजन के पाप का भोगने वाला होऊँ ।"

देखा पाठक ! रात्रि भोजन का पाप कितना भयकर है। प्रीतकर के पूर्व भव के स्याल के जीव ने मुनीश्वर के उपदेश से रात्रि मे जल पीने का त्याग किया था जिसके प्रताप से वह महा पुन्यवान् समृद्धिशाली प्रीतकर हुआ था। वास्तव मे बात सोलह आना ठीक है कि रात्रि भोजन अनेक दोषो का घर है। जो पुरुप रात्रि को भोजन करता है वह समस्त प्रकार की धर्म क्रिया से हीन है, उसमे और पशु मे सिवाय सीग के कोई भेद नही है। जिस रात्रि मे सूक्ष्म कीट आदि का सचार रहता है मुनि लोग चलते-फिरते नही, भक्ष्याभक्ष्य का भेद मालूम नही होता, आहार पर आये हुए बारीक जीव दीखते नही ऐसी रात्रि मे दयालु श्रावको को कदापि भोजन नही करना चाहिये। जगह-जगह जैन ग्रन्थो मे स्पष्ट निषेध होते भी आज हमारे कई जैनी भाई रात्रि मे खूब माल उडाते हैं। कई प्रान्तो के जैनियो ने तो ऐसा नियम बना रक्खा है कि रात्रि मे अन्न की चीज न खानी—शेप पेडा, बरफी आदि खाने मे कोई हर्ज ही नही समझते। न मालूम ऐसा नियम इन लोगो ने किस शास्त्र के आधार पर बनाया है। खेद है जिन कलाकन्द, बरफी आदि पदार्थो मे मिठाई के प्रसग से अधिक जीव घात होना सम्भव है उन्हे ही उदरस्थ करने की इन भोले आदमियो ने प्रवृत्ति कर अपनी अज्ञानता और जिह्वा लपटता का खूब परिचय दिया है। श्री सकल- कीर्ति जी ने श्रावकाचार मे साफ कहा है कि—

भक्षितं येन रात्रौ च स्वाद्यं तेनाप्यमंजसा।
यतोऽन्नस्वाद्ययोर्भेदो न स्याद्वाप्राविद्योगतः॥ ८३॥

अर्थ—जो रात्रि मे अन्न के पदार्थों को छोडकर पेडा, वरफी आदि खाद्य पदार्थों को खाते है वे भी पापी हैं क्योंकि अन्न और स्वाद्य पदार्थों मे कोई भेद नही है। तथा और भी कहा है कि—

दशकीटपतगादि सूक्ष्मजीवा अनेकधा।
स्थालमध्ये पतन्त्येव रात्रिभोजनसगिनाम्॥ ७८॥

दीपकेन बिना स्थूला दृश्यन्ते नांगिनः क्वचित्।
तदुद्योतवशादन्ये प्रागच्छन्तीव भाजने॥ ७९॥

पाकभाजनमध्ये तु पतन्त्यैवांगिनो ध्रुवम्।
अन्नादिपचनाद्रात्रौ म्रियन्तेऽनंतराशयः॥ ८०॥

इत्येव दोषसयुक्तं त्याज्यं संभोजनं निशि।
विषान्नमिव नि.शेष पापभीतैर्नरैः सदा॥ ८१॥

भक्षणीय भवेन्नैव पत्रपूगीफलादिकम्।
कीटाढ्य सर्वथा वक्षैर्भूरिपापप्रदं निशि॥ ८४॥

न ग्राह्य प्रोवक धीरैर्विभावर्यां कदाचन।
तृट्शांतये स्वधर्माय सूक्ष्मजन्तुसमाकुलम्॥ ८५॥

चतुर्विध सदाहार ये त्यजन्ति बुधा निशि।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासस्य जायते॥ ८६॥

अर्थ—रात्रि मे भोजन करने वालों की थालियो मे डाँस, मच्छर, पतगे आदि छोटे-छोटे जीव आ पडते है। यदि दीपक न जलाया जाय तो स्थूल जीव भी दिखाई नही पड़ते और यदि दीपक जला लिया जाय तो उसके प्रकाश से और

अनेक जीव आ जाते हैं। भोजन पकते समय भी उस अन्न की वायु गध चारो ओर फैलती है अत उसके कारण उन पात्रो में जीव आ आकर पडते हैं। पापो से डरने वालो को ऊपर लिखित अनेक दोषो से भरे हुए रात्रि भोजन को विप-मिले अन्न के समान सदा के लिए अवश्य त्याग कर देना चाहिए। चतुर पुरुषो को रात्रि मे सुपारी, जावित्री, ताबूल आदि भी नही खाने चाहिये क्योकि इनमे अनेक कीडो की सम्भावना है अत इनका खाना भी पापोत्पादक है। धीर-वीरो को दया धर्म पालनार्थ प्यास लगने पर भी अनेक सूक्ष्म जीवो से भरे जल को भी रात्रि मे कदापि न पीना चाहिये। इस प्रकार रात्रि मे चारो प्रकार के आहार को छोडने वालो के प्रत्येक मास मे पन्द्रह दिन उपवास करने का फल प्राप्त होता है।

रात्रि भोजन के दोष के वर्णन मे जैन धर्म के ग्रन्थो के ग्रन्थ भरे पडे हैं। यदि उन सवको यहाँ उद्धृत किया जावे तो एक वहुत बड़ा ग्रन्थ हो सकता है। अत हम भी इतने से ही विश्राम लेते है।

रात्रि भोजन खाली धार्मिक विषय ही नही है किन्तु यह शरीर शास्त्र से भी वहुत अधिक सम्बन्ध रखता है। प्राय रात्रि भोजन से आरोग्यता की हानि होने की भी काफी सम्भावना हो सकती है। जैसे कहा है कि—

मक्षिका वमनाय स्यात्स्वरभंगाय मूर्द्धज ।
यूका जलोदरे विष्टिः कुष्टाय गृहकोकिली ॥ २३ ॥

— **धर्मसंग्रह श्रावकाचार (मेधावीकृत)**

अर्थ—रात्रि में भोजन करते समय अगर मक्षिका खाने मे आ जाय तो वमन होती है, केश खाने मे आ जाय तो स्वर-

भग, जूँवा खाने मे आ जाय तो जलोदर और छिपकली खाने मे आजाय तो कोढ उत्पन्न होता है। इसके अलावा सूर्यास्त के पहिले किया हुआ भोजन जठराग्नि की ज्वाला पर चढ जाता है—पच जाता है इसलिए निद्रा पर उसका असर नही होता है। मगर इससे विपरीत करने से रात को खाकर थोडी ही देर मे सो जाने से चलना फिरना नही होता अत पेट मे तत्काल का भरा हुआ अन्न कई वार गम्भीर रोग उत्पन्न कर देता है। डाक्टरी नियम है कि भोजन करने के वाद थोडा-थोडा जल पीना चाहिए यह नियम रात्रि मे भोजन करने से नही पाला जा सकता है क्योकि इसके लिए अवकाश ही नही मिलता है। इसका परिणाम अजीर्ण होता है। हर एक जानता है कि अजीर्ण सब रोगो का घर होता है। "अजीर्ण प्रसवा रोगा" इस प्रकार हिंसा की वात को छोड़कर आरोग्य का विचार करने पर भी सिद्ध होता है कि रात्रि मे भोजन करना अनुचित है।

इस तरह क्या धर्मशास्त्र और क्या आरोग्य शास्त्र सब ही तरह से रात्रि भोजन करना अत्यन्त बुरा है। यही कारण है जो इसका जगह-जगह निषेध जैन धर्म शास्त्रो मे किया गया है जिनका कुछ दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। अव हिंदू ग्रन्थो के भी कुछ उद्धरण रात्रि भोजन के निषेध मे नीचे लिखकर लेख समाप्त किया जाता है क्योकि लेख कुछ अधिक वढ गया है।

अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससम प्रोक्त मार्कंडेयमहर्षिणा ॥

— **मार्कंडेयपुराण**

अर्थ—सूर्य के अस्त होने के पीछे जल रुधिर के समान और अन्न मास के समान कहा है यह वचन मार्कंडेय ऋपिका है।

महाभारत मे कहा है कि—

मद्यमांसाशन रात्रौ भोजन कंदभक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषा तीर्थयात्रा जपस्तप.: ॥ १ ॥
चत्वारिनरकद्वारं प्रथमं रात्रि भोजनम्।
परस्त्रीगमनं चैव संधानानतकायकम् ॥ २ ॥
ये रात्री सर्वदाहार वर्जयन्ति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते ॥ ३ ॥
नोदकमपि पातव्य रात्रावत्र युधिष्ठिर!
तपस्विनां विशेषेण गृहिणां ज्ञानसंपदाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—चार कार्य नरक के द्वार रूप है। प्रथम रात्रि मे भोजन करना, दूसरा परस्त्री गमन, तीसरा सधाना (अचार) खाना और चौथा अनन्तकाय कन्द मूल का भक्षण करना। ॥ २ ॥ जो वुद्धिवान एक महीने तक निरन्तर रात्रि भोजन का त्याग करते हैं उनको एक पक्ष के उपवास का फल होता है ॥ ३ ॥ इसलिए हे युधिष्ठिर! ज्ञानी गृहस्थ को और विशेष-कर तपस्वी को रात्रि मे पानी भी नही पीना चाहिए ॥ ४ ॥ जो पुरुष मद्य पीते है, मास खाते है, रात्रि मे भोजन करते हैं और कन्दमूल खाते हैं उनकी तीर्थयात्रा, जप, तप सव वृथा है ॥ १ ॥ और भी कहा है कि—

दिवसस्याष्टमे भागे मंदीभूते दिवाकरे।
एतन्नक्तं विजानीयान्न नक्तं निशिभोजनम् ॥

मुहूर्तोनं दिनं नक्तं प्रवदंति मनीषिणः।
नक्षत्रदर्शनान्नक्तं नाहं मन्ये गणाधिप ॥

भावार्थ—दिन के आठवे भाग को जब कि दिवाकर मन्द हो जाता है (रात होने के दो घडी पहले के समय को) "नक्त" कहते है। नक्त व्रत का अर्थ रात्रि भोजन नही है। हे गणाधिप! बुद्धिमान् लोग उस समय को "नक्त" वताते है जिस समय एक मुहूर्त (दो घडी) दिन अवशेष रह जाता है। मैं नक्षत्र दर्शन के समय को "नक्त" नही मानता हूँ। और भी कहा है कि—

अंभोवपटलच्छन्ने नाश्नन्ति रविमण्डले।
अस्तंगते तु भुंजाना अहो भानो' सुसेवकाः॥
मृते स्वजनमात्रेऽपि सूतक जायते किल।
अस्तंगते दिवानाथे भोजनं क्रियते कथम्॥

अर्थ—यह कैसा आश्चर्य है कि सूर्य भक्त जव सूर्य मेघो से ढक जाता है तव तो वे भोजन का त्याग कर देते है। परन्तु वही सूर्य जव अस्त दशा को प्राप्त होता है तव वे भोजन करते है। स्वजन मात्र के मर जाने पर भी जव लोग सूतक पालते है यानी उस दशा मे अनाहारी रहते हैं तव दिवानाथ सूर्य के अस्त होने के वाद तो भोजन किया ही कैसे जा सकता है? तथा कहा है कि—

नैवाहुति र्न च स्नानं न श्राद्ध देवतार्चनम्।
दानं वा विहितं रात्रौ भोजनं तु विशेषतः॥

अर्थ—आहुति, स्नान, श्राद्ध, देवपूजन, दान और खास करके भोजन रात्रि मे नही करना चाहिए।

कूर्मपुराण मे भी लिखा है कि—

न द्रुह्येत् सर्वभूतानि निर्द्वन्द्वो निर्भयो भवेत् ।
न नक्तं चैव भक्षीयाद् रात्रौ ध्यानपरो भवेत् ॥

— २७ वां अध्याय ६४५ वां पृष्ठ

अर्थ—मनुष्य सब प्राणियो पर द्रोह रहित रहे। निर्द्वंद्व और निर्भय रहे तथा रात को भोजन न करे और ध्यान मे तत्पर रहे। और भी ६५३ वे पृष्ठ पर लिखा है कि—

"आदित्ये दर्शयित्वान्नं भुंजीत प्राङमुखे नर. ।"

भावार्थ—सूर्य हो उस समय तक दिन मे गुरु या वडे को दिखाकर पूर्व दिशा मे मुख करके भोजन करना चाहिये।

इस विषय मे आयुर्वेद का मुद्रा लेख भी यही है कि—

हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चंडरोचिरपायत. ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्मजीवादनादपि ॥

भावार्थ—सूर्य छिप जाने के वाद हृदय कमल और नाभिकमल दोनो सकुचित हो जाते हैं और सक्ष्म जीवो का भी भोजन के साथ भक्षण हो जाता है इसलिये रात मे भोजन न करना चाहिये।

रात्रि भोजन का त्याग करना कुछ भी कठिन नही है। जो महानुभाव यह जानते हैं कि—"जीवन के लिए भोजन है भोजन के लिए जीवन नही" वे रात्रि भोजन को नहिं करते है।

२

पंचकल्याणक तिथियाँ और नक्षत्र



तीर्थंकरो की पच कल्याणक तिथियाँ लम्बे अरसे से गडबड मे चली आ रही हैं। इन तिथियो की उपलब्धि के खास स्थान पूजा पाठ के ग्रन्थ है। किन्तु सस्कृत मे लिखी चौवीस तीर्थंकरो की पूजायें तो प्रचलित है नही, हिन्दी पद्यो मे रची भाषा पूजाओ का ही इस समय अधिक प्रचार है। इन भाषा-पूजाओ मे उल्लिखित कई पच कल्याणक तिथिये आपस मे एक दूसरे से मिलती नही है। यह तो निश्चित है कि भाषा पूजाओ मे दी हुई तिथियो के आधार कोई प्राचीन सस्कृत प्राकृत के ग्रन्थ रहे है। इसलिए हम भी प्रकृतविषय मे भाषा-पूजाओ को एक तरफ रखकर इस सम्बन्ध के अन्य प्राचीन सस्कृत प्राकृत के ग्रन्थो पर विचार करना उचित समझते हैं।

हमारी जानकारी मे इन तिथियो के प्राचीन उल्लेख त्रिलोक प्रज्ञप्ति, हरिवश पुराण और उत्तर पुराण इन तीन ग्रन्थो मे मिलते हैं। किन्तु तीनो ही ग्रन्थो की कई तिथिये भी आपस मे मिलती नही हैं। इनमे से त्रिलोक प्रज्ञप्ति और हरि-वश पुराण मे सिर्फ चार हीकल्याणको की तिथियाँ दी है, गर्भ-कल्याणक की तिथियो का कोई उल्लेख ही नही है। न जाने इसका क्या कारण है ? पर हरिवश पुराण मे ऐसा भी है कि—उसके ६० वे पर्व मे जहाँ कि तीर्थंकरो के अनेक ज्ञातव्य विषयो का विवरण दिया है वहाँ तो गर्भ कल्याणक की तिथियो का कतई कथन नही है। किन्तु इसी ग्रथ मे जहाँ ऋषभदेव, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ और महावीर इन चार तीर्थं-

करो का चरित्र लिखा है वहाँ इनकी गर्भ की तिथियें भी लिख दी है। इससे ऐसा जान पडता है कि ६० वे पर्व का यह कथन जिनसेन ने शायद किसी अन्य ग्रथ से अर्थ रूप से ज्यो का त्यो उद्धृत किया है। इसलिए उसमे गर्भकल्याणक की तिथिये न होने से इसमे भी नही है। इस सम्भावना की पुष्टि इससे भी होती है कि इस ही हरिवश पुराण पर्व १६ मे भगवान् मुनिसुव्रत की कल्याणक तिथियो से नही मिलती है। यथा—

पर्व ६० मे—

दीक्षातिथि–वैशाखसुद ९ (श्लोक-२२६)
ज्ञानतिथि–फागुणबुद ६ (श्लोक-२५७)
मोक्षतिथि–फागुणबुद १२ (श्लोक-२६७)
जन्मतिथि–आसोजसुद १२ (श्लोक-१७८)

पर्व १६ में—

काती सुद ७ (श्लोक-१२)
मगसर सुद ५ (श्लोक-६४)
माघ सुद १३ (श्लोक-७६)
माघ बुद १२ (श्लोक-१२)

इस प्रकार एक ही ग्रथकार के एक ही ग्रंथ मे मुनिसुव्रत के कल्याणको की भिन्न-भिन्न तिथियो का कथन होना विद्वानो के सोचने की चीज है।

हरिवश पुराण के ६० वे पर्व मे जिस प्रकार तीर्थंकरो के अनेक ज्ञातव्य विषयो का विवरण दिया है। उसी प्रकार पद्मपुराण पर्व २२ मे भी दिया है। किन्तु पद्मपुराण मे

वहाँ किसी भी तीर्थंकर की कल्याणक तिथियो का कोई उल्लेख नही है । सिर्फ नक्षत्र दिये है ।

अव हमको यह देखना है कि—कल्याणको की जो तिथिये उक्त तीनो ग्रन्थो मे भिन्न-भिन्न रूप से पायी जाती हैं उनमे से कौन तिथि प्रमाण यानी सही मानी जावे और कौन नही। इसके लिए और नही तो भी यह तो अवश्य विचारणीय है कि उस तिथि के साथ जो नक्षत्र लिखा है वह उस तिथि से मेल खाता है या नही। अगर मेल नही खाता है तो अवश्य ही या तो वह तिथि गलत है या वह नक्षत्र गलत है। इसमे कोई सन्देह नही। क्योकि ज्योतिप शास्त्र का यह नियम है कि हर मास की पूर्णिमा या उसके अगले पिछले दिन मे उस मास का नाम वाला नक्षत्र जरूर आता है। जैसे चैत्र मास की पूर्णिमा या उसके अगले पिछले दिन मे चित्रा नक्षत्र आवेगा। वैशाख की पूर्णिमा को विशाखा नक्षत्र आवेगा। ज्येष्ठा की पूर्णिमा को ज्येष्ठा नक्षत्र आवेगा। इत्यादि वास्तव मे मासो के नाम ही मासात मे आने वाले नक्षत्रो के कारण पडे है। जिस पूर्णिमा को जो नक्षत्र है उसके आगे के नक्षत्र जिस क्रम से उनके नाम है।

२७ नक्षत्रो के क्रमशः नाम इस प्रकार हैं —

१ अश्विनी २ भरणी ३ कृत्तिका ४ रोहिणी ५ मृगशिरा ६ आर्द्रा ७ पुनर्वसु ८ पुष्य ९ आश्लेपा १० मघा ११ पूर्वा फाल्गुणी १२ उत्तरा फाल्गुणी १३ हस्त १४ चित्रा १५ स्वाति १६ विशाखा १७ अनुराधा १८ ज्येष्ठा १९ मूल २० पूर्वाषाढ २१ उत्तरापाढ २२ श्रवण २३ धनिष्ठा २४ शततारका २५ पूर्वा भाद्रपद २६ उत्तरा भाद्रपद २७ रेवती ॥

उसी क्रम मे अगली प्रत्येक तिथि मे प्राय प्रत्येक नक्षत्र नम्बर वार आता जावेगा। जैसे चैत्र सुद १५ को चित्रा नक्षत्र है तो वैशाख वुद १० को या उसके अगले पिछले दिन मे चित्रा के वाद का १० वाँ नक्षत्र शतभिषा आवेगा। इस हिसाव से सदा ही तिथियो के साथ किन्ही निश्चित नक्षत्रो का सम्वन्ध पाया जा सकेगा। हाँ कभी-कभी एक या दो नक्षत्रो का आगा पीछा भी हो सकता है। इसके लिए कोई सा भी नया पुराणा किसी भी वर्ष का पचाग उठाकर देख लीजिये। इस गणना के अनुसार हम जान सकते है कि अमुक मास की अमुक तिथि को अमुक-अमुक नक्षत्र ही हो सकते हैं। दूसरे नही। जवकि हमारे यहाँ कल्याणको की हर तिथि के साथ नक्षत्र भी दिया गया है तो इस कसौटी को लेकर हम क्यो न जाँच करले कि किस ग्रन्थ की तिथियाँ उनके साथ मे लिखे नक्षत्रो से मिलती है और किसकी नही ? उक्त ग्रन्थो मे सवसे प्राचीन त्रिलोक प्रज्ञप्ति ग्रथ माना जाता है। अत पहिले इसी की जाँच करते है। इस ग्रन्थ मे चार कल्याणको की तिथियाँ और उनके साथ नक्षत्र दिये गये हैं। गर्भ कल्याणक के तिथि नक्षत्र नही लिखे हैं। इस ग्रथ मे लिखी तिथियो के साथ जव हम इसमे लिखे नक्षत्रो का मिलान करते है तो अनेक जगह तिथियो के साथ नक्षत्र नही मिलते है। नमूने के तौर पर नीचे की तालिका देखिये—(अधिकार ४)

जन्म कल्याणक—

सम्भवनाथ-मगसर सुद १५ ज्येष्ठा। सुमतिनाथ श्रावण सुद ११ मघा।

दीक्षा कल्याणक—

धर्मनाथ-भादवासुद १३ पुष्य। पुष्पदन्त-पोस सुद ११ अनुराधा।

ज्ञान कल्याणक—

मुमतिनाथ-पोस सुद १५ हस्त। विमलनाथ पोस सुद १० उत्तराषाढ।

मोक्ष कल्याणक—

विमलनाथ-असाढ सुद ८ पूर्वभाद्रपद । मल्लिनाथ फागण बुद ५ भरणी।

त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे इनके अलावा और भी तिथि नक्षत्र अनमेल है। जिन्हे लेख विस्तार के भय से यहाँ हम लिखना नही चाहते। उक्त तिथियो के साथ उक्त नक्षत्रो की सगति किसी भी तरह नही बैठ सकती है। अत त्रिलोक प्रज्ञप्ति की ये तिथियाँ और नक्षत्र परस्पर अवश्य ही गलत है इसमे कोई सन्देह नही है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति की तिथियो के गलत होने में एक-दूसरा हेतु भी है। वह यह है कि त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे श्री मल्लिनाथ स्वामी का दीक्षा लिये बाद छद्मस्थ काल ६ दिन का बताया है। अर्थात् दीक्षा लिये बाद ६ दिन मे उनको केवल ज्ञान हुआ है। किन्तु इसी त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे मल्लिनाथ की दीक्षा तिथि मगसर सुद ११ की और केवल ज्ञान तिथि फागण बुद बारस की लिखी है। दोनो मे अन्तर ढाई मास का पडता है जबकि अन्तर पडना चाहिए ६ दिन का ही। इसी तरह उनमे लिखा अन्य भी कुछ तीर्थंकरो का यह छद्मस्थकाल उनकी तिथियो के साथ मेल नही खाता है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति जैसे प्राचीन ग्रथ का इस प्रकार का पूर्वापर विरोध कथन अवश्य ही चिन्तनीय है।

इसी तरह हरिवश पुराण मे उल्लिखित तिथि नक्षत्र भी कही-कही अनमेल रहते है। जिनका विवरण लेखवृद्धि के भय से यहाँ छोडा जाता है। हरिवंश पुराण मे जन्म और मोक्ष इन दो कल्याणको के ही नक्षत्र दिये हैं। शेष कल्याणको के नक्षत्र शायद इसलिये नही दिये कि उनके नक्षत्र भी वे ही है जो जन्म के हैं। कल्याणको के नक्षत्रो का अनायास ही कुछ ऐसा योग वन गया है कि प्राय प्रत्येक तीर्थंकर के पाचो कल्याणक एक ही नक्षत्र मे हो गये है। जैसे ऋषभदेव के सभी कल्याणक उत्तरापाढ मे हुए है। अजितनाथ के सभी रोहिणी मे हुए है इत्यादि। कही कुछ मामूली फर्क भी है जिसका विवरण लेख के अन्त मे दिये नक्शे से ज्ञात कर सकते है।

जव हम आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण मे लिखे तिथि नक्षत्रो मे मेल की जाच करते हैं तो उन्हे हम एक दम सही पाते है। यहाँ तिथियो के साथ जो नक्षत्र दिये गये हैं वे ज्योतिप सिद्धात की गणना के अनुसार वरावर वैठते चले जाते हैं। कही कुछ भी अन्तर नही पडता है। ये मास पक्ष-तिथियाँ इतनी प्रामाणिक है कि प० आशाधर जी ने इन्ही को अपनाई है। आशाधर जी ने एक कल्याणमाला नामक पुस्तिका निर्माण की है जो सिर्फ ३५ श्लोक प्रमाण है। वह माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला के "सिद्धांतसारादि सग्रह" के साथ छपी है। उसका अन्तिम पद्य यह है—

इतीमां वृषभादीनां पुण्यस्कल्याणमालिकाम्।
करोति कंठे भूषां यः सः स्यादाशाधरेड़ित ॥

इससे निश्चय ही यह प० आशाधर की कृति है। इसमे आशाधर ने पचकल्याणको की जो मास पक्ष-तिथियाँ दी है

वे सब उत्तरपुराण के अनुसार ही हैं। और खूबी यह की है कि वर्णन मास-पक्ष तिथियो के अनुक्रम से किया है जिससे लिपिकारो के द्वारा भी कोई गल्ती होने की सम्भावना नही रहती है और न किसी शब्द के विभिन्न अर्थ करने की गुजायश ही।

हाँ कही-कही कल्याणमाला और मुद्रित उत्तर पुराण की तिथियो में भी कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उस पर भी यहाँ विचार कर लेना समुचित हैं। दोनो की तिथि-भिन्नता निम्न प्रकार है—

	मुद्रित उत्तरपुराण में—	कल्याणमाला में—
चन्द्रप्रभ का मोक्ष	फागुण सुद ७ ज्येष्ठा	फागुण बुद ७
धर्मनाथ का गर्भ	वैशाख सुद १३ रेवती	वैशाख बुद १३
अरनाथ का गर्भ	फागुण बुद ३ रेवती	फागुण सुद ३
मल्लिनाथ का ज्ञान	मगसर सुद ११	पोस बुद २
पार्श्वनाथ का ज्ञान	चैत बुद १४ विशाखा	चैत बुद ४

इसमे से जो तिथियें कल्याण माला की हैं वे सही हैं। क्योकि जो नक्षत्र ऊपर उत्तर पुराण मे दिये हैं उनकी सगति कल्याण माला की तिथियो के साथ बैठती है, मुद्रित उत्तर पुराण की उक्त तिथियो के साथ नही। अत उत्तर पुराण की उक्त तिथियो के प्रतिपादक श्लोक लिपिकारो के प्रमाद से अशुद्ध लिखने मे आ गये हैं। ऐसा ज्ञात होता है। इसमें से शुक्ल कृष्ण पक्ष का अन्तर तो हो जाना आसान ही है। और जो मल्लिनाथ के ज्ञानकल्याण की तिथि मे अन्तर है वहाँ

भी पोस वुद २ की मिति ही सही है क्योकि उत्तर पुराण मे मल्लिनाथ का सयम अवस्था का दीक्षा दिन मगसर सुद ११ का लिखा है। अत दीक्षा से ६ दिन वाद पोस वुद २ को इन्हे केवल ज्ञान हुआ यह सिद्ध होता है देखो उत्तरपुराण पर्व ६६ श्लोक ५१-५२। इनका हिन्दी अनुवादको ने सगति पूर्वक ठीक अर्थ नही देकर जन्म की तरह ही अर्थात् मगसर सुदी ११ अर्थ कर दिया है किन्तु दोनो श्लोक युग्म हैं उनका अर्थ यह होना चाहिए कि जन्म की तरह के ही दिनादि (मगसर सुदी ११) मे छाद्मस्थ्य काल के ६ दिन वीतने पर अर्थात् पोष वुदी २ को केवल ज्ञान हुआ।

रहा पार्श्वनाथ के ज्ञान कल्याण की तिथि मे अन्तर सो यहां भी मुद्रित उत्तर पुराण के पर्व ७३ श्लोक १४४ मे उल्लिखित चैत वुदी १४ की मिति वाला "चतुर्दश्या" पाठ अशुद्ध है इस तिथि के साथ विशाखा नक्षत्र का मेल वैठता नहीं है इस वास्ते पाठ भी "चतुर्थ्यां त्त" चाहिए। चैत बुदी ४ को विशाखा नक्षत्र की सगति भी भली प्रकार वैठ जाती है। पार्श्वनाथ के सभी कल्याणक विशाखा नक्षत्र मे हुए है अत इनके ज्ञान कल्याणक मे भी जो विशाखा वताया है वह ठीक है। उसका मेल चौथ के साथ ही वैठता है १४ के साथ नही अत चैत बुदी ४ ही ज्ञानकल्याणक की तिथि है।

इस प्रकार कल्याण माला की तिथियो और उत्तर पुराण की तिथियो मे जो मामूली फर्क था वह भी रफा होकर दोनो ग्रन्थो की सव ही तिथियां वरावर वरावर मिल जाती हैं। मुद्रित उत्तर पुराण मे सम्भवनाथ की दीक्षा की तिथि और मुनि सुव्रत की जन्म तिथि का उल्लेख नही है ऐसा हस्तलिखित प्रतियो मे उक्त तिथि सूचक पाठ छूट जाने

से हुआ है। वर्ना गुणभद्र स्वामी ने जव सव की ही कल्याणक तिथिये दी है तो वे इन दो तिथियो को न दें ऐसा कैसे हो सकता है। अथवा इसका कारण यह हो कि सभवनाथ का मृगशिर नक्षत्र तो निश्चित है ही और नियमत यह नक्षत्र मगसर सुदी १५ को आता ही है अत यह तिथि विना बताये स्वत ही सिद्ध हो जाती है इस ख्याल से ग्रन्थकार ने यह तिथि नही लिखी है। अव रही मुनिसुव्रत की जन्म तिथि की वात सो ३, ५, १८, २४ इन चार तीर्थंकरो को छोडकर वाकी के तीर्थंकरो की अपनी-अपनी तप की जो तिथि है वही जन्म की तिथि है इस तरह मुनिसुव्रत की जो तप की तिथि वैशाख वुदी १० दी है वही जन्म तिथि हो जाती है इसलिए उसे अलग से नही दिया है।

इस प्रकार अशुद्ध पाठो की वजह से जो उत्तर पुराण की कुछ तिथियो मे गडवड पडी हुई थी वे तो शुद्ध करली गई किन्तु फिर भी एक चीज का हल होना वाकी रह गया कि उत्तर पुराण की कुछ एक तिथियो की सगति उनके साथ मे लिखे नक्षत्रो से नही बैठती है। नीचे हम उसी पर विवेचन करते हैं—

(१) अरनाथ के सव कल्याणक रेवती नक्षत्र मे हुए है किन्तु ज्ञानपीठ से प्रकाशित उत्तरपुराण पर्व ६५ श्लोक २१—"मार्गशीर्षे सिते पक्षे पुष्ययोगे चतुर्दशी," अर्थात् अरनाथ का जन्म मगसर सुदी १४ पुष्य नक्षत्र मे लिखा है यहा तिथि के साथ नक्षत्र का मेल वैठता नही है अत यह पाठ अशुद्ध है शुद्ध पाठ 'पुष्ययोगे' के स्थान मे 'पूषयोगे' होना चाहिए तव उसका अर्थ रेवती नक्षत्र होता है क्योकि 'रेवती' का स्वामी देव 'पूषा' माना गया है। पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश महापुराण

भाग २ पृष्ठ ३२८ पर भी "पूस जोइ चउ दह मइ वासरि" पाठ दिया है और टिप्पणी मे भी "पूस जोइ का अर्थ "रेवती" नक्षत्र ही किया है।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखने की है कि उत्तर पुराण मे सभी तीर्थंकरो के जन्म कल्याण के नक्षत्र बताते हुए नक्षत्र का नाम न लिखकर उसके स्वामी देव का नाम ही लिखा गया है।

(२) नमिनाथ के सब कल्याणक अश्विनी नक्षत्र मे हुए हैं किन्तु मुद्रित उत्तर पुराण मे इनका जन्म पर्व ६९ श्लोक ३० मे 'आषाढे स्वाति योगे' अर्थात् आषाढ बद १० स्वाति नक्षत्र मे लिखा है यहाँ भी तिथि के साथ नक्षत्र का मेल बनता नही है अत यह पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'आषाढे-ऽश्विनी योगे' होना चाहिए अर्थात् 'स्वाति, की जगह अश्विनी होना चाहिए। आषाढ वद १० के साथ अश्विनी की सगति बैठ जाती है। यहाँ यह शका नही करनी चाहिए कि ग्रथकार ने जन्म नक्षत्रो मे तो नक्षत्र के स्वामी देव के नाम दिये हैं फिर यहाँ अश्विनी नक्षत्र नाम कैसे दिया इसका उत्तर यह है कि अश्विनी नक्षत्र के स्वामी देव का नाम भी अश्विनी ही है।

(३) विमलनाथ का मोक्ष पर्व ५९ श्लोक ५५ मे "आषाढस्योत्तराषाढे" अर्थात् अषाढ बुदी ८ उत्तराषाढ मे लिखा है किन्तु शुद्ध पाठ "आषाढस्योत्तरा भाद्रे होना चाहिए क्योकि आषाढ बुदी ८ को उत्तर भाद्रपद ही पडता है और यही नक्षत्र विमलनाथ के अन्य सब कल्याणको मे है।

(४) वासुपूज्य के सब कल्याणक शतभिषा नक्षत्र मे हुए है किन्तु मुद्रित उत्तर पुराण मे इनकी दीक्षा तिथि फागुण बुदी १४ ज्ञान तिथि माघसुदी २ और मोक्ष तिथि भादवा सुदी १५ की लिखी है और तीनो का नक्षत्र विशाखा लिखा है लेकिन इन तीनो तिथियो के साथ विशाखा की सगति किसी तरह वैठती नही है, 'शतभिषा' के साथ वैठती है यहाँ भी पाठ की अशुद्धि ही जान पडती है। तीनो पाठो मे विशाखा वाक्य अशुद्ध ही जान पडता है तीनो पाठो मे विशाखा,वाक्य अशुद्ध है उसके स्थान मे शुद्ध वाक्य भिषका' अथवा 'भिषाका' होना चाहिये। शतभिषा के आगे 'का' प्रत्यय लगाने से शत 'भिषका' या शत 'भिषाका' रूप वनता है—जिसका सक्षिप्त नाम भिषका या भिषाका होता है जैसे सत्यभामा का भामा, यह सक्षिप्त नाम होता है। ग्रथकार गुणभद्र ने भी यहाँ "शतभिषाका" इस वाक्य का सक्षिप्त नाम "भिषाका" का प्रयोग किया है। प्रतिलिपि करने वालो ने भिषाका प्रयोग को अशुद्ध समझकर उसे विशाखा वना डाला है। इस तरह की गल्तियाँ अन्य कई हस्तलिखित ग्रथो में भी देखने को मिलती है। और शुद्ध पाठ को अशुद्ध बना दिया जाता है। इसका एक उदाहरण इस लेख में ऊपर भी वताया गया है कि "आषाढेऽश्विनी योगे" यह शुद्ध पाठ था जिसका "आषाढे स्वातियोगे" ऐसा अशुद्ध वना दिया गया है। यह हम इस लेख मे ऊपर लिख चुके हैं कि प्राय प्रत्येक तीर्थंकर के अपने-अपने पाँचो कल्याणक अधिकतर एक ही नक्षत्र में हुए है। इस अपेक्षा से भी वासुपूज्य के गर्भजन्म की तरह शेष तीन कल्याणक भी शतभिषा मे ही होने चाहिए।

एक ही नक्षत्र मे प्रत्येक तीर्थंकर के प्राय पाचकल्याणक होने के सम्वन्ध मे इतना और समझ लेना चाहिए कि उत्तर पुराण मे कही-कही उस नक्षत्र के स्थान में उसके पास वाले नक्षत्र का नाम दिया है। जैसे श्रेयासनाथ के चार कल्याणक श्रवण नक्षत्र मे और मोक्ष उनका धनिष्ठा में लिखा है। पार्श्वनाथ के चार कल्याणक विशाखा में और जन्म उनका अनिलयोग मे लिखा है। अनिल कहिये पवनदेव यह स्वाति नक्षत्र का स्वामी माना जाता है। अत यहाँ अनिल का अर्थ स्वाति नक्षत्र होता है। चन्द्रप्रभ के तीन कल्याणक अनुराधा मे और जन्म उनका शक्रयोग मे लिखा है। शक्र का अर्थ इन्द्र यह ज्येष्ठा नक्षत्र का स्वामी देव माना जाता है। अत यहाँ शक्र का अर्थ ज्येष्ठा नक्षत्र होता है। मोक्ष भी इनका ज्येष्ठ मे ही लिखा है। पुष्पदन्त के चार कल्याणक मूल नक्षत्र मे और जन्म इनका जैत्र योग मे लिखा है। जैत्र का अर्थ इन्द्र यह ज्येष्ठा का स्वामी माना जाता है। अत यहाँ जैत्र का अर्थ ज्येष्ठा नक्षत्र होता है इत्यादि। इस प्रकार कल्याणको के एक समान नक्षत्रो के साथ उनके समीप का नक्षत्र का नाम कही किसी कल्याणको मे दिये जाने का तात्पर्य यही समझना चाहिए कि उस तिथि को वे दोनो ही नक्षत्र क्रम से भुगत रहे थे। आप पचांग उठाकर देखिए तो आपको वहुत वार एक ही तिथि मे क्रमवार दो नक्षत्रो के अश भुगतते नजर आयेगे। वल्कि कभी-कभी तो एक ही तिथि मे दो नक्षत्रो के अ श और पूरा एक नक्षत्र इस तरह तीन नक्षत्र भुगतते मिलेगे। इसलिये समीप के नक्षत्र का नाम होने से उसे भी एक तरह से अन्य समान नक्षत्र के अन्तर्गत ही गिनना चाहिए और एक ही नक्षत्र मे

पाँचो कल्याणक होने मे इसे अपवाद कथन नही समझना चाहिए।

इस प्रकार उत्तरपुराण की सब तिथियो और उनके साथ लिखे हुए नक्षत्रो की सगति भी अच्छी तरह से बैठ जाती है। यहाँ मैं यह भी सूचित किये देता हूँ कि कवि पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश महापुराण मे भी कल्याणको के तिथि नक्षत्र उत्तर पुराण के अनुसार ही लिखे है। प० आशाधर जी के सामने त्रिलोक प्रज्ञप्ति और हरिवश पुराण के मौजूद होते हुए भी उन्होने स्वरचित कल्याणमाला मे इन दोनो ग्रन्थो की तिथियो की उपेक्षा करके एक उत्तरपुराण की कल्याणक तिथियो को स्थान दिया है। इससे उत्तरपुराण की तिथियो की प्रामाणिकता पर गहरा प्रकाश पडता है।

इस सारे ऊहापोह का फलितार्थ यही है कि—उत्तर पुराण की शुद्ध तिथियाँ वे ही हैं जो प० आशाधर जी ने कल्लाणमाला मे लिखी हैं। और कवि पुष्पदन्तकृत महापुराण मे जो तिथि नक्षत्र लिखे हैं वे भी सब उत्तरपुराण के अनुसार लिखे है। यहाँ लिखी तिथियाँ भी कल्याणमाला से मिलती हैं। ये पुष्पदन्त गुणभद्राचार्य से करीब १७५ वर्ष बाद ही हुए हैं। इस तरह उत्तरपुराण, अपभ्रंश महापुराण और कल्याणमाला इन तीनो की तिथिये एक समान मिल जाने से तथा नक्षत्रो की सगति उनके साथ लिखी तिथियो के साथ बैठ जाने से तिथि विषयक गडवड जो लम्बे अरसे से हमारे यहाँ चली आ रही थी वह अब समाप्त हो गई है। अतः अब हमको हमारी पूजा पाठ की पुस्तको की तिथियो को इसी माफिक शुद्ध करके काम मे लेनी चाहिए।

इसके अलावा मूल ग्रन्थ मे शुद्ध पाठ होने पर भी अनुवादकों ने कही-कही गलत मास-तिथि नक्षत्र लिख दिये हैं अत. सहूलियत के लिये पचकल्याणक तिथियो का शुद्ध नकशा भी हम साथ मे दिये देते हैं। इस विपय में एक विशेप ज्ञातव्य बात यह है कि—महापुराण कार दक्षिणी होते हुए भी उन्होंने पंचकल्याणक तिथियां दक्षिणी पद्धति से नही देकर सभी उत्तरी पद्धति से ही दी हैं क्योंकि सभी तीर्थंकरो के पांचो कल्याणक उत्तर प्रान्त मे ही हुए हैं।



श्री पंच कल्याणक शुद्ध तिथि और नक्षत्र

तीर्थंकर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष	नक्षत्र
१ ऋषभनाथ	आषाढ कृ. २	चैत्र कृ ९	चैत्र कृ ९	फाल्गुन कृ ११	माघ कृ १४	उत्तराषाढ
२ अजितनाथ	ज्येष्ठ कृ ३०	माघ शु १०	घ शु ९	पौष शु ११	चैत्र शु ५	रोहिणी
३ सम्भवनाथ	फाल्गुन शु. ८	तिक शु १५	मा शी शु १५	तिक कृ ४	चैत्र शु ६	मृगशिरा
४ अभिनन्दननाथ	वैशाख शु ६	माघ शु १२	माघ शु १२	शु १४	वैशाख शु ६	पुनर्वसु
५ सुमतिनाथ	श्रावण शु. २	चैत्र शु. ११	वैशाख शु ९	चैत्र शु ११	चैत्र शु ११	मघा
६ पद्मप्रभ	माघ कृ ६	कार्तिक कृ १३	कार्तिक कृ १३	चैत्र शु १५	फाल्गुन कृ ४	चित्रा
७ सुपार्श्वनाथ	भाद्रपद शु ६	ज्येष्ठ शु १२	ज्येष्ठ शु १२	फाल्गुन कृ ६	फा कृ ७	विशाखा
८ चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ ५	पौष कृ ११	पौष कृ ११	फाल्गुन कृ. ७	फा कृ ७	अनुराधा
९ पुष्पदंत	फाल्गुन कृ ९	मा शी. शु १	मा शी शु १	कार्तिक शु. २	भाद्रपद शु ८	मूल
१० शीतलनाथ	चैत्र कृ ८	माघ कृ १२	माघ कृ १२	पौष कृ १४	आश्विन शु ८	पूर्वाषाढ
११ श्रेयांसनाथ	[illegible] कृ ६	फा कृ ११	फाल्गुन कृ ११	माघ कृ [illegible]	[illegible]	[illegible]
१२ वासुपूज्य	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

१२ वासुपूज्य	आषाढ कृ ६	फा कृ १४	फाल्गुन कृ १४	माघ शु २	भाद्रपद शु १४	शतभिषा
१३ विमलनाथ	ज्येष्ठ कृ १०	माघ शु ४	माघ शु ४	माघ शु ६	आषाढ कृ ८	उत्तराभाद्रपद
१४ अनतनाथ	कार्तिक कृ १	ज्येष्ठ कृ १२	ज्येष्ठ कृ १२	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ ३०	रेवती
१५ धर्मनाथ	वै कृ १३ रेवती	माघ शु १३	माघ शु १३	पोष शु १५	ज्येष्ठ शु ४	पुष्य
१६ शातिनाथ	भाद्रपद कृ ७	ज्येष्ठ कृ १४	ज्येष्ठ कृ १४	पोष शु १०	ज्येष्ठ कृ १४	भरणी
१७ कुन्थुनाथ	श्रावण कृ १०	वैशाख शु १	वैशाख शु. १	चैत्र शु ३	वैशाख शु १	कृत्तिका
१८ अरनाथ	फाल्गुन शु ३	मा शी शु. १४	मा शी शु १०	कार्तिक शु १२	चैत्र कृ ३०	रेवती
१९ मल्लिनाथ	चैत्र शु १	मा शी शु ११	मा शी शु ११	पो कृ पुष्य २	फाल्गुन शु ५	आश्विनी
२० मुनिसुव्रत	श्रावण कृ २	वैशाख कृ १०	वैशाख कृ १०	वैशाख कृ ९	फा कृ १२	श्रवण
२१ नमिनाथ	आश्विन कृ २	आषाढ कृ.१०	आषाढ कृ १०	म. शी शु ११	वैशाख कृ १४	आश्विनी
२२ नेमिनाथ	कार्तिक शु ६ उत्तराषाढ	श्रावण शु ६	श्रावण शु ६	आश्विन शु १	आषाढ शु ७	चित्रा
२३ पार्श्वनाथ	वैशाख कृ २	पोष कृ ११	पोष कृ ११	चैत्र कृ ४	श्रावण शु ७	विशाखा
२४ महावीर	आषाढ शु ६	चैत्र शु १३	मा शी कृ १०	वैशाख शु १०	कार्तिककृ १४ स्वाति ३०	उत्तराफाल्गुनी

३

नन्दीश्वर भक्ति का १८ वाँ पद्य

(एक विलुप्त प्राचीन प्रथा)



निष्ठापित जिनपूजा श्चूर्ण स्नपनेन दृष्ट विकृत विशेषा ।
सुरपतयो नंदीश्वर जिन भवनानि प्रदक्षिणीकृत्य पुनः ॥ १८ ॥

इस पद्य का "चूर्णस्नपनेन" वाक्य गम्भीर अध्ययन का विषय है। इस श्लोक का सही शब्दार्थ निम्न प्रकार है—

"जिन्होने जिन पूजा को समाप्त किया है और चूर्ण-स्नान से जिनमे विकार-विशेष देखा जाता है ऐसे इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप के जिन मन्दिरो की प्रदक्षिणा करके फिर ..."

इसकी सस्कृत टीका मे प्रभाचन्द्र ने "चूर्णस्नपनेन दृष्ट विकृत विशेषा ।" वाक्यो की व्याख्या ऐसी की है— (देखो—"क्रिया कलाप" पृष्ठ २४०)।

"चूर्णं सुगन्धि द्रव्याणा पिष्ट तेन स्नपनं अभिषवस्तेन दृष्टो विकृतो विकारवान् विशेषो यै येषु वा" इसमे सुगन्धित द्रव्यो के पिसे हुए आटे को चूर्ण बताते हुए लिखा है कि— उस चूर्ण के स्नान से जिन इन्द्रो मे विकार-विशेष दिखाई दे रहा था।

इसके विपरीत प० लालाराम जी ने इस पद्य का अर्थ इस प्रकार किया है—"सुगन्धित चूर्ण से अभिषेक करके जिन्होंने महाभिषेक और जिनपूजा पूर्ण करली है और इसीलिये जिनको महा आनन्द आ रहा है उस आनन्द से

जिनकी आकृति कुछ विकृत हो रही है ऐसे इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप के उन चैत्यालयो की प्रदक्षिणा देते हैं" ॥ १६ ॥

यहाँ लालाराम जी ने पूजा समाप्ति के अवसर पर इन्द्रो द्वारा जिन प्रतिमाओ का सुगन्धित चूर्ण से अभिषेक किया जाना अर्थ किया है यह अर्थ किसी तरह उचित नही है क्योकि—एक तो जिन-प्रतिमाओ का चूर्णाभिषेक कही नही वताया है। दूसरा, चूर्णाभिषेक के साथ जिन पूजा की समाप्ति यानि-जिनपूजा के अनन्तर प्रतिमा का चूर्णाभिषेक भी कही किसी शास्त्र मे नही वताया है और न ऐसा कही प्रचलित ही है अत 'चूर्ण स्नपन' शब्द का सम्वन्ध प्रतिमा के साथ न होकर इन्द्रो-देवो के साथ है और उन्ही मे विकार विशेष लक्षित किया गया है कोई प्रतिमा मे माने ऐसा नही। चैत्य भक्ति मे भी वताया है कि—"विगता-युध विक्रिया विभूषा प्रकृतिस्था कृतिना जिनेश्वराणाम्" ॥ १३ ॥ जिन प्रतिमा आयुध और अलंकारादि से रहित सदा स्वाभाविक रूप से युक्त होती है। इसके सिवा लालाराम जी साहव ने जो 'आनन्द' विषयक उल्लेख किये है उनके वाची भी कोई शब्द मूल श्लोक मे नही है अत. उनका यह कथन भी निराधार है।

इस विषय को ठीक तौर से समझने के लिए आचार्य जिनसेन का निम्नाकित कथन देखिये जो उन्होने जिन-जन्माभिषेक के पूर्ण होने के अवसर का 'आदि पुराण' मे किया है—

गंधाम्बु स्नपनस्यांते जय कोलाहलैः समम् ।
व्यात्युक्षीम मराश्चक्रुः सच्चूर्णं गंधवारिभिः ॥
॥ १९९ ॥ पर्व १३

अर्थ—मेरु पर सुगन्धित जल से भगवान् का अभिषेक किये बाद देवो ने जय जय शब्द के कोलाहल के साथ उत्तम चूर्ण और सुगन्धित जल को आपस मे एक दूसरो पर डाला।

इसी विषय को जटासिह नन्दि कृत वरागचरित मे भी स्पष्टता से बताया गया है निम्नाकित श्लोक देखिये—

तत प्रहृष्टो वर चूर्णवासैः, सद्गधिमिश्रं सलिलं सलीलम् ॥
लाक्षारसै रंजनरेणुभिश्च, चिक्षेप गात्रेषु परस्परस्य ॥
॥ १०१ ॥ सर्ग २३

अर्थ—पूजा किये बाद हर्षित हुए राजा ने लीला पूर्वक उत्तम सुगन्धित चूर्ण और उत्तम गध मिश्रित जल को तथा लालरग गुलाल को परस्पर मे एक-दूसरो के शरीर पर डाला।

ऊपर के इन दो उद्धरणो से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि—महाभिषेक पूजा समारोह की पूर्णता के अवसर पर इन्द्रादि देव आनन्द विभोर होकर आपस मे सुगन्धित चूर्ण और रग-रगीला सुगन्धित जल एक दूसरे के शरीर पर डालते थे और इसी का अनुसरण प्राचीन काल मे मनुष्य श्रावक भी करते थे जैसा कि ऊपर वराग चरित्र मे बताया है। यह प्रथा श्वेताबरो के यहाँ तो अब भी प्रचलित है—उनके यहाँ पर्यूषण पर्व मे एकम के रोज भगवान का जन्म कल्याणक मनाते हुए अभिषेक पूजा करके फिर सवर्मी भाई परस्पर एक दूसरे के कपडो पर केशरिया रग का हाथ का छापा लगाते है। आज दिगम्बर सम्प्रदाय मे इस प्रकार की परम्परा का लोप हो गया है किन्तु ऊपर लिखे नन्दीश्वर भक्ति पाठ के १८ वें पद्य का यही आशय है। उस पद्य मे इन्द्रो का एक विशेषण "हृष्ट विकृत विशेषा" लिखा है उससे तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि—इन्द्रो के परस्पर मे सुगन्धित चूर्ण या सुग-

धित जल डालने से ही उनको वेषभूषादि का रूप पलटा हुआ नजर आने लगा था। अत. उक्त पद्य का जो प० लालाराम जी ने "सुगन्धित चूर्ण से प्रतिमा का अभिषेक किया जाना" अर्थ किया है वह ठीक नही है।

जैसे इन पण्डितो ने आदि पुराण के "गोदोहै प्लाविता धात्री" वाक्य का दुग्धाभिषेक गलत अर्थ करके लोगो को भ्रम में डाल रखा था जिसका स्पष्टीकरण हमने "जैन निवन्ध रत्नावली" ग्रन्थ मे किया है, उसी तरह की भूल ये लोग नन्दीश्वर भक्ति पाठ के उक्त श्लोक के अर्थ करने मे भी कर रहे है।

उक्त पद्य की सस्कृत टीका मे प्रभाचन्द्र ने भी प्रतिमा का चूर्ण-स्नपन करना नही वताया है किन्तु चूर्णस्नपन से इन्द्रो मे विकार विशेष होना लिखा है, इससे प्रभाचन्द्र के विवेचन का भी वही आशय प्रगट होता है जैसा कि आदि-पुराण और वरागचरित्र मे खुलासा लिखा गया है। अर्थात् इन्द्रो ने प्रतिमा का अभिषेक चूर्ण से नही किया किन्तु चूर्ण को आपस मे एक ने दूसरो पर डाला ऐसा मूल ग्रन्थकार और टीकाकार दोनो का अभिप्राय साफ प्रगट होता है। यही बात सकलकीर्ति कृत आदिपुराण (लघु) मे इस प्रकार लिखी है—

व्यातुक्षीं निर्मलां चक्रु. जय कोलाहलैः समम्।
पूरितैं कलशैः भक्त्या सचूर्णैंगंधवारिभि ॥२०४॥

पार्श्वपुराण मे भी इस प्रकार लिखा है —

गंधाम्बुस्नपनस्यांते जयनंदादि सत्स्वरैः।
व्यातुक्षी ममरास्चक्रु. सचूर्णैंगंधवारिभिः ॥ १४ ॥

●★●

अलब्धपर्याप्तक और निगोद



संसारी जीव पर्याप्तक, निवृत्य पर्याप्तक और अलब्ध-पर्याप्तक ऐसे तीन प्रकार के होते हैं। अलब्धपर्याप्तक का पर्याय नाम लब्ध्यपर्याप्तक भी होता है[1]। जिस भव मे जितनी पर्याप्तिये होती है उतनी को जो पूर्ण कर लेते है वे जीव पर्याप्तक कहलाते हैं। अगर उनके कम से कम शरीर पर्याप्ति भी पूर्ण हो जाये तब भी वे पर्याप्तक कहला सकते है। और जो पर्याप्तियो को पूर्ण करने मे लगे हुए हैं किन्तु अभी शरीर पर्याप्ति को भी पूरी नही की हैं आगे पूरी करने वाले है वे जीव निवृत्यपर्याप्तक कहलाते हैं। तथा जो जीव एक उच्छ्-वास के १८ वें भाग प्रमाण आयु को लेकर किसी पर्याय मे जन्म लेते है और वहां की पर्याप्तियो का सिर्फ प्रारम्भ ही करते हैं। अत्यल्प आयु होने के कारण किसी एक भी पर्याप्ति को पूर्ण न करके मर जाते हैं वे जीव अलब्धपर्याप्तक कहलाते हैं। ऐसे जीवो के भव क्षुद्रभव कहलाते है। वे जीव १ उच्छ्वास मे १८ वार जन्मते है और १८ वार मरते हैं। इस प्रकार के क्षुद्रभवो के धारी अलब्धपर्याप्तक जीव ही होते हैं अन्य नही। सभी सम्मूर्छन जन्म वाले जीव पर्याप्तक, निवृत्यपर्याप्तक और अलब्धपर्याप्तक होते हैं। शेष गर्भ और उपवाद जन्म वाले जीव पर्याप्तक-निवृत्यपर्याप्तक ही होते है,

---

१ शास्त्रो मे सिर्फ 'अपर्याप्तक' शब्द से भी इसका उल्लेख किया है।

अलब्ध पर्याप्तक नही होते। विशेष यह है कि—सिर्फ सम्मूर्च्छिम मनुष्य अलब्ध पर्याप्तक ही होते है। वे पर्याप्तक-निवृत्यपर्याप्तक नही होते हैं। सभी एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय जीवो का एकमात्र सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है। सज्ञीअसज्ञी पचेन्द्रिय नरतिर्यञ्च सम्मूर्च्छन जन्म वाले भी होते है और गर्भज भी होते है। भोगभूमि मे सम्मूर्च्छन त्रस जीव नही होते हैं। अत वहाँ अलब्धपर्याप्तक त्रस जीव भी नही होते है। दिगम्बर मत मे सम्मूर्च्छिम मनुष्यो को भी सज्ञी माना है। परन्तु श्वेताम्बर मत में उन्हे असज्ञी माना है और उनकी उत्पत्ति भोगभूमि मे भी लिखी है। जो जीव अलब्ध पर्याप्तक होते है उनकी जघन्य और उत्कृष्ट आयु एक उच्छ्वास के १८ वे भाग मात्र होती है। अर्थात् न इससे कम होती और न इससे अधिक होती है।

दिगम्बर मत मे मनुष्यो के ९ भेद इस प्रकार बताये हैं :—

आर्य खण्ड, म्लेच्छ खण्ड, भोगभूमि और कुभोगभूमि (अन्तर्द्वीप) इन ४ क्षेत्रो की अपेक्षा गर्भज मनुष्यो के ४ भेद होते हैं। ये चारो ही पर्याप्त-निर्वृत्य पर्याप्त होने से ८ भेद होते हैं। सम्मूर्च्छन मनुष्य आर्यखण्ड मे ही होते हैं और वे नियम से अलब्धपर्याप्तक ही होते हैं। अत उसका एक ही भेद हुआ। इस १ को उक्त ८ मे मिलाने से कुल ९ भेद मनुष्यो के होते हैं।

अलब्ध पर्याप्तक जीव एकेन्द्रिय को आदि लेकर पाँचो ही इन्द्रियो के धारी होते है। एकेन्द्रियो मे पृथ्वीकायिक आदि अलब्धपर्याप्त-स्थावर जीव अपनी-अपनी स्थावरकाय मे पैदा होते हैं। इसी तरह विकलत्रय अलब्धपर्याप्तको के

उत्पत्ति स्थान भी पर्याप्त विकलत्रयो की तरह ही समझने चाहिये। तथा सम्मूर्च्छिम पर्याप्त तिर्यञ्चो के भी जो-जो उत्पत्ति स्थान होते है, उन्ही मे सम्मूर्छिम अलब्धपर्याप्तक पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो की उत्पत्ति समझ लेनी चाहिये। क्योकि ये अलब्ध पर्याप्तक जीव गर्भज तो होते नही, ये तो सब सम्मूर्छिम होते है। अत जैसे अन्य पर्याप्त सम्मूर्च्छिम त्रस जीव इधर-उधर के पुद्गल परमाणुओ को अपनी कायें बनाकर उनमे उत्पन्न हो जाते है। उसी तरह ये अलब्ध-पर्याप्तक त्रस जीव भी उत्पन्न हो जाते है। किन्तु अलब्ध-पर्याप्तक मनुष्यो की उत्पत्ति स्थान के विषय मे स्पष्ट आगम निर्देश इस प्रकार है। —"कर्म भूमि मे चक्रवर्ति-बलभद्र-नारायण की सेनाओ मे जहाँ मल मूत्रो का क्षेपण होता है उन स्थानो मे, तथा वीर्य, नाक का मल, कान का मल, दन्त-मल, कफ इत्यादि अपवित्र पदार्थों मे सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। वे अलब्धपर्याप्तक होते हैं और उनका शरीर अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण होता है।

— "मूलाराधना पृष्ठ ६३८"

गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा ९३ मे लिखा है कि —सम्मूर्च्छिम मनुष्य नपुसक लिंगी होते हैं। इसी प्रसग मे इस गाथा की सस्कृत टीका मे लिखा है कि—"स्त्रियो की योनि, काख, स्तन मूल और स्तनो के अन्तराल मे तथा चक्रवर्ती की पटराणी बिना अन्य के मलमूत्रादि अशुचि स्थानो मे सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य सूत्र पाहुड मे लिखते हैं कि—

लिंगम्मिय इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहुमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥ २४ ॥

अर्थ—स्त्रियों की योनि में, स्तनों के बीच में, नाभि में और काख में सूक्ष्म शरीर के धारक जीव (सम्मूर्च्छिम-मनुष्य) कहे गये हैं। अतः स्त्रियों की महाव्रती दीक्षा कैसे हो सकती है। (नहीं हो सकती है।)

इस विषय में कवि द्यानतराय जी का निम्न पद्य देखिये—

नारि जोनि थन नाभि काख में पाइये।
नर नारिन के मलमूत्तर में गाइये॥
मुरदे में सम्मूर्च्छिम सैनी जीयरा।
अलबधपरयापती दयाधरि हीयरा॥

— "धर्मविलास"

लोकप्रकाश (श्वेताम्बर ग्रन्थ) के ७ वें सर्ग के श्लोक ३ से ७ में लिखा है कि—

"मल, मूत्र, कफ, नासिकामल, वमन, पित्त, रक्त, राध, शुक्र, मृतकलेवर, दम्पति के मैथुनकर्म में गिरने वाला वीर्य[2] पुरनिर्द्धमन (खाल-चर्म, गदी नाली) गर्भज मनुष्य सम्बन्धी सब अपवित्र स्थान, इतनी जगह सम्मूर्च्छिम मनुष्यों

२ जैनागम शब्दसंग्रह (अर्धमागधी—गुजराती कोश) में पृष्ठ ३६८ पर इसी का पर्यायवाची "णगरनिद्धमण" (नगरनिर्धमन) का अर्थ इस प्रकार दिया है—शहर का गन्दा पानी निकालने का मार्ग, खाल। यहाँ दोनों अर्थ उपयोगी हैं, दोनों में सम्मूर्च्छिम मनुष्योत्पत्ति होती है।

की उत्पत्ति होती है[3]।

---

३. (i) जीवसमास की मलधारी हेमचन्द्र कृत सस्कृत वृत्ति (श्वेतांबर) मे लिखा है—सम्मूर्च्छन—गर्भनिरपेक्ष वात पित्तादिष्वेवमेव भवन सम्मूर्च्छंस्तस्माज्जाता सम्मूर्च्छजा मनुष्या, एते च **मनुष्य-क्षेत्र एव गर्भजमनुष्यामेवोच्चारादिषूत्पद्य ते नान्यत्र,** यत उक्त प्रज्ञापनायाम्—"कहि ण भते ! सम्मुच्छिम मणुस्सा समुच्छन्ति ? गोयमा ! अतो मणुस्स खेत्त पणया लीसाए जोयणसय सहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पण्णाए अन्तर दीवेसु गब्भवक्कतिय **मणुस्साण** चेव इच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्क पोग्गलपरिसाडेसु वा थीपुरिस सजोएसु वा **नगरनिद्धमणेसु** वा सव्वेसु चेव अणुइएसु ठाणेसु सम्मूच्छिम मणुस्सा समुच्छति, अगुलस्स असखेज्जइभागमित्ताए ओगाहणाए **असण्णी** मिच्छादिट्ठी सव्वाहि पज्जत्तीहि अपज्जत्तगा अतोमुहुत्ताउया चेव काल करेंति, सेत्त सम्मूच्छिम मणुस्सा।"

(ii) कह भयव उववज्जेपणिदि मणुया सम्मुच्छिमाजीवा।
गोयम ! मणुस्मखित्ते णायव्वा इत्थ ठाणेसु॥
उच्चारे पासवणे खेले सिंघाणवत पित्तेसु।
सुक्के सोणिय गयजीवकलेवरे नगर णिद्धमणे॥
महुमज्जमस मंखण थी सगे सव्व असुइठाणेसु।
उप्पज्जति चयति च समुच्छिमा मणुय पचिंदी॥

— ब्लैक टाइप मे छपे शब्द अन्यत्र नही मिलते।—

—विचारसार प्रकरण (प्रद्युम्न सूरि) जीवाभिगमे

ऐसा झलकता है कि—जैनधर्म के जिन फिरको मे स्त्री मुक्ति मानी है उनके यहाँ स्त्रियो के नाभि, काख, स्तन आदि अवयवो मे सम्मूर्छिम मनुष्यो की उत्पत्ति का कथन नही किया है।

इनकी उत्पत्ति अढाई द्वीप से बाहर नही है। क्योकि जिन पदार्थों मे इनकी उत्पत्ति होती है वे सब गर्भज मनुष्यो से सम्बन्धित होते है।

लोक मे भोगभूमि-कर्मभूमि के जितने भी मनुष्य होते हैं उनसे असख्यात गुणी सख्या इन सम्मूर्च्छिम मनुष्यो की रहती है। ऐसा मूलाचार पर्याप्ति अधिकार की गाथा १७५-१७८ और त्रिलोकप्रज्ञप्ति अधिकार ४ गाथा २९३४ मे कहा है।

जिस प्रकार सभी सम्मूर्च्छिम मनुष्य अलब्ध पर्याप्तक होते हैं और उनकी काय एक अगुल के असख्यातवें भाग-प्रमाण की होती है, उस प्रकार से न तो सभी सम्मूर्च्छिम पचेन्द्रिय तिर्यञ्च अलब्धपर्याप्तक होते है और न उन सबकी काय एक अगुल के असख्यातवें भाग की ही होती है। बल्कि सम्मूर्छिम पचेन्द्रियतिर्यञ्च मत्स्य की काय तो एक हजार योजन की लिखी है। जबकि गर्भज तिर्यञ्चो मे किसी भी तिर्यञ्च की काय पाँच सौ योजन से अधिक नही लिखी है। तथा न केवल सम्मूर्च्छिम पचेन्द्रिय तिर्यञ्च ही किन्तु एकेन्द्रिय से चौइन्द्रिय तक के तिर्यच भी सब ही अलब्धपर्याप्तक नही होते है। हाँ जो तिर्यंच अलब्धपर्याप्तक होते है उन सबकी काय अलबत्ता एक अगुल के असख्यातवें भाग की होती है। किन्तु इसमे भी तरतमता रहती है, क्योकि असख्यातवें भाग के भी हीनाधिक भाग होते है। इसलिए

तो आगम मे लिखा है कि—सबसे छोटा शरीर सूक्ष्म निगोदिया अलब्धपर्याप्तक का होता है। अगर सभी अलब्धपर्याप्तको के शरीरो का प्रमाण एक समान होता तो केवल सूक्ष्मनिगोदिया का ही नाम नही लिखा जाता। (देखो त्रि० प्रज्ञप्ति द्वि० भाग पृष्ठ ६१८)।

अलब्धपर्याप्तक जीव सूक्ष्म और बादर दोनो तरह के होते है। तथा ये प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति कायिक ही नही किन्तु सभी स्थावरकाय और सम्मूर्च्छिम-त्रसकाय के धारी होते है। तथा ये एक श्वास मे १८ बार जन्म-मरण करते है।

कितने ही शास्त्रसभा मे भाग लेने वाले जैनी भाई यह समझे हुए हैं कि—जो 1 श्वास में 18 बार जन्म-मरण करते हैं वे निगोदिया जीव होते है। यह उनकी भ्रात धारणा है। एक श्वास मे 18 बार जन्म-मरण करना यह निगोदिया जीव का लक्षण नही है। यह तो अलब्धपर्याप्तक जीव का लक्षण है[4]। ऐसे अलब्धपर्याप्तक जीव तो केवल निगोद मे ही नही, अन्य स्थावरो और त्रसो मे भी होते है। जहाँ वे एक उच्छवास मे 18 बार जन्म-मरण करते हैं। इसलिए एक श्वास मे १८ बार जन्म-मरण करना यह निगोदिया का कतई लक्षण नही है। किन्तु एक शरीर मे अनन्त जीवो का रहना यह निगोद का निर्वाध लक्षण है। निगोद का ही दूसरा नाम साधारण वनस्पति है जिन्हे अनन्तकाय भी कहते

---

४ देखिये—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—उस्सासट्ठारसमे, भागेजो मरदि ण समाणेदि। एक्को वि य पज्जत्ती, लद्धि अपुण्णो हवे सो दु॥ १३७॥

हैं एक शरीर मे रहने वाले वे अनन्त जीव सब साथ-साथ ही जन्मते है साथ-साथ ही मरते है और साथ-साथ ही श्वास लेते है। एक श्वास मे १८ वार जन्म-मरण करने वाले अलब्धपर्याप्तक जीव तो न तो साथ-साथ जन्मते-मरते हैं, न साथ-साथ श्वास लेते हैं और न उन वहुतसो का कोई एक शरीर ही होता है। हाँ अगर ये जीव साधारण-निगोद मे पैदा होते हैं तो बेशक वहाँ वे सब साथ-साथ ही जन्मते-मरते और श्वास लेते है। ये ही अलब्धपर्याप्तक जीव वहाँ एक श्वास मे १८ बार जन्म-मरण करते है। इनसे अतिरिक्त अन्य जीव निगोद मे एक श्वास मे १८ बार जन्म-मरण नही करते हैं। तात्पर्य यह है कि समस्त निगोद मे पर्याप्तक जीव भी होते हैं। उनमे एक अलब्धपर्याप्तक जीव ही सिर्फ एक श्वास मे १८ वार जन्म-मरण करते है, पर्याप्तक नही। पर्याप्तक जीव भी वहाँ अनन्तानन्त हैं जिनकी सख्या हमेशह अलब्ध-पर्याप्तको से अधिक रहती है। निगोद ही नही अन्यत्र त्रसादिको मे भी जो अलब्धपर्याप्तक जीव होते है वे ही एक श्वास मे १८ वार जन्म-मरण करते है, सव नही। सिद्धान्त-ग्रन्थो मे इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी लोगो मे भ्रात धारणा क्यो हुई ? इसका कारण निम्नाकित उल्लेख ज्ञात होते है—

(१) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका (शुभचन्द्रकृत) पृष्ठ २०५ गाथा २८४ मे—निगोदेषु जीवो अनन्तकाल वसति। ननु निगोदेषुएतावत्कालपर्यन्त स्थिति-मान् जीव एतावत्कालपरिमाणायु किं वा अन्यदायु-इत्युक्त प्राह—"आउपरिहीणो" इति आयु परिहीन **उच्छ्वासाष्टादशैकभागलक्षणान्तर्मुहूर्तः स्वल्पायुर्विशिष्ट प्राणी।** इसका हिन्दी अनुवादक जी ने कोई अनुवाद नही किया है,

इसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है —निगोद में जीव अनन्त-काल तक रहता है इससे क्या निगोद की इतनी आयु होती है ? इसका उत्तर है कि—यहाँ आयु 'परिहीन' पाठ का अर्थ है—**एक उच्छ्वास के १८ वें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त की स्वल्पायु निगोद की होती है।**

(२) वनारसी विलास (वि० स० १७००) के कर्म-प्रकृति विधान प्रकरण मे—

एक निगोद शरीर मे, जीव अनन्त अपार।
धरें जन्म सब एकठें मरहिं एक ही बार॥ ९५॥

मरण अठारह वार कर, जनम अठारह बेव,
एक स्वास उच्छ्वास मे, यह निगोद की टेव॥ ९६॥

(३) बुधजन कृत—"छहढाला" ढाल २—

जिस दुख से थावर तन पायो वरण सको सो नाहिं।
बार अठारह मरा औ, जन्मा एक श्वास के माँहि॥ १॥

(४) दौलतराम जी कृत—छहढाला—

काल अनंत निगोद मंझार, बीत्यो एकेन्द्रीतनधार॥ ४॥
एक श्वास में अठदस बार, जन्म्यो मर्‍यो भर्‍यो दुखभार॥

(५) दौलत विलास—(पृष्ठ ५५)

सादि अनादि निगोद दोय में पर्‍यो कर्मवश जाय।
स्वांस उसास मझार तहाँ भवमरण अठारह थाय॥

(६) द्यानतराय जी कृत पद सग्रह—

ज्ञान बिना दुख पाया रे भाई।
भौ दस आठ उसांस सांस मे साधारण लपटाया रे, भाई०

काल अनत यहाँ तोहि बीते जब भई मन्द कषाया रे,
तब तूं निकसि निगोद सिंधु ते थावर होय न सारा रे, भाई०

(७) बुध महाचन्द्र कृत भजन संग्रह—

(क) जिनवाणी सदा सुख दानी।
इतर नित्य निगोद माहि जे, जीव अनन्त समानी,
एक सांस अष्टादश जामन-मरण कहे दुखदानी ॥ जिन०

(ख) सदा सुख पावे रे प्राणी।
द्वै निगोद बसि एक स्वांस अष्टादस मरण कहानी।
सात-सात लख योनि भोग के, पढ़ियो थावर आनी। स०

(८) स्वरूपचन्द जी त्यागीकृत—स्वरूप भजन शतक

(क) काल अनन्त निगोद विताये, एक उश्वास लखाई।
अष्टादश भव मरण लहे पुनि थावर देह धराई।
हेरत क्यो नहीं रे। निज शुद्धातम भाई।

(ख) दुख पायोजी भारी। नित इतर वसि युग निगोद मे,
काल अनन्त बितायो। विधिवश भयो उसांस एक मे,
अठवस जनमि मरायो॥ दुख पायो जो भारी।

इन उल्लेखो मे निगोद (एकेन्द्रिय) के एक श्वास मे १८ वार जन्म-मरण वताया है। इससे प्राय सभी विद्वानो तक ने एक श्वास मे १८ वार जन्ममरण करना निगोद का लक्षण समझ लिया है जो भ्रान्त है, क्योंकि एक श्वास मे १८ वार जन्म-मरण अन्य पचस्थावरो और त्रसो मे भी जो अलब्धपर्याप्तक हैं पाया जाता है अत उक्त लक्षण अति व्याप्ति दोष से दूषित है। तथा सभी निगोदो मे श्वास के १८ वे भाग मे मरण नही पाया जाता (सिर्फ अलब्धपर्याप्तको मे ही पाया

जाता है, पर्याप्तको मे नही) अत उक्त लक्षण अव्याप्ति दोष से भी दूषित है।

एकेन्द्रियो मे महान् दुख बताने की प्रमुखता से ये कथन किये गये है। इन सब उल्लेखो मे "अलब्धपर्याप्त" विशेषण गुप्त है वह ऊपर से साथ में ग्रहण करना चाहिए "छहढाला" ग्रन्थ का वहुत प्रचार है यह विद्यार्थियो के जैन कोर्स मे भी निर्धारित है अत इसके अध्यापन के वक्त निगोद का निर्दोष लक्षण विशेषता के साथ विद्यार्थियो को बताना चाहिए ताकि शुरू मे ही उन्हे वास्तविकता का ज्ञान हो सके और आगे वे भ्रम मे नही पडे। टीकाओ मे भी यथोचित सुधार होना चाहिए।

ग्रन्थकारो ने इस विषय मे अभ्रान्त (निर्दोष) कथन भी किये हैं, देखो —

(१) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका पृष्ठ ३३ (गाथा ६८)

सूक्ष्म निगोदीऽपर्याप्तक. × × × क्षुद्रभवकाल १/१८ जीवित्वा मृत ।

(२) दौलत बिलास (पृष्ठ १५)—सुधि लीज्यो जी म्हारी। लब्धि अपर्याप्त निगोद मे एक उसास मझारी।
जन्ममरण नव दुगुण व्यथा की कथा न जात उचारी।
सुधि लीज्यो जी म्हारी।

(३) मोक्षमार्ग प्रकाशक (तीसरा अधिकार) प० टोडरमल्ल जी साहब।

पृष्ठ ९२ (एकेन्द्रिय जीवो के महान् दुख)

वहुरि आयुकर्मते इनि एकेन्द्रिय जीवनि विषै जे अपर्याप्त है तिनि के तो पर्याय की स्थिति उश्वास के १८ वे भाग मात्र ही है।

पृष्ठ ९६ (तिर्यञ्च गति के दुख)

वहुरि तिर्यञ्च गति विषै वहुत अलव्धपर्याप्त जीव हैं तिनि को तो उश्वास के १८ वें भाग मात्र आयु है।

पृष्ठ ९७ (मनुष्य गति के दुख) वहुरि मनुष्य गति विषे असख्याते जीव तो लब्धिअपर्याप्त हैं ते सम्मूर्च्छन ही है तिनि की तो आयु उश्वास के १८ वे भाग मात्र है।

(४) नयनसुख जी कृत पद (अद्वितीय भजनमाला प्रथम भाग पृष्ठ ९०)

नैन चैन=नैनसुख। नैन=नयन, चैन=सुख=नयनसुख।

सुन नैन चैन जिन वैन अरे मत जनम वृथा खोवे।
तरस-तरस के निगोद से निकास भयो,
तहाँ एक श्वास मे अठारह वार मरे थो।
सूक्ष्म से सूक्ष्म थी तहाँ तेरी आयुकाय,
परजाय पूरी न करे थो फिर मरे थो।

भाव पाहुड मे कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है —

छत्तीसं तिण्णि सया छावट्टिसहस्सवारमरणाणि।
अन्तो मुहुत्त मज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि॥ २८॥
वियलिदिए असीदो सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिन्दिय चउवीसं खुद्दवभवंतोमुहुत्तस्स॥ २९॥

इन गाथाओ मे निगोद वास मे ६६३३६ वार जनम-मरण एक अन्तर्मुहूर्त्त मे बताया है। तथा विकलत्रय और

पचेन्द्रिय के क्षुद्रभवो की सख्या वताई है किन्तु एकेन्द्रिय के क्षुद्रभवो की सख्या नही दी है विना उसके ६६३३६ भवो का जोड नही वैठता है गोम्मटसार जीवकाड गाथा १२२ से १२४ मे यही कथन है वहाँ एकेन्द्रियो के क्षुद्रभवो की अलग सख्या वताई है इस पर सहज प्रश्न उठता है कि क्या भाव पाहुड मे यहाँ एक गाथा छूट गई है ? इसका समाधान यह है कि—अजित ब्रह्मकृत—"कल्लाणालोयणा" (माणिक चन्द्र ग्रन्थ-माला के सिद्धान्तसारादि सग्रह मे प्रकाशित) ग्रन्थ मे भी ये ही दो गाथायें ठीक इसी तरह पाई जाती हैं। श्रुतसागर ने भी सहस्रनाम (अध्याय ६ श्लोक ११६) की टीका मे पृष्ठ २२७ पर ये ही २ गाथाएं उद्धृत की है। इससे १ गाथा छूटने का तो सवाल नही रहता है। अब रहा एकेन्द्रिय जीवो के क्षुद्रभवो की सख्या का सवाल सो वह परिशेष न्याय से वैठ जाता है। वह इस तरह कि—विकलत्रय और पचेन्द्रिय के क्षुद्रभवो की कुल सख्या गाथा २९ मे २०४ वताई है इसे ६६३३६ में से बाकी निकालने पर अपने आप शेष ६६१३२ एकेन्द्रिय के क्षुद्रभव हो जाते हैं। कुन्दकुन्द के पाहुड ग्रन्थ सूत्र रूप है अत यहाँ परिशेष न्याय का आश्रय लेकर १ गाथा की बचत की गई है।

निगोद का अर्थ साधारण अनन्तकायिक वनस्पति होता है देखो —

(१) अनगार धर्मामृत पृष्ठ २०२ (माणिकचन्द्र ग्रन्थ-माला)

निगोत लक्षण यथा—(गोम्मटसार गाथा १९० से १९२ धवला प्रथम भाग पृष्ठ २७०)

गोम्मटसारादि सिद्धात ग्रन्थो मे निगोद का कही भी १८ वार एक श्वास मे जन्म मरण करना ऐसा लक्षण नही दिया है प्रत्युत एक शरीर मे अनन्तजीवो का एक साथ निवास करना ऐसा लक्षण दिया है।

(साहारणोदयेण णिगोद शरीरा हवति सामण्णा ।
ते पुण दुविहा जीवा बादर सुहमात्ति विण्णेया) ॥ १९० ॥

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥ १९१ ॥

जत्थेक्कु मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणताणं ।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥ १९२ ॥

(ii) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका शुभचन्द्रकृत पृष्ठ २०४ (गाथा २८४)—

"नि नियता गामनन्तसंख्याविच्छिन्नानां जीवानां गां क्षेत्रं ददातीति निगोदं । निगोदं शरीरं येषां ते निगोदाः निकोता वा साधारण जीवाः (अनन्तकायिका) ॥"

ऐसी हालत में उपरोक्त भाव पाहुड गाथा २८ में जो निगोद शब्द दिया है उसका अर्थ "अनन्तकायिक एकेन्द्रिय वनस्पति नही बैठता है क्योकि ६६३३६ भव जो निगोद के वताए है उनमे त्रस स्थावर सभी है। इसका समाधान बहुत से भाई यह करते है कि—निगोद का अर्थ लब्ध्यपर्याप्तक करना चाहिए किन्तु यह अव्याप्ति दूषण से दूषित है क्योकि सभी निगोद लब्ध्यपर्याप्तक नही होते वहुत से पर्याप्तक भी होते हैं। इसके सिवाय यह अर्थ निगोद के प्रसिद्ध अर्थ (अनन्त-

कायिक वनस्पति) से भी विरुद्ध जाता है। जयचन्द जी की वचनिका भी अस्पष्ट और कुछ भ्रात है।

अत हमारी राय मे भावपाहुड गाथा २८ के 'निगोद' का अर्थ "क्षुद्र" करना चाहिए गाथा २९ मे निगोद का पर्यायवाची क्षुद्र शब्द दिया भी है। इसके सिवा गोम्मटसार जीवकाण्ड मे भी जो इसी के समान गाथा है उसमें भी निगोद की जगह क्षुद्र शब्द का प्रयोग है देखो--

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाम्मि ।
अन्तो मुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ १२२ ॥

'निगोद' का 'क्षुद्र, कुत्सित, अप्रशस्त, हीन, अर्थ भी होता है देखो—

(१) सूत्र प्राभृत गाथा १८ "तत्तो पुण जाई निग्गोद" मे निगोद का अर्थ श्रुतसागर ने अप्रशसनीय दिया है—

(निगोदं प्रशंसनीयगति न गच्छतीत्यर्थः)

(२) हरिवश पुराण (जिनसेन कृत) सर्ग ४—

मृदङ्ग नाडिकाकारा निगोदा पृथ्वीत्रये ॥ ३४७ ॥
ते चतुर्थ्यांच पंचम्यां नारकोत्पत्तिभूमयः ॥ ३४८ ॥
सर्वेन्द्रिक निगोदास्ते त्रिद्वाराश्च त्रिकोणकाः ॥ ३५२ ॥
घर्मा निगोदजा जीवा समुत्पत्य पतन्त्यधः ॥ ३५५ ॥

नरक मे नारकियो के जो उत्पत्ति स्थान इन्द्रक आदि बिल है उन कुत्सित स्थानो को यहाँ 'निगोद' कहा है।

सस्कृत टिप्पणकार ने भी यही अर्थ किया है—"निगोद. नारकोत्पत्ति स्थानानि ।"

धर्म विलास (द्यानतराय कृत) पृष्ठ १७ —(उपदेश शतक)

वसत अनन्तकाल बीतत निगोद मांहि ।
अखर अनन्तभागज्ञान अनुसरे है ।
छांसठि सहस तीन सै छत्तीस बार जीव ।
अंतर मुहूरत मे जन्मे और मरे हैं ॥ ४८ ॥

दौलत विलास पृष्ठ ८०—जव मोहरिपु दीनी घुमरिया तसवश निगोद मे पडिया ।

तहं श्वास एक के मांहि अष्टादश मरण लहाहि ॥
लहि मरण अन्तर्मूहूर्त्त मे छयासठ सहस शत तीन ही ।
षट्तीस काल अनन्त यो दुख सहे उपमा ही नहीं ॥

पृष्ठ ३७—फिर सादि औ अनादि दो निगोद मे परा,

जहं अंक के असंख्य भाग ज्ञान ऊबरा ।
तहं भवअन्तर्मूहुर्त्त के कहे गणेश्वरा ।
छयासठ सहस त्रिशत छत्तीस जन्मधर मरा ।
यो बसि अनन्तकाल फिर तहाँ ते नीसरा ॥

इन उल्लेखो मे ६६३३६ क्षुद्रभव सिर्फ निगोद-एकेन्द्रिय के ही वताए हैं यह ठीक नही है ।

वृन्दावन कृत चोवीसी पूजा (विमलनाथ पूजा जयमाल) मे यह कथन ठीक दिया हुआ है वहाँ देखो ।

श्वेताम्बर ग्रन्थो में इस विषय मे कथन इस प्रकार है —

"जनसिद्धांत बोलसंग्रह" दूसरा भाग (सेठिया जैन ग्रन्थमाला बीकानेर) पृष्ठ १९-२१ मे लिखा है —

अनन्त जीवो के पिण्ड भूत एक शरीर को निगोद कहते हैं। लोकाकाश के जितने प्रदेश है उतने सूक्ष्म निगोद के गोले हैं एक एक गोले मे असख्यात निगोद हैं एक-एक निगोद मे अनन्त जीव है। ये एक श्वास मे—**कुछ अधिक १७ जन्म मरण** करते है, (एक मुहूर्त मे मनुष्य के ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते है) एक मुहूर्त्त मे ६५५३६ भव करते है, निगोद का एक भव २५६ आवलियो का होता है। सूक्ष्म निगोद मे नरक से भी अनन्तगुणा दुख (अज्ञान से) है।

सत्तरस समहिया किर इगाणु पाणम्मि हुति खुड्डभवा।
सगतीस सय तिहुत्तर पाणू पुण इग मुहुत्तम्मि ॥
पणसट्ठि सहस्स पणसय छत्तीसा इग मुहुत्त खुड्डभवा।
आवलियाणं दो सय छप्पन्ना एग खुड्डभवे ॥

दिगम्बर आम्नाय मे जहाँ १८ वार जन्म-मरण बताया है श्वेताम्बर आम्नाय मे कुछ अधिक १७ वार बताया है। दिगम्बर आम्नाय मे क्षुद्रभवो की सख्या ६६३३६ बताई है तब श्वे० आम्नाय मे ६५५३६ बताई है दिगम्बर आम्नाय मे यह सख्या स्थावर और त्रस सभी लब्ध्यपर्याप्तको की बताई है किन्तु श्वेताम्बर आम्नाय मे इसके लिए सिर्फ एक निगोद शब्द का सामान्य प्रयोग किया है। दोनो आम्नायो मे इस प्रकार यह मान्यता भेद है (यह भेद सापेक्षिक है दोनो की सगति सम्भव है)

महान् सिद्धान्त ग्रन्थ धवला मे निगोद का कथन—भाग ३ पृष्ठ ३२७, भाग ४ पृष्ठ ४०६, ४०८, भाग ७ पृष्ठ

५०६, भाग ८ पृष्ठ १६२, भाग १४ पृष्ट ८६ आदि मे है। ब्रह्मचारी मूलशकर जी देशाई ने अपनी वृहद् पुस्तक "श्री जिनागम" पृष्ठ १७५ से १८१ मे धवला के कथनो की आलोकी है और यहाँ तक लिखा है कि—धवलाकार ने "निगोद" के अर्थ को समझा ही नही है किन्तु हमे देशाई जी के कथन मे कुछ भी वजन नही मालुम पडता है। धवला का कथन कोई आपत्तिजनक नही है। अगर देशाई जी हमारे इस लेख की रोशनी मे पुनर्विचार करें तो उन्हे भी धवला का कथन सुसगत प्रतीत होगा।

भावपाहुड की उक्त २८ वी गाथा की सस्कृत टीका श्रुतसागर ने शब्दार्थ मात्र की है। अत उससे भी—विषय स्पष्ट नही होता है।

इन दिनो श्री शान्तिवीर नगर[5] से अष्ट पाहुड ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसके हिन्दी अनुवादक श्री प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर हैं। अनुवादक जी ने उक्त गाथा २८ का अर्थ करते हुए लिखा है कि—६६३३६ भव निकोत जीवो के होते है न कि निगोद जीवो के। निकोत शब्द का अर्थ आपने लब्ध्यपर्याप्तक जीव किया है। किन्तु आपने ऐसा कोई शास्त्र प्रमाण नही लिखा जहाँ निकोत का अर्थ लब्ध्यपर्याप्तक किया हो। वल्कि लाटी सहिता सर्ग ५ श्लोक ६१,

---

५ जिस तरह "श्री महावीर जी" पोस्ट आफिस है उसी तरह नदी के इस पार "श्री शातिवीर नगर"—नाम से अलग नया पोस्ट आफिस खुल गया है।

९२, ९४, ८५ मे साधारण और निकोत दोनो को एकार्थ-वाचक लिखा है।[6]

ऊपर जो ६६३३६ भव सख्या वताई है उसका मतलव यह है कि—एक अलब्धपर्याप्तक जीव जिसको कि त्रम और स्थावर पर्यायो मे अलग-अलग अधिक से अधिक भव सख्या आगम मे वताई है उन सव भवो को यदि वह लगातार धारण करे तो ६६३३६ भव धारण कर सकता है। इससे अधिक नही, इन सवो को धारण करने मे उसे ८८ श्वास कम एक मुहूर्त्तकाल लगता है जिसे "अन्तमुहुर्त्त काल" सज्ञा शास्त्रो मे दी है। इस हिसाव से—अलब्धपर्याप्तक जीव एक उच्छ्वास मे १८ वार जन्मता है और १८ वार मरता है। अत १८ का भाग ६६३३६ मे देने से लब्ध सख्या ३६८५-१/३ आती हैं। यानी ३६८५ उच्छ्वासो मे वह ६६३३६ भव लेता है और एक मुहूर्त्त के ३७७३ उच्छ्वास होते है। फलितार्थ यह यह हुआ कि ६६३३६ भव लेने मे उसे ८८ श्वास कम एक मुहूर्त का काल लगता है। इन ६६३३६ क्षुद्रभवो में से किस-किस पर्याय मे कितने-कितने भव होते है उसका विवरण इस भाँति है—

---

६ स्वामी कार्ति के यानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका पृष्ठ २०४ गाथा २८४ मे लिखा है —निगोद शरीर येषा ते निगोदा· निकोता वा साधारण जीवा। भाव पाहुड गाथा ११३ की स्रुतसागर कृत सस्कृत टीका मे भी निगोद और निकोत एकार्थवाची ही लिखे हैं।

मूलाचार (पचाचाराधिकार गाथा २८ की वसुनन्दि कृत टीका) में पृष्ठ १९४-१९५ पर निकोत शब्द निगोद के पर्यायवाची रूप में दिया है।

एकेन्द्रियो के	—	६६१३२
द्वीन्द्रिय के	—	८०
त्रीन्द्रिय के	—	६०
चतुरिन्द्रिय के	—	४०

पचेन्द्रियो मे—

असज्ञी तिर्यंच के	—	८
सज्ञी तिर्यंच के	—	८
मनुष्य के	—	८

कुल जोड=६६३३६

देखो गोम्मटसार जीवकाड गाथा १२२—आदि तथा स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा वडा पृष्ठ ७६

एकेन्द्रियो के ६६१३२ क्षुद्र भवो का विवरण निम्न प्रकार है—

चार स्थावर और साधारण वनस्पति ये पाँचो सूक्ष्म वादर होने से १० भेद हुए। प्रत्येक वनस्पति वादर ही होती है अत उसका एक भेद १० मे मिलाने से ११ हुए। इन ११ का भाग उक्त ६५१३२ मे देने से लब्ध ६०१२ आते हैं। वस हर एक अलब्धपर्याप्तक स्थावर जीव के ६०१२ क्षुद्रभव होते हैं। इस विषय को इस तरह समझना कि—कोई जीव किसी एक पर्याय में मरकर पुन पुन उसी पर्याय मे लगातार जन्म-मरण करे तो कितने वार कर सकता है इसकी भी आगम मे नियत सख्या लिखी मिलती है। जैसे नारकी-देव-भोग भूमिया जीव मरकर लगते ही दुवारा अपनी उसी पर्याय मे पैदा नही हो सकते हैं। कोई जीव मनुष्य योनि में जन्म लिए

वाद फिर भी उसी 'मनुष्य योनि मे लगातार जन्म ले तो वह ८ वार से अधिक नही ले सकता। पृथ्वी आदि ४ सूक्ष्म पर्याप्तक स्थावर जीव मर-मरकर अपनी उसी पर्याय मे लगातार अधिक से अधिक असख्य वार जन्म ले सकते है। और पर्याप्तक निगोदिया जीव अनन्त वार जन्म ले सकते है। उसी तरह अलब्धपर्याप्तक जीव के लिये लिखा है कि—वह भी यदि अलब्धपर्याप्तक के भव धारण करे तो ऊपर जिस पर्याय मे जितने भव लिखे हैं वहाँ वह अधिक से अधिक उतने ही भव धारण कर सकता है। जैसे किसी जीव ने सूक्ष्म निगोदिया मे अलब्धपर्याप्तक रूप से जन्म लिया। यदि वह मरकर फिर भी वहाँ के वहाँ ही वार वार निरन्तर जन्म मरण करे तो अधिक से अधिक ६०१२ वार तक कर सकता है। इसके वाद उसे नियमत पर्याप्तक का भव धारण करना पडेगा। भले ही वह भव निगोदिया का ही क्यो न हो। यदि वह पर्याप्तक मे न जाये और फिर भी उसे अलब्धपर्याप्तक ही होना है तो वह सूक्ष्म निगोदिया मे जन्म न लेकर वादर निगोदिया या अन्य स्थावर-त्रसो मे अलब्धपर्याप्तक हो सकता है। वहाँ भी जितने वहाँ के क्षुद्रभव लिखे है उतने भव धारण किये वाद वहाँ से भी निकल कर या तो उसे पर्याप्तक का भव लेना होगा या उसी तरह अन्य स्थावर त्रसो मे अलब्धपर्याप्यक रूप से जन्म लेना होगा। इस प्रकार से कोई भी जीव यदि सभी स्थावर त्रसो मे निरन्तर अलब्धपर्याप्तक के भवो को धारण करे तो वह ६६३३६ भव ले सकता है, इससे अधिक नही। ऊपर अलब्धपर्याप्तक मनुष्य के अधिक से अधिक ८ लगातार क्षुद्रभव लिखे है जिनका काल आधे श्वास से भी कम होता है। मतलव कि वह अर्द्ध श्वास कालमात्र

तक ही मनुष्य भव मे रहता है। इतना ही काल अलब्ध-पर्याप्तक पचेन्द्रिय सज्ञी-असज्ञी तिर्यञ्चो का है। तदुपरात उन्हे या तो किसी पर्याप्तक मे जन्म लेना पडेगा या अन्य किसी स्थावरादि मे अलब्धपर्याप्तक होना पडेगा।

यहाँ प्रश्न

अनादि काल से लेकर जिन जीवो ने निगोद से निकल-कर दूसरी पर्याय न पाई वे जीव नित्यनिगोदिया कहलाते है। नित्यनिगोदिया जीव पर्याप्तक ही नही, वहुत से अलब्ध-पर्याप्तक भी होते हैं। वहाँ के उन अलब्धपर्याप्तिको ने भी आज तक निगोदवास को छोडा नही है। ऐसी सूरत मे आप यह कैसे कह सकते हैं कि—निगोदिया अलब्धपर्याप्तक जीव अधिक से अधिक निरन्तर अपने ६०१२ क्षुद्रभव लिए वाद उन्हे निश्चय ही उस पर्याय से निकलना पडता है।

उत्तर

हाँ वहाँ से उन्हे भी अवश्य निकलना पडता है। अल-ब्धपर्याप्तक पर्याय को छोड कर वे पर्याप्तक—निगोद मे चले जाते है। मूल चीज निगोद को उन्होने छोडी नही जिससे वे नित्यनिगोदिया ही कहलाते है। इसी तरह वे पर्याप्त से अपर्याप्त और सूक्ष्म से वादर एव वादर से सूक्ष्म भी होते रहते है। होते रहते है निगोद के निगोद मे ही जिससे उनके निगोद का नित्यत्व वना ही रहता है।

निगोदिया जीव अलब्धपर्याप्तक अवस्था मे निरन्तर रहे तो अधिक से अधिक सिर्फ ४ मिनट तक ही रह सकते है। क्योकि उनके लगातार क्षुद्रभव ६०१२ लिखे है। जो ३३४ उच्छ्वासो मे पूर्ण हो जाते है। ३३४ उच्छ्वासो का काल ४

मिनट करीव का होता है। इस थोडे से ४ मिनिट के समय मे ६०१२ जन्म और इतने ही मरण करने से सूक्ष्म निगोदिया अलब्धपर्याप्तक जीवो के इस कदर सक्लेशता वढती है कि उसके कारण जव वे जीव आखिरी ६०१२ वाँ जन्म लेने को विग्रहगति मे ३ मोडा लेते है तो प्रथम मोड मे ज्ञानावरण का ऐसा तीव्र उदय होता है कि उस समय उनके अतिजघन्य श्रुतज्ञान होता है। जिसका नाम पर्याप्तज्ञान है। यह ज्ञान का इतना छोटा अश है कि यदि यह भी न हो तो आत्मा जड वन जाए। यह कथन गोम्मटसार जीव काड गाथा ३२१ मे किया है।

निगोद के विषय मे एक और भ्रान्त धारणा फैली हुई है। कुछ जैन विद्वान् ऐसा समझे हुए है कि—'नरक की ७ वी पृथ्वी के नीचे जो एक राजू शून्यस्थान है, जहाँ कि त्रस-नाडी भी नही है वहाँ निगोद जीवो का स्थान है।"[7] ऐसा

---

७ (१) सूरत, जवलपुर आदि मे प्रकाशित तत्त्वार्थ सूत्र (पाठ्य पुस्तक) मे तीन लोक का नकशा दिया है उसमे ७ वें नरक के नीचे एक राजू मे निगोद वताया है। ऐसा ही कथन कार्तिकेयानुप्रेक्षा (रायचन्द्र शास्त्रमाला) पृष्ठ ५६, ६२ मे तथा सिद्धान्तसार सग्रह (जीवराज ग्रन्थमाला) पृष्ठ १४४ मे हिन्दी अनुवादको ने किया है जब कि मूल और सस्कृत टीका मे ऐसा कुछ नही है।
(२) जैन बाल गुटका (प्रथम भाग बाबू ज्ञानचन्द जैनी, लाहौर) पृष्ठ ३२ त्रसनाली मे नीचे निगोद —
(३) यशोधर चरित्र (लोकानुप्रेक्षा के वर्णन मे, हजारी लाल जी कृत भाषा) पृष्ठ १६१— नर्क निगोद पाताल विषे जहाँ क्षेत्र जुराजू सात वखानो।"

प्रश्न—"सूक्ष्मनिगोद सर्वत्र है यह ठीक है पर ७ वी पृथ्वी के नीचे जो निगोद कही जाती है वह वादर निगोद है।"[१]

उत्तर—ऐसा कहना भी उचित नही हैं। क्योकि वादर जीव विना आधार के रह नही सकते ऐसा सिद्धान्त है। गोम्मटसार जीवकाड गाथा १८३ मे लिखा है कि—"आधारे थूलाओ सव्वत्थ णिरतरा सुहमा।" वादर जीव आधार पर रहते हैं और सूक्ष्म जीव सर्वत्र विना व्यवधान के भरे हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे लिखा है कि—

पुण्णा वि अपुण्णा वि य थूला जीवा हवंति साहारा।
छव्विह सुहुमाजीवा लोयायासे वि सव्वत्थ ॥ १२३ ॥

अर्थ—चाहे पर्याप्त हो या अपर्याप्त हो सव ही वादर जीव आधार के सहारे से रहते हैं। तथा पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-नित्य निगोद और इतरनिगोद ये ६ सूक्ष्म जीव लोकाकाश मे सव जगह भरे हैं।

नरक की ७ वी पृथ्वी के नीचे एक राजू प्रमाण क्षेत्र मे वातवलयो को छोडकर वाकी सारा स्थान निराधार है। और विना आधार के वादर शून्यमय जीव रहते नही है तो वहाँ वादर निगोद भी कैसे मानी जा सकती

---

१. प० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य ने "तीन लोक का वर्णन" लेख में (सरल जैन धर्म) पृष्ठ १०६ मे) लिखा है—अधो लोक मे सबसे नीचे एक राजू तक **बादर निगोद** जीव भरे हुए हैं और उससे ऊपर छह राजुओ में सात पृथ्वियाँ हैं।

है ?[10] दूसरी बात यह है कि—गोम्मटसार जीवकाड गाथा १९९ मे वनस्पतिकायिक-विकलत्रय पचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्यो के (केवल शरीर-आहार शरीर को छोडकर) शरीरो मे बादर निगोदिया का स्थान बताया है। और सातवी पृथ्वी के नीचे वातवल्यो को छोडकर शेष स्थान मे न प्रत्येक वनस्पतिकायिक है और न त्रस है इससे भी वहाँ बादर निगोद का अभाव सिद्ध होता है।

प्रश्न—सातवे नरक के नीचे नित्य निगोद का स्थान मान ले तो क्या हानि है ?

उत्तर—ऐसा त्रिलोकसार की आर्यिका विशुद्धमति जी कृत हिन्दी टीका के पृष्ठ १५१ तथा ग्रन्थारम्भ मे दी गई त्रिलोका कृति मे प्रदर्शित है। किन्तु वह भी शास्त्र सम्मत नही है। यह विशेष कथन उनका स्वकल्पित है। त्रिलोक सार की मूल गाथा सस्कृत टीका और वचनिका किसी मे ऐसा कथन नही है और न किसी अन्य ग्रन्थ मे ही ऐसा कथन है। प० पन्नालाल जी आर्चिटेक्ट दिल्ली ने भी तीन लोक के नकशे मे सातवें नरक के नीचे नित्य निगोद प्रदर्शित किया है—वह भी सम्यक् नही है। नित्य निगोद वहाँ मानने मे यह बाधा आती है कि—नित्य निगोद सूक्ष्म तथा बादर दोनो प्रकार का होता है। देखो—गोम्मटसार जीवकाड गाथा ७३ (यही कथय 'पचसग्रह' तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा की शुभचन्द्र

---

१०. चर्चा समाधान (चर्चा न० ९५) में सातवें नरक के नीचे बादर निगोद (पचकल्याणक) का अभाव बताया है। सुदृष्टि तरगिणी मे भी पं० टेकचन्द जी सा० ने लिखा है कि—सातवें नरक के नीचे बादर निगोद बताने वाले भोले जीव हैं।

कृत टीका मे है।) जवकि वादर निगोद सातवे नरक के नोचे सम्भव नही है क्योकि वह एक राजू स्थान निराधार है। और 'आधारे थूलाओ' सूत्रानुसार वादर साधार रूप मे ही होते है, निराधार रूप मे कदापि नही। अत नित्य निगोद की अन्यत्र भो विद्यमानता होने से इस स्थान को ही नित्यनिगोद का वताना ठीक नही है। इसके सिवा सातवे नरक के नीचे सूक्ष्म निगोद हो नही अन्य भी सूक्ष्म स्थावर जीव पाये जाते हैं। ऐसी हालत मे उसे एक मात्र नित्य निगोद का ही क्षेत्र वताना भी समुचित नही है। अत सातवें नरक के नीचे न तो एक मात्र नित्य निगोद या इतर निगोद है किन्तु निगोदादि पच सूक्ष्म स्थावर है ऐसा मानना ही परिपूर्ण और निर्दोष होगा। और सव मान्यता एकागी एव असम्यक् होगी। "त्रिलोक भास्कर" (पृष्ठ ३) मे आर्यिका ज्ञानमती जीने भी सातवे नरक के नीचे नित्य निगोद वताया है वह भी इसी तरह सदोष है।

इससे यह भी प्रगट होता है कि जिस प्रकार प्रत्येक वनस्पति के आश्रित वादर निगोद होने से वह सप्रतिष्ठित कहलाती है उसी तरह त्रस जीवो के शरीरो के आश्रित भी वादर निगोद जीव रहते हैं अत त्रसकाय भी सप्रतिष्ठित कहलाता है[11] गोम्मटसार की उक्त गाथा १९९ मे यह भी लिखा है कि—पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु इन ४ स्थावरो के शरीर, तथा देव शरीर नारकी शरीर, अहारक शरीर, और केवली का शरीर

---

११ अनागार धर्मामृत पृष्ठ ४६१ मे मलपरीषह प्रकरण मे लिखा है—उद्वर्त्तन (उवटन, मैल उतारने) मे वादर प्रतिष्ठित निगोद जीवो का घात होता है।

सिर्फ इन आठ शरीरो मे निगोदिया जीव नही होते, शेष सब शरीरो मे निगोद जीव होते है। इसलिए अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के निम्न श्लोक मे मास मे निगोद जीव होने का कथन किया है—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांस पेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोताना ॥ ६७॥

अर्थ—कच्ची, पक्की, पकती हुई मास की डलियो मे मास जैसे वर्ण-रस-गध वाले निगोद जीव निरन्तर ही उत्पन्न होते रहते है।

पुरुपार्थ सिद्धयुपाय के इस श्लोक मे प्रयुक्त "तज्जातीना निगोताना" का अर्थ कोई ऐसा करते है कि—जिस जाति के जीव का माँस होता है उसमे उसी जाति के जीव पैदा होते है। जैसे बैल का माँस हो तो उसमैं बैल जैसे ही सूक्ष्म त्रस जीव पैदा होते है।" ऐसा अर्थ करने पर जब निगोद शब्द के साथ सगति बैठती नही, क्योकि निगोदिया जीव त्रस होते नही तव वे निगोत शब्द का लब्ध्यपर्याप्तक अर्थ करके सगति बैठाने का प्रयत्न करने लगते है पर निगोत का लब्ध्यपर्याप्तक अर्थ किसी शास्त्र मे देखने मे आया नही है। यह गडवड 'तज्जातीना' शब्द का ठीक अर्थ न समझने की वजह से हुई है। इसलिए 'तज्जातीना' का सही अर्थ यो होना चाहिए कि—"उसी मास की जाति के (न कि उसी जीव की जाति के) अर्थात् उस मास का जैसा वर्ण-रस-गध है उसी तरह के उसमे निगोद जीव पैदा होते है।" ऐसा अर्थ करने से कोई असगतता नही रहती। जिस प्राकृत गाथा की छाया को लेकर पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे उक्त पद्य रचा गया

है उस गाथा मे भी मास मे निरन्तर निगोद जीवो की ही उत्पत्ति वताई है। वह गाथा यह है—

आमासु अ पक्कासु अ विपच्चमाणासु मंसपेसोसु।
सययं चिय उववाओ भणिओ उ निगोअजीवाणं॥

यह गाथा श्वेताम्वराचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश में उद्धृत की है। स्याद्वादमजरी के पृष्ठ १७६ पर भी यह गाथा उद्धृत हुई है। तथा पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की पण्डित टोडरमल जो साव ने वचनिका लिखी है। उसमे उक्त पद्य न० ६७ का अर्थ इस प्रकार किया है— 'आली होउ, अग्निकरि पकाइ होउ, अथवा पकती होउ,कछु एक पकी होउ, ऐसे सवही जे मास की डली तिनवषै उसही जाति के निगोदिया अनन्ते जीव तिनका समय-समय विषै निरन्तर उपजना होय है। सर्व अवस्था सहित माँस को डलिनी विषै निरन्तर वैसे ही माँस सारिखे नये-नये अनन्त जीव उपजे है।"

यहाँ टोडरमल जी साव ने भी माँस मे माँस जैसे ही निगोद जीव की उत्पत्ति लिखो है। न कि लब्ध्यपर्याप्तको की। और देखो सागारधर्मामृत अ० २ श्लोक ७ मे प० आशाधर जी भी माँस में प्रचुर निगोद जीव वताते हुए निगोत का अर्थ साधारण-अनन्तकाय लिखते है। लब्ध्यपर्याप्तक नही लिखते। यहाँ यह भी समझना कि—जैसे स्थावर वनस्पतिकाय मे जो वादर निगोदजीव पैदा होते हैं। वे भी तो उस वनस्पति के रूप-रस-गन्ध जैसे ही पैदा होते हैं। वैसे ही त्रस जीवो के कलेवरो मे समझ लेना चाहिए। यह एक जुदी वात है कि—तिर्यञ्चो के मास मे निगोद जोवो के अतिरिक्त लब्ध्यपर्याप्तक और पर्याप्तक कृमि आदि त्रस जीव भी पैदा

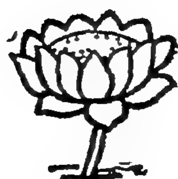
हो जाते है। यहाँ तक की उसमे सम्मूर्च्छिम पचेन्द्रिय लब्ध्य-पर्याप्तक तिर्यञ्च तक पैदा हो सकते हैं। परन्तु इसका मायना यह नही है कि बैल के कलेवर मे बैल जैसे पचेन्द्रिय सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक जीव पैदा होते हैं। ऐसा कोई आर्ष प्रमाण हो तो बताया जावे। मनुष्य के कलेवर मे लब्ध्य-पर्याप्तक मनुष्यो का पैदा होना ऐसा तो शास्त्रो मे स्पष्ट कथन मिलता है। परन्तु जिस जाति के तिर्यंच का कलेवर हो उसमे उसी तिर्यंच जाति के लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म जीव पैदा होते हैं ऐसा कथन नही मिलता है। तथा जिस प्रकार सभी सम्मूर्च्छिम मनुष्य नियमत लब्ध्यपर्याप्तक ही होते है। उस तरह सभी सम्मूर्च्छिम तिर्यंच लब्ध्यपर्याप्तक नही होते वे पर्याप्तक भी होते है। इस तरह दोनो मे विषमता होने से यह भी नही कह सकते कि जैसी उत्पत्ति लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यो की है। वैसी ही तिर्यंचो की भी है। यद्यपि आगम मे पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो के गर्भज और सम्मूर्च्छिम ऐसे दो भेद जरूर किये है। पर इसका मतलब यह नही है कि जो बैल, हाथी घोडे गर्भजन्म से पैदा होते हैं वे ही सम्मूर्च्छिम भी होते हैं। सम्मूर्च्छिम पचेन्द्रिय तिर्यंच और ही होते हैं— जिस जाति के गर्भज तिर्यंच होते हैं उसी जाति के सम्मूर्च्छिम तिर्यंच नही होते ऐसा कहने मे कोई वाधक प्रमाण नजर नही आता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ६६ की टीका में प० सदासुख जी ने लिखा है—"मनुष्य तिर्यंचनि के माँस का एक कण मे एते वादर निगोदिया जीव हैं जो त्रैलोक्य के एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक जितने जीव हैं उनसे अनन्तगुणे है ताते अन्न जलादिक असख्यात वर्ष भक्षण करे तिसमे जो

एकेन्द्रिय हिंसा होय ताते अनन्तगुणे जीवनि की हिंसा सुई की अणीमात्र माँस के भक्षण करने मे है पृष्ठ १८१।" प० सदासुख जी साव ने भी माँस मे जो निगोदिया जीव सतत उत्पन्न होते है उन्हे एकेन्द्रिय ही माना है। किन्तु "श्री जिनागम" पुस्तक के पृष्ठ ३२३ पर देशाई जी ने इस कथन की आलोचना की है जो ठीक नही है। प० सदासुख जी का कथन आगमानुसार है।

श्री मूलशकर जी देशाई ने अलब्धपर्याप्तक त्रसो को त्रसनिगोद की सज्ञा दी है। किन्तु वे सख्यात या असख्यात ही उत्पन्न होते हैं अनन्त नही। यहाँ अनन्त का उल्लेख होने से स्थावर निगोद ही ग्राह्य है जो अपर्याप्तक औरपर्याप्तक दोनो होते हैं जबकि त्रस निगोद पर्याप्तक नही होते।

आशा है बहुश्रुतज्ञ विद्वान और त्यागी वर्ग इस निवन्ध पर गहरे चिंतन के साथ अपने विचार प्रकट करने की कृपा करेंगे।



* ऐलक—चर्या *

क्या होनी चाहिये और क्या हो रही है ?

हमारे कितने ही भाई ऐलक और मुनि मे इतना ही भेद समझते हैं कि ऐलक लगोट लगाते है और मुनि लगोट नही लगाते नग्न रहते है। इसके सिवाय दोनो की चर्या मे और कोई अन्तर नही समझते। और ऐलक जी भी स्वय ऐसा ही समझते है। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है और आगम भी ऐसी साक्षी नही देते। शास्त्रो में वाह्यवेश के सिवाय,दोनो की चर्या मे भी कुछ अन्तर जरूर रखा है। पर वह अन्तर आज लोप किया जा रहा है और बहुत कुछ लोप हो भी चुका है जिसका भान विद्वानो तक को नही होता। किन्तु तद्विषयक आगमो के देखने वालो को उक्त भेद स्पष्ट नजर मे आने लगता है वह कैसे छिपाया जा सकता है।

ऐलक यह एक श्रावक का उत्कृष्ट लिंग है। इसके ऊपर मुनि होने के अतिरिक्त और कोई श्रावक का दर्जा नही इसी अभिप्राय से किन्ही ग्रन्थो मे उनका लघुमुनि, देशयति, मुनिकुमार या ऐसे ही किसी नाम से उल्लेख किया गया है। जब तक शरीर पर वस्त्र का एक धागा भी पडा रहेगा तब तक मुनि नही कहाये जा सकते, फिर उनके पास तो वस्त्र की बडी सी कौपीन रहती है। इसलिए ऐलको की मान्यता और चर्या ऐलको ही के अनुरूप होनी चाहिये, न कि मुनि के तुल्य। लेकिन हम देखते हैं कि ऐलक पद के लिए पूर्वाचार्यों ने जो कुछ सीमा बांधी थी आज उसका उल्लङ्घन किया जा रहा

है। इदानी लगोटधारी मुनियो की एक नई सृष्टि हो रही है।

ग्रन्थो मे लिखा है कि जो जिस प्रतिमा का धारी है उसे उससे नीचे की प्रतिमाओ का पालना भी अनिवार्य है। प्रसिद्ध आचार्य स्वामी समन्तभद्र के 'रत्नकरण्ड' ग्रन्थ क कौन नही जानता। जैन विद्यालयो के छोटे-छोटे विद्यार्थी तकों उसमे परिचित हैं उसमे साफ लिखा है कि—

श्रावक पदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु। स्वगुणाः पूर्वगुणे सह सतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा ॥ १३६ ॥

अर्थ—अर्हन्त देव ने श्रावको के ग्यारह पद वतलाये हैं। उनमे अपनी प्रतिमा के गुण पहिले की प्रतिमाओ के गुणो के साथ-साथ अनुक्रम से वढते हुये रहते हैं।

यही वात निम्न ग्रन्थो मे भी पायी जाती है—

अध्यधिव्रतमारोहेत्पूर्व पूर्वव्रत स्थित ।

— सोमदेवकृत यशस्तिलक ४४ वा काव्य

स्थानेष्वेकादशस्वेवं स्वगुणाः पूर्वसद्गुणैः।
संयुक्ताः प्रभवन्त्येते श्रावकाणां यथाक्रमम् ॥ ५४६ ॥

— वामदेवकृत भाव सग्रह

"व्रतादयो गुणा दर्शनादिभिः पूर्व गुणै सह क्रमप्रवृद्धाः भवंति।"

— चामुन्डराय कृत चारित्रसार सस्कृत पृष्ठ २

सकल कीर्ति ने "धर्मप्रश्नोत्तर" नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ६० मे 'उत्कृष्ट श्रावक कौन कहलाता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि—

"जो अपनी पूर्ण शक्ति से ग्यारह प्रतिमाओ का (न कि एक ११ वी का) पालन करते है वे उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।"

ग्रन्थो के इस कथन के अनुसार ऐलको को जो कि ११ वी प्रतिमा के धारी होते हैं नीचे की दसो प्रतिमाओ का पालन करना चाहिये किन्तु आजकल के प्राय ऐलक प्रोषध नाम की चौथी प्रतिमा का जिसमे अष्टमी चतुर्दशी को चार प्रकार के आहार का त्यागरूप प्रोषधोपवास करना होता है कोई पालन नही करते। वे तो अपने को मुनि की तरह अतिथि वतलाते हैं। कदाचित् किसी ग्रन्थ मे प्रसगोपात्त कहीं उन्हे अतिथि लिख दिया हो तो उसका यह अभिप्राय कदापि नही हो सकता कि पर्व तिथियो मे उनके लिए उपवास करने का नियम टूट गया समझ लिया जावे। वहाँ अतिथि शब्द को भिक्षुक अर्थ मे लेना चाहिए क्योकि ऐलक भिक्षाभोजी होते है। अगर अतिथि शब्द का यह मतलब न लिया जावेगा तो आचार्यों की आज्ञा एक दूसरे के विरुद्ध पडेगी।

वल्कि निम्नलिखित ग्रन्थो मे ११ वी प्रतिमा का स्वरूप वर्णन करते हुये उसके धारी को पर्वतिथियो मे उपवास करने की खासतौर से प्रेरणा की गई है—

'उववास पुणणियमा चउव्विह कुणई पव्वेसु' ॥ ३०३ ॥

— वसुनन्दिकृत श्रावकाचार

"पर्वसु चोपवास नियमतश्चतुर्विधं कुरुते।"

— तत्त्वार्थवृत्ति भास्कर नन्दि कत—अ० ७ सू० ३६ पृष्ठ १८१

'कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवास चतुर्विध' ॥ ३९ ॥ अ० ७
— आशाधरकृत सागारधर्मामृत

'चतुर्विधोपवास च कुर्यात्पर्वसु निश्चयात् ॥ ६३ ॥ अ० ८
— मेधावीकृत धर्मसग्रह श्रावकाचार

इन चारो उद्धरणो मे 'निश्चयात्' आदि वाक्यो मे इस वात का वहुत अधिक जोर दिया गया है कि वह निश्चय से चारो पर्वतिथियो मे उपवास करे ही। स्वय आशाधर ने स्वोपज्ञ टीका मे उक्त श्लोकार्द्ध के कुर्यादेव' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

कुर्यादेव अवश्य विदध्यादसौ। क उपवासमनशनं। किं विशिष्ट चतुर्विध चतस्रोविधा आहारास्त्याज्या यस्मिन्नसौ चतुर्विधस्तं। चतुष्पर्व्यां मासि मासि द्वयोरष्टम्योर्द्वयोश्चतुर्दश्यो।

ग्यारहवी प्रतिमा मे व्रत एक ऐसी ऊँची हद तक पहुच जाते है कि नीचे की प्रतिमाओ के व्रत विना कहे ही उनमे अन्तर्लीन हो जाते है किन्तु प्रोपधोपवास प्रतिमा का वहाँ अन्तर्भाव नही होता इसलिए उसे यहाँ खासतौर से अलग कहा है।

मुनि और ऐलक मे भेद डालने वाली यह तो हुई एक वात। अव हम एक दूसरी वात और वतलाते है। वह यह है कि—

आजकल जो ऐलक खडे आहार लेते है यह विधान मुनियो के लिये है ऐलको के लिए नही। इस विषय के लगभग सभी ग्रन्थो मे ११ वी प्रतिमाधारी को केवल वैठे भोजन करने

इजाजत दी है। पाठको की जानकारी के लिए उन सब प्रमाणो को नीचे उद्धृत किये देते है--

"पाणिपात्र पुटेनोपविश्यभोजी"

— चारित्रसार सस्कृत पृष्ठ १६

"भु जइ पाणपत्तम्मि भायणे वा सुई समुव इट्ठो" ॥ ३०३ ॥

— वसुनन्दि श्रावकाचार

पाणिपात्रे भाजने वा समुपविष्ट सन्नेकवार भु क्ते ।

— तत्त्वार्थ वृत्ति भास्कर नन्दि कृत अ० ७ सू० ३६ पृ० १८१

'स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने' ॥ ४० ॥ अ० ७

— आशाधरकृत सागारधर्मामृत

'आद्य पात्रेऽथवा पाणौ भु क्ते य उपविश्यवं ॥ ६३ ॥ अ० ८

— मेधावीकृत धर्मसग्रह श्रावकाचार

'उपविश्य चरेद्भिक्षा करपात्रेऽङ्ग सवृत ' ॥ ५६६ ॥

— वामदेवकृत 'भावसग्रह'

लोच पिच्छ च सधत्ते भुङ्क्तेऽसौ चोपविश्यवं ॥ २७२ ॥

— ब्रह्मनेमिदत्तकृत "धर्मोपदेशपीयूषवर्ष"

लोच पिच्छ धृत्वा भुक्तेह्य्रुपविश्य पाणिपुटे ।

— शुभचन्द्रकृत स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका

यही श्लोक श्रुतसागर ने पट्प्राभृत की टीका मे उक्त च रूप से लिखा है। *

पाणिपात्रेऽन्यपात्रे वा भजेदर्मुक्ति निविष्टवान् ॥ १८५ ॥

— गुणभूपणकत श्रावकाचार

★ देखो सूत्र पाहुड की गाथा २१ की टीका।

ऊपर के इन तमाम ग्रन्थो मे उपविश्य, समुवइट्ठो, समुपविष्ट, निविष्टवान्' वाक्य से साफतौर से ऐलक के लिये वैठा रहकर भोजन करना लिखा है।

यहाँ इतनी वात और कह देना योग्य है कि ग्यारहवी प्रतिमा का जो स्वरूप ग्रन्थो मे मिलता है वह एक प्रकार से नही पाया जाता। इसकी सज्ञा भी एक रूप मे नही मिलती। कही इसे उद्दिष्टविरत, कही उत्कृष्ठ श्रावक, और कही इस समूची हो प्रतिमाधारी को क्षुल्लक कहा गया है। कही इसके दो भेद किये है—१ प्रथमोत्कृष्ट और २ द्वितीयोत्कृष्ट। कही प्रथमोत्कृष्ट के भी दो भेद किये है—१ एक भिक्षा नियम और २ अनेक भिक्षा नियम। इतना सव कुछ होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थो मे कही ऐलक नाम की उपलब्धि नही होती। ऐलक नाम की कल्पना वहुत ही पीछे की जान पडती है। प्रचलित मे जो क्षुल्लक और ऐलक कहलाते है वे क्रम से प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट के भेदो मे गणना किये जा सकते हैं। साधारणतया क्षुल्लक और ऐलक की चर्या मे यह भेद है कि क्षुल्लक क्षौर (हजामत) कराता है, एक वस्त्र (पछेवडी) रखता है, और पात्र मे भोजन करता है। किन्तु ऐलक केशो का लोच करता है, कौपीन मात्र वस्त्र रखता है और करपात्र भोजी है। कुछ भी हो यह तो निश्चित है कि ११ वी प्रतिमा के किसी भी भेद प्रभेद वाले के लिए वैठे भोजन करने के सिवाय आगम मे कही खडे भोजन का कथन नही है।

सागारधर्मामृत, धर्मसग्रह-श्रावकाचार, और गुणभूषणकृत श्रावकाचार मे पहिले प्रथमोत्कृष्ट श्रावक के लिए वैठे भोजन का वर्णन किये वाद द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक की केश लुचन आदि उन क्रियाओ का वर्णन किया है जो प्रथमोत्कृष्ट

से द्वितीयोत्कृष्ट मे विशेष है। शेष क्रिया में द्वितीयोत्कृष्ट के लिए 'तद्वद्द्वितीय' 'तथा द्वितीय.' 'द्वितीयोऽपि भवेदेव' इन वाक्यो से वही रहने दी है जो प्रथमोत्कृष्ट के लिए कही गई थी। वसुनन्दि श्रावकाचार मे भी इसी तरह से कथन किया गया है। जैसा कि उसकी निम्न गाथा से प्रगट है—

एवं भेओ होई णवर विसेसो कुणिज्ज णियमेण।
लोचं धरिज्ज पिच्छं भुजिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥ ३११ ॥

इस गाथा मे लिखा है कि—११ वी प्रतिमा मे प्रथम भेद से दूसरे भेद वाले मे यही विशेषता है कि यह नियम से लौंच करता है, पीछी रखता है, और पाणिपात्र में भोजन करता है। और कोई विशेषता नही है।[1]

जरा सोचने की बात है कि अगर ग्रन्थकारो को ऐलक के लिए खडा भोजन कराना अभीष्ट होता तो उक्त विशेषताओ के साथ एक विशेषता खडा भोजन की भी लिख देते। किन्तु ऊपर के किसी ग्रन्थ मे ऐसा नही लिखा गया है।

धर्मोपदेशपीयूषवर्ष, भावसग्रह और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा को टोका मे तो साक्षात् द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक (जिसे वर्तमान मे ऐलक कहते है) को ही बैठे भोजन की आज्ञा की है। रहा चारित्रसार सो उसमे उद्दिष्टविनि वृत नाम की समूची ही ११ वी प्रतिमाधारी को बैठे भोजन करना प्रतिपादन किया है।

१—कौपीन मात्र वस्त्र का रखना भी इसकी विशेषता है वह यहाँ इसलिए नहीं बताई कि उसका कथन ऊपर गाथा मे कर दिया था।

यद्यपि ऊपर लिखित प्रमाणो मे बैठे भोजन का विधान करना ही खडे भोजन का निपेध सिद्ध कर देता है। फिर भी कुछ भाई कहते है कि क्या हुआ अगर बैठे भोजन करना लिख दिया तो, कही यह तो नही लिखा कि 'ऐलक खडे भोजन न-करे।' ऐसे कदाग्रहियो के सन्तोष के लिए भी वैसा एक प्रमाण नीचे और दे देते हैं। जिसमे साफ खडे भोजन का निषेध किया गया है—

क्षुल्लकेष्वेककं वस्त्रं नान्यन्न स्थितिभोजनम्।
आतापनादियोगोऽपि तेषां शश्वन्निषिध्यते ॥ १५५ ॥

टीका—क्षुल्लकेषु-सर्वोत्कृष्ठ श्रावकेषु। एकक-एक। वस्त्र-अवरं पट। नान्यत्-अन्य-द्वितीय वस्त्र न भवति। न स्थितिभोजन **उद्भीभूयभ्यवहारोऽपि** न भवति। आतापना-दियोगोऽपि-आतापवृक्षमूलाभ्रावकाशयोगश्च। तेषा-क्षुल्ल-काना। शश्वत्-सर्वकाल। निषिध्यतेप्रतिपिध्यते।

गुरु दासाचार्य का वनाया हुआ एक 'प्रायश्चित्त-समुच्चय' नाम का ग्रन्थ है। जिस पर श्री नन्दिगुरु ने एक सस्कृत टीका भी लिखी है। वही का यह श्लोक मय टीका के है इसमे लिखा है कि—"क्षुल्लको के लिये एक वस्त्र का ही विधान है दूसरे का नही। वे खडे होकर भोजन भी नही कर सकते और उनके लिये आतापनादि योग भी सदैव निषिद्ध है।

"यह कथन क्षुल्लक के लिए है, ऐलक के लिए नही। श्लोक मे भी साफ क्षुल्लको के स्थिति भोजन का निषेध किया है।"

ऐसी शका भो नही करनी चाहिए। क्योकि प्राचीन ग्रन्थो मे ऐलक नाम आता ही नही। जिसे आज हम ऐलक

कहते हैं उसे ही शास्त्रकारो ने क्षुल्लक नाम से भी लिखा है। स्वय इसी ग्रन्थ मे इसके अगले ही श्लोक मे इस रहस्य को खोल दिया है। यथा—

क्षौरं कुर्याच्च लोच वा पाणौ भुंक्तेऽथ भाजने।
कौपीनमात्रतन्त्रोऽसौ क्षुल्लक परिकीर्तित ॥१५६॥

अर्थ—क्षौर कराओ चाहे लौच, हाथ मे भोजन करो चाहे पात्र मे वह कोपीन मात्र का धारी क्षुल्लक कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि यहाँ उस ऐलक को भी क्षुल्लक कहा गया है जो लौंच करता है, करपात्र मे भोजन करता है और कौपीन रखता है। इसलिए इस ग्रन्थ मे जिस क्षुल्लक के लिये स्थितिभोजन करना मना किया है उसे ऐलक भी समझना चाहिए।

यह कथन उस वक्त का है जबकि ११ वी प्रतिमा के २ भेद नहीं थे एक ही था और उसे क्षुल्लक (टीका मे उत्कृष्ट श्रावक) ही कहते थे इसी से उसके एक वस्त्र ही बताया है। आज यह एक वस्त्र ऐलक के माना जाता है और क्षुल्लक के दो वस्त्र (कौपीन और उत्तरीय) माने जाते हैं।

यह तो हुई सस्कृत प्राकृत ग्रन्थो की बात। अब हम इसकी पुष्टि मे भाषा ग्रन्थो के भी तीन प्रमाण लिख देते हैं—

(१) प० बुधजन जी कृत—तत्त्वार्थ बोध पृ० १५६ मे लिखा है—

अईलक महापुनीत, केश लौंचे निज करतं।
ले करपात्र अहार, बैठि इक श्रावक घरतं ॥ ८२ ॥

(८) दौलत क्रिया कोष में लिखा है कि—

क्षुल्लक, श्रीके पास लंगोट,
                    तैसे करें करपात्र अहार।
मुनिवर उत्तम भेद अपार,
                    ऐलिक[1] सर्वथा बैठा मार॥ ६२७॥
                              — प्रतिमाधर्माधिकार

(३) पं० भूधरदास जी कृत पार्श्वपुराण में —

यह क्षुल्लक श्रावक की रीत,
                    दूजो ऐलक अधिक पुनीत।
जाके एक कमर कोपीन,
                    हाथ कमण्डलु पीछी लीन॥ १९७॥

जिनकी बैठि केरि आहार[2] पाणिपात्र आगम अनुसार।
करें केश लुञ्चन अतिधीर, शीत घाम सब सहैं शरीर॥ १९८॥

पाणिपात्र आहार, करै यथामुनि और मुनि।
बचो रहै तिहिवार, भक्तिरहित भोजन तजै॥ १९९॥

एक हाथ में पात्र धरि, एक हाथसों लेय।
श्रावक के घर आयके, ऐलक असन करेय॥ २००॥

यह ग्यारह प्रतिमा कथन, लिख्यो सिद्धांत निहार।
और कथन बाकी रहे, अब तिनि को अधिकार॥
                              — ९ वाँ अधिकार॥

१—ऐलक
२—यहाँ के मन्दिर जी के शास्त्र भण्डार में जो हस्त लिखित पार्श्व-
पुराण है उस में भी यही पाठ है।

तीनो ही भाषा ग्रन्थो मे ऐलक के लिए बैठा भोजन लिखा है। साथ ही दौलत क्रिया कोश मे अर्यका के लिये भी बैठे भोजन करने का विधान किया है। भगवती आराधना अध्याय १ गाथा ८३ की वचनिका मे पण्डित प्रवर सदासुख जी सा० ने भी आर्यिका के लिये बैठकर आहार ग्रहण करने की वात लिखी है। आर्यिका उपचार महाव्रती होती है जवकि क्षुल्लक-ऐलक पचम गुणस्थानी अणुव्रती ही होता है ऐसी हालत मे जब आर्यिका तक बैठा भोजन करती है तो क्षुल्लक-ऐलक खडे भोजन कैसे कर सकता है ? यह तो साधारण बुद्धि भी सोच सकता है। खडा भोजन तो निर्ग्रन्थ महाव्रती साधु ही करता है इसीलिए साधु के ही २८ मूलगुणो मे 'स्थिति भोजन' नाम का एक मूल गुण बताया है, अन्य के नही। स्त्रियो मे क्षुल्लिका और आर्यिका पद ही होता है ऐलिका पद नही।

प० भूधरदास जी ने एक नई और बात लिखी है। वे लिखते हैं कि–मुनि जो पाणिपात्र मे आहार करते हैं वे अजुली जोड कर करते है परन्तु ऐलक अजुली जोड कर नही करते। वह तो एक हाथ पर धरे हुए ग्रास को अपने दूसरे हाथ से उठा कर खाता है। न मालूम भूधरदास जी ने यह बात किस आधार से लिखी है। सम्भव है कि यह ठीक हो क्योकि इस विषय के ग्रन्थो मे सामान्यरूप से पाणिपात्र आहार का उल्लेख मिलता है। दोनो ही तरह को पाणिपात्र कह सकते हैं। विद्वानो को इसकी खोज करनी चाहिए। प० भूधरदास जो इस स कथन को सिद्धात के अनुसार लिखा बताते है।

यहां पर एक आक्षेप का समाधान करना अनुचित न होगा, कुछ भाई कहते हैं कि—"अगर ऐलक मुनि को तरह

[illegible] इसलिए

[illegible]

मासमास [illegible] पञ्चाग्नि [illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] नीसरा [illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] —

न [illegible] पुन ।
[illegible] ॥
पाणिपात्र [illegible] भोजने ।
पात्रसावद्यं [illegible] ॥

— 'तीसरा [illegible]'

★ [illegible] अनुवाद किया है [illegible] बड़ा ही सुन्दर है ।

मूलाचार सस्कृत पृष्ठ ४४, अनगार धर्मामृत सस्कृत पृष्ठ ६८२, आचार सार पचमोधिकार श्लोक १२२ मे भी मुनि के स्थिति भोजन मे यही कारण बताया गया है।

पाठक समझ गये होगे कि मुनि जो खडे आहार लेते है उसमे कितनी भीषण प्रतिज्ञा है। ऐसे कठिन अनुष्ठान के लिये श्रावक को अयोग्य समझकर ही ग्रन्थो मे ११ वी प्रतिमाधारी के लिए बैठे भोजन की आज्ञा प्रदान की गई है। और इसी आधार पर शायद भूधरदास जी ने पार्श्वपुराण मे ऐलक के लिये अजुली जोड कर भोजन करने का भी उल्लेख नही किया मालूम होता है। जो ऐलक कौपीन मात्र को नही त्याग सकता उसमें इतना साहस कहाँ से आ सकता है ? और इसीलिये उसके आतापनादि योगो का भो निषेध शास्त्रो मे किया गया जान पडता है। खुद प० वामदेव ने भावसग्रह मे ११ वी प्रतिमा वाले के वीरचर्या न होने का कारण कौपीन मात्र परिग्रह वतलाया है। वह वाक्य इस प्रकार है—

'वीरचर्या न तस्यास्ति वस्त्रखड परिग्रहात्'। ५४८।

सोचने की वात है अगर ऊँची क्रिया के वहाने शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति की जायेगी तो—आर्यिका-क्षुल्लक व ब्रह्मचारी गण भी खडे भोजन करना प्रारम्भ कर देगे फिर उन्हे कैसे रोका जायगा ? अत शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करने मे ही सवका हित है इसी से त्यागी वर्ग मे अनुशासन वना रहेगा, अन्यथा स्वछन्दता फैल जायेगी। अगर ऐलक शुद्ध मन से ऊँची क्रिया पालने की भावना रखते है तो साहस करके लगोटी छोड दे फिर उन्हे कोई खडे भोजन से रोकने वाला नही मिलेगा।

इस प्रकार इस विषय मे जितना भी विचार किया जाता है किसी भी तरह ऐलक के लिये खडा भोजन सिद्ध नही होता। इस विषय के सभी सस्कृत प्राकृत के उपलब्ध ग्रन्थ देखे गये उनमे कोई एक भी ऐलक को खडे आहार की आज्ञा नही देता और किसी मे भी यह लिखा नही मिलता कि ऐलक के वास्ते पर्वतिथियो मे प्रोषधोपवास करने का नियम नही है। इतना विवेचन किये बाद भी यदि किसी अर्वाचीन मामूली ग्रन्थ मे इसके विरुद्ध लिखा मिल जावे तो वह प्रमाण नही माना जा सकता। क्योकि आधुनिक किसी भी ग्रन्थ का कोई भी शास्त्रीय विधान तब तक मान्य नही हो सकता जब तक कि उसका समर्थन पूर्वाचार्यों के ग्रन्थो से न होता हो। मुझे उस वक्त बडा आश्चर्य होता है जब मैं वर्तमान के कुछ पण्डितो की लिखी हुई छोटी मोटी पुस्तको मे ऐलक के लिये खडा भोजन का कथन पढता हूँ। बगैर शास्त्रो के देखे यो ही किसी सुनी सुनायी बात को शास्त्र का रूप दे देना बहुत ही बुरा है ऐसी पद्धति पण्डितो को शोभा नही देती।

जो ऐलक मुनियो की बराबरी करने के लिये पूर्वाचार्यों के ग्रन्थो मे आज्ञा न होते भी खडा भोजन करता है और पर्व तिथियो मे उपवास नही करता वह शास्त्र विहित चर्या नही करता है। उसकी इस प्रवृत्ति का विचारशील शास्त्र-वेताओ को पर्याप्त विरोध करना चाहिये। विज्ञजनो की उपेक्षावृत्ति से ही शास्त्र विरुद्ध रीतियो का जन्म होता है। इति।

सम्पादकीय नोट—लेखक ने बहुत श्रम करके लेख

लिखा है विद्वानो को विचार करके इस विषय मे अपना मत प्रगट करना चाहिये।

हम भी प्रमाण संचित करने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु अभी तक लेखक के विरोध मे सिवाय रूढि के और कोई प्रमाण नही मिला है। मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत द्वारा संगृहीत प्रकाशित (वीर सं० २४४०) "त्रेपन क्रिया विवरण" पुस्तक के पृष्ठ १३ पर लिखा है—ऐलक पदवीमां विशेषता एछे कि—"उभारही ने पाणिपात्रज आहारज करे" किन्तु यह किसी भ्रमवश या गलती से लिखा गया है क्योकि इसके लिए कोई प्रमाण या आधार वहाँ नही दिया गया है। यही हालत पं० हीरालाल जी शास्त्री की है उन्होने भी श्रावकाचार संग्रह भाग ४ की प्रस्तावना पृष्ठ ६३ मे ऐलक के खड़े भोजन करने की वात लिखी है जो निराधार है।



पं० टोडरमल जी और शिथिलाचारी साधु

जिन देव-शास्त्र-गुरू की हम नित्य पूजा करते हैं उनमे देव शास्त्र के साथ गुरू का नाम भी जुडा हुआ है। इससे प्रगट होता है कि—गुरू यानी मुनि का पद भी कम महत्व का नही है। गुरू के लिये एक कवि ने यहाँ तक लिख दिया है कि—"वे गुरू चरण धरे जहाँ जग मे तीरथ होइ।" ऐसे महान् पद के धारी मुनि भी केवल वेषमात्र से ही मुनि न होने चाहिए, किन्तु वेष के अनुसार उनमे मुनिपने का वह उज्ज्वल चारित्र भी होना चाहिये जो मुनियो के आचार शास्त्रो मे लिखा है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे गुरू का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

अर्थ—जो इन्द्रियो के विषयो की आशा से दूर रहता हुआ आरम्भ परिग्रह से रहित और ज्ञान-ध्यान तप मे तल्लीन रहता है, वही प्रशसनीय मुनि कहलाता है।

इस महान पद की सुरक्षा के लिए हमारे पूर्वाचार्यों ने मुनियो के शिथिलाचार पर बडी कडी दृष्टि रक्खी है। वेष-मात्र को तो उन्होने आदरणीय ही नही माना है। उन्होने इस दिशा मे सावधान रहने के लिए मुनिभक्तो को जो आदेश दिया है उसके कुछ नमूने हम यहाँ लिख देना उचित समझते हैं—

मोक्षमार्ग मे सम्यक्त्व और चारित्र का ही सर्वाधिक महत्व है। इसलिए गुणस्थानो का क्रम सम्यक्त्व और चारित्र की अपेक्षा से है, ज्ञान की अपेक्षा से नहीं है। ज्यों ज्यो चारित्र बढ़ता जावेगा त्यो त्यो ही आत्मा ऊपर के गुणस्थानो में चढ़ता जावेगा। ऐसी बात ज्ञान की वृद्धि के साथ नहीं है—ज्ञान बढ़ता रहे तब भी गुणस्थान बढता नहीं।

सबसे पहिले इस विषय मे हम महर्षि कुन्दकुन्द की वाणी उद्धृत करते है —

अस्संजद ण वदे वत्थविहीणोवि सो ण वंदिज्जो।
दोण्णिवि होंति समाणा एगोवि ण सजदो होदि॥ २६॥

— "दर्शनपाहुड़"

अर्थ—असयमी कहिये जो कि महाव्रती नही है—गृहस्थ है उसकी वन्दना न करे। और जो वस्त्र त्याग कर नग्नलिंगी बन गया है परन्तु सकल सयम का पालन नही करता है वह भी वन्दना के योग्य नही है। दोनो ही यानी गृहस्थ और मुनि वेषी एक समान है। दोनो मे एक भी सयमी-महाव्रती नही है।

उक्किट्ठसींह चरिय बहुपरियम्मो य गरूयभारो य।
जो विहरइ सच्छद पाव गच्छेदि होदि मिच्छत्त॥ ९॥

— 'सूत्र पाहुड़"

अर्थ—जो स्वच्छन्द कहिये जिनसूत्र को उलघन कर प्रवर्तता है, वह उत्कृष्ट सिह—चारित्र का धारी, बहुपरिकर्म-वाला और गच्छनायक ही क्यो न हो तब भी वह पापी और मिथ्यादृष्टि ही है।

भावविसुद्धणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥ ३ ॥ भा पा

अर्थ—भावो को निर्मल रखने के लिये बाहिर मे परिग्रहो का त्याग किया जाता है। (त्याग करके भी जो अभ्यतर परिगह कहिये विषय कषायादि का धारी है तो उसके वाह्यत्याग निष्फल है।)

भावविमुत्तो मुत्तो णय मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।
इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतर धीरा ॥ ४३ ॥

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर ।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥ ४४ ॥

— **"भावपाहुड़"**

अर्थ—जो रागादिभावो का त्यागी है वही त्यागी माना जाता है। केवल कुटुम्बादि के त्याग कर देने मात्र से ही कोई त्यागी नही कहलाता है। हे धीर ! ऐसी भावना रखकर तू अभ्यन्तर परिग्रह जो रागादि भाव उनका त्याग कर।

देहादि से ममत्व त्याग परिग्रह छोडकर कायोत्सर्ग मे स्थित हुए वाहुवली मानकषाय से कलुषितचित्त हुए कितने ही काल तक (एक वर्ष तक) आतापन योग मे रहे तो उससे क्या हुआ ? कुछ भी सिद्धि न हुई।

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण ।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४ ॥

— **"भावपाहुड़"**

अर्थ—भाव से भी नग्न होना चाहिये, केवल वाहरी नग्नवेष से ही क्या होता है ? जो द्रव्यलिंग के साथ-साथ

भावलिंग का धारी है वही कर्म प्रकृतियो के समूह का नाश करता है।

बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥ १५३ ॥

— **"भावपाहुड़"**

अर्थ—जो साधु मलिनचित्त हुआ मुनिचर्या मे अनेक दोष लगाता है वह श्रावक के समान भी नही है।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुव कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥ ६० ॥

— **"मोक्षपाहुड"**

अर्थ—चारज्ञान के धारी और जिनकी सिद्धि निश्चित है, ऐसे तीर्थङ्कर भी तपश्चरण करते है ऐसा जानकर विद्वान् मुनि को भी निश्चय से तपस्या करनी चाहिये।

सुहेण भाविद णाण दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावय ॥ ६२ ॥

— **"मोक्षपाहुड़"**

अर्थ—सुख की वासना मे रहा ज्ञान दुख पडने पर नष्ट हो जाता है। इसलिये योगी को यथा शक्ति दुख सहने का अभ्यास करना चाहिये। अर्थात् परीपहो को सहना चाहिये।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहण च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व ॥ ५ ॥

— **'शीलपाहुड़"**

अर्थ—चारित्रहीन ज्ञान को, सम्यक्त्वरहित लिंगग्रहण को और सयमहीन तप को यदि कोई आचरता है तो ये उसके निरर्थक हैं।

जो विसयलोलएहिं णाणीहिं हविज्ज साहिदो मोक्खो ।
तो सो सच्चइपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥३०॥

— "शीलपाहुड़"

अर्थ—यदि इन्द्रिय—विषयो के लोलुपी शास्त्रज्ञानियो ने ही मोक्ष साध लिया होता तो दशपूर्वों का ज्ञाता होकर भी सात्यकिपुत्र-रुद्र नरक मे क्यो जाता ?

यह तो हुआ श्री कुन्दकुन्द स्वामी का उपदेश । इन्ही सबका सारांश आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे एक ही पद्य मे कह दिया है ।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

अर्थ—गृहस्थ यदि निर्मोही है तो वह मोक्षमार्ग का पथिक है । किन्तु मुनि होकर मोह रखता है तो वह मोक्षमार्ग का पथिक नही है । मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ माना जाता है ।

आचार्य गुणभद्र को तो वन को छोड रात्रि मे वस्ती के समीप आ जाने मात्र मुनियो की इतनी सी शिथिलता भी सहन न हुई है । वे आत्मानुशासन मे लिखते है—

इतस्ततश्च त्रस्यंतो विभावार्या यथा मृगा ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार इधर उधर से भयभीत हुए गीदड रात्रि मे वन को छोड गाँव के समीप आ जाते है, उसी प्रकार इस कलिकाल मे मुनिजन भी वन को छोड रात्रि मे गाँव के समीप रहने लगे है । यह खेद की बात है ।

रानी रेवती की कथा मे आचार्य महाराज ने श्राविका रेवती को तो आशीर्वाद कहला भेजा। परन्तु वही पर रहने वाले ग्यारह अङ्ग के पाठी किन्तु चारित्र भ्रष्ट भव्यसेन मुनि को आशीर्वाद कहला नही भेजा। मोक्षमार्ग मे सम्यक्त्व और चारित्र का ही सर्वाधिक महत्व है। इसीलिए गुणस्थानो का क्रम सम्यक्त्व और चारित्र की अपेक्षा से है, ज्ञान की अपेक्षा से नही है। ज्यो-ज्यो चारित्र बढता जायेगा त्यो त्यो ही आत्मा ऊपर के गुणस्थानो मे चढता जावेगा। ऐसी बात ज्ञान की वृद्धि के साथ नही है—ज्ञान बढता रहे तब भी गुणस्थान बढता नही। अल्पश्रुत के धारी शिवभूति मुनि ने तुसमाष को घोषते हुए ही सिद्धि को प्राप्त कर लिया। यही बात मूलाचार मे कही है—

धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।
णय सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं ॥३॥

— मूलाचार-"समय साराधिकार"

अर्थ—धीरवीर वैराग्यपरायण मुनि तो थोडा पढ लिखकर ही सिद्धि को पा लेता है। किन्तु वैराग्यहीन मुनि सब शास्त्रो को पढकर भी सिद्धि को नही पाता है।

इन सब उल्लेखो मे मुनि के निर्मल चारित्र को प्रधानता दी है। अर्थात् किसी मुनि मे अन्य सभी गुण हो और चारित्र की उज्ज्वलता न हो तो सब निरर्थक है।

यह तो हुआ पूर्वाचार्यों का कथन। तदनन्तर वि० स० १३०० के करीब मे मुनिवेषियो का जो कुछ हाल था उसे देखकर प० आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत के दूसरे अध्याय मे अपने निम्न विचार व्यक्त किये है—

मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवंद्यामपोद्यार्हतीं,
वामां केचिदहंयवो व्यवंहरन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिता ।
लोकं भूतवदाविशत्यवशिनस्तच्छायया चापरे,
म्लेच्छन्तीह तर्कस्त्रिधा परिचयं पुंदेहमोहैस्त्यज ।। ९३ ।।

इस पद्य का अर्थ आशाधर जी ने स्वोपज्ञ सस्कृत टीका मे जैसा किया है उसका हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार है—

वर्तमान काल मे एक प्रकार के अहकारी साधु तो वे हैं जो समीचीनरूप से व्यवहार में आने वाली और तीन जगत में वन्दनीय ऐसी आर्हतीमुद्रा जिनमुद्रा को छोडकर उससे उल्टी जटा रखना, भस्म रमाना आदि विपरीत मुद्रा को धारण किये हुए है वे तो तापसी आदि है। जिस प्रकार क्षुद्र लोग खोटे सिक्के (मुद्रा) वनाकर प्रचार मे लाते हैं उसी प्रकार ये तापसी विपरीत मुद्रा को धारण कर साधु नाम से प्रचार मे आ रहे है। दूसरी प्रकार के साधु वे है जो द्रव्य जिन-लिंग के धारी वाहर से यानी शरीर से (न कि मन से) जिन मुद्रा को धारण कर जैन मुनि कहलाते है किन्तु इन्द्रिये उनके वश मे नही है। वे धार्मिक लोगो से अनेक ऐसी चेष्टायें कराते है जैसे उनको कोई भूत लग गया हो। अर्थात् वाहर से जैन मुनि का वेष देख कर विचारे धर्मपिपासु भोले जैनी भाई उन पर ऐसे आकर्षित हो जाते है कि वे मुनि जैसा कहते हैं वैसा ही वे करने लग जाते है। उन भोले भावुक लोगो को ऐसी चेष्टा देखने से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो इन जैनी भाइयो को कोई भूत-प्रेत लग गया है जिससे वावले होकर यद्वा तद्वा चेष्टाये करते है। तथा तीसरी प्रकार के साधु वे हैं जो द्रव्य जिनलिंग

को धारण करके मठो मे निवास करते है। और मठो के अधिपति वने हुए है। वे जिनलिंग की नकल करके मुनियो की तरह दिखते हुए म्लेच्छो के समान लोकविरुद्ध व शास्त्र विरुद्ध आचरण करते हैं। इस प्रकार ये तीनो ही तरह के कुत्सित साधु मानो मनुष्य शरीर के आकार मे साक्षात् मोह के रूप ही हैं। ऐसा जान कर सम्यक्त्व के आराधक भव्य-जीवो को चाहिये कि वे इनको न तो मन से अनुमोदना करे, न वचन मे प्रशसा करें और न काय से ससर्ग रक्खे[1]।

इस वक्तव्य मे प० आशाधर जी ने द्रव्यलिंग के धारी उन नग्न जैनमुनियो को भी खोटे तापसियो की श्रेणी में बैठा कर उन सबको ही उन्होने पुरुपाकार मोह मिथ्यात्व वताकर उनसे ससर्ग न रखने का उपदेश दिया है, यह खास तौर पर ध्यान देने की चीज है। प० आशाधर जी ने अपने मतव्य की पुष्टि मे यहाँ एक पुरातन श्लोक भी उद्धृत किया है जिसमे लिखा है कि ऐमे ही कुसाधुओ ने भगवान जिनेन्द्र के निर्मल शासन को मलिन किया है। यथा—

पण्डितै र्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

आशाधर जी के इस प्रकार के उल्लेख से साफ प्रगट

१—('लेख विस्तार के भय मे हमने यहाँ टीका के सस्कृत वाक्यो को नहीं लिखा है। इतना जरूर है कि प० आशाधर जी ने सस्कृत टीका मे जैमा लिखा है उसी को हूबहू हमने हिन्दी मे लिख दिया है। हमने अपनी तरफ से बढाकर कुछ भी नहीं लिखा है यह वात मूल पुस्तक से मिलाकर कोई भी देख सकता है।)

होता है कि—वे भी जैन मुनियो के शिथिलाचार के सख्त विरोधी रहे हैं।

एक वात ऊपर लिखनी रह गई है वह यह कि—पद्म-नन्दिपचविंशतिका में शय्या हेतु तृणादि का ग्रहण भी मुनियो के लिये लज्जाजनक वताया है। यथा—

दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये।
शय्याहेतुतृणाद्यपि प्रशमिना लज्जाकर स्वीकृतम् ॥
यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं साम्प्रतं
निर्ग्रंथेष्वपि चेत्तदस्ति नितरा प्राय: प्रविष्ट: कलि ।५३

अर्थ—शय्या के निमित्त जहाँ तृणादि (पयाल) का ग्रहण भी मुनियो के लिए लज्जाजनक है। क्योकि तृणादि दुर्ध्यान और पाप के कारण है, उनका उपयोग करने से निर्ग्रन्थता मे भी हानि पहुँचती है—तव यदि आजकल के निर्ग्रन्थ साधु लोग गृहस्थयोग्य अन्य स्वर्ण, वस्त्र, रुपैया, पैसा, घडी (वॉच) मठ, मकान, खेत आदि रखते हैं तो समझना चाहिये कि घोर कलिकाल आ गया।

अव हम लेख के शीर्षक के अनुसार प० टोडरमल जी का इस विषय मे क्या मत था, यह वताते हैं—

देश भाषा मे ग्रन्थ वनाने वाले पिछले पण्डितो मे श्री प० टोडरमल जी साहव वडे ही गम्भीर विचारक और मननशील विद्वान् हुए है। उन्होने देश भाषा मे अभूतपूर्व और उच्चकोटि का एक मोक्षमार्ग प्रकाशक नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण किया है, जिसमे जैन धर्म के कई विषयो पर वडे ही मार्मिक ढग से ऊहापोह किया गया है। यह ग्रन्थ

प्रत्येक जिज्ञासु के पढने योग्य है। इसी मे साधुओ के शिथिलाचार के विषय मे भी विशद विवेचना की है। उसके हम यहाँ दो उदाहरण देते है। ये सब उद्धरण उसके ६ वें अधिकार के हैं—

"बहुरि इनि भेषीनिविषै केकेई भेषी अपने भेष की प्रतीति करावने अर्थि किंचित् धर्म का अग को भी पालै है। जैसे खोटा रुपय्या चलावने वाला तिस विषै किछु चादी का भी अश राखै है। तैसे धर्म का कोऊ अग दिखाय अपना उच्च पद मनावै है। इहा कोई कहै कि (उन्होने) जो धर्म साधन किया ताका तो फल होगा। ताका उत्तर—जैसे उपवास का नाम धराय कणमात्र भी भक्षण करै तो पापी है। अर एकासन का नाम धराय किंचित् ऊन भोजन (पूरे भोजन मे कुछ कम) करै तो भी धर्मात्मा है। तैसे उच्चपदवी का नाम धराय तामैं किंचित् भी अन्यथा प्रवर्ते तो महापापी है। अर नीची पदवी का नाम धराय किछु भी धर्मसाधन करै तो धर्मात्मा है। जातै धर्मसाधन तो जेता बनै तेता ही कीजिये किछु दोष नाही. परन्तु ऊँचा नाम धराय नीची क्रिया किये महापाप ही हो है। सोई षट्पाहुड विषै कुन्दकुन्दाचार्य करि कहा है—

जह जायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गहदि अत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोयं ॥१८॥

"सूत्रपाहुड"

याका अर्थ—मुनिपद है सो यथाजातरूप सदृश है। जैसा जन्म होतै था तैसा नग्न है। सो वह मुनि अर्थ जे धनवस्त्रादिक वस्तु तिन विषैं तिलतुषमात्र भी ग्रहण न करैं। बहुरि कदाचित्

अल्प या वहुत वस्तु ग्रहैं तो तिसतै निगोद जाय। सो इहा देखो गृहस्थपने मै बहुत परिग्रह राखि किछू प्रमाण करै तो भी स्वर्ग का अधिकारी हो हैं। अर मुनिपने मै किंचित परिग्रह अंगीकार किये ही निगोद जाने वाला हो है। तातै ऊंचा नाम धराय नीची प्रवृत्ति युक्त नाही।

अव इहा कुयुक्ति करि जे तिनि कुगुरुनि का स्थापन करै है तिनिका निराकरण कीजिये है। तहा वह कहै है—गुरु बिना तो निगुरा होय, अर वैसे गुरु अबार दीसै नाही, तातै इनही को गुरु मानना।

ताका उत्तर—निगुरा तो वाका नाम है जो गुरु मानै ही नाही। (वहुरि जो गुरु को तो मानै अर इस क्षेत्र विषै गुरु का लक्षण न देखि काहू को गुरु न मानै तो इस श्रद्धान तै तो निगुरा होता नाही। जैसे नास्तिक तो वाका नाम हैं जो परमेश्वर को मानै ही नाही। वहुरि जो परमेश्वर को तो मानै अर इस क्षेत्र विषै परमेश्वर का लक्षण न देखि काहू को परमेश्वर न मानै तो नास्तिक तो होता नाही। तैसे ही यह जानना।)

बहुरि वह कहै है (जैनशास्त्रनि विषै अबार केवली का तो अभाव कह्या है, मुनि का तो अभाव कह्या नाही)

ताका उत्तर—(ऐसा तो कह्या नाही इनि देशनि विषै सद्भाव रहैगा। भरतक्षेत्र विषै कहे है सो भरतक्षेत्र तो बहुत बड़ा है। कही सद्भाव होगा तातै अभाव न कह्या हैं। जो तुम रहो हो तिस ही क्षेत्र विषै सद्भाव मानोगे तो जहाँ ऐसे भी गुरु न पावोगे, तहाँ जावोगे तब किसको गुरु मानोगे। जैसे हसनि का सद्भाव अबार कह्या हैं अर हस दीसते नाही

तो और पक्षीनि को तो हस मान्या जाता नाही। तैसे मुनि का सद्भाव अबार कह्या है, अर मुनि दीसते नाही तो औरनि को तो मुनि मान्या जाय नाही)

बहुरि वह कहै है एक अक्षर का दाता को गुरु मानै है। जे शास्त्र सिखावै या सुनावै तिनिको गुरु कैसे न मानिये ?

ताका उत्तर—गुरु नाम बडे का है। सो जिस प्रकार की महतता जाकै सभवै तिस प्रकार ताको गुरु सज्ञा सभवै जैसे कुल अपेक्षा माता पिता को गुरु सज्ञा है। तैसे ही विद्या पढावने वाले को विद्या अपेक्षा गुरु सज्ञा हैं। यहाँ तो धर्म का अधिकार है। तातै जाकै धर्म अपेक्षा महतता सभवै सो ही गुरु जानना। सो धर्म नाम चारित्र का है। "चारित्त खलु धम्मो" (प्रवचनसार १-७) ऐसा शास्त्रविषे कह्या है। तातै चारित्र का धारक ही को गुरु सज्ञा हैं। बहुरि जैसे भूतादिक का भी नाम देव है, तथापि यहा देव का श्रद्धान विषै अरहत देव ही का ग्रहण हैं, तैसे औरनिका भी नाम गुरु है, तथापि इहा श्रद्धान विषै निर्ग्रन्थ ही का ग्रहण है। सो जिन धर्म विषै अरहंत देव निर्ग्रंथ गुरु ऐसा प्रसिद्ध वचन है।... तातै बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रंथ मुनि है सो ही गुरु जानना।

यहाँ कोऊ कहै—ऐसे गुरु तो अबार यहाँ नाही। तातै जैसे अरहत की स्थापना प्रतिमा है तैसे गुरुनिकी स्थापना ये भेषधारी है।

ताका उत्तर—जैसे राजाजी की स्थापना चित्रामादिक करि करै तो राजा का प्रतिपक्षी नाही। अर कोई सामान्य मनुष्य आपको राजा मनावै तो राजा तिसका प्रतिपक्षी होइ। तैसे अरहतादिक की पाषाणादि विषै स्थापना बनावै तो

तिनिका प्रतिपक्षी नाही। अर कोई सामान्य मनुष्य आपको मुनि मनावैं तो वह मुनिनिका प्रतिपक्षी भया। ऐसे भी स्थापना होती होय तो अरहन्त भी आपको मनावो।

वहुरि वह कहै है—अवार श्रावक भी तो जैसे सम्भवै तैसे नाही। तातैं जैसे श्रावक तैसे मुनि।

ताका उत्तर—श्रावक सज्ञा तो शास्त्रविषै सर्व गृहस्थ जैनी को है। श्रेणिक भी असयमी था ताको उत्तर पुराण विषै श्रावकोत्तम कह्या। बारह सभाविषै श्रावक कहे, तहाँ सर्व व्रतधारी न थे, जो व्रतधारी होते तो असयत मनुष्यनिकी जुदी सख्या कहते सो कही नाही। तातैं गृहस्थ जैनी श्रावक नाम पावै है। अर मुनिसंज्ञा तो निर्ग्रन्थ विना कही कही नाही। ""मुनि के अट्ठाईस मूलगुण हैं सो भेषीनिके दीसते नाही। तातैं मुनिपनो काहू प्रकार करि सभवै नाही। वहुरि गृहस्थ अवस्था विषै तो पूर्वं जम्बू कुमारादिक बहुत हिंसादिक कार्य किये सुनिए है। मुनि होय करि तो काहूने हिंसादि कार्य किये नाही, परिग्रह राखे नाही, तातैं ऐसी युक्ति कारजकारी नाही। बहुरि देखो आदिनाथजी के साथ च्यारि हजार राजा दीक्षा लेय बहुरि भ्रष्ट भये तब देव उनको कहते भये-जिनलिंगी होय अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दड देंगे। जिनलिंग छोडि तुम्हारी इच्छा होय सो तुम करो। तातैं जिनलिंगी कहाय अन्यथा प्रवर्तै ते तो दडयोग्य हैं, वदनादियोग्य कैसे होय ? " अन्य जीव उनकी सुश्रूषा आदि करै है ते भी पापी हो है। पद्मपुराणा-विषै यह कथा है—जो श्रेष्ठी (सेठ) धर्मात्मा चारणमुनिनि को भ्रमतैं भ्रष्ट जानि आहार न दिया तो प्रत्यक्ष भ्रष्ट तिनको दानादिक देना कैसे सम्भवै ?

(यहाँ कोऊ कहै-हमारे अन्तरग विषै श्रद्धान तो सत्य है परन्तु बाह्य लज्जाकरि शिष्टाचार करे है सो फल तो अन्तरग का होगा।)

ताका उत्तर—षट्पाहुडविषै लज्जादि करि वदनादिक का निषेध दिखाया था सो पूर्वं ही कह्या था। बहुरि कोऊ जोरावरी मस्तक नमाय हाथ जुडावै तब तो यह सम्भवै जो हमारा अतरग न था। अर आपही मानादिक तै नमस्कार करे तहा अतरग कैसे न कहिये। जैसे कोई अतरग विषै तो मास, मदिरा को बुरा जानै अर राजादिक का भला मनावने को मदिरा पान और मास-भक्षण करै तो वाको व्रती कैसे मानिये ? तैसे अतरग विषै तो कुगुरु सेवन को बुरा जानै अर तिनिका या लोकनि का भला मनावने को कुगुरुसेवन करै तो श्रद्धानी कैसे कहिये ? जातै बाह्य त्याग किये ही अन्तरग त्याग सम्भवै है। तातै जे श्रद्धानीजीव हैं तिनको काहू प्रकार करि भी कुगुरुनिकी सुश्रूषा आदि करनी योग्य नाही।... श्रद्धानी तो रागादिक को निषिद्ध श्रद्धै है। वीतराग भाव को श्रेष्ठ मानै है। तातै जिनके वीतरागता पाइये वैसे ही गुरुओ को उत्तम जानि नमस्कारादि करै है। जिनके रागादि पाइये तिनको निषिद्ध जानि नमस्कारादि कदाचित भी करै नाही।

कोऊ कहै—जैसे राजादिक को नमस्कार करै तैसे इनको भी करै है।

ताका उत्तर—राजादिक धर्मपद्धति विषै नाही। गुरु का सेवन धर्मपद्धति विषै है सो राजादिका सेवन तो लोभादिक तै हो है। तहा चारित्रमोह ही का उदय सभवै है। अर गुरुनि की जायगा कुगुरूनिको सेये तत्त्वश्रद्धान के कारण गुरू थे तिनतै प्रतिकूली भया, सो लज्जादितैं जानं कारण विषै

विपरीतता निपजाई ताकै कार्यभूत तत्वश्रद्धान विषै दृढता कैसे सभवै ? तातै तहादर्शनमोह का उदय सभवै है।"

इस प्रकार पडित प्रवर टोडरमलजी ने विवेचन किया है जिसे देखकर कहना पडता है कि—आपने भी साधुओ के शिथिलाचार के विषय मे पूर्वाचार्यो का ही अनुसरण किया है।

इन्ही के कुछ समय वाद पडित जयचन्द जी भी वडे ही प्रतिभाशाली विद्वान् हुये है। आपने सस्कृत प्राकृत के कोई तेरह चौदह गन्थो की देशभाषा मे वडी उत्तम टीकाये लिखी है।

आपने दर्शनपाहुड की २६ वी गाथा को टीका के भावार्थ मे इस सम्वन्ध मे निम्न प्रकार कथन किया है—(यह गाथा इस लेख मे ऊपर उद्धृत हुई है।)

"जो गृहस्थभेष धारचा है सो तो असयमी है ही। वहुरि जो बाह्य नग्नरूप धारण किया अर अन्तरग मे भावसयम नाही है तो वह भी असयमी ही है। तातै ये दोऊ ही असयमी हैं, तातै दोऊ ही वदवे योग्य नाहीं। इहा आशय ऐसा है जो ऐसे मति जानियो—जो आचार्य यथाजातरूप कू दर्शन करते आवै है सो केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा, जातै आचार्य तो बाह्य आभ्यतर सव परिग्रह सू रहित होय ताकू यथाजातरूप कहैं है, अभ्यतर भावसयम विना बाह्य नग्न भये तो किछू सयमी होय है नाही, ऐसे जानना।

इहा कोई पूछै—बाह्यभेप शुद्ध होय आचार निर्दोष पालता ताकै अभ्यतर भावो मे कपट होय ताका निश्चय कैसे होय ? तथा सूक्ष्म भाव केवलीगम्य हैं, मिथ्यात्व होय ताका निश्चय कैसे होय, निश्चय विना वदने की कहा रीति ?

ताका समाधान—ऐसा जो कपट का जेते निश्चय नाही होय तेतै आचार शुद्ध देखि वदै, तामैं दोष नाही, अर कपट का कोई कारणतै निश्चय हो जाय तब नही वदै। (बहुरि केवलीगम्य मिथ्यात्व की व्यवहार मे चर्चा नाही, छद्मस्थ के ज्ञानगम्य की चर्चा है। जो अपने ज्ञानका विपय ही नाही ताका बाध निर्बाध करने का व्यवहार नाही, सर्वज्ञ भगवान् की भी यही आज्ञा है) व्यवहारी जीव कू व्यवहार का ही शरण है।"

मतलव यह है कि मुनिलिंग पूज्य है अवश्य, पर केवल द्रव्यलिंग यानी वेषमात्र पूजनीय नही है। मुनि का बाह्य वेष द्रव्यलिंग कहलाता है। और कषायोपशम संयम सम्यक्त्वादिका होना भावलिंग कहलाता है। जैनशासन मे भावलिंग रहित द्रव्यलिंग मान्य नही है। और द्रव्यलिंग रहित भावलिंग भी मान्य नही है, न दोनो ही लिंग रहित तीसरी अवस्था ही मान्य है। जैनमत मे तो संयुक्त द्रव्य भावलिंग मान्य है। इस विषय में सिक्के का उदाहरण अच्छा घटित होता है। अगर रुपया चादी का हो पर उस पर सरकारी मोहर ठीक नही हो तो वह ग्राह्य नही होता। और जो मोहर ठीक हो पर वह चादी का न हो तो वह रुपया भी ग्राह्य नही होता। तथा चादी और मोहर दोनो ही ठीक न हो तो वह भी ग्राह्य नही होता। रुपया वह चलेगा जिसमे चादी और मोहर दोनो ठीक होगी। वस यही वात मुनिलिंग के विषय समझना चाहिये। (सिक्के की चादी को भावलिंग और मोहर को द्रव्यलिंग जानना चाहिये। फलितार्थ यह हुआ कि—भावलिंग के साथ धारण किया द्रव्यलिंग ही सिद्धि का कारण होता है। अकेले द्रव्यलिंग मे कुछ सिद्धि नही होती। यही बात कुन्दकुन्द स्वामी ने भाव पाहुड मे लिखी है—

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहि पण्णतं।
इयणाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पय धीर ॥५५॥

अर्थ—भावरहित नग्नपणा कार्यकारी नही है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। यह जानकर हे धीर! सदा तू आत्मा की भावना कर।

सिक्के के दृष्टात मे यह बात समझने की है कि–जिस रुपये मे चादी ठीक हो पर उस पर सरकारी छाप (मोहर) ठीक न हो तो भले ही वह व्यवहारिक क्षेत्र मे चल नही सकेगा तथापि उसकी चादी का मूल्य तो कुछ मिलेगा ही किन्तु द्रव्यसिक्का तो गिलट का हो और मोहर उसकी ठीक हो तो वह तो कुछ भी मूल्य न पावेगा। इसी तरह द्रव्यलिग रहित भावलिग चाहे अन्तिम सिद्धि मोक्ष का साक्षात् साधक नही है तथापि परम्परा साधक तो हो ही जावेगा। जैसा कि शिवकुमार भावश्रमण होकर सन्यास से मरण कर ब्रह्मस्वर्ग मे विद्युन्माली देव हुआ। वही जवूकुमार के भव मे भावलिग के साथ द्रव्यलिग को धारण करके मोक्ष मे गया।

(देखो 'जबू स्वामी चरित')

प्रश्न—ये मुनिवेषी शिथिलाचारी है तो क्या हुआ। पापपक मे लिप्त हम गृहस्थो से तो अच्छे ही है। मुनिनिंदा करने से घोर पाप का वध होता है।

उत्तर—जिनकी अभी जिह्वालपटता, पैसे की तृष्णा, विषय वासना नही छूटी, इद्रियें जिनकी वश मे नही हैं, जो अपने आदर सत्कार के इच्छुक है, कषाय भाव रखते हैं और परीषह नही सहते है ऐसे मुनि हम गृहस्थो से अच्छे नही कहला सकते है। नग्न होना एवं पिच्छी कमडलु धारण करना तो बाह्य भेष है। इस भेष के साथ अन्तरग मे त्याग वैराग्य

भाव हो तो अच्छा कहा जा सकता है। खाली भेपमात्र तो अच्छा नही कहा जा सकता। अगर हर सूरत मे मुनि का वेषमात्र ही गृहस्थ से श्रेष्ठ हाता हो तो आचार्य समतभद्र स्वामी रत्नकरड श्रावकाचार मे यह नही लिखते कि मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। और महर्षि कुन्दकुन्द भी दर्शन पाहुड की २६ वी गाथा मे असयमी मुनि को गृहस्थतुल्य नहीं बताते। फिर गृहस्थ तो यह दावा नही करता कि मुझे तुम ऊचा मानो। वह तो भीतर बाहर एकसा है अत गृहस्थ तो कपटी नही है। किन्तु ये मुनिवेपी तो अपने को परम गुरु कहते हुये गृहस्थो से प्रणाम विनय कराते है और अपनी जय-जयकार बुलाते है। परन्तु बाहर जैसा मुनि का रूप इन्होने बना रक्खा है, तदनुसार ये मुनि का आचार पालते नही हैं अर्थात् भीतर से मुनि नही है तो यह तो कपट व्यवहार हुआ। तब ये गृहस्थो से अच्छे कैसे हो गये ? गृहस्थो से कोई ठगाया तो नही जाता, इन भेषियो से तो भोली जनता पग २ पर ठगाई जा रही है। व्याघ्र से इतना खतरा नही जितना कि गोमुख व्याघ्र से होता है। ऐसे ढोगी साधुओ की आलोचना करना मुनिनिन्दा नही कहलाती है। वे मुनि ही नही तो निदा का सवाल ही नही रहता।

प्रश्न—यह जानते हुये भी कि—"अमुक जैन मुनि आचारहीन है" तथापि लोकलाज से हम गृहस्थो को उन्हे भी भोजनादि देना पडता है। हमारे द्वार पर आने वाले अन्य कोई भी जब भूखे नही जाते तो ये तो जैनमुनि का वेष लेकर आते हैं, तब भला इनको आहार कैसे नही दिया जाये ?

उत्तर—अन्य को आहार देने मे और जैनमुनि को आहार देने मे बडा अन्तर है। अन्य को आहार देना यह गृहस्थ का

शिष्टाचार लौकिक पद्धति मे है, और जैनमुनि को आहार देना यह धर्म पद्धति मे है। इसीसे जैनमुनि को जो आहार दिया जाता है वह गुरु भाव से नवधा भक्ति पूर्वक दिया जाता है। नवधा भक्ति उनकी की जाती है जबकि हमारे गुरु सच्चे और श्रेष्ठ तपस्वी हो। अगर हम जानते हुये भी ढोंगी साधु की नवधा भक्ति करते है तो हम अवश्य ही परम्परा से चले आये जैनमुनि के आदर्श और पवित्र मार्ग को बिगाडते है। और ऐसा करके ढोंग को प्रोत्साहन देने से निश्चय ही हम पाप का बन्ध करते हैं, रही लोकलाज की बात, सो बुरा काम तो लोकलाज से करने पर भी बुरा फल देगा ही।

आचार्य नेमिचन्द्र त्रिलोकसार मे कुभोग भूमिका वर्णन किये बाद गाथा ६२२ मे लिखते है कि—इन कुभोग भूमियो मे वे जैन मुनि जाते हैं जो मुनि होकर कपट करते हैं ज्योतिष व मन्त्रादि का प्रयोग करते है, धन की वाछा रखते हैं, ऋद्धियश-साता रूप तीन गारवदोप युक्त और आहार-भय मैथुन-परिग्रह सज्ञा के धारी है।

कुछ लोग पुलाकमुनि का उदाहरण देकर आधुनिक मुनियो के शिथिलाचार का पोपण करते हैं वह भी ठीक नही है। पुलाक मुनि का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र के ९ वे अध्याय के सूत्र ४६-४७ मे आया है। उसकी सर्वार्थ सिद्धि टीका मे पुलाक मुनि को भावलिंगी और सामयिक छेदोपस्थापना सयम के धारी निर्ग्रन्थ बताते हुए यह लिखा है कि—"इनके कभी-कभी कही पर परवश से पांच महाव्रतो मे से किसी एक की कुछ विराधना भी हो जाती है।" इस कथन को देखते हुए जो

मुनि परवश न होकर भी अहर्निश कितने ही मूलगुणो मे दोष लगाते हैं वे पुलाक मुनि नही माने जा सकते हैं।

आजकल के कतिपय साधुओ के शिथिलाचार का तो अजीब ही हाल है परिताप इस बात का है कि—उनको भी मानने पूजने वाले कई भोले जैनी भाई है। यह अन्ध भक्ति महिला वर्ग मे विशेप पाई जाती है। धनादि की लालसा से कुछ सेठ लोग भी इसमे साथ दे रहे है और कतिपय स्वार्थी पण्डित भी हाँ मे हाँ मिला रहे है तथा देखादेखी साधारण जन भी इसी प्रवाह मे वह रहे है। कोई कहता है अमुक साधु वडे करामाती है मन्त्र-जन्त्र से भक्तो के कार्य सिद्ध करते है कुओ का पानी भी मीठा बना देते है। कोई कहने है अमुक साधु भूत भविष्यत् की वाते वता देते है। कोई कहते हैं अमुक साधु के चरणो मे और गले मे साप खेलते हैं। कोई कहते है अमुक साधु अपने तप के प्रभाव से खण्डित मूर्तियो को जोड देते हैं, आदि। किन्तु इन सब मे कोई तथ्य नही।

मुनियो में जो शिथिलाचार तीव्र गति से बढता जा रहा है उसके कारण जेन धर्म की महान् अप्रभावना हो रही है—यह वडी ही चिन्ता का विषय है। दिगम्बरत्व की जो प्रतिष्ठा आज के पचास साठ वर्प पहले जैनेतर लोगो के मन मे थी वह आज कहाँ है ? मैं इसमे भक्तो की जिम्मेवारी ही ज्यादा समझता हूँ। भक्तो का कर्त्तव्य है कि वे मूलाचार आदि मुनियो के आचार-ग्रन्थो को पढे और उनके अनुसार जिनका आचरण ठीक न हो उन्हे मुनि नही माने और उनके शिथिलाचार के विषय मे उन्हे स्पष्ट कहे। जव तक भेष पूजा का

व्यवहार दूर नहीं होगा, तब तक इस रोग का इलाज कभी नहीं होगा। पण्डित टोडरमल जी ने भेष पूजा का जो डटकर विरोध किया था उससे एक क्राति उत्पन्न हुई थी, आज भी वैसी क्राति की जरूरत है। हमे किसी भेषी का निन्दा के भाव से नही अपितु मुनित्व की वस्तुस्थिति को प्रकट करने के लिए निर्भय होकर अपने विचार प्रकट करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे जो अपनी जिम्मेवारी को नही समझते वे बहुत बडी गलती करते हैं।



चामुण्डराय का चारित्रसार

दिगबर जैन समाज मे "चारित्रसार" नामक ग्रन्थ के रचयिता चामुण्डराय समझे जाते हैं। ग्रन्थ के परिसमाप्तिसूचक गद्य से भी यही ध्वनित होता है। किन्तु ग्रन्थ की हालत को देखते हुए चामुण्डराय को उसका निर्माता नही कह सकते। अधिक से अधिक हम उन्हे सग्रहकर्ता कह सकते हैं। निर्माता और सग्रहकर्ता मे भेद है। निर्माता वह होता है जो ग्रन्थ की शाब्दिक रचना का अपनी बुद्धि से प्रणयन करता है। किन्तु संग्रहकर्ता मे यह बात नही है। वह दूसरो के रचित वाक्यो को सचित कर उसका कोई नया नाम धर देता है। 'चारित्रसार' की भी प्राय. यही हालत है। यद्यपि धर्मशास्त्र नये नही बना करते। परम्परा से जो वाड्मय चला आता है उसी के अनुसार कथन उनमे रहता है और प्रामाणिक भी वे तभी माने जाते हैं। लेकिन यह बात उनके अर्थ के सबध मे है। शब्द से तो वे भी नये बनते हैं। प्राचीन गूढ अर्थ को स्पष्ट करना और अपने शब्दो मे कहना यही नवीन धर्मशास्त्रकारो का काम होता है। इस प्रकार की नवीन कृतियो मे कही कही प्राचीन आगमो के वाक्य भी बिना उक्तं च लिखे ज्यो के त्यो उद्धृत कर लिए जाते हैं। जैसा कि सर्वार्थसिद्धि के वाक्य राजवार्तिक मे और राजवार्तिक के वाक्य श्लोकवार्तिक मे पाये जाते हैं। किन्तु इनके कर्त्ताओ ने जितना कुछ दूसरो से लिया है उससे कई गुणा अपनी बुद्धि से बनाकर रक्खा है। इसलिए ऐसो को तो ग्रन्थकर्त्ता ही कहने चाहिए। पर जो ग्रन्थ का बहुभाग या

समग्र ही कलेवर दूसरे के रचे वाक्यो से भरते है और अपनी बुद्धि कुछ भी खर्च नही करते, या करते भी हैं तो इतनी सी जैसे ऊट के मुह मे जीरा, वे उस ग्रन्थ के निर्माता नहीं कहला सकते। अपना आटा हो और दूसरे का नमक तो वह रोटी अपनी कही जायगी। पर दूसरे का आटा हो और अपना केवल नमक, तो वह रोटी दूसरे ही की कही जायगी। चारित्रसार के सम्बन्ध मे भी यही बात घटित होती है। चामुडराय की निज की रचना या तो उसमे कुछ भी नहीं है और हो भी तो नमक के बराबर—बाकी आटा सब दूसरो का ही उधार लिया हुआ है। यह बात चारित्रसार और तत्त्वार्थराजवार्तिक को तुलनात्मक ढग से अध्ययन करने वाले को स्पष्टत दृग्गोचर हो सकती है। राजवार्तिक मे से अनेक जगह का चारित्र-विषयक गद्य-भाग उठा उठाकर चारित्रसार मे ज्यो का त्यों या कुछ मामूली हेरफेर के साथ धर दिया गया है। चारित्र-सार का करीब तीन तिहाई हिस्सा राजवार्तिक की रचना से ही भरा हुआ है। नीचे हम दोनो के वे स्थान बताते हैं जहाँ एक समान गद्य पाया जाता है—

चारित्रसार पृष्ठ २ पक्ति चौथी (राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २ वार्तिक ३) चारित्रसार पृष्ठ २-३ मे सम्यक्त्व का अष्टागस्वरूप (राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २४ वार्तिक १) चा० सा० पृ० ४ सम्यक्त्व के अतीचार (रा० वा० अ० ७ सु० २३) चा० सा० पृ० ४ शल्यविवेचन (रा० वा० अ० ७ सू० १८) चा० सा० पृ० ५ पचाणुव्रत के लक्षण (रा० वा० अ० ७ सूत्र २०) चा० सा० पृ० ५ से ७ तक अणुव्रतो के अतीचार (रा० वा० अ० ७ मे देखो इस विषय के सूत्र) चा० सा० पृ० ८ से

१५ तक शीलसप्तक के सिर्फ लक्षण और अतीचार (रा० वा० अ० ७ मे देखो इस विषय के सूत्र) चा० सा० पृष्ठ २२-२३ सल्लेखना का लक्षण और अतीचार (रा० वा० अ० ७ सू० २२-३७) चा० सा० पृ० २४ से २६ तक सोलह कारण भावनायें (रा० वा० अ० ६ सूत्र २४) चा० सा० पृष्ठ २७ से ३० तक दशधर्मों का विवेचन (रा० वा० अ० ९ सू० ६ मे बिल्कुल यही है)। फर्क इतना सा है कि यहां पहिले अलग अलग धर्म का स्वरूप बताकर वार्तिक २८ मे दसो ही का विशेष कथन किया है। और चारित्रसार मे इस विशेष कथन को प्रत्येक धर्म के वर्णन के साथ ले लिया है तथा यही पर चारित्रसार मे सत्य के १० भेदो का जो वर्णन है वह (राजवार्तिक अ० १ सूत्र २०, व० १२ वे पर से लिया गया है) चा० सा० पृ० ३० समितियो का कथन (रा० वा० अ० ९ सू० ५) चा० सा० पृ० ३२ से ३७ तक अष्ट शुद्धियों का वर्णन (रा० वा० अ० ९ सू० ६ वा० १६) चा० सा० पृ० ३७ ३८ चारित्रकथन (रा० वा० अ० ९ सू० १८) चा० सा० पृ० ३९ वाक् मन का कथन (रा० वा० अ० ५ सू० १९ वा० १५ तथा २०) चा० सा० पृ० ३९ सरंभ-समारंभ-आरम्भ-कृत कारितानुमत के लक्षण (रा० वा० अ० ६ सू० ८) चा० सा० पृ० ४० से ४३ तक पंच पापो के लक्षण और उनकी भावनायें (रा० वा० अ० ७ मे इस विषय के सूत्र देखो। इसी अध्याय के ९ वें सूत्र मे जो पंच पापो का विशेष कथन है उसे ही चारित्रसार मे प्रत्येक पाप के वर्णन मे छाँट लिया है) चा० सा० पृ० ४४ (रा० वा० अ० ७ सूत्र १० की व्याख्या) चा० सा० पृष्ठ ४५ से ४७ तक का कथन (रा० वा० अ० ९ सू० ४६-४७) चा० सा० पृ० ४८ से ५७ तक बाईस परीषहो का वर्णन (रा० वा० अ० ९ सूत्र ८ से १७ तक) चा० सा० पृ० ५९ से ६३ तक

तपोवर्णन (रा० वा० अ० ९ सूत्र १९-२०-२२, किस दोष में कैसा प्रायश्चित लेना यह रा० वा० अ० ९ सूत्र २२ वा० १० में समूचा बता दिया है। इसे ही चारित्रसार मे हरण के प्रायश्चित के वर्णन में उद्धृत कर लिया है) चा० सा० पृ० ६४ की अन्तिम कुछ पक्तियाँ (रा० वा० अ० ९ सू० २२ वा० १० का अन्तिम अंश) चा० सा० पृ० ६५ से ६८ तक (रा० वा० अ० ९ सू० २३ से २६ तक) चा० सा० पृ० ७६ (रा० वा० अ० ९ सू० ४४) चा० सा० पृष्ठ ७८ से ८९ तक द्वादश भावनाओ का वर्णन (रा० वा० अ० ९ सूत्र ७ से लिया गया है। यहाँ चारित्र-सार पृष्ठ ८० का "तत्र यावंतो लोकाकाशप्रदेशा. " ...... " से लेकर "व्यवहारकालेषु मुख्य" तक का पाठ रा० वा० अ० ५ सूत्र २२ वा० २५-२६ से लिया है) चा० सा० पृष्ठ ९३ से १०१ तक ऋद्धियो का वर्णन* (रा० वा० अ० ३ सूत्र ३६) चा० सा० पृष्ठ १०२ से १०३ तक त्याग आकिंचन्य ब्रह्मचर्य का स्वरूप (रा० वा० अ० ९ सूत्र ६ वा० २१-२२-२८ सम्भव है चारित्रसार मे इस तरह के और भी उद्धरण हो। जितने हमारी नजरो से गुजरे वे यहाँ हमने लिखे हैं।

पाठक देखेंगे कि चारित्रसार मे राजवार्तिक से कितना मसाला लिया गया है। चारित्रसार के कुल १०३ पृष्ठ हैं। जिनमे से करीब २५ पृष्ठ छोडकर बाकी सारा ग्रन्थ राज-

---

* छापे की भूल से यहाँ दो एक स्थान मे पक्तिया उलट पलट हो गयी हैं, जिससे वर्णन का सिल-सिला टूट गया है। खेद है कि इस भूल की सूचना ग्रन्थ भर मे कही नहीं दी है। ऐसी ही गडबड पृष्ठ ३३ मे भी हुई है।

वार्तिक से चर्चित है। एक तरह से इसे राजवार्तिक का चारित्र भाग कहना चाहिए।

यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि मुद्रित राजवार्तिक मे अशुद्धियो की भरमार है। यही क्या अन्य अनेक जैनग्रन्थो का प्रायः यही हाल है। खासकर सैद्धांतिक ग्रन्थो की छपाई मे तो पूर्ण ध्यान इस बात का अवश्य रहना चाहिए कि कही कोई अशुद्धि न रहने पावे। किन्तु क्या कहा जाय, जैनग्रन्थ-प्रकाशको का अजब हाल है। उनकी कार्य-प्रणाली इस सम्बन्ध मे बडी ही अव्यवस्थित है जो महान खेदजनक है।

चारित्रसार से राजवार्तिक की कई अशुद्धियाँ दूर की जा सकती हैं। चारित्रसार भी अशुद्धियो से खाली नही है। इसकी अशुद्धियाँ भी राजवार्तिक से दुरुस्त हो सकती हैं। क्योकि दोनो में अशुद्धियाँ एक स्थानीय नही हैं। अस्तु,

कुछ लोग शायद यहाँ यह कहने का भी दु साहस करें कि "अकलकदेव ने ही चारित्रसार मे मसाला लेकर राजवार्तिक मे रक्खा हो" ऐसा कहने वालो को यह समझ रखनी चाहिए कि अकलकदेव चामु डराय से लगभग दो सौ वर्ष पहिले हुए हैं। तब उन्होने चामु डराय की कृति मे से कुछ लिया हो यह कैसे सम्भव हो सकता है? इसके अलावा जिनसेन ने आदि पुराण मे अकलकदेव का स्मरण किया है। और चामुंडराय ने अपने चारित्रसार पृष्ठ १५ मे "तथा चोक्तं महापुराणे" कहकर आदिपुराण का एक पद्य उद्धृत किया है। इससे भी चामुंडराय अकलकदेव के उत्तरवर्ती सिद्ध होते है। बल्कि

चामुडराय ने ही खुद चारित्रसार के अन्त मे एक पद्य देकर इस विषय को खूब स्पष्ट कर दिया है। चामुडराय लिखते हैं कि 'तत्वार्थराजवार्तिक, राद्धातसूत्र, महापुराण और आचार ग्रन्थो मे जो विस्तार से कथन है उसी को सक्षेप मे इस चारित्रसार मे मैंने कहा है।" वह पद्य यह है—

तत्वार्थराद्धांतमहापुराणेष्वाचारशास्त्रेषु च विस्तरोक्तम् ।
आख्यातसमासादनुयोगवेदी चारित्रसारं रणरगसिंह ॥

इस पद्य मे प्रयुक्त 'तत्वार्थ" शब्द का अर्थ "तत्वार्थराजवार्तिक करना चाहिए। तत्वार्थ के साथ राद्धात नही लगाना चाहिये। राद्धात नामका अलग ग्रन्थ है। उसका उक्त च चारित्रसार पृष्ठ ७१ मे "आदाहीण पदाहीण.. ." आदि प्राकृत गद्य दिया है। आचारशास्त्र यहाँ मूलाचारादि समझना चाहिए। चारित्रसार मे मूलाचार की भी गाथाये उक्त च रूप से पाई जाती हैं।

इससे यह साफ सिद्ध हो जाता है कि चामुण्डराय न केवल अकलंकदेव के बाद के ही है किन्तु महापुराणकार जिनसेन और गुणभद्र के भी बाद के है। यही समय नेमिचद्राचार्य का है। क्योकि चामुण्डराय और नेमिचन्द्र की समकालीनता निर्विवाद है। अत इतिहासज्ञो ने जो दूसरे प्रमाणो से उनका समय ११ वी शताब्दी प्रकट किया है वह बिल्कुल ठीक जान पडता है। और अब तो उसमे कोई सन्देह ही नही है।

- इस लेख मे जिस चारित्रसार के पृष्ठो का उल्लेख किया है वह 'माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला' द्वारा प्रकाशित समझना चाहिए।

स० नोट – कटारिया जी का यह लेख विचारणीय है। इस "चारित्रसार" के संग्रह ग्रंथ सिद्ध होने पर भी मैं समझता हू कि पाठकों की दृष्टि में विद्वद्वरेण्य चामुण्डराय जी का पाण्डित्य खटक नहीं सकता। क्योंकि इनके द्वारा रचित आजतक के उपलब्ध कन्नड-गद्य ग्रन्थों मे सर्वप्रथम 'आदिपुराण" ही इनकी विद्वत्ता का ज्वलन्त दृष्टान्त है। इसके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद सिद्धान्त है-एव विज्ञ कटारिया जी भी सर्वथा सहमत होंगे कि हमारे यह चामुण्डराय जी संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे। इस चरित्रसार मे जिस प्रकार इन्होंने राजवार्तिकादि ग्रन्थों से प्रचुर सहायता लेकर उसका उल्लेख नहीं किया है उसी प्रकार अपने कन्नड आदि पुराण मे भी बीच बीच मे प्रस्तुत विषय को प्रमाणित करने के लिए चामुण्डराय ने भिन्न भिन्न ग्रन्थों के कई संस्कृत प्राकृत पद्यों को उद्धृत किया है। पर वहाँ भी उनका उल्लेख नहीं करने से कुछ विद्वानों ने उन पद्यों को इन्हीं की रचना समझ रक्खा था। इसी भ्रम को दूर करने के लिए मैंने "विवेकाभ्युदय" (मैसूर) के एक लेख में सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि ये पद्य अमुक अमुक ग्रंथ के हैं।

— के० बी० शास्त्री



७

राजा श्रेणिक या बिम्बसार का आयुष्य काल

जैन शास्त्रो मे राजा श्रेणिक की आयु के विषय में कहीं कोई स्पष्ट निर्देश नही मिलता है कि उनकी कितनी आयु थी। तथापि उनके कथा प्रसगो से उनकी आयु का पता लगाया जा सकता है। इस लेख मे हम इसी पर चर्चा करते हैं :—

उत्तरपुराण के ७४ वें पर्व मे राजा श्रेणिक का चरित्र निम्न प्रकार बताया है :—

"राजा कुणिक की श्रीमती राणी से श्रेणिक नाम का पुत्र हुआ। राजा के और भी बहुत से पुत्र थे। राजा ने एक दिन सोचा कि इन सब पुत्रों मे राज्य का अधिकारी कौन पुत्र होगा? निमित्तज्ञानी के बताये निमित्तो से राजा को निश्चय हुआ कि एक श्रेणिक पुत्र ही मेरे राज्य का उत्तराधिकारी बनेगा। तब राजा ने दायादो से श्रेणिक की रक्षा करने के लिए श्रेणिक पर बनावटी क्रोध करके उसे नगर से निकाल दिया। वहाँ से निकलकर श्रेणिक दूर देश मे जाने की इच्छा से चलता हुआ नन्दिग्राम मे पहुचा। किन्तु नन्दिग्राम के निवासियो ने राजाज्ञा के भय से राजकुमार श्रेणिक को कोई आश्रय नही दिया। इससे नाराज हो श्रेणिक आगे बढा। रास्ते मे उसे एक ब्राह्मण का साथ हुआ। उससे प्रेमपूर्वक अनेक बातें करता हुआ श्रेणिक उस ब्राह्मण के

मकान पर जा पहुचा। श्रेणिक की वाक्‌चातुरी, यौवन आदि गुणो पर मुग्ध होकर उस ब्राह्मण ने उसके साथ अपनी युवा पुत्री का विवाह कर दिया। श्रेणिक अब यही रहने लगा। यहीं पर श्रेणिक के उस ब्राह्मण कन्या से एक अभयकुमार नाम का पुत्र हुआ। एक दिन श्रेणिक के पिता कुणिक को अपना राज्य छोडने की इच्छा हुई। कुणिक ने ब्राह्मण के ग्राम से श्रेणिक को बुलाकर उसे अपना सब राज्य सम्भला दिया। अब श्रेणिक राज्य करने लगा। पीछे मे अभयकुमार और उसकी माता भी राजा श्रेणिक से आ मिले।

(श्लोक ४१८ से ४३०)

उत्तरापुराण पर्व ७५ मे लिखा है कि .—

सिधुदेश की वैशाली नगरी के राजा चेटक के १० पुत्र और ७ पुत्रियाँ थी प्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा, चन्दना ये उन पुत्रियो के नाम थे। ये सब— वय मे उत्तरोत्तर छोटी छोटी थी। इनमे सबसे बडी पुत्री प्रियकारिणी थी जो राजा सिद्धार्थ को ब्याही गई थी जिससे भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। और सबसे छोटी पुत्री चन्दना थी जो बालब्रह्मचारिणी ही रह कर महावीर स्वामी की सभा मे आर्यिकाओ मे प्रधान गणिनी हुई थी। तथा गधार देश के महीपुर के राजा[1] सत्यकी ने

---

[1] उत्तर पुराण पर्व ५७ श्लोक में 'सत्यको' पद है जिससे नाम 'सत्यक' प्रकट होता है किन्तु इसी के आधार पर बने पुष्पदत्त कृत अपभ्रंश महापुराण मे इसी स्थल पर (भाग ३ पृ० २४३ में) 'सच्चइ' पद है जिससे नाम सत्यकि' प्रकट होता है इसके सिवा उत्तर

पुराण ही मे सर्ग ७६ श्लोक ४७४ में "सत्यकि-पुत्रक" पद देते हुए सत्यकि नाम सूचित किया है अतः पर्व ७५ श्लोक १३ मे सत्यकी की जगह सत्यकि (सत्यकी शुद्ध पाठ होना चाहिए) इससे छन्दों भंग भी नही होता है।

हरिवंशपुराण, तिलोय पण्णत्ती, तिलोयसार, हरिषेण कथाकोश विचारसार प्रकरण (श्वे.) सभी मे ११ वें रुद्र का नाम सच्चइ सुअ (सत्यकि सुत) देते हुए इस राजा का नाम सत्यकि ही प्रकट किया है। इसी राजा का मुनि अवस्था मे उत्पन्न पुत्र ११ वा रुद्र है। अतः हमने 'सत्यकि' ही नाम सब जगह दिया है। हरिषेण कथा कोष मे सत्यकि के साथ कही कही सात्यकि नाम भी दिया है। ब्र० नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष मे तो सात्यकी ही दिया है। प्राकृत के 'सच्चइ' पद का सात्यकि और सत्यकि दोनों बन जाता है। तथा 'कि' भी ह्रस्व और दीर्घ दोनो रूपो मे हो जाती है।

ज्येष्ठा पुत्री की याचना उसके पिता राजा चेटक से की थी। परन्तु चेटक ने उसे नही दी जिससे क्रुद्ध हो सत्यकि ने चेटक से संग्राम किया। संग्राम मे सत्यकि हार गया। अत लज्जित हो वह दमधर मुनि से दीक्षा ले मुनि हो गया। इसी तरह चेलना पुत्री को भी राजा श्रेणिक ने माँगी थी परन्तु उस समय श्रेणिक की उम्र ढल चुकी थी जिससे चेटक ने उसे देने से इन्कार कर दिया था। फिर अभयकुमार के प्रयत्न से छिपे तौर पर चेलना के साथ श्रेणिक का विवाह हुआ था उस प्रयत्न में ज्येष्ठा का विवाह सम्बन्ध भी श्रेणिक के साथ होने वाला था किन्तु चेलना की चालाकी से वैसा न हो

सका। इसी एक कारण से विरक्त हो ज्येष्ठा ने अपनी मामी यशस्वती आर्यिका से दीक्षा ले ली थी और वह आर्यिका हो गई थी। (श्लोक ३ से ३४ तक)

उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लोक ३१ आदि मे लिखा है कि—श्रेणिक ने महावीर के समवशरण मे जा वहाँ गौतमगणधर से पूछा कि—"अन्तिम केवली कौन होगा ?" इस पर गौतम ने कहा कि—वह यहाँ समवशरण मे आया हुआ विद्युन्माली देव है जो आज से ७ दिन बाद जम्बू नाम का सेठ पुत्र होगा। जिस समय महावीर मोक्ष पधारेंगे उस समय मुझे केवलज्ञान होगा और मैं सुधर्म गणधर के साथ विचरता हुआ इसी विपुलाचल पर आऊँगा। उस वक्त इस नगर का राजा, चेलना का पुत्र[1] कुणिक परिवार के साथ मेरी वदना को आवेगा। तभी जम्बूकुमार भी मेरे पास आ दीक्षा लेने को उत्सुक होवेगा। उस वक्त उसके भाई बन्धु उसे यह कह कर रोक देगे कि—थोडे ही वर्षो मे हम लोग भी तुम्हारे ही साथ दीक्षा धारण करेंगे। बन्धु लोगो के इस कथन को वह टाल नही सकेगा और वह उस समय नगर मे वापिस चला जावेगा। तदनतर परिवार के लोग उसे मोह में फसाने के लिए चार सेठो की चार पुत्रियों के साथ उसका विवाह रच देंगे। इतने पर भी जंम्बूकुमार भोगानुरागी न हो कर उल्टे दीक्षा लेने को उद्यमी होगा। यह देख उसके भाई बन्धु और कुणिक राजा (श्लोक ११३) उसका दीक्षोत्सव मनायेंगे।

---

[1] उत्तर पुराण के अनुसार श्रेणिक के पिता का नाम भी कुणिक है और पुत्र का नाम भी कुणिक है।

उस वक्त मुझे विपुलाचल पर विराजमान जानकर वह जम्बू उत्सव के साथ मेरे पास आ मेरी भक्ति पूर्वक वदना कर सुधर्मगणधर के समीप संयम धारण करेगा। मेरे केवलज्ञान के १२ वें वर्ष जब मुझे निर्वाण प्राप्त होगा तब सुधर्माचार्य केवली और जम्बूस्वामी श्रुतकेवली होंगे। उसके बाद फिर १२ वें वर्ष मे जब सुधर्म केवली मोक्ष जायेगे तब जम्बूस्वामी को केवल ज्ञान होगा। फिर वे जम्बू केवली अपने भव नाम के शिष्य के साथ ४० वर्ष तक विहार कर मोक्ष पधारेगे।

उत्तरपुराण पर्व ७४ श्लोक ३३१ आदि मे लिखा है कि -

एक दिन उज्जयिनी के स्मशान मे महावीर स्वामी प्रतिमा-योग से विराजमान थे। उनको ध्यान से विचलित करने के लिए रुद्र ने उन पर उपसर्ग किया। परन्तु वह भगवान को ध्यान से डिगाने मे समर्थ न हो सका। तब रुद्र ने भगवान का[2] महतिमहावीर नाम रखकर उनकी बडी स्तुति की और फिर नृत्य किया।

---

2 भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित उत्तर पुराण पृ० ४६५-६६ मे महति और महावीर ऐसे २ नाम अनुवादक जी ने दिए हैं किन्तु मूल मे एक वचनांत पद होने से 'महतिमहावीर' यह एक ही नाम सिद्ध होता है देखो पर्व ७४ 'समहतिमहावीराख्यां कृत्वा विविधा स्तुती' ॥४३६॥ इसी के आधार पर आशाधर ने भी त्रिषष्ठि स्मृति शास्त्र मे सर्ग २४ श्लोक ३५ मे 'महतिमहावीर' यह एक नाम सूचित किया है। इसी तरह स्वकृत सहस्रनाम के श्लोक ६१ में भी 'महति महावीर' यह एक नाम देते हुए उसका

अर्थ इस प्रकार किया है—महस्य मनस्य हतिह्ननन महति- । महतो महावीर.= महति महावीर । (पापो के नाश करने मे शूरवीर) पाक्षिकादि प्रतिक्रमण (क्रियाकलाप पृ० ७२) मे महदि-महावीरेण वड्ढमाणेण महाकस्सयेण" पाठ आता है इसमे भी 'महति महावीर' यह एक नाम ही सूचित किया है। महदि प्राकृत का सस्कृत मे महति और महाति दोनों रूप बनते हैं अत कवि असग ने अपने महावीर चरित मे 'महातिमहावीर' यह एक नाम दिया है जिसका अर्थ होता है महान् से भी अत्यन्त महान् वीर। स्व० प० खूबचन्द जी सा० ने इसके हिन्दी अनुवाद में अतिवीर और महावीर ऐसे दो नाम बताये हैं जो मूल से विरुद्ध हैं मूल मे तो एक वचनांत प्रयोग किया है देखो स महाति महादिरेव वीर प्रमदादित्यभिधाख्य-मत्ततस्य ॥ १२६ ॥ पर्व १७। अत असग के अनुसार भी 'महातिमहावीर' यह एक नाम ही सिद्ध होता है। ❀

धनञ्जय नाम माला के श्लोक ११५ में लिखा है—सन्मति महति वीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यप ॥ यहाँ महति' 'वीर' महावीर ऐसे अलग अलग नाम बताये हैं यह कवि की प्रतिभा है अमरकीर्ति ने इसके भाष्य मे 'महति' नाम का अर्थ इस प्रकार किया है—महती=पूजा यस्य स महति । किन्तु उत्तरपुराण आदि मे 'महति महावीर' यह एक नाम ही दिया है। दो नाम इसलिए भी नही हो सकते कि—उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक २९५ मे 'महावीर' यह नाम सर्पवेषी संगमदेव ने पहिले ही रख दिया था, देखो—स्तुत्वा भवान्महावीर इति नाम चकार स ।

❀ सकल कीर्तिकृत महावीर चरित मे भी 'महति महावीर' यह एक ही नाम ठीक उत्तरपुराणानुसार दिया है—

स्वय स्खलपितु चेत समाधेरसमर्थक ।
स, महति महावीराख्या कृत्वा विविधा स्तुति ॥

ऊपर हम लिख आये हैं कि—राजा चेटक की पुत्री ज्येष्ठा कुवारी ही आर्यिका हो गयी थी और राजा सत्यकि जो ज्येष्ठा को चाहता था वह भी मुनि हो गया था। उत्तरपुराण मे इनका इतना ही कथन किया है। किन्तु अन्य जैन कथा ग्रन्थो-मे इनका आगे का हाल भी लिखा मिलता है। हरिषेण कथाकोश की कथा न० ६७ मे लिखा है कि—

एक वार ज्येष्ठा आदि कितनी ही आर्यिकाये आतापन योग मे स्थित उक्त सत्यकि मुनिकी वदनार्थ गई थी[1]। वहाँ से लौट कर पहाड पर से उतरते समय अकस्मात् जल वर्षा होने लगी जिससे आर्यिकायें तितरबितर हो गईं। उस वक्त ज्येष्ठा एक गुफा मे प्रवेश कर अपने भीगे कपडे उतार-कर निचोडने लगी। उसी समय वे सत्यकि मुनि भी अपना आतापन योग समाप्त कर उसी गुफा मे आ घुसे। वहाँ ज्येष्ठा को खुले अंग देख एकात पा मुनि के दिल मे काम विकार हो उठा। दोनों का सयोग हुआ। ज्येष्ठा के गर्भ रहा। सत्यकि तो इस कुकृत्य का गुरु से प्रायश्चित्त ले पुन. मुनि हो गये। किन्तु ज्येष्ठा सगर्भा थी उसने अपनी गुर्वाणी यशस्वती के पास जा अपना सब हाल यथार्थ सुना दिया। गुर्वाणी ने उसे रानी चेलना के यहाँ पहुचा दिया। चेलना

1 ब्र० नेमिदत्तकृत आराधना कथा कोश मे इस जगह आर्यिकाओ का भगवान महावीर की वदनार्थ जाना लिखा है। वह ठीक नही है। क्योंकि इस वक्त तक तो अभी महावीर ने दीक्षा ही नही ली है। तब उनकी वन्दना की कहना असगत है। जैसा कि हम आगे बतायेगे।

ने शरण देकर ज्येष्ठा को गुप्त रूप से अपने पास रक्खा। वहीं उसके पुत्र पैदा हुआ। पुत्र जन्म के बाद ज्येष्ठा ने अपनी गुर्वाणी से प्रायश्चित लेकर पुन आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर ली।

ज्येष्ठा के जो पुत्र हुआ था उसका लालन पालन भी चेलना ने ही किया। वह पुत्र बडा उद्दण्ड निकला। एक दिन उसकी उद्दण्डता से हैरान होकर चेलना के मुख से निकल पडा कि 'दुष्ट जार जात यहाँ से चला जा' यह सुन उसने अपनी उत्पत्ति चेलना से जाननी चाही। चेलना ने सब वृत्तान्त उस को यथावत् सुना दिया। सुन कर वह अपने पिता सत्यकि मुनि के पास जा दीक्षा ले मुनि हो गया। वह नवदीक्षित मुनि ग्यारह अग दशपूर्वों का पाठी हो गया और रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याओं व सात सौ क्षुद्र विद्याओं की भी उसे प्राप्ति हो गई। वह विद्या के प्रताप से सिंह का रूप बनाकर उन लोगों को डराने लगा जो लोग सत्यकि मुनि की वन्दनार्थ आते जाते थे। उसकी ऐसी चेष्टा जानकर सत्यकि मुनि ने उसे फटकारा और कहा कि तू स्त्री के निमित्त से एक दिन भ्रष्ट होवेगा। गुरु वाक्य सुनकर सत्यकि पुत्र ने निश्चय किया कि मैं ऐसी जगह जाकर तप करूँ जहां स्त्री मात्र का दर्शन भी न हो सके तब मैं कैसे भ्रष्ट होऊँगा ? ऐसा सोचकर वह कैलाश पर्वत पर जा पहुंचा और वहाँ आतापन योग में स्थित हो गया। वहाँ एक विद्याधर की आठ कन्यायें स्नान करने को आईं। उनकी अनुपम सुन्दरता को देखकर वह उन पर मोहित हो गया। ज्यों ही वे कन्यायें अपने वस्त्राभूषण उतार वापिका के जल में स्नान करने को घुसीं तब ही उसने

अपनी विद्या के द्वारा उनके वस्त्राभूषणों को मगा लिया। वापिका से निकल कर उन कन्याओ को जब तट पर अपने २ वस्त्राभूषण नहीं मिले तो उन्होंने उन मुनि से पूछताछ की। मुनि ने उनसे कहा तुम सब मेरी भार्या बनो तो तुम्हारे वस्त्रादि तुम्हे मिल सकते है। उत्तर मे उन कन्याओ ने कहा कि यह बात तो हमारे माता पिता के आधीन है। वे अगर हमे आपको देना चाहे तो हमारी कोई इकारी नही है। उसने कहा अच्छा तो तुम सब अपने माता पिता को पूछ लो यह कह उसने उनके वस्त्राभूषण दे दिए। उन कन्याओ ने घर पर जा यह बात अपने माता पिता देवदारु को कही। देवदारु ने एक वृद्ध कंचुकी को भेजकर सत्यकि पुत्र से कहलवाया कि मेरा भाई विद्युज्जिह्व मुझे राज्य से निकाल आप राजा बन बैठा है। अगर आप उससे मेरा राज्य दिला सको तो मैं ये सब कन्यायें आपको दे सकता हूँ। सत्यकि पुत्र ने ऐसा करना स्वीकार किया और अपनी विद्याओ के बल से उसके भाई विद्युज्जिह्व को मारकर देवदारु को राजा बना दिया। तब देवदारु ने भी अपनी आठो कन्याओ की शादी सात्यकि के साथ कर दो। किन्तु वे सब कन्याये रतिकर्म के समय उसके शुक्र के तेज को न सह सकने के कारण एक एक करके मर गईं। इसी तरह अन्य भी एक सौ विद्याधर कन्याये मरण को प्राप्त हुईं। आखिर मे एक विद्याधर कन्या ऐसी निकली जो इस काम मे उसका साथ दे सकी। उसके साथ उसने नाना प्रकार के भोग भोगे। फिर इसी सत्यकी पुत्र (११ वे रुद्र) ने[1] आकर भगवान महावीर पर उपसर्ग किया था।

---

1 इस ११ वें रुद्र का असली नाम क्या था यह किसी ग्रन्थकार

ने सूचित नही किया है किन्तु कवि अशग ने महावीर चरित सर्ग १७ श्लोक १२५-१२६ मे भव नाम दिया है। हरिषेण कथाकोश की कथा न० ६७ मे तथा श्रीधर के अपभ्रंश वर्द्धमान चरित आदि मे भी भव दिया है लेकिन यह नाम नही है रुद्र का पर्यायवाची शब्द है देखो धनजय नाममाला श्लोक ७० अथवा अमरकोष।

यह कथा श्रुतसागर ने मोक्ष पाहुड गाथा ४६ की टीका मे भी इसी तरह लिखी है। ब्र० नेमिदत्त ने भी आराधना कथा कोश मे लिखी है।

'इस प्रकार' उत्तरपुराण की कथाओ के ये उद्धरण ऐसे है जिनसे हम राजा श्रेणिक की आयु का अदाजा लगा सकते है। श्रेणिक को देश निकाला होने पर उसने जो देशातर मे एक ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था और उससे अभयकुमार पुत्र हुआ था उस समय श्रेणिक की उम्र कम से कम १८ वर्ष की तो होगी ही। आगे चलकर इसी अभयकुमार के प्रयत्न से श्रेणिक का चेलना के साथ विवाह हुआ है ऐसा कथा मे कहा है। तो चेलना के विवाह के वक्त अभयकुमार की आयु भी १८ वर्ष से तो क्या कम होगी? इसी प्रकार यहाँ तक यानी चेलना के विवाह के वक्त तक श्रेणिक की उम्र करीब ३६ वर्ष की सिद्ध होती है। उसी से कथा मे लिखा है कि श्रेणिक की आयु ढल जाने के कारण ही राजा चेटक अपनी पुत्री चेलना को श्रेणिक को देना नहीं चाहता था। अब आगे चलिये—चेलना की बहिन ज्येष्ठा को श्रेणिक की प्राप्ति न हुई तो वह दीक्षा ले आर्यिका हो गई। इसी आर्यिका के सत्यकी मुनि के सयोग से सत्यकि पुत्र (रुद्र) उत्पन्न हुआ है। चेलना की विवाह के बाद सत्यकी

पुत्र की उत्पत्ति होने तक कम से कम एक वर्ष का काल भी मान लिया जावे तो यहाँ तक श्रेणिक की उम्र ३७ वर्ष की होती है शास्त्रो मे रुद्रो के ३ काल माने है—कुमारकाल सयमकाल और असयमकाल । हरिवश पुराण सर्ग ६० मे लिखा है कि—

वर्षाणि सप्त कौमार्ये विंशति सयमेऽष्टभि. ।
एकादशस्य रुद्रस्य चतुस्त्रिशदसयमे ॥५४५॥

अर्थ—११ वे रुद्र का कुमारकाल ७ वर्ष, सयमकाल २८ वर्ष और असयमकाल ३४ वर्ष का था ।

यह विषय त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे भी आया है। उसके चौथे अधिकार की गाथा न० १४६७ इस प्रकार हे —

सगवासं कोमारो संजमकालो हवेदि चोत्तीस ।
अडवीसं भंगकालो एयारसयस्य रुद्दस्स ॥१४६७॥

इसमे ११ वे रुद्र का सयमकाल ३४ वर्ष का और असयमकाल २८ वर्ष का बताया है । यह गाथा अशुद्ध मालूम पडती है । इसलिये इसका कथन हरिवशपुराण से नही मिलता है । इस गाथा मे प्रयुक्त 'चोत्तीस' के स्थान मे 'अडवीस' और 'अडवीस' के स्थान मे 'चोत्तीस' पाठ होना चाहिये । जान पडता है किसी प्रतिलिपिकार ने प्रमाद से उलट पलट लिख दिया है ।

अब प्रकृत विषय पर आइये—रुद्र ने महावीर पर उपसर्ग किया तो वह ऐसा काम सयमकाल मे तो कर नही सकता है । रुद्र की सयमकाल की अवधि उसकी ३५ वर्ष की उम्र तक मानी गई है जैसा कि ऊपर लिखा गया है इन ३५ वर्षों को श्रेणिक की उक्त ३७ वर्ष की उम्र मे जोडने पर यहाँ तक श्रेणिक की उम्र

७२ वर्ष की हो जाती है। फिर सयमकाल की समाप्ति के वाद सत्यकि पुत्र का कैलाश पर पहुँच कर वहाँ विद्याधर कन्याओ को व्याहने और एक-एक करके उन कन्याओ के मरने पर अत मे विशिष्ट विद्याधर कन्या के साथ रमण करते हुए भगवान महावीर तक पहुँच कर उन पर उपसर्ग करने मे भी ज्यादा नही एक वर्ष भी गिन ले और महावीर को उनकी उम्र के ४२ वें वर्ष मे केवलज्ञान हुआ उसी वर्ष मे ही यह उपसर्ग भी मान ले तो इसका यह अर्थ हुआ कि महावीर को जब केवल ज्ञान पैदा हुआ तव राजा श्रेणिक की उमर लगभग ७३ वर्ष की थी। अर्थात् महावीर से श्रेणिक ३१ वर्ष बडे थे। इस हिसाब से जव श्रेणिक ने चेलना से विवाह किया तव श्रेणिक ३६ वर्ष के थे और महावीर ५ वर्ष के थे। इतिहास मे महावीर और गौतम बुद्ध को समकालीन माना जाता है। अत. उस वक्त गौतम बुद्ध भी बालक ही माने जायेंगे ऐसी हालत मे उस वक्त हम श्रेणिक को बौद्धमती भी नही कह सकते हैं। बौद्ध धर्म के चलाने वाले खुद गौतम ही जब उस वक्त बालक थे तो उस समय बौद्धधर्म कहा से आयेगा ? अगर हम इतिहास की गडबडी से बुद्ध और महावीर की वय मे १०-१५ वर्ष का अन्तर भी मान ले तब भी श्रेणिक के समय मे बौद्ध मत का सद्भाव नही था। इसीलिये हरिषेण कथाकोश मे श्रेणिक को भागवतमत (वैष्णवमत) का बताया है卐 वह ठीक जान पडता है। तथा महावीर का निर्वाण उनकी ७२ वर्ष की वय मे हुआ माना जाता है अत महावीर से

卐 पुण्याश्रवकथा कोश मे भी वैष्णव धर्मी ही वताया है। देखो पृष्ठ ४१-४२ व नेमिदत्त के आराधना कथा कोश मे भी वैष्णव (भागवत) धर्मी ही श्रेणिक को वताया है।

३१ वर्ष वडे होने के कारण श्रेणिक की उम्र वीर निर्वाण के वक्त १०३ वर्ष की माननी होगी। उम्र का यह टोटल यहाँ कम लगाया गया है, इससे अधिक भी सभव हो सकता है वीरनिर्वाण के वक्त श्रेणिक जीवित थे कि नही थे यह उत्तरपुराण से स्पष्ट नही होता है। किन्तु हरिवशपुराण मे वीरनिर्वाण के उत्सव मे श्रेणिक का शरीक होना लिखा है। और हरिषेण कथाकोश मे कथा न० ५५ मे श्रेणिक का अतकाल वीर निर्वाण से करीव ३॥ वर्ष वाद होना वताया है। यथा . -

ततो निर्वाणमापन्ने महावीरे जिनेश्वरे ।
तिस्रस्समाश्चतुर्थस्य कालस्य परिकीर्तिता ॥३०६॥
तथा मासाष्टकं ज्ञेय षोडशापि दिनानि च ।
एतावति गते काले नूनं दु खमनामनि ॥३०७॥
पूर्वोदित. श्रेणिको राजा सीमत नरक ययौ ॥३०८॥

अर्थ—महावीर के निर्वाण के वाद चतुर्थकाल के ३ वर्ष ८ मास १६ दिन व्यतीत होने पर दु खम नाम के पाचवे काल मे मनवाछित महाभोगो को भोग कर राजा श्रेणिक मर कर प्रथम नरक के सीमत विल मे गया[1]।

उक्त १०३ वर्ष मे वीर निर्वाण के बाद ये ३॥। वर्ष जोडने पर श्रेणिक की कुल आयु १०७ वर्ष करीव की वनती है।

---

1 उत्तरपुराण मे चतुर्थकाल की समाप्ति मे ३ वर्ष ८॥ मास शेप रहने पर वीरनिर्वाण होना लिखा है। यहाँ ३ वर्ष ८ मास १६ दिन इसलिये लिखा है कि १६ वें दिन पचम काल का प्रारभ होता है और उसी दिन मे श्रेणिक की मृत्यु हुई है।

अब हम श्रेणिक की आयु के साथ जम्बूकुमार का संबध बताते है—उत्तरपुराण की कथा मे लिखा है कि— गौतम केवली जब प्रथम बार विपुलाचल पर आये थे उस समय राजगृह का राजा कुणिक था। यानी राजा श्रेणिक उस समय नही थे वे मर चुके थे। *अर्थात् वीर निर्वाण से ३॥। वर्ष बाद जब श्रेणिक न रहे तब तक प्रथम बार गौतम केवली विपुलाचल आये थे। उस समय बाँधवो के अनुरोध से जम्बूस्वामी दीक्षा लेते २ रुक गये। पुन जब दुबारा गौतम केवली विपुलाचल पर आये तब उनके सान्निध्य मे सुधर्माचार्य के पास मे जम्बू स्वामी ने दीक्षा ग्रहण की। इस दीक्षा को अगर हम अदाजन वीर निर्वाण से यो कहिये गौतम के केवली होने से ६ वर्ष के बाद होना मान ले और दीक्षा के वक्त जम्बू कुमार की २० वर्ष की उम्र मानले तो कहना होगा कि वीरनिर्वाण के वक्त जम्बूकुमार १४ वर्ष के थे और जम्बू की १७॥। वर्ष की उम्र के लगभग तक श्रेणिक जीवित रहे थे। इसलिये जम्बू का श्रेणिक की राज सभा में आना जाना व श्रेणिक द्वारा सन्मान पाना तो सगत हो सकता है। परन्तु कुछ जैन कथा ग्रन्थो मे लिखा है कि—'जम्बूकुमार की मदद से राजा श्रेणिक ने एक विद्याधर कन्या को विवाही थी" यह बात नही बन सकती है। क्योकि उस समय राजा

---

* राजा श्रेणिक उस वक्त अत्यत वृद्ध थे और कुणिक ने उन्हे बंदी बनाकर रखा था अत राजा कुणिक को लिखा है इससे श्रेणिक की अविदय मानना सिद्ध नही होती वीरनिर्वाण से ३॥। वर्ष के अन्दर ही (जब कि श्रेणिक जिन्दे थे) गौतम विपुलाचल पर आये हो यह भी सभव है।

श्रेणिक बहुत ही वृद्ध हो चले थे। जब जम्बू ११ वर्ष के थे तब श्रेणिक एक सौ वर्ष के थे। इसी तरह कुछ कथा ग्रन्थो मे जम्बू के दीक्षोत्सव मे श्रेणिक की उपस्थिति बताना भी गलत है। उत्तर पुराण के अनुसार ॐदुबारा गौतम केवली विपुलाचल पर आये थे तब जम्बू ने दीक्षा ली थी किन्तु प्रथम बार जब गौतमकेवली विपुलाचल पर आये थे उस वक्त भी श्रेणिक मौजूद न थे उस वक्त भी कुणिक ही का राज्य था ऐसा उत्तर पुराण मे लिखा है तब जम्बू के दीक्षोत्सव मे श्रेणिक को उपस्थित बताना अयुक्त है● जम्बू की दीक्षा के वक्त श्रेणिक की विद्यमानता का उल्लेख हरिवश पुराण और हरिषेण कथा कोष मे भी नही है।

इस निबन्ध में ३ कथा ग्रन्थो का उपयोग किया गया है—उत्तर पुराण, हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोश का। तीनो ही ग्रन्थ प्राचीन हैं। उत्तरपुराण का रचना काल वि० स० ९१० के करीब। हरिवश पुराण का वि० स० ८४० और हरिषेण कथा कोष का वि० स० ९८८ है।

ॐ दुबारा आने का स्पष्ट कथन नहीं है। प्रथमबार गौतम आये और कुछ दिन वही रहे तभी ही जंबू ने दुबारा आकर उनकी मौजूदगी मे दीक्षा ले ली।

● वीरकवि कृत—'जबू चरिउ' की सधि १० कडवक १९ में जबू की दीक्षा के वक्त श्रेणिक को मौजूद बताया है।



चातुर्मास योग

अनेकात वर्ष १ पृ० ३२४ पर एतद् विषयक मुख्तार सा का एक लेख देखो

इस विषय मे प० आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत अध्याय ६ में इस प्रकार लिखा है—

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती ।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तीगुरुस्तुतिम् ।।६६।।
शान्तिभक्ति च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम् ।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्या पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ।।६७।।

अर्थ—उसके बाद अषाढ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम पहर मे सिद्ध भक्ति और योग भक्ति करके चारो दिशाओ मे प्रदक्षिणा पूर्वक एक-एक दिशा मे लघुचैत्यभक्ति पढते हुए तथा पचगुरुभक्ति और शातिभक्ति पढते हुए वर्षायोग ग्रहण करे। और इस विधि से कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के चौथे पहर मे वर्षा योग को समाप्त करे।

मास वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्र शुचौ व्रजेत् ।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लघयेत् ।।६८।।
नभश्चतुर्थी तद्याने कृष्णा शुक्लोजपचमीम् ।
यावन्नगच्छेत्तच्छेदे कथचिच्छेदमाचरेत् ।।६९।। युग्मम्

अर्थ—चतुर्मास के अलावा हेमतादि ऋतुओ मे मुनि लोग एक स्थान मे एक मास तक ठहर सकते है। आषाढ मास मे श्रमण सघ वर्षायोग स्थान को चला जाये और मगसिर का महीना बीतते ही वर्षायोग स्थान को छोड दे। यदि आषाढ के महीने मे वर्षायोग स्थान मे न पहुच सकें तो कारणवश भी श्रावणकृष्णा चतुर्थी का उल्लघन न करे। अर्थात् जहाँ चातुर्मास करना हो उस स्थान मे श्रावण कृष्णा चौथ तक अवश्य २ पहुच जावें। तथा कार्तिक शुक्ला पचमी के पहिले प्रयोजनवश भी वर्षायोग स्थान को न छोड़े। वर्षायोग के ग्रहण विसर्जन का जो समय यहाँ बताया गया है उसका दुर्निवार उपसर्गादि के कारण यदि उल्लघन करना पडे तो उसका प्रायश्चित्त लेवे।

योगांतेऽर्कोदये सिद्धनिर्वाणगुरुशान्तय ।
प्रणुत्या वीरनिर्वाणे कृत्यातो नित्यवदना ॥७०॥

अर्थ—कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के चौथे पहर में वर्षायोग का निष्ठापन किया जाता है। जैसा कि ऊपर लिखा है। यही समय भगवान् महावीर के निर्वाण का आ जाता है। इसलिए वर्षायोग के निष्ठापन के अनन्तर सूर्योदय हो जाने पर वीर निर्वाण क्रिया करे। उसमें सिद्धभक्ति निर्वाणभक्ति गुरुभक्ति और शातिभक्ति करे। इसके बाद नित्यवदना करे।

आशाधर के इस कथन से प्रकट होता है कि—वर्षायोग समाप्ति का क्रिया विधान तो कार्तिक कृष्णा १४ की रात्रि के पिछले भाग मे ही कर लिया जाता है। परन्तु उसके अनन्तर ही उस स्थान को छोडकर अन्यत्र विहार नही किया जाता है। कम से कम कार्तिक शुक्ला ५ तक तो उसी स्थान मे रहना

आवश्यक बताया है। इससे पहिले तो मुनिजन कदाचित् भी वहाँ से विहार नही कर सकते हैं। और अधिक से अधिक मगसिर मास की समाप्ति तक भी उस स्थान को नही छोडने को कहा है।

मूलाचार समयसाराधिकार गाथा १८ की टीका मे दश प्रकार के श्रमण कल्प का वर्णन करते हुए मास नाम के ६ वें कल्प का कथन इस प्रकार किया है—

"मास. योगग्रहणात् प्राङ् मासमात्रमवस्थान कृत्वा वर्षाकाले योगो ग्राह्यस्तथा योग समाप्य मासमात्रमवस्थान कर्तव्य। लोकस्थिति ज्ञापनार्थमहिंसादिव्रतपरिपालनार्थं च योगात्प्राङ् मासमात्रमवस्थान, पश्चाच्च मासमात्रमवस्थान श्रावकलोकादिसक्लेशपरिहरणाय अथवा ऋतौ २ मासमासमात्र स्थातव्य मासमात्र च विहरण कर्तव्यमिति मास श्रमणकल्पोऽथवा वर्षाकाले योगग्रहण चतुर्षु चतुर्षु मासेषु नदीश्वरकरण च मास श्रमणकल्प।"

अर्थ—जिस स्थान मे वर्षायोग ग्रहण करना है उस स्थान मे वर्षाकाल से एक मास पहले ही उपस्थित होकर वर्षायोग ग्रहण करना और वर्षायोग की समाप्ति हो जाने पर भी एक मास भर वही ठहरे रहना इसे मास कल्प कहते हैं। वहाँ के लोगो की परिस्थिति को जानने के लिए और अहिंसादि व्रतो की पालनाके लिए उस स्थान मे वर्षायोग से एक मास पूर्व ही चले जाते है। और श्रावक लोक आदिको को सक्लेश न होने देने के लिए वर्षायोग की समाप्ति के बाद भी एक मास तक वहाँ ठहरे रहते हैं। अथवा प्रत्येक ऋतु मे एक-एक मास तक एक जगह ठहरे रहना और एक-एक मास तक विहार करते रहना इसे भी मास नाम का श्रमणकल्प कहते हैं। अथवा वर्षाकाल मे

वर्षा योग ग्रहण करना और चार-चार महीने मे नदीश्वर करना यानी आष्टाह्निक पर्व के ८ दिन तक एक जगह ठहरे रहना यह भी मास श्रमणकल्प कहलाता है।

भगवती आराधना गाथा ४२१ की मूलाराधना टीका में पं० आशाधर जी ने इस प्रकरण को विजोदया टीका से उद्धृत करते हुए निम्न प्रकार लिखा है—

"प्रावृट्काले मासचतुष्टयमेकत्रावस्थान। स्थावरं जगमजीवाकुला हि तदा क्षितिरिति तदा भ्रमणे महान्-सयम ... ... इति विंशत्यधिक दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्यय उत्सर्ग। कारणापेक्षया तु हीनमधिक वावस्थान। सयतानामाषाढ शुक्लदशम्या प्रभृति स्थितानामुपरिष्टाच्च कार्तिक पौर्णिमास्यास्त्रिशद्दिवसावस्थान। ... ... एकत्रेत्युत्कृष्ट काल.। मार्या दुर्भिक्षे ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशातर याति। अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यति इति पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रातायां प्रतिपदादिषु दिनेषु यावच्चत्वारो दिवसा[1] एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य। एष दशम. स्थितिकल्पो व्याख्यातः टीकाया। टिप्पन के तु द्वाभ्या द्वाभ्या मासाभ्यो निषद्यका द्रष्टव्येति।"

अर्थ—वर्षा काल में मुनियो को चार मास तक एक जगह रहना चाहिए। क्योकि उस समय पृथ्वी स्थावरत्रस जीवो से व्याप्त हो जाती है इससे उस समय विहार करने से महान्

---

1 विजयोदया टीका मे इस स्थान पर ४ दिन की जगह २० दिन लिखे हैं। इसका कारण वहां पाठ की अशुद्धि मालूम पड़ती है।

असयम होता है। अत वर्षा काल मे एक सौ वीस दिन नक मुनियो का एक स्थान मे रहना यह उत्मर्ग मार्ग है। कारण अपेक्षा से यह अवस्थान १२० दिन से हीनाधिक भी होता है। आषाढ शुक्ला दशमी से लेकर कार्तिक की पूर्णमासी के वाद नीस दिन तक यानी मगसिर शुक्ला १५ तक (५ मास ५ दिन) मुनियो का एक स्थान मे रहना उत्कृष्ट काल कहलाता है। महामारी दुर्भिक्ष के होने पर जव लोग गाँव देश को छोड भागने लगे अथवा मुनि संघ के नाश होने का कोई कारण आ उपस्थित हो तो ऐसी हालत में मुनिजन जहाँ वर्षायोग ग्रहण किया है उस स्थान को भी छोड वर्षाकाल मे अन्य स्थान मे जा सकते हैं। यदि न जावें तो उनके रत्नत्रय की विराधना होगी। यह स्थाना-तर आषाढ की पूर्णमासी से चार दिन बाद तक—श्रावण कृष्णा ४ तक किया जा सकता है। इस अपेक्षा से काल की हीनता समझनी। इस प्रकार टीका मे १० वाँ स्थिति कल्प का व्याख्यान किया है। टिप्पणमे तो दो-दो महीनें मे निषद्यका का दर्शनकरना दशवा स्थितिकल्प वताया है।

यहाँ यह ध्यान मे रखने की वात है कि—दशवे पज्जो नाम के स्थिति कल्प का जो स्वरूप टिप्पण मे बताया है। उसी से मिलता जुलता स्वरूप मूलाचार की टीका मे वताया है। वहा 'निषद्यका की उपासना करना" ऐसा स्वरूप पज्जो स्थिति कल्प का वताया है। जबकि भगवती आराधना की विजयोदया टीका मे वर्षायोग के धारण करने को पज्जो-स्थितिकल्प बताया है। इस तरह भगवती आराधना की टोका और मूलाचार की टीका मे इस विषय मे एक बडा कथन भेद पाया जाना है।

नीचे हम इन सब कथनो का फलितार्थ बताते है—

(१) आषाढ शुक्ला १५ से कार्तिक शुक्ला १५ तक वर्षा काल माना जाता है। इन ४ मासो तक मुनियो का एक स्थान मे रहना यह एक सामान्य नियम है।

(२) मूलाचार मे लिखे मास कल्प के अनुसार वर्षा काल के प्रारम्भ से एक मास पूर्व और वर्षा काल की समाप्ति से १ मास बाद तक भी अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ला १५ से मगसिर शुक्ला १५ तक मास ६ तक भी मुनिजन लगातार एक स्थान पर रह सकते हैं। इतना समय शास्त्र रचना के लिए उपयुक्त हो सकता है 卐

(३) वर्षा योग की स्थापना का समय आषाढ शुक्ला १४ का है। भगवती आराधना की टीका के अनुसार उसके भी पहिले आषाढ शु० १० तक मुनियो को वर्षा योग ग्रहण करने के अर्थ अपने इष्ट स्थान पर पहुच जाना चाहिए। यदि किसी कारण वश उक्त समय तक न पहुँच सके तो भी श्रावण कृष्णा ४ का उल्लघन तो कदाचित् भी नहीं किया जा सकता है। उल्लघन करने पर प्रायश्चित्त लेना होगा।

(४) अनगारधर्मामृत मे प० आशाधरजी ने वर्षा योग की समाप्ति की सिर्फ क्रिया विधि (भक्ति पाठो का पढा जाना) कार्तिक कृ० १४ की रात्रि के पिछले भाग मे करना बताई है। उसके दूसरे ही दिन विहार करना नही बताया है। बल्के उसके

卐 प्रत्येक पच वर्ष मे दो मास बढते हैं अत जिस वर्ष चातुर्मास मे अधिक मास हो उस वर्ष ७ मास तक भी एक स्थान पर स्थिति हो सकती है।

—रतनलाल कटारिया

बाद भी वर्षा काल की समाप्ति तक यानी कार्तिक शु० १५ तक या मास कल्प के अनुसार मगसिर शु० १५ तक भी वहीं पर ठहरा जा सकता है, कारणवश इससे पहिले भी विहार किया जा सकता है किंतु कार्तिक शु० ५ से पहिले तो कारणवश भी विहार नहीं हो सकता है। विहार करने पर प्रायश्चित लेना होगा।

(५) महामारी आदि कारणों से यदि वर्षाकाल में स्थान छोडने की जरूरत आ पडे तो श्रावण कृ० ४ तक ही वे अन्यत्र जा सकते हैं। बाद में नहीं। बाद में जाने पर प्रायश्चित लेना होगा।

(६) चातुर्मास के अलावा हेमतादि दो-दो मास की ऋतुओं में प्रत्येक ऋतु में १ मास तक मुनियों का एक स्थान पर ठहरे रहना और १ मास तक विचरते रहना ऐसा भी विधान मूलाधार में मास कल्प के स्वरूप कथन में किया है।

(७) मूलाचार में आष्टाह्निक पर्व के ८ दिन तक मुनियों को एक स्थान में रहने के विधान का भी आभास मिलता है।

(८) जो मुनि श्रावण कृ० ४ के बाद वर्षायोग ग्रहण करते हैं और कार्तिक शु० ५ से पहिले ही वर्षायोग को समाप्त कर विहार कर जाते हैं। वे मुनि प्रायश्चित्त के योग्य माने गये है अर्थात् ऐसे मुनियों को इसका प्रायश्चित्त लेना चाहिए।



६

सिद्धान्ताध्ययन पर विचार

क्षुधा आदि बाधाओ को भेटने के लिये जैसे पशुओ के आहार निद्रा भय मैथुन आदि कार्य होते हैं वैसे मनुष्योके भी होते है किंतु जिस ज्ञान की विशेषता मनुष्य समाज मे है वह पशुओमे नही हे इसीसे मनुष्य श्रेष्ठ समझा जाता है। किसीने ठीक ही कहा है कि— ज्ञानेन हीना पशुभि समाना ' जिस प्रकार खान से निकला हुआ रत्न सस्कारके योग से बहुमूल्यवान् हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी ज्ञान सस्कारसे महान् गिना जाता है। अथवा जैसे बारबार अग्निसस्कारसे सुवर्ण दीप्तिवान हो जाता है उसी तरह बारबार ज्ञानाभ्याससे मनुष्य भी दीप्तिशाली माना जाता है। यह तो निश्चित है कि-माताके उदर से निकले बाद अगर मानव को शिक्षा ग्रहण से बिल्कुल ही रोक दिया जाए तो सचमुच वह पशुसे भी निकृष्ट हो सकता है। इसी विषयक नीतिका यह श्लोक कितना मर्मस्पर्शी है—

शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना ॥
न गुह्यगोपने शक्तं न च दशनिवारणे ॥

इसमे कहा है कि-विद्याविहीन जीवन कुत्ते को पूछकी भाति व्यर्थ है जो न तो गुह्यागको ढक सकती है और न मक्खियो को ही उडा सकती है .

ज्ञानकी इतकी अधिक महिमा होने के कारण ही शास्त्र-कारोने स्वाध्यायको 'न स्वाध्यायात्पर तप' पदसे सभी तपो मे बढकर तप कहा है।

मूलाचार मे कहा है कि—

बारसविधह्मिय तवे सब्भतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
णवि अत्थि णविय होहदि सज्झायसम तवो कम्मम् ।९७०
यही गाथा भगवती आराधना आश्वासर न० १०७ पर है।
सूई जहा ससुत्ता ण णस्पदिहु पमाददोसेण ।
एवं ससुत्त पुरिसो ण णस्सदि तह पमाददोसेण ।।९७१।।
'**वट्टकेराचार्य**।'

अर्थ—तीर्थंकर गणधरादिकर दिखाये अभ्यतर बाह्य भेदयुक्त बारह प्रकार के तप मे स्वाध्याय के समान उत्तम अन्य तप न तो है और न होगा।

जैसे सूक्ष्म भी सुई प्रमाद दोष से गिरी हुई यदि डोराकर सहित हो तो नष्ट नही होती—देखने से मिल जाती है, उसी तरह शास्त्र स्वाध्याय युक्त पुरुष भी प्रमाद दोष से उत्कृष्ट तप रहित हुआ भी ससार रूपी गढ्ढे मे नही पडता।

जो ग्रंथ परमपूज्य केवली के बचनो की परम्परा लिये हो और जिन मे आत्मा का परमाराध्य मोक्ष की कारणी भूत कथनी हो उससे बढकर कौन हो सकता है ?

वर्तमान के उपलब्ध जैन परमागम की रचना गौतम गणधर कथित सूत्र के आधार से हुई है। गौतम स्वामी ने किस समय किस प्रकार ग्रथ रचना की यह वर्णन उत्तर

पुराण मे गुणभद्रसुरिने बडेही हृदयग्राही ढग से किया है, पाठको की जानकारी के लिये उसे हम यहा देते है—

गौतम गणधर अपना जीवन वृत्तात सुनाते हुये कहते हैं कि—

श्रीवर्धमानमानस्य संयमं प्रतिपन्नवान् ।
तदैव मे समुत्पन्ना परिणामविशेषत ॥३६८॥
ऋद्धय सप्त सर्वागानामप्यर्थपदान्यत ।
भट्टारकोपदेशेन श्रावणे वहुले तिथौ ॥३६९॥
पदार्थाऽर्थरूपेण सद्यः पर्यणमन् स्फुटम् ।
पूर्वाह्ले पश्चिमे भागे पूर्वाणामप्यनुक्रमात् ॥ ३७०॥
इत्यनुज्ञातसर्वांगपूर्वार्थो धीचतुष्कवान् ।
अगानां ग्रंथसदर्भं पूर्वरात्रे व्यधामहम् ॥३७१॥
पूर्वाणां पश्चिमे भागे ग्र थकर्ता ततोऽभवम् ।
इति श्रुतर्द्धिभि पूर्णोऽभूव गणभृदादिम ॥३७२॥
७४ वां पर्व.

अर्थ—श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार कर सयम धारण कर लिया। परिणामो की विशेष विशुद्धि होने से उसी समय मुझे सात ऋद्धिया प्राप्त हुईं। तदनतर श्री वर्द्धमान भट्टारक के उपदेश से श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन सवेरे के समय सब अगो के अर्थ और पद शीघ्र ही अर्थ रूप से स्पष्ट जान पडे और इसी तरह उसी दिन के साम के समय अनुक्रम से सब पूर्वों के अर्थ और पदो का ज्ञान होगया। तथा चौथा मन पर्ययज्ञान भी होगया। तदनतर मैंने रात्रि के पहिले भाग मे अगो की ग्रथ रूप से रचना की और रात्रि के पिछले भाग मे पूर्वों की ग्रथ रचना की इस तरह अग और पूर्वो से रचना कर

मैं ग्रन्थकर्त्ता प्रसिद्ध हुआ हू। इस प्रकार श्रुतज्ञानऋद्धि से पूर्ण होकर मैं श्री वीरनाथका पहिला गणधर हुआ हूँ।

जिस जैन वाणी का प्रादुर्भाव इतनी महत्ता को लिए हुए है उसका प्रचार संसार मे प्रचुरता के साथ होना चाहिए किन्तु इस विषय मे जैन समाज आज जो भी कुछ कर रहा है वह सन्तोष प्रद नही कहा जा सकता। और तो क्या हम अब तक ग्रन्थ प्रकाश का प्रबन्ध भी ऐसा नही कर पाये जिसे ठीक कह सकें। इसके लिए हमारे पास द्रव्य की कमी नही है क्योंकि जो समाज प्रतिसाल मेला प्रतिष्ठा की धूमधाम मे लाखो रुपये लगाती है उसके लिए यह कैसे कहे कि धन की कमी है? कमी है सिर्फ ग्रन्थ प्रकाशन मे रुचि होने की। सच तो यह है कि धनी लोग इसे महत्व का काम ही नही समझते हैं इसका भी एक कारण है। पिछले कुछ समय मे जैन समाज की बागडोर प्राय ऐसे लोगो के हाथो में थी जो स्वय मदाध और विवेकशून्य होकर परमगुरु के पदपर आसीन थे और इसी महान् पदपर अपने को हमेशा कायम रखने के लिये जनता को ज्ञानहीन बनाये रखना चाहते थे। इसके लिये लोगोको उल्टी पट्टी पढाई गई कि श्रावकों को सिद्धात ग्र थोके पढने का अधिकार नही है। गृहस्थो का तो केवल दान पूजा प्रभावना करना ही है। इसमे उनका कल्याण है। बस भोले लोग इस भुलावे मे आगये। फल उसका यह हुआ कि जनता की रुचि पूजा प्रभावना के काम मे ही इतनी अधिक बढी कि आज भी वे अपने को न सम्हाल सके। खेद तो यह है कि उक्त प्रकार का स्वार्थ मूलक उपदेश ही नही दिया गया किंतु उसे सस्कृत प्राकृत भाषा मे ग्र थबद्ध भी कर दिया गया जिससे इस चक्कर मे कतिपय विद्वान भी आते रहे। इस तरह यह

मिथ्या परम्परा चल पडी। आज भी कुछ पंडित कहलाने वाले ऐसे हैं जो कभी-कभी "श्रावको को सिद्धान्ताध्ययन का अधिकार नहीं है" इस मिथ्या धारणा को प्रगट किया करते हैं। प० उदयलालजी कासलीवालने तो संशयतिमिरप्रदीप' नामक पुस्तक मे इस भ्रमपूर्ण मान्यता की दिलखोल पुष्टि की है और एक मात्र अवनति का मूल कारण ही श्रावको का सिद्धाताध्ययन बताया है। उसमे अध्ययन तो दूर रहा आर्यिका और गृहस्थेके सामने सिद्धान्तग्र थो का वांचना ही अयोग्य ठहराया गया है। बलिहारी है ऐसी समझ की ! आश्चर्य इस बात का है कि जिसका विधान किसी भी आर्ष ग्र थ मे नहीं है उसे कुछ मामूली ग्र थोमे देखकर ही ये लोग कैसे प्रमाण कर लेते हैं ? सिद्धाता-ध्ययन का निषेध हमे तो किसी ऋषिप्रणीत ग्र थ मे लिखा नहीं मिलता बल्कि विधान ही पाया जाता है। नीचे हम ग्र थो के कतिपय उद्धरणो से यही सिद्ध करते है

भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराण पर्व ३९ में श्रावको के ये क्रियाको का वर्णन करते हुये कहते हैं कि —

पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यदतः परा ।
पूजोपवाससंपत्या श्रृण्वतोऽगार्थसंग्रहम् ॥४९॥

ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबंधिनी ।
श्रृण्वत पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिण ॥५०॥

अर्थ—पूजा और उपवासरूप संपत्ति को धारणकर ग्यारह अगो के अर्थ समूह को सुनने वाले श्रावक के पूजारा-ध्यनाम पाचवी प्रसिद्ध क्रिया होती है।

तदनतर अपने साधर्मो पुरुषो के साथ चौदह पूर्वो का अर्थ सुनने वाले श्रावक के पुण्य बढाने वाली पुण्य यज्ञ नाम की छट्टी क्रिया होती है।

यह तो हुआ श्रावको के पढने सुनने का अधिकार। अब आर्यकाओ का अधिकार भी देख लीजिये-मूलाचार के पचाचाराधिकार मे वट्टकेरस्वामी ने लिखा है कि—

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गथो कप्पदि पढिदु असज्झाए ॥८१॥

अर्थ—वे चार प्रकार के अग, पूर्व, वस्तु, प्राभृत, रूप, सूत्र, कालशुद्धि आदि के बिना सयमियो को तथा आर्यकाओ को नहीं पढने चाहिये। इनसे अन्य ग्रथ कालशुद्धि आदि के न होने पर भी पढने योग्य माने गये हैं। इसमें आर्यकाओ को कालशुद्धि आदि के होते हुये अग पूर्वादि ग्रन्थो के पढने की आज्ञा दी गई है। हरिवंश पुराण १२ वा सर्ग मे भी लिखा है कि-जयकुमार द्वादशागधारी भगवान का गणधर हुआ और सुलोचना ग्यारह अग की धारिका आर्यिका हुई ॥५२॥

इन उल्लेखो से उन लोगो का भी समाधान होजाता है जो श्रवकों के लिये प्रचलित सिद्धात ग्रन्थो के पढने सुनने का तो अधिकार बताते हैं किंतु गणधर कथित अग पूर्वादि ग्रन्थो के अध्ययन का निषेध करते है, उन्हें अब अपनी उस मिथ्या धारणा को निकाल देना चाहिये। कहते है कि नेमिचन्द्राचार्यने चामुण्डरायके सामने सूत्रपाठ करना बन्द कर दिया था और पूछने-पर कहा था कि श्रावको को सुनने का अधिकार नहीं है इत्यादि कथाए काल्पनिक मालूम होती हैं। जहां ×श्लोक और

× टीप—

(सागारधर्मामृत अध्याय—७ वा —पृ० ५१३)

श्रावको वीरचर्याहः प्रतिमातापनादिषु ।।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ।।५०।।

टीका—न स्यात्कोऽसौ श्रावकः । किंविशिष्टोऽधिकारी योग्य. । क्क वीरेत्यादि—वीरचर्या स्वय भ्रामया भोजनं, अह प्रतिमा दिनप्रतिमा, आतापनादयस्त्रिकालयोगा ग्रीष्मे सूर्याभिमुख गिरिशिखरेऽवस्थान, वर्षासु वृक्षमूले, शीतकाले रजन्या चतुष्पथे, इत्येवं लक्षणास्त्रय कायक्लेशविशेषा । तथा सिद्धान्तस्य परमागमस्य सूत्ररूपस्य रहस्य च प्रायश्चित्तशास्त्रस्याध्ययने पाठे श्रावको नाधिकारी स्यादिति संबंधः ।।

अर्थात्—श्रावको को वीरचर्या माने स्वयभ्रामरी वृत्ती से भोजन करना, दिनप्रतिमा, और गर्मी के दिनों मे सूर्य के सन्मुख पर्वत के शिखरपर योग धारण करना, वर्षाऋतु मे वृक्ष के नीचे, शीतकाल की रात्रीयो मे नदियों के किनारे अथवा चौहटे में योग धारण करना आदि आतापनादि योग धारण करने का अधिकार नहीं है । तथा इसी प्रकार सिद्धान्त अर्थात्—परमागम के सूत्रो और प्रायश्चित शास्त्रो के अध्ययन करने का भी श्रावको को अधिकार नहीं है ।।५०।।

—०—

गाथा तक मिथ्या रचली जाती हैं वहां ऐसी कथाओं को गढते कितनी देर लगती है ? ऋषि वाक्यो के सामने ऐसे कथन कदापि प्रमाण नही माने जा सकते । जिन सिद्धातग्रंथों के बदौलत ही जैन धर्म का गौरव है । उनका पठन पाठन बन्द

करना भी क्या कभी उचित कहा जा सकता है ? यहा तो मूल-भूत सम्यग्दर्शन ही तत्वार्थ श्रद्धान से होता है। मजा तो यह है कि—गोम्मटसार, लब्धिसार, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि महाग्रथो के रचयिताओ ने जब कहीं भी यह नही लिखा कि हमारे इस ग्रन्थ को श्रावक पुरुष न पढे तब ये दूसरे निषेध करने वाले कौन होते हैं ? प्रत्युत विद्यानंदस्वामी ने तो अपने अष्टसहस्री ग्रन्थ के अंत में कहा है कि—मेरे इस ग्रंथ को पढने का अधिकार कल्याणेच्छु भव्यो के लिए नियत है। इससे अध्ययन का मार्ग कितना विशाल हो जाता है ? चामुण्डरायकृत चारित्रसार शीलसप्तक प्रकरण के 'स्वाध्यायस्तत्वज्ञानस्याध्ययन-मध्यापनं स्मरणं च' वाक्य से स्वाध्याय का लक्षण ही तत्वज्ञान का पढना पढाना और चिंतवन करना किया है और जो खास-कर ऐसा स्वाध्याय श्रावको के षट्कर्म मे प्रतिपादन किया गया है॥

× टीप—वसुनंदी श्रावकाचार—पृ- १२८

गाथा—

'दिण पडिमवीरचरिया—। तियालजोगेसु णत्थि अहियारो ।
'सिद्धान्तरहस्साणवि ॥ अज्झयणं देसविरदाणं ॥३१२॥

'दिनप्रतिमावीरचर्यात्रिकालयोगेषु नास्त्यधिकार. ॥
'सिद्धान्तरहस्यानामप्यध्ययनं देशविरत्तानाम् ॥३१२॥

अर्थ—दिन मे प्रतिमायोग, वीरचर्या, त्रिकालयोग और सिद्धान्त रहस्य के अध्ययन, ये ऊपर के बातें करने को देशविरति श्रावक अनधिकारी है।

नोट—यह सब कथन क्षुल्लकादि सच्छूद्रो को लेकर है उन्हीं के लिये तप और सिद्धांत व प्रायश्चित ग्रथों के अधिकृत पठन का निषेध किया प्रतीत होता है जैसाकि वैदिक ग्रथो मे भी पाया जाता है। इसी से दि० मत मे शूद्रो को मुनि दीक्षा का भी निषेध है। इन सब बातों का त्रिवर्णों के लिए निषेध नहीं है।

क्या तत्वज्ञान से सिद्धान्त भिन्न है ? यह तो निश्चित है कि, देशनालब्धि देशविरतों तो क्या अव्रती तकके होती है उसी देशनालब्धिका स्वरूप आचार्य नेमिचन्द्र ने लब्धिसार मे यों कहा है—

छद्दव्वणवपयत्थो देसयरसूरिपहुदिलाहो जो।
देसिदपदत्थधारणलाहो वा तदियलद्धी दु ॥६॥

अर्थ—छहद्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश करने वाले आचार्य आदि का लाभ यानी उपदेश का मिलना और उन पर उपदेशे हुए पदार्थों के धारण करने (याद रखने), की प्राप्ति वह तीसरी देशनालब्धि है।

ग्रन्थाध्ययन का निषेध करना एक ऐसी निर्मूल और अयुक्त बात है कि जिसकी पुष्टि किसी भी परमागमसे नहीं होती है और तो और, खास समवशरण मे ही भगवान की दिव्यध्वनि को तिर्यंच तक श्रवण करते है卐 क्या कोई कह सकता है कि केवली की दिव्यध्वनि मे द्वादश सभा के समक्ष सिद्धातविषयक

卐 और इसीलिए वह 'श्रुत' कहलाता है। स्वय भगवान् ने जिनको अधिकारी समझकर उपदेश सुनाया उन्हें अब कैसे अनधिकारी ठहराया जा सकता है क्या आप भगवान् से भी बडे हैं ?

उपदेश नहीं होता है? यदि कहो कि—"सिद्धांताध्ययन का अधिकार हो तो भले हो किंतु श्रावकों को अध्यात्म ग्रंथों के पढने का तो अधिकार नहीं है सो भी ठीक नहीं है। जिनसेन स्वामी ने पंद्रहवीं व्रतचर्या क्रिया का वर्णन करते हुये पर्व ३८ में कहा है कि—

सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात् ।
विनयेन ततोन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८॥

अर्थ—इसे प्रथम ही गुरुमुख से उपासकाचार पढना चाहिए और फिर विनय पूर्वक अन्य अध्यात्मशास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए।

कुछ भी हो, किसी ग्रंथ के अध्ययन की मनाई करना बिल्कुल निःसार है। इसकी अनुपयोगिता का तो खास प्रमाण यही है कि इस समय इस पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। केवल अंध परम्परा भक्तों की कहने भर की चीज रह गई है। अगर इस अनिष्टपूर्ण आज्ञा का पालन किया जाता तो बडा ही दुर्भाग्य होता—जैन धर्म की इस समय जैसी कुछ अवस्था है यह भी नहीं रहती। फिर भी सिद्धांत ग्रंथों का जैसा पठन पाठन होना चाहिए वैसा नहीं हो रहा है। प्रत्येक साल इसमें विद्यार्थी पास हो जाते हैं किंतु वे खाली पास ही हैं, उससे सन्मार्ग का महत्व वे द्योतित नहीं कर सकते। क्योंकि जिस उद्देश्य से इनका पठन पाठन होना चाहिए वह प्रायः नहीं है। पूर्वकाल में इनका अध्यन सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, कषायों की मंदता और जैन मार्ग का गौरव प्रकट करना इन उद्देश्यों को लेकर होता था अब तो केवल टका पैदा करने और अपना आदर सन्मान होने के अर्थ

इनका पठन होता है। इसके लिए वे जिन ग्रथो के समीचीन अध्ययन के लिए कम से कम दस पन्द्रह वर्ष चाहिए उन्हें पाच चार वर्ष ही में जैसे-तैसे पढकर प्रमाणपत्र प्राप्त कर लेते हैं और फिर उनका मनन करना भी छोड दिया जाता है फल यह होता है कि पाच सात वर्ष वाद वे ग्रंथ अपठित से हो जाते हैं। ऐसे कितने ही विद्वान कहलाने वाले मिलेंगे जो नाम मात्र की पद-वियो को चिपटाये हुए गर्वोन्मत्त फिरते हैं। काम पड़ने पर सिद्धात विषयक खास शका का समाधान ये नही कर सकते। निरंतर के अध्ययन विना उनका प्रमाणपत्र विचारा धरा ही रह जाता है, वह केवल दिखाने भर की चीज रह जाती है और उससे कुछ अर्थ नही निकलता। इस तरह के प्रमाणपत्रो से कुछ लाभ भले ही हो किंतु हानि भी पूरी होती है। इन्हे प्राप्त कर मनुष्य अपने को ऐसा कृतकृत्य समझने लगता है कि फिर उस विषय मे कुछ भी प्रयत्न नही करता है। नतीजा जिसका यह होता है कि अजुली के जल की तरह वे शनै २ सिद्धात ज्ञान से खाली होते २ आखिर खोखले रह जाते हैं। सो ठीक ही है 'अनभ्यासे विष विद्या' होता ही है। जिसकी स्थिति ही निरंतर मनन चितवन के ऊपर निर्भर है। उसका प्रमाणपत्र सर्वदा के लिये मानना ही विडंवना पूर्ण है। जहा-जहा इन प्रमाणपत्रों की खटपट नही है वहां वहुत वड़ा लाभ यह है कि मनुष्य को अपनी लियाकत दिखाने को हर समय अपने को तैयार रखना पडता है। इससे मेरा अभिप्राय परीक्षा देकर प्रमाणपत्र लेने की व्यवस्था उठा देने का नही है दीर्घकाल तक यथेष्ट अध्ययन होना चाहिये यह भाव है। अस्तु,

अन्त मे हम यह लिखकर कि — 'किस तरह के ग्रन्थ काल शुद्धि आदि न होने पर पढने योग्य हैं।' विराम लेते हैं।

मूलाचार पचाचाराधिकार की गाथा ८२ में कहा है कि सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओ का प्रतिपादक ग्रन्थ, सत्रह प्रकार के मरण निरूपक ग्रन्थ, पच सग्रह ग्रन्थ, स्तोत्र ग्रन्थ आहारादि के त्याग का उपदेशक ग्रन्थ सामायिकादि षडावश्यक प्ररूपक और महापुरषो का चरित्र वर्णन करने वाली धर्मकथा इस तरह के ग्रन्थ विना कालशुद्धि आदि के भी पढने योग्य माने गये है। (कालशुद्धि आदि का वर्णन इसी पंचाचाराधिकार मे है सो वहां से देख लें।)

षट्खण्डागमभाग ६ मे भी इन ग्रथों को पढने के अधिकार और विधि का विशेष वर्णन है देखो पृ० २५५ से २७५ तक

जगमोहन लाल शास्त्री

सपादक



११

भट्टारक सकलकीर्तिका जन्मकाल :

विक्रम की १५ वी शताब्दि मे ईडर की गद्दी के सस्थापक सकलकीर्ति नाम के एक प्रसिद्ध भट्टारक हो गये है। जिन्होने सस्कृत मे ४० करीब जैन शास्त्रो की रचना की है। इनके गुरु पद्मनंदि भट्टारक थे। इन पद्मनदि के शिष्यो मे शुभचन्द्र, देवेन्द्रकीर्ति और सकलकीर्ति ये तीन प्रमुख शिष्य थे।

उक्त पद्मनंदि की गुरुपरपरा में वि० स० १२७१ मे धर्मचन्द्र भट्टारकी पद पर आरूढ हुये थे। वे हूमडजाति के थे और २५ वर्ष तक पट्ट पर रहे। उनके बाद वि० सं० १२९६ मे धर्मचन्द्र के पट्ट पर रत्नकीर्ति बैठे। ये भी हूमडजाति के थे। ये १४ वर्ष तक पटट पर रहे। उनके बाद वि० स० १३१० मे दिल्ली में रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रभाचन्द्र बैठे। ये ब्राह्मण जाति के थे। ये ७५ वर्ष तक पट्ट पर रहे। तत्पश्चात् वि० स० १३८५ पौष शुक्ला ७ को प्रभाचन्द्र के पट्ट पर वही दिल्ली मे पद्मनदि बैठे। ये ६५ वर्ष और १८ दिन तक पटट पर रहे। ये भी ब्राह्मण जाति के थे। इन्होंने अपनी १५ वर्ष और ७ मास की उम्र मे ही दीक्षा ले ली थी। दीक्षा के १३ वर्ष और ५ मास बाद ये पट्टारूढ हुये थे। कुल आयु इन्होने ९४ वर्ष की पाई। इस उल्लेख से यह प्रकट होता है कि—पद्मनदि का पट्टकाल स० १४५० तक रहा। यही समय उनके स्वर्गवास का समझना

चाहिये। तत्पश्चात् उनके तीन शिष्यो मे से शुभचन्द्र स० १४५० की माघ शुक्ला ५ को दिल्ली में उनके पट्ट पर बैठे। ये ५६ वर्ष तक पट्ट पर रहे। ये भी ब्राह्मण जाति के थे। इन्होने अपनी १६ वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ली थी। दीक्षा लेने के २४ वर्ष बाद वे गुरु के पट्ट पर बैठे थे। इन शुभचन्द्र की कुल उम्र ९६ वर्ष की थी।

पद्मनदि के दूसरे शिष्य देवेन्द्रकीर्ति के बाबत "सूरत के मूर्ति लेख सग्रह" नामक गुजराती भाषा की पुस्तक के पृ० ३५ पर ऐसा लिखा है—

"दिल्ली मे स्थापित भट्टारको को गद्दी की एक शाखा फिरोजशाह के वक्त मे वि० स० १३८३ मे आमोद के पास गाधार मे स्थापित हुई। तदनतर स० १४६१ में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने उसे वहा से उठाकर सूरत के पास रादेर मे स्थापित की। फिर देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य भट्टारक विद्यानदि ने वहा से उठा कर उसी गद्दी की स्थापना सूरत मे की।"

इस लेख से कहा जा सकता है कि—पद्मनंदि के विवगत हुये बाद दिल्ली की भट्टारकी गद्दी की जो शाखा गाधार मे थी वहा के भट्टारकी पद पर उनके दूसरे शिष्य देवेन्द्रकीर्ति आसीन हुये हैं।

अब रहे तीसरे शिष्य सकलकीर्ति उनका हाल जैन सिद्धात-भास्कर १३ किरण २ मे प्रकाशित एक ऐतिहासिक पत्र मे निम्न प्रकार लिखा है—

"ढूंढाड देश मे नेणवे (नैंणवा) ग्राम मे प्रभाचन्द्र के पट्टधर शिष्य श्रीपद्मनदि के पास से सकलकीर्ति ने अपनी

२४ वर्ष की उम्र मे दीक्षा ली और गुरु के पास रहकर ८ वर्ष तक व्याकरण-काव्य न्याय सिद्धातादि शास्त्रो का अध्ययन किया। वे २० वर्ष तक नग्न रहे। इनके पगले नोगाम मे स्थापन किये। वि० सं० १४९९ तक वे जीवित रहे।" यह पत्र सं० १८०५ का लिखा है।

ऊपर हम बता आये हैं कि—वि० सं० १४५० तक इनके गुरु पद्मनदि जीवित थे और इन पद्मनदि के पास मे सकलकीर्ति ने अपनी २४ वर्ष की वय मे दीक्षा ली व दीक्षा के बाद ८ वर्ष तक उन्ही पद्मनदि के पास मे रहकर उन्होने शास्त्राध्ययन भी किया। तो इस हिसाब से सकलकीर्ति का जन्म समय वि० सं० १४१७ सिद्ध होता है। यह १४१७ का समय भी उस हालत में होगा जब सकलकीर्ति के अध्ययन करते ही गुरु का अन्तकाल हो गया हो जिससे वे ८ वर्ष तक ही गुरु के पास अध्ययन कर पाये हो। सभव है इसी से उनका अध्ययन काल ८ वर्ष का लिखा हो।

किन्तु कुछ विद्वान् सकलकीर्ति का जन्म समय स० १४४३ का मानते है, वह उचित नही जान पडता। क्योकि वैसा मानने से पद्मनदि के समय के साथ उसकी सगति नही बैठती है। पट्टावलियो मे पद्मनंदि की गुरु परपराओ और शिष्य परपराओ का जो पट्टारोहण काल दिया हुआ है वह ऐसा श्रृंखलाबद्ध है कि यदि उसकी एक भी कडी गलत हो जाती है तो उसकी आगे की परपरा सारी की सारी गडबड मे पड जाती है। इसलिये उसे अमान्य नही किया जा सकता है। अगर हम सकलकीर्ति का जन्म काल सं० १४४३ का मानकर चले और उन्होने २५ वर्ष की उम्र मे पद्मनदि से दीक्षा ली एव ८ वर्ष

नक गुरु के पास पढे इसका अथ यह हुआ कि-पद्मनदि स०
१४५० तक भी जीवित थे। जब स० १४५० तक ही पद्मनदि
की उम्र ६४ वर्ष की हो चुकी थी जैसा कि हम ऊपर बता आये
हैं तो १४७६ तक उनका जीवित रहना मानने पर तो उनकी
उम्र १२० वर्ष तक पहुँच जायेगी जो युक्त नही है। दूसरी बात
यह है कि—"भट्टारक सप्रदाय" पुस्तक के पृ० ६७ मे विजो-
लिया का शिला लेख छपा है। जोकि वि० स० १४६५ का
उत्कीर्ण है। उसमे हेमकीर्ति यति की प्रशसा करते हुये लिखा है
कि—पद्मनदि के पट्ट शिष्य शुभचद्र के ये हेमकीर्ति शिष्य थे।
अगर स० १४७६ मे पद्मनदि मौजूद होते तो इस शिला लेख मे
स० १४६५ मे ही शुभचन्द्र को पद्मनदिका पट्टधर शिष्य नही
लिखते। इसी तरह स० १४६१ मे गाधार की गद्दी (इसका
जिक्र ऊपर देखो) के स्थानातर करने मे पद्मनदि का नाम न
लिखकर उनके अन्यतम शिष्य देवेन्द्रकीर्ति का नाम लिखा है।
इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि स० १४६५ मे ही नही स० १४६१
मे भी पद्मनन्दि जीवित नही थे। अगर सकलकीर्ति का १८ वर्ष
की उम्र मे भी दीक्षित होना मान ले तो वह समय भी १४६९
का तो होगा ही तब भी उसकी सगति शिलालेख के कथन से
नही बैठेगी।

"सकलकीर्तिनुरास" के आधार पर सकलकीर्ति का जन्म-
काल स १४४३ मानते हैं मगर इस रास के कर्त्ता कौन है? और
वे कब हये? ऐसा कुछ ज्ञान नही होता है। सकलकीर्ति के
समकालीन ब्रह्म जिनदास ने तो सकलकीर्ति का कोई रास नही
लिखा है। ऐसी हालत मे बिना किसी सबल प्रमाण के नगण्य
रास के आधार पर पट्टावलियो को सहसा अप्रमाण कैसे मान
लिया जावे?

ऐसा आभास होता है कि ऐतिहासिक पत्रादि में जो सकलकीर्ति की ५६ वर्ष की अवस्था लिखी है वह ५६ वर्ष का काल दर-असल में उनके दीक्षा लेने के बाद का है जिसे गलती से उनकी सारी उम्र ही ५६ वर्ष की समझली गई है। और चूंकि सकलकीर्ति का अंतकाल सं १४९९ में हुआ यह निश्चित है ही अतः रास के कर्त्ता आदि ने ५६ वर्ष का जोड बैठाने के लिये उनका जन्म सं १४४३ में होना लिख दिया है। और इसी तरह ३४ वर्ष की अवस्था में उनका आचार्य होना लिखा है, उसे भी ५६ का जोड बैठाने का प्रयत्नमात्र समझना चाहिये। क्योंकि वे २२ वर्ष तक नग्न रहे इस कथन की संगति भी तो बैठानी थी।

संभवतः सं. १४४३ में उनका जन्म न मानकर वह समय यदि उनकी दीक्षा का मान लिया जाय और उसके ३४ वर्ष बाद आचार्य होकर २२ वर्ष पर्यन्त नग्न रूप में रहना मान लिया जावे तो इस विषय की सब आपत्ति दूर हो सकती है। ऐसी सूरत में उनकी उम्र ८१ वर्ष की माननी होगी।

आशा है जो लोग उनकी कुल उम्र ५६ वर्ष की मानते हैं वे इस पर पुनः विचार करने का उद्यम करेंगे।

इतिहास की सही खोज वे ही लोग कर सकते हैं जो दुराग्रही नहीं होते है और जब तक पूर्ण निर्णय नहीं हो जाता तब तक तटस्थ होकर जैसा भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रमाण मिलता जाता है तदनुसार ही निःसंकोच वृत्ति से अपने विचारों में तबदीली करते रहते है।



१२

जैनधर्म में जीवों का परलोक

"कल्याण" के पुनर्जन्म विशेषांक से उद्धृत
(जनवरी १६६८)

जिस धर्म का यह सिद्धान्त हो कि—अनेक योनियों में जन्म-मरण प्राप्त करके ये जीव अपने किये पुण्य-पाप के फलों को भोगते रहते है वह धर्म आस्तिक धर्म' कहलाता है। इस दृष्टि से जैनधर्म भी एक आस्तिक धर्म है। उसका कहना है कि समस्त ससारी जीवों का अस्तित्व नारकी, देव तिर्यंच (पशु, पक्षी कीडे) और मनुष्य—इन चार भेदो मे पाया जाता है। इन्हें ही चार गतियाँ कहते है अर्थात् ससारी जीवो का आवागमन सदा इन चार स्थानों मे होता रहता है। हर एक गति के जीवो की अपनी अलग-अलग आयु होती है। जितनी जिसकी आयु होती है, उतने ही काल तक वह उस गति मे रहता है। तिर्यंच और मनुष्य कारणवश अपनी निर्धारित आयु से पहले भी मर जाते हैं, जिसे 'अकाल-मरण' कहते हैं। नरक और देवगति में अकालमरण नही होता है। मरने के बाद वह जीव अपनी अच्छी-बुरी करनी के फल से या तो उसी गति मे, जिसमे कि वह मरा है, फिर से जन्म लेता है, या अन्यान्य गतियो मे जन्म लेता है। किन्तु नरक और देवगति के जीव लौटकर पुन. अपनी उसी गति मे जन्म नही लेते है. अन्य गतियो मे जाने के बाद

पुन नरक और देवगति को प्राप्त हो सकते है। नियमत देव और नरक दोनो ही गति के जीव तिर्यंच और मनुष्यगति मे ही जन्म लेते है। देवो और नारकियो की आयु दस हजार वर्षो से कम नही होती, अधिक तो इतनी होती है कि जिसकी गणना लौकिक सख्या मे नही आती। किसी भी गति से मरे हुए जीव को भवान्तर मे जन्म लेने मे निमेष (आख की टिमकार) मात्र काल से भी बहुत कम समय लगता है। जिस शरीर मे से निकलकर कोई जीव जब भवान्तर मे जाता है, तब रास्ते मे उस जीव का आकार पूर्व शरीर जैसा रहता है। जब वह भवान्तर मे दूसरा नया शरीर ग्रहण करता है, तब उसके शरीर का आकार नये प्रकार का हो जाता है।

जैनधर्म के सिद्धान्तशास्त्रो मे लिखा है कि देवो और नारकियो को वर्तमान भव की आयु के समाप्त होने मे जब छ मास का समय शेष रह जाता है, तब उनके किसी अगले भव की आयु का निर्माण होता है। अर्थात् तब उनके भव की आयु (कर्म) का बन्ध होता है, और उस आयु के कर्म फल से जितनी आयु उसने बाँधी है, उतने समय तक उसे अगले भव (योनि) मे रहना पडता है। इसी तरह मनुष्य और तिर्यंचो को अपनी वर्तमान भव की आयु के तीन भागो मे दो भाग व्यतीत हो जाने के बाद तीसरे भाग मे अगले भव की आयु का बन्ध होता है। किन्तु इनको यह पता नही लगता कि हमारी आयु कितनी है, और अगले भव की आयुबन्ध का कौनसा समय है।

आयु बन्ध के समय मे श्रेष्ठ परिणाम होने से अगले भव मे अच्छी गति मिलती है। इसलिए मानवो को सदा ही अपना उत्तम आचार-विचार रखना चाहिए। पता नही, कब आयु-बन्ध का समय आ जाए।

उपर्युक्त चार गतियों मे से मनुष्य और तिर्यंच (पशु, पक्षी, कीडे) गति के जीवो का हाल तो प्रत्यक्ष ही है, अत उनका वर्णन न करके यहाँ हम नरक और देवगति का वर्णन करते हैं—

कुल नरक सात है। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, उसका नाम 'रत्नप्रभा' है। उसके भीतर कोसो तक के लम्बे-चौडे अनेक बिल हैं। जमीन मे ढोल के गाड देने पर जो पोलाई ढोल मे रहती है, उस तरह के बिल है, जिनमें नारकी जीव रहते है। इस रत्नप्रभा पृथ्वी के भीतर बिलो मे जितने नारकी रहते हैं, वह सब प्रथम नरक कहलाता है। इससे नीचे कुछ फासले पर 'शर्कराप्रभा' नाम की दूसरी पृथ्वी है। उसके भीतर भी उसी तरह के कितने ही बिल है, जिनमे नारकी जीव रहते है। यह दूसरा नरक कहलाता है। इसी तरह कुछ और फासले पर उत्तरोत्तर नीचे-से-नीचे पांच पृथ्वियाँ और हैं जिनके बिलो मे भी नारकी जीव रहते है, जिन्हे कि तीसरे से सातवाँ नरक कहना चाहिए। किसी एक नरक का नारकी अन्य नरको मे नही जा सकता, बल्कि किसी एकही नरकके भिन्न-भिन्न बिलो में रहने वाले नारकी अपने ही नरक मे अपने बिल के सिवा अन्य बिल में भी नही जा सकते। इन सबकी आयु ऊपर की अपेक्षा नीचे के नरको मे अधिक हैं। प्रत्येक बिल मे बहुतसे नारकी रहते हैं और प्राय वे एक-दूसरे को मार-काट कर दुख देते रहते है। यहाँ आने के बाद उन्हे अपनी पूरी आयु तक यहाँ रहकर दु.ख सहना पडता है। चाहे उनके शरीरो का तिल-तिल मात्र भी क्यो न काट दिया जाए, वे अपनी आयु पूर्ण होने के पहले वहाँ से निकल नही सकते। उनके कटे हुए शरीर के टुकडे पारे की तरह

मिलकर फिर एक शरीर रूप बन जाते हैं। नरको में स्त्रियाँ नही होती हैं। उनका जन्म बिलो की छत के अधोभाग मे होता है। उस समय वे चमगादडो की तरह औंधे मुँह लटकते हुए जन्मते हैं और नीचे जमीन पर गिरते हैं। जन्म लेने के बाद ही अपना मार-काट का काम शुरू कर देते हैं। सभी नारकियो का रूप बडा भयकर होता है। नरको मे आपस मे मार-काट का ही दु ख नही होता, अपितु अन्य भी असहनीय दु ख होते हैं। वहाँ पर कितने ही बिलो मे ऐसी भयानक गरमी पडती है कि जिस गरमी से लोहे का गोला भी गलकर पानी हो जाए। कितने ही बिलो मे ऐसी प्रचण्ड ठड पडती है कि जिससे लोहे के गोले का खण्ड-खण्ड हो जाए। प्यास उन नारकियो को इतनी अधिक लगती है कि सब समुद्रो का पानी पी जाये, तबभी उन की प्यास बुझे नही परन्तु उनको बिन्दुमात्र भी जल नही मिलता है। भूख उनको इतनी प्रचण्ड लगती है कि सारे ससार का अन्न खा जाएँ परन्तु उन्हे कणमात्र भी अन्न नही मिलता है। वहाँ की भूमि का स्पर्श ही इतना दु खदायी है कि जैसे बिच्छुओ ने डक मार दिया हो। ये सब दारुण दु ख नारकियो को उम्रभर भोगने पडते हैं। वहाँ क्षण भर भी सुख नही है। घोर पापो का फल भोगने के लिए प्राणियो को इन नरको मे जाना पडता है।

इसके विपरीत जो पुण्यात्मा होते हैं, वे देवलोक मे जाकर सुख भोगते हैं। जिस मनुष्य लोक मे हम रहते है, वह 'मध्यलोक' कहलाता है। उससे नीचे 'अधोलोक' है—उसमे नरक है। मध्यलोक से ऊपर 'ऊर्ध्वलोक' मे देवो का निवास-स्थान है। वहाँ देव किसी पृथ्वी पर नही रहते हैं। वे सब विमानो मे रहते हैं। इससे भी बहुत ऊपर स्वर्गलोक है। वह हमारे

नेत्रगोचर नहीं हैं। वहाँ उत्तम श्रेणी के देवों का निवास है। उससे भी ऊपर 'अहमिन्द्रलोक' है, जहाँ उनसे भी उत्कृष्ट देव रहते हैं। कुछ निम्न श्रेणी के देव अन्यत्र भी रहते हैं। स्वर्ग १६ माने गये हैं। प्रत्येक स्वर्ग के दायरे मे बहुत से विमान होते हैं जिन सबका स्वामी उस स्वर्ग का एक इन्द्र होता है। उन सब विमानो के वासी सब देव उस इन्द्र की आज्ञा मे रहते हैं। अलग-अलग स्वर्गों के प्राय अलग-अलग इन्द्र होते हैं और हर एक स्वर्ग मे बहुत से विमान होते हैं। हर एक स्वर्ग मानो एक-एक देश है और बहुत से विमान उस देश मे अलग-अलग प्रदेश या नगर हैं। प्रत्येक विमान मे अनेक वापिकाएँ, महल और उपवन होते हैं। विमानो की लम्बाई-चौडाई काफी विस्तृत होती है। उन देशो के अलग-अलग राजा अलग-अलग इन्द्र कहलाते हैं। जैसे मनुष्यलोक मे राजा, मन्त्री, पुरोहित, सेना, प्रजा आदि होते हैं, वैसे ही देवलोक मे भी होते है। वहाँ के राजा को इन्द्र कहते हैं और प्रजा के लोग 'देव' कहलाते हैं। इन इन्द्रादि देवो का शरीर बहुत सुन्दर होता है। उनके शरीर मे हाड, मास, रक्त, धातु, मज्जा, मल, मूत्र, पसीना नही होते हैं। उनको निद्रा नही होती, बुढापा नहीं होता और किसी प्रकार का रोग नही होता। उनको प्यास नही लगती। वे खाते कुछ नहीं। बहुत वर्षों मे कही कभी भूख लगती है, तो उसी क्षण उनके कण्ठों मे अपने आप अमृत झर पडता है। उससे वे तृप्त हो जाते हैं। वहाँ किसी प्रकार का उनको शारीरिक दु ख नही होता है। इसी प्रकार से वहाँ सुन्दर देवियाँ होती हैं जिनके साथ वे देव नाना प्रकार के भोग-विलास करते हैं। वे देवियाँ वहाँ केवल भोग-विलास के लिए ही होती हैं। उनके गर्भ धारण नही होता है। देवो और देवियो की उत्पत्ति वहाँ किसी स्थान-

विशेप (जिमे उपपाद शैया वहते है) से होती है। पैदा होने के थोडे ही ममय वाद वे जवान हो जाते हैं और फिर उम्र भर जवान ही वने रहते है। उन मवकी कोई निश्चित आयु होती है। देवियो की आयु देवो मे कम होती है। आयु समाप्त होने के वाद इन्द्रादि को भी अन्य योनियो मे जन्म लेना पडता है। इसलिए मनुष्यादि की तरह वे भी ममारी जीव ही हैं। एक प्रसिद्ध प्राचीन जैनाचार्य स्वामी समन्तभद्र ने कहा है -

"श्वापि देवोऽपि देव श्वा जायते धर्मकिल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥"

अर्थात् - धर्म के प्रताप से कुत्ता भी देव हो जाता है। देवयोनि मे जन्म लेता है और पाप के फल से देव भी मरकर कुत्ते की योनि मे जाता है। इसलिए प्राणियो के लिए धर्म से अतिरिक्त अन्य कोई क्या मम्पदा हो सकती है?

इस स्वर्ग लोक से ऊपर एक अहमिन्द्रलोक' भी है, जिसमे भी देवो का निवास है। देव भी स्वर्ग लोक जैसे ही है। उनकी आयु स्वर्ग लोक के देवो का निवास है। वे देव भी स्वर्ग लोक जैसे ही है। उनकी आयु स्वर्ग लोक के देवो से अधिक होती है। वहाँ देवियाँ नही होती हैं अत वे आजीवन ब्रह्मचारी ही रहते है। उनकी गणना अति उत्तम देवो मे की जाती है। उनके भी रहने के अनेक विमान हैं। उनमे राजा, मन्त्री, प्रजा आदि भेद नही हैं। सभी अपने आपको इन्द्र मानते हे। इसी से वे 'अहमिन्द्र कहलाते हैं। इनका भी समय पूरा होने पर अन्य योनियो मे जाना पडता है।

इस अहमिन्द्रलोक से ऊपर शिवलोक' है। वहाँ वे जीव

पहुँचते हैं, जिन्होने मनुष्य जन्म मे वैराग्य, तप, सयम के द्वारा अपनी आत्मा को पूर्ण शुद्ध बना लिया हो। ऐसे जीव ससार-चक्र से निकलकर शिवलोक मे पहुचते है। वहाँ वे अनन्तकाल तक अतीन्द्रिय, आत्मजनित सुख का अनुभव करते रहते है। उनका ससार का आवागमन सदा के लिए छूट जाता है। वे अनन्त ज्ञान-दर्शन सुख वीर्य के धारी होते हैं।

जैन धर्म मे जीवो की तीन दशाएँ मानी गई है शुभ दशा, अशुभ दशा और शुद्ध दशा। शुभ दशा वाले जीव पुण्यकर्म के फल से देवलोक को प्राप्त होकर सासारिक सुख भोगते है। अशुभ दशा वाले जीव पाप कर्म के फल से नरको मे जाकर दुख सहते हैं तथा कभी वे जीव पशु-योनि मे भी जाकर दुख उठाते है। जिनको शुभ और अशुभ दोनो मिलकर मिश्रदशा होती है, वे जीव पुण्य और पाप—दोनो के मिश्रित फल से मनुष्य-योनि मे जन्म लेकर वहा सुख-दुख दोनो को भोगते है। तीसरी, शुद्ध दशा वह है, जिसमे आत्मा के साथ पुण्यकर्म और पापकर्म का कुछ भी मैल नही रहता। आत्मा कर्म मलरहित पूर्ण शुद्ध बन जाती है। ऐसी शुद्धदशा मनुष्य-योनि मे ही हो सकती है, अन्य योनियो मे नही। शुद्धदशा वाला जीव मानवशरीर को छोडकर सीधा 'शिवलोक' मे पहुँच जाता है। वहाँ अब वह शरीर धारण नही करता। जहाँ शरीर है, वहाँ जन्म-मरण है, आवागमन है, और ससार का चक्र है। अत शिवलोक के निवासी जीव अशरीरी होते है—उनको केवल वहाँ अपनी शुद्ध आत्मा ही होती है। मोक्षस्थान, मुक्तिस्थान, सिद्धालय इत्यादि नाम शिवलोक के ही पर्याय हैं।

वहाँ के जीव निरजन, निर्विकार, चिद्रूप, परमात्मा,

परब्रह्म, सर्वज्ञ, ईश, सिद्ध इत्यादि नामो से पुकारे जाते हैं। ऐसे सिद्ध जीव वहां अगणित पहुंच चुके हैं और आगे भी पहुंचते रहेंगे। यह स्थान सृष्टि का ऊपरी आखिरी स्थान है। इससे ऊपर अलोक है, जहाँ एकमात्र आकाश के सिवा अन्य कोई पदार्थ नही है।

इस प्रकार हमने यहाँ जीवो के आवागमन के स्थानो का जैनमतानुसार सक्षिप्त वर्णन किया है। जैनशास्त्रो मे इस विषय का बहुत विस्तार से विवेचन है। जैनकथाग्रन्थो मे ऐसी बहुत सी कथाएं लिखी है, जिनमे जीवो के अनेक भवान्तरो का वर्णन किया गया है।



१३

क्या चन्द्र सूर्य का माप छोटे योजनों से है ?

दिनाक १८ नवम्बर सन् ६७ के वीरवाणी के गताक मे क्षुल्लकजो श्री सिद्धसागरजी का एक लेख "भारतीय अतरिक्ष विज्ञान" नाम से प्रकाशित हुआ है। जिसमे हस्तलिखित सग्रहणीसूत्र" शास्त्र की दो अपूर्ण प्रतियो की चर्चा की गई है। इस सिलसिले मे लिखा है कि (पृ० ५६ कालम २)।

"चद्र का विमान छोटे योजन की अपेक्षा $\frac{५६}{६१}$ योजन प्रमाण है। अर्थात् $\frac{५६}{६१} \times \frac{८}{१}$ मील के आयाम वाला है। और सूर्य का विमान $\frac{४८}{६१} \times \frac{८}{१}$ मील प्रमाण है।

क्षुल्लकजी का ऐसा लिखना उचित नही है। क्योंकि ज्योतिष्क विमानो का भी माप जैन शास्त्रो मे लिखा है वह सब बडे योजनों की अपेक्षा से है। एक छोटा योजन जिसको उत्सेध योजन कहते हैं उससे पांचसौ गुणा एक प्रमाण योजन अर्थात् बडा योजन होता है। अत सूर्य चंद्र की लबाई चौडाई भी बड़े योजन की अपेक्षा से ही समझना चाहिये। अर्थात् आपने योजनांशो को ८ से गुणाकर मील बनाने को लिखा है। जबकि उसकी जगह योजनांशो को चार हजार से गुणाकर मील सख्या लाने

को लिखा जाना चाहिये था। आगम प्रमाण के लिये देखिय आचार्य श्री विद्यानदि स्वामी कृत तत्वार्थ श्लोक वार्तिक का निम्न विवेचन—

"अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टि—भागत्वात् प्रमाणयोजनापेक्षया, सातिरेकत्रिनवतियोजनशतत्रयप्रमाणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया।" — मूलमुद्रित पृ० ३७८

अर्थ—सूर्य का व्यास एक योजन के ६१ भागो मे ४८ भाग प्रमाण है। ऐसा कथन प्रमाण योजन की अपेक्षा से है। उत्सेध योजनो की अपेक्षा तो वही व्यास कुछ अधिक ३६३ योजनो का होता है।

क्षुल्लकजी की मान्यतानुसार सूर्य का व्यास सिर्फ ६। मील करीब ही होता है। जबकि श्लोकवार्तिक के अनुसार ३१४७।। मीलो का होता है। दोनो मे बहुत अतर है। गोल होने से सूर्यादि का जितना व्यास यानी चौडाई है उतनी ही उनकी लबाई है।

जहा तक हमारा ख्याल है सूर्यचद्रादि का माप सग्रहणी सूत्र मे भी छोटे योजन की अपेक्षा से नही लिखा होगा। और न अन्य जैन शास्त्रो मे ही लिखा है। अगर कही लिखा हुआ देखा हो तो क्षुल्लकजी महाराज उसे प्रकट करने की कृपा करेगे।

इन सग्रहणी सूत्रो का विषय और भी सविशेष रूप से तत्वार्थ सूत्र की टीका—राजवार्तिक—श्लोकवार्तिक आदि मे एव त्रिलोकसार, त्रिलोक प्रज्ञप्ति, जबूद्वीप प्रज्ञप्ति और श्वे० लोक प्रकाशादि ग्रंथो मे पाया जाता है अत इन संग्रहणी सूत्रो को लेकर जो इतना लबा चौडा अतिशयोक्ति पूर्ण कथन किया गया

है और आधुनिक विज्ञान वालो से जो अपील की गई है, उसमे विशेष सार प्रतीत नही होता ।

"सग्रहणी सूत्र' नाम से एक ग्रथ श्वेतावरो के यहाँ से करीब ४० वर्ष पहिले प्रकाशित हुआ है।

हमने 'जैन निबध रत्नावली' के "उपलब्ध जैन ग्रंथो मे ज्योतिष चक्र की व्यवस्था" शीर्षक निबध मे इस सग्रहणी सूत्र का उपयोग किया है। इसी श्वेताबरीय ग्रथ की वे प्रतिया हैं। क्षुल्लकजी ने जो अपने लेख मे नमूनार्थ २ गाथायें दी है वे इसी श्वे० ग्रन्थ की है और उनका नबर भी मुद्रित ग्रंथ मे ठीक वही है जो क्षुल्लकजी ने सूचित किया है।

क्षुल्लकजी महाराज ने मूलाचार के द्वितीयभाग मे "सग्रहणी सूत्र' के छपने की बात लिखी है वह भी ठीक नही है। मूलाचार मे तो 'पर्याप्ति सग्रहणी' नाम का अतिम अधिकार है जो भिन्न है।

श्री क्षुल्लकजी ने जो यह लिखा है कि—

"आज का विज्ञान ज्योतिषियो मे उत्पन्न होने के सही तरीके को नही जानता अत राकेट मे बैठ उस ओर पहुचने मे ये विज्ञ संलग्न हैं। ज्योतिष विमान मे पहुँचने के लिए तापस बनना आवश्यक है—कहा भी है—"तावसजा जोइसिया"—गाथा नं० ११।"

आपने अच्छा तरीका बताया कि मर कर ज्योतिष मडल मे पहुँचा जाय। यह तो ज्योतिष मडल है अगर स्वर्ग भी हो तो ऐसा कौन समझदार है जो मर कर स्वर्ग देखना चाहेगा।

वैज्ञानिक इतने वेवकूफ नही है जो ऐसी वातो मे विश्वास करने लगें वे तो सदैव इसी जन्म मे ज्योतिप महल मे पहुँचने मे प्रयत्नशील है। जैन शास्त्रो से भी इसमे कोई वाधा प्रतीत नही होती। जव इस देह से ही वहा पहुँचा जा सकता है तो तापसी वनने की क्या आवश्यकता है ? आपने अपने कथन से मिथ्या दृष्टि (तापसी) वनने का भी समर्थन कर दिया है। इस प्रकार आपका यह सवकथन समुचित नही है। जैन शास्त्रो मे तो यह लिखा है कि – 'मिथ्यादृष्टि तापसी मरकर ज्योतिर्लोक मे पैदा होते हैं' आपने उसको घुमाकर उल्टा ही आशय निकाल डाला है जो समीचीन नही है।



१४

आर्यिकाओं का केशलौंच

हमारे यहा दि० जैन समाज मे मुनियो के केशलौंचो के उत्सव होते हैं। जिनमे सैकडो-हजारो जैन अजैन लोग एकत्रित होते है। एक मेला सा हो जाता है। ऐसे उत्सवो मे शामिल होने के लिये समाज की ओर से बाहर को आमत्रण पत्रिकायें भी दी जाती है। इसी प्रकार के उत्सव हमारे यहा आर्यिकाओ के केशलौंचो के भी होते है। यद्यपि इस प्रकार के केशलौंचो के उत्सवो का समर्थन किसी जैन आगम से नही होता है। और जन समूह के बीच होने वाले मुनियो के इन केशलौंचो से भले ही कोई खास हानि नही भी मानी जावे किन्तु आर्यिकाओ का जनसमूह के बीच बैठ कर केशलौंच करना तो लौकिक दृष्टि से भी ठीक नही है। आर्यिकायें स्त्री जाति मे होती हैं, स्त्री जाति मे विशेषतौर पर लज्जा गुण होना यह लोकमर्यादा है। लोकमर्यादा का पालन जैनधर्म मे भी माना गया है। इसीसे जैनधर्म मे मुनि की तरह आर्यिका नग्नलिंग धारण नही कर सकती है। जैनशास्त्रो मे मुनियो की अलौकिकी वृत्ति बताकर भी कही कुछ काम उनके लिये लोकमर्यादा के भी रक्खे हैं। जैसे अस्पृश्यके स्पर्श होने पर दडकस्नान आदि। इसी प्रकार जैनाचार्यों ने आर्यिकाओ के लिये भी लोकलज्जा का बड़ा ध्यान रक्खा है। 'यहा 'लज्जा का अर्थ है मुँह और हाथ पैरो के अतिरिक्त शेष अगो को वस्त्र से ढके रखना। मुँह व हाथ पैर वस्त्राच्छादित होने से ईर्यासमिति

आदि मे बाधा आती है। अत उनकी छूट रहती है। तथा यथाशक्य पुरुप जाति से सपर्क नही रखना-उससे दूर रहने का ध्यान रखना। तदर्थ आर्यिकायें दीक्षा भी किसी मुनि से नही लेती हैं। आर्यिकाओ की किसी गुराणी से लेती हैं। ऐसे कई उल्लेख जैन कथाग्र थो मे आते है। उनके कुछ उदाहरण हम यहा जिनसेनगुणभद्र कृत महापुराण के देते हैं।

(१) ललिताग के जीव राजा वामव ने अरिंजय मुनि से दीक्षा ली। उसकी रानी प्रभावती ने तव ही पद्मावती आर्यिका से दीक्षा ली।

(२) जयकुमार को रानी सुलोचना ने व्राह्मी आर्यिका से दीक्षा ली।

(३) सजयत मुनि की कथामे राजा सूर्यावर्त ने मुनि चद्रमुनि से दीक्षा ली, तब ही उसकी राणी यशोधरा ने गुणवती आर्यिका से दीक्षा ली।

(४) शातिनाथ चरित्र मे वज्रायुध की कथा मे राजा कनकशाति ने विमलप्रभ मुनि से दीक्षा ली। तब ही उसकी दोनो राणियो ने विमलमती आर्यिका से दीक्षा ली।

(५) नेमिनाथ के पूर्वभव मे राजकन्या प्रीति मती की इच्छा प्रतिज्ञानुसार चितागति को पति वनाने की थी। ऐसा न होने पर प्रीतिमती ने विवृत्ता आर्यिका से दीक्षा ली। तव ही विरक्त हो चितागति ने भी दमवर मुनि से दीक्षा ली।

(६) देवकी के छह पुत्र मुनि होकर उसके घर भिक्षा के लिये आये। उनके पूर्वभवो की कथा मे सेठ भानुदत्त ने अभय-नंदि मुनि से दीक्षा ली। तब ही उसकी सेठानी ने जिनदत्ता

आर्यिका से दीक्षा ली। उसी भानुदत्त के ७ पुत्रो ने चोरी का काम करते हुये विरक्त होकर वरधर्म मुनि से दीक्षा ली। तब ही उनकी स्त्रियो ने जिनदत्ता आर्यिका से दीक्षा ली।

(७) श्रीकृष्ण की पटरानी गाधारी के पूर्व भव मे राजा महेंद्रविक्रम ने चारण मुनि से दीक्षा ली। तब ही उसकी रानी सुरूपा ने सुभद्रा आर्यिका से दीक्षा ली।

(८) श्रीकृष्ण की पटरानी पद्मावती के पूर्व भव मे राजा मेघनाद ने धर्म मुनि से दीक्षा ली। तब ही उसकी रानी विमलश्री ने पद्मावती आर्यिका से दीक्षा ली।

(९) पाडवो के पूर्व भव मे सोमदत्त आदि ब्राह्मणो ने वरुणाचार्य से दीक्षा ली। तबही उनकी स्त्रियो मे से दो ने गुणवती आर्यिका से दीक्षा ली।

(१०) पाडवो ने नेमिनाथ से दीक्षा ली। कुंती, सुभद्रा, द्रौपदी ने राजमति से दीक्षा ली।

(११) जीवधर ने महावीर से दीक्षा ली। उस की रानी ने चदना आर्यिका से दीक्षा ली।

इन उदाहरणो से स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस प्रकार आर्यिका से कोई मुनि दीक्षा नही लेता था। उसी प्रकार आर्यिका की दीक्षा भी किसी मुनि के पास मे नही ली जाती थी। ऐसा ही कुछ आचार शास्त्रो का नियम मालूम होता है। अगर ऐसा नियम न होता तो ऊपर लिखी कथाओ के उदाहरणो मे पतियो ने जिस वक्त जिन मुनियो से दीक्षा ली, तब ही उनकी पत्नियो का उन मुनियो से दीक्षा न लेकर अन्य आर्यिकाओ से दीक्षा लेने का कथन क्यो आता ?

भगवती आराधना के प्रथम अध्याय की गाथा ८३ की बचनिका मे श्री पडित सदासुखदास जी साहब ने ऐसा लिखा है—

'बहुरि अन्य परिग्रह कू धारती जे स्त्री तिनकै हू औत्सर्गिकलिंग वा अपवाद लिंग दो प्रकार होय है। तहां जो सोलह हस्त पमाण एक सुफेद वस्त्र अल्पमोल का तातै पग की एढीसूं लेय मस्तकपर्यंत सर्व अगकू आच्छादनकरि अर मयूर-पिच्छिका धारण करती अर ईर्यापथ मे दृष्टि धारण करती, लज्जा है प्रधान जाकै सो पुरुषमात्र में दृष्टि नही धरती, पुरुषनितै वचनालाप नहीं करती। अर ग्राम के वा नगर के अति नजीक नही अर अतिदूरहू नही ऐसी वसतिका मे अन्य आर्यिकानिका संघ मे वसती, गणिनी की आज्ञा धारण करती, बहुत उपवासादिक तपश्चरण मे प्रवर्तती श्रावक के घर अयाचिक वृत्ति करि दोष रहित अंतराय रहित आप के निमित्त नही कियो जो प्रासुक आहार ताकि एक बार बैठि करि मौनतें ग्रहण करती। आहार का अवसर बिना गृहस्थनि के घर धर्मकार्य विना नही गमन करती, निरतर स्वाध्याय मे लीन रहती, एक वस्त्र विना तिलतुष मात्रहू परिग्रह नही ग्रहण करती, पूर्व अवस्था सबधी कुटुवादिसू ममत्व रहित रहती ऐसी जो स्त्री ताकै जो ये पचपापनिका मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना तै त्यागकरि व्रतधारण समितिनि का पालना सो ही आर्यिका का व्रतरूप औत्सर्गिकलिंग कहिये सर्वोत्कृष्ट लिंग है।'

आर्यिकायें भिक्षा के लिये जिस ढग से गमन करती हैं, उसका वर्णन मूलाचार के समाचार अधिकार मे इस प्रकार किया है—

तिण्णिव पंचव सत्तव अज्जाओ अण्णमण्ण रक्खाओ।
थेरोहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ।।१९४।।

अर्थ—तीन या पांच या सात आर्यिकायें मिलकर वृद्ध स्त्रियों के साथ उनकी आड मे होकर सदा भिक्षा के लिए गमन करती हैं। और आपस मे एक दूसरे की रक्षा का भाव रखती हैं।

इस कथन से सहज ही यह जाना जा सकता है कि—आर्यिकायें वसतिका से किसी कार्यवश बाहर निकलती है तो आम जनता की निगाह से बचने के लिए आचार शास्त्रो मे उनके लिए कैसे २ नियन्त्रण रक्खे हैं। जहाँ जैन शास्त्रो मे आर्यिकाओ को पुरुषवर्ग से बचे रहने के लिए उनके दृष्टिपथ मे न आने देने के लिए ऐसे-ऐसे आदेश दिए हैं। यहाँ तक कि कोई भी महिला किसी मुनि के पास से दीक्षा भी नही ले सकती है। ऐसी सूरत मे एक जैन साध्वी मर्दों की भरी आमसभा मे जहाँ जैन अजैन सैकडो, हजारो आदमी विद्यमान हो वहाँ ऊँचे मच मे बैठ कर अपना शिर उघाड कर केश लौंचन करे यह कहाँ तक उचित कहा जा सकता है। इस पर दि० जैन समाज के ज्ञानवान् भाइयो को गम्भीरता पूर्वक सोच विचार करके निणय देना चाहिये। ऐसी उनसे मेरी विनती है।

हाँ यदि उन आर्यिकाओ को एकान्त मे लौंच करना रुचिकर न हो तो भले ही वे महिलाओ की सभा मे लौच करले परन्तु पुरुषो के समूह मे तो उनका लौंच करना योग्य नही है।

वि० स० २०२६ रक्षा बधन पर एक आचार्य महाराज ने दिल्ली मे एक ब्रह्मचारिणी को क्षुल्लिका की दीक्षा दी

आचार्यजी ने जनसमूह के बीच अपने हाथ से क्षुल्लिका का केशलोंच किया यह अत्यंत दूषित पद्धति है।

इन्द्रनंदि ने "नीतिसार समुच्चय" मे लिखा है:—

न योषितः स्पृशेद्योगी, काष्ठ चित्र कृतापि च ।
किं पुनः स्पर्शनं तासां यासां स्मरणमापदे ।।६४।।

अर्थात्—काष्ठ कागज आदि पर बनी स्त्री मूर्ति का भी साधु स्पर्श न करे क्योंकि स्त्रियो का स्मरण मात्र ही अनेक आपत्तियो का आविर्भावक है फिर उनके स्पर्श की क्या कथा वह तो किसी भी तरह विधेय नही।

चित्रस्थामपि संस्पृश्य, योषितं नैव भुज्यते ।
तस्मिन्नहनि भुंजन्येत् षष्ठं स्यात्पापनाशनम् ।।६४।।

अर्थात्—स्त्री के चित्र का भी स्पर्श हो जाय तो साधु उस दिन भोजन का त्याग करे। और शुद्धि के लिए बेला (दो दिन तक उपवास) करे।

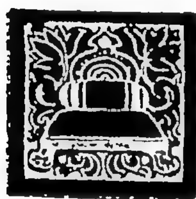
मूलाचार के चौथे समाचाराधिकार गाथा १९५ मे बताया है —

आर्यिका आचार्य-साधु की वंदना भी ५-७ हाथ दूर रहकर करे।

प्रथम तो क्षुल्लिका का केशलोंच ही शास्त्र-विरुद्ध है। दूसरे वह जनसमूह मे करना और भी विरुद्ध है तीसरे किसी भी पुरुष के हाथ का स्पर्श होना तो अत्यंत ही दूषित पद्धति को प्रश्रय देना है। समाज को साहस के साथ ऐसी शालीनता रहित

लोकापवाद को पैदा करने वाली प्रक्रियाओं का नियत्रण कर जिनेन्द्र के पवित्र मार्ग को भ्रष्ट-विकृत होने से बचाना चाहिए। यही सच्ची जिनभक्ति है।

१८ हजार शील के भेदो को धारण करने वाले साधु परमेष्ठी के लिये उपरोक्त क्रिया किसी तरह शोभास्पद नही। "छहढाला" मे लिखा है—"अठदस सहस विधि शीलधर चिद्ब्रह्म मे नित रमि रहे" ॥१॥ छठीढाल।



१५

जैन धर्म में नाग तर्पण

नागतर्पण शब्द सुनकर शायद हमारे जैनीभाई चौंकेंगे कि जैनधर्म मे नागतर्पण कैसा ? उन्हे जानना चाहिये कि हमारे जैनशास्त्र भण्डारो मे जहा एक ओर अमूल्य शास्त्ररत्न भरे है तो दूसरी ओर काचखण्ड भी रक्खे है। आश्चर्य इस बात का है कि हमारे कुछ सस्कृत के धुरन्धर विद्वानो ने भी इन काचखण्डों को अपनाया है।

जयपुर से पहिले अभिषेक पाठ सग्रह नाम से एक ग्रथ प्रकाशित हुआ था। उसमे जिन अभिषेक पाठों का सग्रह किया है उनके कुछ मुख्य रचयिताओ के नाम इस प्रकार हैं—

पूज्यपाद, गुणभद्र, सोमदेव, अभयनन्दि, गजाकुश, आशाधर, अय्यपार्य, नेमिचन्द्र और इन्द्रनन्दी। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिये कि पूज्यपाद, गुणभद्र, नेमिचन्द्र आदि नामवाले जो प्रसिद्ध आचार्य हमारे यहाँ हुए हैं वे ये नही हैं। उन नाम के ये कोई दूसरे ही हैं। पूर्वोक्ति रचयिताओ मे से एक गजाकुश को छोडकर बाकी सभी ने अपने २ अभिषेक पाठो मे नाग तर्पण लिखा है। प० आशाधर जी ने अपने बनाये "नित्य-महोद्योत" नाम के अभिषेक पाठ मे नागतर्पण इस प्रकार लिखा है।

उद्भात भोः षष्टिसहस्रनागाः
क्ष्माकामचार स्फुटवीर्यदर्पा ।
प्रतृप्यतानेन जिनाध्वरोर्वी
सेकात् सुधागर्वमृजामृतेन ॥४८॥

अर्थ—पृथ्वी पर यथेष्ट विचरने से जिनका पराक्रम प्रकट है ऐसे हे साठ हजार नागो ! तुम प्रकट होओ। और जिन यज्ञ की भूमि मे तुम्हारे लिए सिंचन किए इस जल से जो कि अमृत के गर्व को भी खर्व करने वाला है तुम तृप्त होओ। ऐसा कहकर ईशान दिशा मे जलांजलि देवे। इति नागतर्पणं।

यहाँ यह मालूम रहे कि—भूमिशुद्धि के लिए जो अभिमन्त्रित जल के छींटे दिए जाते हैं वह वर्णन तो आशाधर जी ने ऊपर श्लोक ४६ मे अलग ही कर दिया है। यहाँ खास तौर से नागो के लिए ही जल देने का कथन किया है। यही श्लोक आशाधर जी ने प्रतिष्ठासारोद्धार मे भी लिखा है।

इन आशाधर जी से पहिले सोमदेव हुए उन्होने भी यशस्तिलक मे नागतर्पण का कथन इन शब्दो मे किया है—

रत्नाम्बुभिः कुशकृशानुभिरात्तशुद्धौ,
भूमौ भुजगमपती नमृतैरुपास्य ॥५३३॥

अर्थ पचरत्न रखे हुए जलपात्र के जल से और डाभ की अग्नि से पवित्र की हुई भूमि पर जल से नागेन्द्रो को तृप्त करके।

इन्होने साठ हजार की सख्या नही लिखी है। अन्य ग्रथकारो मे से किसी ने आशाधर का और किसी ने सोमदेव का

अनुसरण किया है। यहाँ नागो का अर्थ सर्प नही है किन्तु नागकुमार देव है। नागकुमारो का वर्णन या तो भवनवासी निकाय के भेदो मे आता है या लवण समुद्र की ऊँची उठी जलराशि को थामने वाले वेलन्धर नागकुमारो मे आता है। इनमे से वेलन्धर नाग कुमारो की सख्या तो लोकानुयोगी ग्र थो मे कही भी साठ हजार देखने मे नही आई है। अलबत्ता भवनवासी नाग कुमारो के सामानिक देवो की सख्या राजवार्तिक मे अवश्य साठ हजार लिखी हैं। शायद इसीके आधार पर आशाधर ने नागो की सख्या साठ हजार लिखी हो।

यहा के अमृत शब्द का अर्थ नित्यमहोद्योत की टीका मे श्रुत सागर ने जल किया है। नमिचन्द्रकृत अभिषेक पाठ मे अमृत की जगह स्पष्ट ही जल शब्द लिखा है अय्यपार्य ने अपने अभिषेक पाठ के श्लोक ७ मे अमृत के स्थान मे शक्कर घृत लिखा है। यशस्तिलक की टीका मे प० कैलाशचदजी और प० जिनदास जी ने अमृत का अर्थ दुग्ध किया है। अभयनन्दिकृत लघुस्नपन के श्लोक ६ की टीका मे अमृत का अर्थ जल किया है। ❀

यहा विचारने की बात है कि—जैन सिद्धात के अनुसार देव लोक के देवो का मानसिक आहार होता है। वे जल, घृत, शक्कर, दूध का आहार लेते नही हैं। तब उनके लिये ऐसा कथन

❀ इस श्लोक मे सरक्ष-णार्थ पाठ है वह हमारी समझ से अशुद्ध मालूम होता है उसकी जगह 'सतर्पणार्थं' पाठ होना चाहिये। टीकाकार भावशर्मा को अशुद्ध पाठ मिला इसीसे उसने खैंचखाच कर यह अर्थ की सगति बैठाने का प्रयास किया है।

करना कैसे सगत हो सकता है ? और यहाँ यह नागतर्पण का विधान किस प्रयोजन को लेकर किया गया है ? क्या इसलिये कि—वे जिनयज्ञ मे विघ्न न करें ? मगर जैनागम के अनुसार तो देवगति के सभी देव जिनधर्मी होते है तव वे जिनयज्ञ में विघ्न करेगे भी क्यो ? और जो चीज उन्हे दी जा रही है वह उनके काम की न होने से वे विघ्न करते रुकेंगे भी क्यो यदि कहो कि—जैसे भगवान जिनेन्द्र क्षुधारहित है फिर भी हम उनकी पूजा नैवेद्य फलादि से करते हैं वैसे ही यहाँ नागकुमार देवो के विषय मे समझ लेना चाहिये। ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योकि भगवान की पूजा मे द्रव्य चढाया जाता है यह उनके भोग के लिये नहीं चढाया जाता है। वह तो भक्ति से भेटस्वरूप है किन्तु यहा तो आशाधर ने नागकुमारो को तृप्त करने की बात लिखी है। इस प्रकार के विधिविधान एक तरह से बाल क्रीडा के समान मालूम पडते है। इस पर मनन शील विद्वानो को विचार करना चाहिये। ब्राह्मण ग्रंथो मे देवपितरो को जल देकर तृप्त करने को तर्पण कहा है। उसी तरह का यहा यह नागतर्पण लिखा गया है।



१६

प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र का समय

प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र हैं इन्होंने प्रतिष्ठा-तिलक मे अपने वंशका वर्णन इस प्रकार किया है—

वीरसेन, जिनसेन, वादीभसिंह और वादिराज इनके वंश मे हस्तिमल्ल गृहाश्रमी हुये। इन हस्तिमल्ल के कुल मे परवादि-मल्ल मुनि हुये। और भी कई हुये जिन्होंने दीक्षा ले जैनमार्ग की प्रभावना की। उसी कुल मे लोकपाल द्विज गृहस्थाचार्य हुये जो चोल राजा के साथ अपने बंधुवर्ग को लेकर कर्नाट देश मे आये। उनके समयनाथ नाम का तार्किक पुत्र हुआ। समयनाथ के आदिमल्ल, आदिमल्ल के चिंतामणि चिंतामणि के अनतवीर्य अनतवीर्य के पार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ के आदिनाथ। आदिनाथ के वेदिकोदड। वेदिकोदड के ब्रह्मदेव। और ब्रह्मदेव के देवेन्द्र नामक पुत्र हुआ जो संहिताशास्त्रो मे निपुण था देवेन्द्र की भार्या का नाम आदिदेवी था। यह आदिदेवी की विजयपार्य और श्रीमती की पुत्री थी। इस आदिदेवी के चद्रपार्य ब्रह्मसूरि और पार्श्वनाथ ये तीन सगे भाई थे। उस दंपति (देवेन्द्र-आदिदेवी) के तीन पुत्र हुये—आदिनाथ, नेमिचन्द्र और विजयम। आदिनाथ जिन संहिताशास्त्रो का पारगामी हुआ। इसके त्रैलोक्यनाथ,

जिनचन्द्रादि विद्वान पुत्र हुये। और विजयम ज्योतिष का पंडित हुआ जिसका समंतभद्र पुत्र साहित्य का विद्वान हुआ। तथा नेमिचन्द्र, अभयचन्द्र उपाध्याय के पास पढ़कर तर्क व्याकरण का ज्ञाता हुआ। नेमिचन्द्र के दो पुत्र हुये—कल्याणनाथ और धर्मशेखर। दोनों ही महा विद्वान हुये। नेमिचन्द्र ने सत्यशासन परीक्षा मुख्य प्रकरणादि शास्त्र रचे। राजसभाओं में प्रतिवादियों को जीत कर जिसने जैनधर्म की प्रभावना की जिसको राजा द्वारा छत्र, चवर, पालकी भेट में मिली। और जो स्थिर कदंब नगर का रहने वाला है ऐसे नेमिचन्द्र ने अपने मामा ब्रह्मसूरि आदि बन्धुओं के आग्रह से यह प्रतिष्ठातिलक ग्रन्थ बनाया है।

इस प्रकार नेमिचन्द्र ने अपनी वंशावली तो विस्तृत लिख दी परन्तु वे किस साल संवत में हुये यह लिखने की कृपा नहीं की। यह गृहस्थ थे, इन्होंने उक्त प्रतिष्ठाग्रन्थ आशाधरकृत प्रतिष्ठाशास्त्र को आधार बनाकर लिखा है। यद्यपि इन्होंने आशाधर का कहीं उल्लेख नहीं किया है किंतु दोनों में इतना अधिक साम्य है कि उसे देखकर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अंकुरारोपण आदि कुछ विशेष प्रकरणों को छोड़कर बाकी सारा का सारा ग्रन्थ नेमिचन्द्रने आशाधर के ग्रन्थसे ज्यों का त्यों ले लिया है। सिर्फ दोनों में शब्द रचना का ही अन्तर है, प्रायः अर्थ इकसार है। दोनों का मिलान करने से यह बात कोई भी जान सकता है अतः उनके उदाहरण देने की मैं जरूरत नहीं समझता। किन्तु आशाधर प्रतिष्ठापाठ के कितने ही पद्य तो नेमिचन्द्र ने ज्यों के त्यों भी लिये हैं।

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ये नेमिचन्द्र आशाधर के

बाद हुये हैं। बाद में होने का दूसरा हेतु यह है कि—इन्होंने अपने प्रतिष्ठातिलक के मंगलाचरण में इन्द्रनंदि आदि कृत प्रतिष्ठाशास्त्रों के अनुसार कथन करने की बात कही है। और इन्द्रनंदि ने अपनी जिनसंहिता में आशाधरकृत सिद्धभक्तिपाठ को उद्धृत किया है। तथा नेमिचंद्र ने अपने प्रतिष्ठाग्रंथ के १८ वें परिच्छेद में एकसंधिसंहिता के भी बहुत से श्लोक उद्धृत किये हैं। उधर एक संधि भी अपनी जिनसंहिता के २० वें परिच्छेद में इन्द्रनंदी का उल्लेख करते हैं। इन सब उल्लेखों से यही निश्चित होता है कि आशाधर के बाद इन्द्रनंदी के बाद एकसंधि और एक संधि के बाद नेमिचन्द्र हुए हैं। पं० आशाधर जी वि० सं० १३०० तक जीवित थे यह निर्भ्रान्त है।

अय्यपार्य अपने बनाये "जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय" नामक प्रतिष्ठापाठ को वि० सं० १३७६ में पूर्ण करते हुये लिखते हैं कि—मैंने यह प्रतिष्ठाग्रंथ इन्द्रनंदी, आशाधर, हस्तिमल्ल और एक संधि के कथनों का सार लेकर बनाया हैं।

इन्द्रनंदि ने स्वरचित संहिता में एक जगह हस्तिमल्ल का उल्लेख किया। (देखो उसका तीसरा परिच्छेद) किन्तु जैन-सिद्धांतभास्कर भाग ५ किरण १ में हस्तिमल्लकृत प्रतिष्ठाविधान की प्रशस्ति छपी है उसमें हस्तिमल्ल ने भी इन्द्रनंदि का उल्लेख किया है। इससे हस्तिमल्ल और इन्द्रनंदि दोनों समकालिक सिद्ध होते हैं।

फलितार्थ यह हुआ कि हस्तिमल्ल, इन्द्रनंदि और एकसंधि ये अंतिम सब आशाधर के समय से लेकर वि० सं० १३७६ के मध्य में हुये हैं।

उक्त प्रतिष्ठातिलक के कर्ता नेमिचन्द्र कब हुए ? अब हम इस पर विचार करते हैं। इन नेमिचन्द्र ने जो अपनी वंशावली दी है उसके अनुसार ब्रह्मसूरि रिश्ते मे इनके मामा लगते थे। नेमिचन्द्र ने हस्तिमल्ल के कुल मे होने वाले कोछपाल द्विज से लेकर अपने पिता देवेन्द्र तक करीब ६ पीढी का उल्लेख किया है। इन पीढियो का समय यदि दो सौ वर्ष भी मान लिया जाय तो नेमिचन्द्र का समय विक्रम की १६ वीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध बनता है। किन्तु नेमिचन्द्र के समय मे ही उनके मामा ब्रह्मसूरि हुए हैं उन्होने भी प्रतिष्ठाग्रन्थ बनाया है उसमे वे लिखते हैं कि—

'पाड्य देश मे गुडिपत्तन नगर के राजा पाडव नरेन्द्र थे। गोविंद भट्ट यहीं के रहने वाले थे। उनके हस्तिमल्ल को आदि लेकर छह पुत्र थे। हस्तिमल्ल के पुत्र का नाम पार्श्वपडित था। वह अपने बन्धुओ के साथ होयसल देश मे जाकर रहने लगा था जिसकी राजधानी छत्रत्रयपुरी थी। पार्श्वपडित के चन्द्रप, चन्द्रनाथ, और वैजय्य नामक तीन पुत्र थे। उनमे से चन्द्रनाथ अपने परिवार के साथ हेमाचल मे जा बसा और दो भाई अन्य स्थानो को चले गए। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुआ और विजयेन्द्र के ब्रह्मसूरि।"

ब्रह्मसूरि के इस कथनानुसार हस्तिमल्ल उनके पितामह के पितामह थे। यदि एक एक पीढी के २५-२५ वर्ष गिन लिए जाये तो हस्तिमल्ल उनसे लगभग सौ वर्ष पहले के थे। इससे नेमिचन्द्र और ब्रह्मसूरि का समय विक्रम की १५ वीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। ऊपर हम १६ वीं सदी का पूर्वार्द्ध बता आये हैं। दोनो में एकसौ वर्ष का अन्तर है।

यह अन्तर इस तरह दूर किया जा सकता है कि— नेमिचन्द ने जो वशावली दी है उसमे वे अपना वशक्रम १० पीढी पूर्व मे होने वाले लोकपाल द्विज से शुरू करते है। और ब्रह्मसूरि अपनी वशावली अपने से ४ पीढी पूर्व में होने वाले हस्तिमल्ल से शुरु करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नेमिचन्द्र ने हस्तिमल्ल से करीब एक सौ वर्ष पूर्व से अपनी वशावली शुरू की है। इस प्रकार यह अन्तर रफा होकर नेमिचन्द्र का समय विक्रम की १५ वी सदी का पूर्वार्द्ध ही ठीक रहता है और यही समय ब्रह्मसूरि का भी है।

नेमिचन्द्र ने प्रशस्ति मे लोकपाल हस्तिमल्ल के कुल मे हुआ लिखा है। इसका अर्थ यह नही समझना कि लोकपाल हस्तिमल्ल के बाद हुआ है। चूकि हस्तिमल्ल एक विख्यात विद्वान हुये थे इसलिए नेमिचन्द्र ने हस्तिमल्ल के पूर्वज लोकपाल आदि को हस्तिमल्ल के अन्वय मे होना लिख दिया है। क्योंकि जिस वंश में कोई प्रसिद्ध पुरुष हो जाता है तो उसकी आगे पीछे पीढिये उसी के नाम के वश से बोली जाया करती है। यहा इतना जरूर समझ लेना कि नेमिचन्द्र और ब्रह्मसूरि दोनो समान वश में होते हुये भी जिस सतान परपरा मे नेमिचन्द्र हुये है उस सतान परपरा मे न हस्तिमल्ल हुगे और न ब्रह्मसूरि ही। अर्थात् नेमिचन्द्र और ब्रह्मसूरि दोनो के परदादो के परदादे आदि जुदे जुदे थे।

"बाबू छोटेलालजी स्मृति ग्रंथ" मे डा० नेमिचन्द्र जी शास्त्री आरा वालो का "भट्टारकयुगीन जैनसस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियां" नामक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमे लेखक ने न मालूम इन नेमिचन्द्र का समय (पृ० ११८) विक्रम की १३ वी

सदी किस आधार से लिखा है ? आपने कुछ और भी ग्रंथकारों का समय यद्वातद्वा लिख दिया है। जैसे कि आपने भैरवपद्मावती-कल्प आदि मंत्रशास्त्रों के कर्त्ता मल्लिषेण का समय १३ वीं शती लिखा है। यह बिल्कुल गलत है। इन मल्लिषेण ने महापुराण की रचना वि० सं०-११०४ मे पूर्ण की है। अत ये ११ वीं सदी के अंत व १२ वीं सदी के प्रारम्भ मे हुये है। इसी तरह आपने वाग्भट्टालंकार के टीकाकार वादिराज को तोडानगर के राजा मानसिंह का मंत्री और उनका समय वि० सं०-१४७६ लिखा है। यह भी ठीक नही है। उक्त वादिराजमानसिंह के नही रायसिंह के मंत्री थे और उनका समय वि० की १८ वीं का पूर्वार्द्ध था। इन वादिराज के बडे भाई जगन्नाथ कवि भी बडे विद्वान थे, जिन्होंने चतुर्विंशतिसंधान, सुखनिधान और श्वेतांबरपराजय आदि अनेक ग्रंथ रचे थे। इन तीनों ग्रंथों की प्रशस्तियें वीर-सेवामन्दिर दिल्ली से प्रकाशित प्रशस्तिसंग्रह के प्रथम भाग मे छपी है। सुखनिधान ग्रंथ में विदेहक्षेत्रीय श्रीपाल चक्रवर्ति का कथानक है। यह कथा आदिपुराण मे जयकुमार के पूर्वभवों मे आई है। इस ग्रंथ की रचना इन जगन्नाथ कवि ने सकलचन्द्र, सकलकीर्ति (ये सकलकीर्ति प्रसिद्ध सकलकीर्ति से जुदे है) और पद्मकीर्ति आदिकों की प्रेरणा से मालपुरा गांव मे की थी। ये खंडेलवाल जैन सोगाणी गोत्रके थे, शाह पोमराज के पुत्र थे और भ० नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। उक्त पद्मकीर्ति-सकलकीर्ति का समय भट्टारकसंप्रदाय पुस्तक के पृ०-२०८ पर १८ वीं शती का प्रथम चरण लिखा है। यही समय वादिराज और जगन्नाथ का है। डा० नेमिचन्द्रजी शास्त्री ने शायद उक्त सकलकीर्ति को १५ वीं शती मे होने वाले प्रसिद्ध सकलकीर्ति समझकर वादि-राजकृत वाग्भट्टालंकार का टीकाकाल वि० सं-१४२६ लिख

दिया हो ऐसा प्रतीत होता है। आपने उपदेशरत्नमाला के कर्त्ता भट्टारक सकलभूषण का समय विक्रम की १५ वीं शती लिखा है यह भी समीचीन नहीं है। स्वयं ग्रंथकार ने उपदेशरत्नमाला की समाप्ति का समय वि० सं० १६२७ दिया है। यथा—

सप्तविंशत्यधिके षोडशशते वत्सरेषु विक्रमत ।
श्रावणमासि शुक्ले पक्षे षष्ठ्यां कृतो ग्रंथ ॥२६५॥

अत. सकलभूषण १७ वीं शती के है। न कि १५ वीं शती के।

अद्यावधितक बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में आचुकी है इतने पर भी विद्वान लोग भूले करते है यह खेद की बात है। ★

★ नोट—इसी तरह की—गलतियां विद्वद्परिषद् के सन् ६८ के अध्यक्षीय भाषण (मुद्रित) मे की है देखो जैन मित्र ज्येष्ठवद ४-२०२५ के अंक में। भावसेन ने विश्वतत्व प्रकाश तथा आशाधर के अध्यात्म रहस्य को अप्रकाशित बताया है किन्तु वे तो सन् ६८ से कुछ वर्षों पहिले प्रकाशित हो चुके हैं। एक जगह आपने लिखा है—"जिसमे कथा वस्तु एक ही नायक से संबद्ध हो वह महाकाव्य कहा जाता है" किन्तु यह ठीक नहीं है ऐसे को तो चरित-काव्य कहते हैं क्योंकि आपने स्वय आगे उसी लेख मे लिखा है कि एक व्यक्ति को मानकर लिखी गयी कथा कृतियां चरित काव्य मे रखी जा सकती हैं।"

—००—

१७

जिनवाणी को भ्रमात्मक लेखोंसे बचाइये

अहा ! परमपावनी जिनेन्द्र की वाणी न होती तो अनादिकाल से भवन मे तापित प्राणियो का उद्धार कैसे होता ? इस जगत मे यथार्थ मार्ग दिखाने वाले हितकारी अगर कोई है तो ये वीतराग देवके वचन ही हैं। जैन ग्रन्थो का विवेचन किसी पाखडी कषाय कलुषित क्षुद्र बुद्धि आत्माओ द्वारा नही हुआ है किंतु उसकी मूल रचना निर्दोषी आगमाधिपति सर्वज्ञ द्वारा आविर्भूत हुई है। यही कारण है जो उसके कथन मे आज तक कोई किसी प्रकार की अयथार्थता दिखलाने मे कृतकार्य नही हो सका है। प्रत्युत उसकी जितनी ही जाच पडताल की जाती है वह असली सुवर्ण की तरह अधिकाधिक उज्ज्वल दिखलाई देने लगता है।

किन्तु हमे लिखते बडा ही दु ख होता है कि वही जगदुद्धारकर्त्री पवित्र जिनवाणी आज हमारे ही पडितो द्वारा विकृत की जारही है। जिसका कुछ पता आपको आगे इसी लेख मे मिलेगा और यह देखकर और भी अधिक खेद होता है कि आजतक उसके प्रतिबध का कोई उपाय समाज की ओर से नही किया गया है। बल्कि समाज के किसी भी व्यक्ति ने इस

ओर ध्यान तक नही दिलाया है। इसलिये आज मैंने इस पर अपनी लेखनी उठाना उचित समझा है।

हमारे यहा प्राचीन जैन ग्रथ प्रायः सस्कृत प्राकृत भाषा मे मिलते है जिनका रसास्वादन तद्भाषा विज्ञ ही कर सकते है किन्तु अधिकतर जनता सस्कृत प्राकृतज्ञ नही है। अत उन्हे भी जैनधर्म की शिक्षा मिलती रहे इसी उद्देश्य से पहिले के विद्वान—जयचन्दजी, दौलतरामजी, टोडरमलजी, सदासुखजी आदिको ने सस्कृत प्राकृतमय आगमो की हिन्दी वचनिकाए वनाई थी। उनका किया हुआ प्रयास सफल भी खूब हुआ है। आज सर्वसाधारण मे जो गहन जैन सिद्धातो की कुछ २ चर्चा सुन पडती है यह श्रेय उन्ही को है। उसी सदुद्देश्य को लेकर वर्तमान के कतिपय सस्कृत-प्राकृतज्ञ विद्वान भी आये साल जैन ग्रथो का अनुवाद वना २ कर प्रकाशित किया करते है। लेकिन उनमे और इनमे वडा अन्तर है। तव के विद्वान इतने नाम के भूखे नही थे जितने कि अव हैं।

पहिले के विद्वानो के किये अनुवाद देखने से मालूम होता है कि उन्हे उत्सूत्र कथन करने मे वडा भय लगता रहता था। वे विद्वान् शक्तिभर मूलग्रथ के भाव को अन्यथापन से बचाये रखने का ध्यान रखते थे यहा तक कि जो बात समझ मे नही आती थी तो फौरन अपनी अल्पज्ञता दिखाकर उस स्थल को वहु ज्ञानी से समझ लेने की कह देते थे जैसा कि प० टोडरमलजी ने यत्रतत्र त्रिलोकसार मे लिखा है। किन्तु अबके विद्वान् ऐसा करना प्राय उचित नही समझते। अपनी अल्पज्ञता स्वय प्रकट करना निज के गौरव की भारी हानि समझते है। इन विद्वानो के अनुवादों मे बहुत कम अनुवाद ऐसे मिलेंगे जिनमे

कही न कही अर्थ का अनर्थ न हुआ हो। इसका कारण हैं शास्त्रीय विषयो का अल्प परिचय। किसी जैन ग्रन्थ का अनुवाद अच्छा वैयाकरण और सस्कृत का प्रकाड ज्ञाता है इतने पर ही उसका अनुवाद ठीक नही होजाता किन्तु तद् ग्रन्थ विषयक परिज्ञान होना भी जरूरी है तभी अनुवाद मे यथार्थता आ सकती है।

नीचे हम कुछ ऐसे विद्वानो के अनुवादो में अयथार्थता दिखलाते हैं जो जैन समाज मे गणनीय समझे जाते है—

पंडित गजाधरलालजी और हरिवशपुराण।

(१) मध्यलोक के नीचे एक तनुवातवलय है। पृष्ठ ५३।

(२) हैमवत, हरि, विदेह....ये मेरुपर्वत की उत्तर दिशा मे है। पृ० ५३।

(३) हर एक मेरुपर्वत पर सोलह २ वक्षारगिरि है। पृ० ६४।

(४) मांस, मदिरा, मधु, जुआ, जिन वृक्षो से दूध झरता हो उनके फलो का खाना, वेश्या, पर स्त्री, इन सात व्यसनो का काल की मर्यादा लेकर त्याग करना नियम कहलाता है। पृ० २०६।

(५) कृष्ण ने बलभद्र के साथ अष्टम भक्त (चौला) धारण किया, पृ० ३८७।

ऊपर लिखित नं० १ से न० ३ तक का वर्णन जिसे जैन-धर्म के क्षेत्र ज्ञान का थोड़ा भी परिचय है वह भी नही लिख

सकता। न० ४ का निरूपण तो बिलकुल ही चारित्र मे शैथिल्य लाने वाला है। क्या मास, मदिरा जैसी चीजो का नियम रूप से त्याग कराने का उपदेश किसी जैनाचार्य का हो सकता है। कभी नही, इनका परित्याग तो यमरूपेण हुआ करता है। पाच उदबर तीन मकार का त्याग तो श्रावक के मुख्य रूप से होता है। न० ५ मे अष्टम भक्त का अर्थ 'चौला" करना गलत है। 'तेला' लिखना चाहिये जैसा कि इसी हरिवशपुराण के पृष्ठ ३६१ पर लिखा मिलता है कि—'उपवास विधि मे चतुर्थक शब्द से उपवास, षष्ट शब्द से बेला, और अष्टम शब्द से तेला लिया गया है।' अफसोस है आपको यह भी स्मरण नही रहा।

अगर हमारे पास मूल ग्र थ होता तो उसके श्लोक देकर उक्त अनुवादको सदोष सिद्ध करते तथापि प० दौलतरामजीकृत वचनिका जो इससे बहुत पहिले की बनी हुई है उसमे से इन्ही स्थलो को हम नीचे देते है। पाठक ! देखेंगे कि इसमे कितना सुसगत लिखा है।

(१) यह मध्य लोक मध्यतनुवातवलय के अतपर्यंत तिष्ठा है। पृ० ७४।

(२) सो ऐरावत तो सुमेरु की उत्तर ओर है अर भरत-क्षेत्र सुमेरु की दक्षिण ओर है। पृ० ७५।

(३) अथानतर एक मेरु सम्बन्धी सोलावक्षारगिरि.... " पृ० ८८।

(४) अर मास मद्य मधु उदबरादि पच फलो का त्याग अर जिन वृक्षो मे दूध झरे जबू करोदा आदि उनके फलो का त्याग अर जुवा, वेश्या, चोरी, परनारी, आखेट इत्यादि पापो

आश्चर्य तो यह है कि साधारण ही नही कुछ विशेषज्ञ भी ऐसे हैं जो प० आशाधरजीके परमभक्त हैं और इस ग्रंथको यहातक चिपटाये बैठे हैं कि इसे विद्यालयोके पठनक्रममे भी रख दिया है और इस तरह विद्यार्थियोंके लिये उनके प्रारंभिक जीवनमे ही उन्मार्गका बीजारोपण किया है। अगर ऐसा ग्रंथ छात्रोको व्युत्पन्न बनाना है। तो भी कुछ कामका नही है। क्योकि—

'मणिना भूषितः सर्प किमसौ न भयंकरः'

खेद है कि जिस जैनधर्ममे आप्त तककी परीक्षा की जाती है उसीमे ऐसे कथन भी आगमके नामसे आंख मीचकर माने जाते है !

नोट.— इस लेख के लिए वसुनंदि श्रावकाचार की प्रस्तावना पृष्ठ ३१ तथा जैन बोधक और सिद्धात वर्ष ५१ अंक १२ (अप्रेल सन् ३५) भी देखिये।



१९

समाधिमरणके अवसर में मुनिदीक्षा

जव किसी ब्रह्मचारी आदि श्रावक की जिसदिन मृत्यु होने को होती है तो प्राय आज-कल उसे नग्नलिंग धारण कराकर और उसका गृहस्थावस्था का नाम भी बदलकर मुनित्व का द्योतक दूसरा ही कोई नाम रखकर पूर्णत उसे मुनिही मानलिया जाता है और मृत्यु के वाद उसको उसी नये नाम से पुकारा भी जाता है। परन्तु क्या यह प्रथा वर्तमान मे ही देखने मे आ रही है या पहिले भी थी ? और इसका किसी समीचीन आगम से समर्थन भी होता है या नही, इस पर विचार होना आवश्यक है। यह नही हो सकता कि आजकल के साधु स्वेच्छा से जो कुछ कर दें वही प्रमाण मान-लिया जावे।

अतिम समय में सावद्यक्रियाओ का त्याग कर सव परिग्रहो का छोड देना यह जुदी चीज है और मुनि वनना जुदी चीज है। मुनि वनने के लिये गुरू से दीक्षा लेनी पडती है और दीक्षा मे प्रथम ही लौंच करना जरूरी होता है जिसे आजकल अतिम समय मे मुनि वनने वाले नही करते है। वे प्राचीन मर्यादा का भग करते हैं। मरण के अवसर मे मुनि वनने वालो को पंच समितियो षट् आवश्यक, स्थिति, भोजन, अस्नान, अदतधावन, आदि मूल गुणो के पालन करने का अवसर ही

नही आता है। परीषहो का सहना, तपस्या आदि भी उन्हे नही करनी पडती है। फिर भी उन्हे मुनि मान लेना यह तो एक तरह से मुनित्व की विडवना है। यदि कहो कि किसी की मुनि दीक्षा लिये बाद दस पाच घटो मे ही सर्पविष आदि से मृत्यु हो जाये तो क्या वह मुनि नही माना जा सकता ? क्योकि उसको भी मुनि के मूलगुणो के पालने का अवसर नही प्राप्त हुआ है। उत्तर इसका यह है कि उसमे और इसमे अतर है। उसको तो यह पता नही था कि—मेरी मृत्यु आज ही हो जायगी इसलिये उसके तो मुनि बनते वक्त यह सकल्प रहता है कि—मुझे मूलगुणो का पालन करते हुये परीषहे सहनी हैं एव तपस्या करके निर्जरा करनी है इसलिये वह तो मुनि माने जाने के योग्य है किन्तु दूसरा मृत्यु की निकटता के वक्त मुनि बनने वाला जब यह देखता है कि—मैं अब मरने ही वाला हू, यह भोगसामग्री व धन कुटुम्बादि सब थोडी ही देर मे वैसे ही छूट रहे हैं तो इनको मैं ही क्यो न त्यागदू जिससे मैं मुनि माना जाने लगू गा और उससे मेरा वेडा भी पार हो जाय तो इसके सिवा और कल्याण का सरल मार्ग भी क्या हो सकता है ? ऐसा विचार कर वह मुनि बनता है। इस प्रकार दोनो की परिणति मे बडा अतर है।

दूसरी बात यह है कि—मुनि के भी जब यही बाछा रहती है कि—उसकी मृत्यु समाधि मरण पूर्वक हो तो श्रावक को अतिम समय मे मुनि बनने की क्या आवश्यकता है ? उसका भी लक्ष्य उस वक्त सल्लेखनापूर्वक मरण करने का ही होना चाहिये न कि मुनि बनने का। अपने जीवन मे चिरकाल तक अणुव्रतो और महाव्रतो का पालना भी तभी सफल होता हैं जब समाधिमरण से देहात हो। ऐसी हालत मे मरणकाल मे मुनि

दीक्षा लेना निरुपयोगी है। रत्नकरड श्रावकाचारमे कहा है कि

अंतक्रियाधिकरणं तप फलं सकलदर्शिन स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥२॥
अधिकार ५

अर्थ-तपश्चर्या का फल समाधिमरण पर आश्रित है ऐसा सर्वज्ञ भगवान् कहते है। इसलिये अतसमय में अपनी सारी शक्ति समाधिमरण के अनुष्ठान मे लगानी चाहिये।

आदि पुराण मे राजा महाबल की कथा मे लिखा है—

'महाबल ने अवधिज्ञानी मुनि से अपनी शेष आयु एक मास की जानकर समाधिमरण मे चित्त लगाया। आठ दिन तक तो उसने अपने घर के चैत्यालय मे महापूजा की। तदनतर उसने सिद्धवरकूट चैत्यालय जा, वहां सिद्धप्रतिमा की पूजाकर सन्यास धारण किया। उसने गुरू की साक्षी से जीवनपर्यंत के लिये आहार, पानी, देहकी ममता, व बाह्याभ्यतर परिग्रहो का त्याग कर दिया। उस वक्त वह मुनि के समान मालूम पडता था। उसने प्रायोपगमन सन्यास लिया था। इस प्रकार वह २२ दिन तक सल्लेखना विधि मे रहकर अत मे प्राण त्यागकर दूसरे स्वर्ग मे ललिताग देव हुआ।"

इस कथा मे भी महाबल के मुनि बनने की बात न लिखकर यही लिखा है कि 'वह मुनिके समान जान पडता था।' (देखो पर्व ५ का श्लोक २३२)

आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण के पर्व ३९ श्लोक १६१ मे ऐसा लिखा है कि—"आचार्य को चाहिये कि-वह किसी को

मुनि दीक्षा देवे तो शुभ मुहूर्त देखकर देवे। अन्यथा उस आचार्य ही को संघबाह्य कर देना चाहिये।"

इस कथन से मृत्यु समय मे मुनि दीक्षा देने का स्पष्ट निषेध सिद्ध होता है। क्योंकि अव्वल तो दीक्षा लेने वाले का मरण समय होना यही अशुभ है। दूसरे उस दिन सभी को शुभ मुहूर्त का संयोग मिल जावे यह भी सभव नही है।

अतसमय मे मुनि दीक्षा लेने देने का कथन जैन-शास्त्रो में कही नही है। इस विषय का वर्णन शास्त्रो मे जिस ढग से किया है उसका मतलब लोगो ने भ्रम से मुनि दीक्षा लेना समझ लिया है। जब कि वैसा मतलब वहा के कथन का निकलता नही है। इस प्रकार का वर्णन प० आशाधरजी कृत सागारधर्मामृत के ८ वें अध्याय में निम्न प्रकार पाया जाता है—

त्रिस्थानदोषयुक्तायाप्यापवादिकलिंगिने।
महाव्रतार्थिने दद्याल्लिगमौत्सर्गिक तदा ॥३५॥
निर्यापके समर्प्य स्वं भक्त्यारोप्य महाव्रतम्।
निश्चेलो भावयेदन्यस्त्वनारोपितमेव तत् ॥४४॥

अर्थ—अडकोश और लिगेन्द्रिय संबधी तीन दोष युक्त भी हो तथापि आपवादिक लिगी कहिये ११ वी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक जो कि आर्य कहलाता है वह यदि महाव्रत का अर्थी हो तो उसे समाधिमरण के अवसर मे आचार्य मुनि के ४ (लिगो-चिह्नो) मे से एक नग्नलिग को देवे। अर्थात् वस्त्र छुडाकर उसको नग्न बनादे।

जब वह निश्चेल हो जाये तो अपने को भक्ति से निर्यापक

कहिये समाधिमरण कराने वाले आचार्य के अधीन करके और उनके वचनोसे अपने मे महाव्रतो की भावना भावे। यह उत्कृष्ट श्रावक यदि लज्जा आदि के वश से समाधिमरण के वक्त वस्त्र त्याग न कर सके तो वह अपने मे महाव्रतो का आरोपण नही कर सकता है। क्योकि सग्रथ को महाव्रतो के आरोपण करने का अधिकार नही है। उसे बिना आरोपित किये ही महाव्रतो की भावना भानी चाहिये।

भगवती आराधना की गाथा ८० मे नग्नत्व, लौच, पिच्छिका धारण, और शरीर सस्कार हीनता ऐसे ४ चिह्न (लिंग) मुनि के वताये है।

इस प्रकरण मे आशाधर ने श्लो ३८ मे ऐसा कहा है कि—

औत्सर्गिकमन्यद्वा लिंगमुक्तं जिनै. स्त्रियाः।
पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधे ॥३८॥

अर्थ—जिनेन्द्रो ने स्त्री के जो औत्सर्गिक और आपवादिक लिंग कहा है। उसमे औत्सर्गिक लिंग श्रुतज्ञो ने मृत्युकाल मे पुरुप की तरह एकातवसतिका आदि सामग्री के होने पर वस्त्र मात्र को भी त्याग देने वाली क्षुल्लिका के लिये माना है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार औत्सर्गिक लिंग धारण करने वाले पुरुप के मरण समय मे औत्सर्गिक लिंग ही कहा है। और आपवादिक लिंग वाले के लिये ऊपर जैसा कथन किया है वैसा ही स्त्री के लिये भी समझना चाहिये। अर्थात् योग्य स्थान मिलने पर आर्यिका नग्न लिंग धारण करे और क्षुल्लिका भी नग्न लिंग धारण करे। किन्तु क्षुल्लिका यदि समृद्धिशाली घर

स्त्री हो यानी राजघराने आदि की हो और नग्न होने मे उसे शर्म आती हो तो वह नग्न न होकर क्षुल्लिका के वेष मे ही रह कर समाधि मरण करे।

ऊपर के श्लोको मे क्षुल्लक पुरुष के लिंग धारण का कथन किया है और इस श्लोक मे स्त्री क्षुल्लिका के लिये कथन किया है। श्लोक में प्रयुक्त "स्वल्पीकृतोपधे" वाक्य का अर्थ यहां क्षुल्लिका मालूम पडता है। प० आशाधर जी ने इसी कथन को भगवती आराधना की गाथा ८१ की अपनी मूलाराधना टीका में निम्न प्रकार किया है।

"स्त्रियां अपि औत्सर्गिकं आगमेऽभिहित, परिग्रहमल्पं कुर्वत्या इति योज्यं। औत्सर्गिक तपस्विनीना, शाटकमात्र परिग्रहेऽपि तत्र ममत्वपरित्यागादुपचारतो नैर्ग्रन्थ्य व्यवहरणा-नुसरणात्। आपवादिक श्राविकाणा तथाविधममत्व परित्यागा-भावादुपचारतोऽपि नैर्ग्रन्थ्यव्यवहारानवतारात्। तत्र संन्यास काले लिंग तपस्विनीनामयोग्यस्थाने प्राक्तन इतरासा पुंसा-मिवेति योज्यम्। इदमत्र तात्पर्य -तपस्विनी मृत्युकाले योग्ये स्थाने वस्त्रमात्रमपि त्यजति। अन्या तु यदि योग्य स्थान लभते, यदि च महर्द्धिका सलज्जा मिथ्यात्त्व प्रचुर ज्ञातिश्च न, तदा पुंवद्वस्त्रमपि मुंचति। नो चेत् प्राग्लिंगेनैव म्रियते।"

अर्थ—आगम में स्त्री के भी उत्सर्ग लिंग बताया है वह अल्पपरिग्रहवाली श्राविका (क्षुल्लिका) के सन्यासकाल मे बताया है। आर्यिकाओ के तो वैसे ही औत्सर्गिक लिंग होता है। क्योंकि उनके साडी मात्र मे भी ममत्व न होने से उपचार से उनमें निर्ग्रन्थता का व्यवहार है। जबकि क्षुल्लिका

श्राविकाओ के उस प्रकार से ममत्व का त्याग नही होता इसलिये उनमे उपचार से भी निर्ग्रन्थता का व्यवहार नही है। अत उनके आपवादिक लिंग होता है। सन्यासकाल मे योग्य स्थान आदि न मिले तो आर्यिकाओ के पूर्वकालीन लिंग ही रहता है। तथा क्षुल्लिकाओ के सन्यासकाल मे क्षुल्लक पुरुषो की तरह उत्सर्ग लिंग और अपवाद लिंग दोनो होते है। तात्पर्य यह है कि—आर्यिका मृत्युकाल मे योग्य स्थान के मिलने पर वस्त्र मात्र को भी त्याग देती है और क्षुल्लिका योग्य स्थान मिलने पर यदि महर्द्धिका, सलज्जा और कट्टर मिथ्यात्वी जाति की न हो तो वह भी क्षुल्लक पुरुष की तरह वस्त्रो को त्याग कर नग्न हो जाती है। और यदि वह सलज्जा आदि हो तो समाधि मरण के समय मे अपने पूर्वलिंग को धारण की हुई ही मरती है।"

क्षुल्लिका वह कहलाती है जो आर्यिका से कुछ अधिक वस्त्र रखती है और जितना रखती है उतने मे भी उसके ममत्व भाव रहता है मस्तक के बाल कैंची आदि से उतरवाती है। उसे क्षुल्लक पुरुष के स्थानापन्न समझनी चाहिये। उसकी गणना श्राविकाओ मे की जाती है। और आर्यिका के अपनी साडी मे ममत्व नही होता इसलिये वह सवस्त्रा होकर भी मुनि के स्थानापन्न समझी जाती है और इसी से शास्त्रो मे उसके उपचार से महाव्रत माना है।

इन उपर्युक्त उल्लेखो से यही प्रगट होता है कि—उत्कृष्ट श्रावको (क्षुल्लको) के लिये समाधिमरण के अवसर मे नग्न हो जाने की शास्त्राज्ञा है। जिससे कि उनमें महाव्रतो की स्थापना करके उन्हे आरोपित महाव्रती बना सकें। इसका अर्थ

मुनि दीक्षा नही है। क्योकि ऐसा करना तो आर्यिका व क्षुल्लिका श्राविका के लिये भी लिखा है तो क्या नग्न हो जाने से इनकी भी मुनि दीक्षा मान ली जावे ? और तब क्या उनके छठा गुणस्थान समझा जावे ? नग्न हो जाना मात्र कोई मुनि दीक्षा नही है। मुनि दीक्षा मे लौंच कराया जाता है, पिच्छिका पकडाई जाती है। पर यहा ऐसा कुछ नही लिखा है। न यहा उनको मुनि नाम से ही लिखा है। तब यह कैसे माना जावे कि समाधिमरण के वक्त मे क्षुल्लक को मुनि दीक्षा देने का विधान है। यदि कहो कि क्षुल्लक के लौंच पिच्छी तो पहिले से ही चली आ रही है जिससे नही लिखा है। इसका उत्तर यह है कि भले ही पहिले से चली आवे तब भी मुनि दीक्षा के वक्त भी लौंचादि करा कर ही दीक्षा दिये जाने का नियम है। और सभी क्षुल्लक लौंच करें ही ऐसी भी शास्त्राज्ञा नही है। इसलिये यह भी नही कह सकते कि क्षुल्लक के लौंच पहिले ही से चला आ रहा है। यह विचारने के योग्य है कि—उक्त श्लोक ४४ मे क्षुल्लक मे महाव्रतो का आरोप करना लिखा है। इस आरोप शब्द पर भी ध्यान देना चाहिये। रत्नकरड श्रावकाचार के 'आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि नि. शेषम् ॥'१२५॥ पद्य में भी महाव्रतो का आरोप करना ही लिखा है। मेधावी के श्रावकाचार मे (अधिकार १० श्लो० ५४) तथा चामुण्डरायकृत चारित्रसार मे भी आरोप ही लिखा है। सभी ग्रन्थो में एक आरोप के सिवा दूसरा शब्द प्रयोग न करने मे भी कोई रहस्य है। और इससे यही प्रतिभासित होता है कि—सन्यास काल में नग्न होने का अर्थ मुनि बनने का नही है। जिस पुरुष की कामेन्द्रिय मे चर्मरहितत्व आदि दोष होते है उसको मुनिदीक्षा देने का आगम मे निषेध किया है। उस प्रकार के

दोष वाले क्षुल्लक को भी ऊपर उद्धृत श्लोक ३५ मे सन्यास काल मे नग्नलिंग दिया गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि—यहा की इस नग्नता का मुनिदीक्षा से कोई सम्बन्ध नही है। चारित्रसार मे लिखा है कि-गूढ ब्रह्मचारी नग्न वेष मे रहकर ही विद्याध्ययन करता है। इसलिये सभी जगह नग्न हो जाने का अर्थ मुनि बनना नही है। सागराधर्मामृत के इसी ८वें अध्याय के अन्त मे आराधक के उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन भेद करके उनकी आराधनाओ का फल बताते हुए लिखा है कि—"उत्तम आराधक मुनि उसी भव मे मोक्ष जाता है। मध्यम आराधक मुनि इन्द्रादि पद को प्राप्त होता है। और वर्तमान काल के मुनि जो कि जघन्य आराधक है वे आठवें भव मे मोक्ष पाते है। इतना कथन किये बाद आगे आशाधर जी लिखते है कि यह तो मुनियो की आराधना अर्थात् समाधि-मरण का फल बताया। अब श्रावको की आराधना का फल बताते हैं। जो कि श्रमणलिंग धारण कर समाधिमरण करते है।

इस कथन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि समाधि-मरण के समय मे जो श्रावक नग्न लिंग धारण करके आरोपित महाव्रती बनते है उनको आशाधरजी ने मुनि नही माना है।

यहा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि-आशाधर ने जो यहा नग्नलिंग धारणकर आरोपितमहाव्रती बनने की बात लिखी हैं। वह भी आपवादिकलिंगी कहिये क्षुल्लक के लिये लिखी है न कि ७वी प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी आदि के लिये। पं० मेधावी ने भी स्वरचित धर्मसंग्रह श्रावकाचार के ६वे

अध्याय मे उत्कृष्ट श्रावक को अपवादलिंगी कहा है। यथा—

उत्कृष्टः श्रावको य प्राक्क्षुल्लोऽत्रैव सूचित.।
स चापवादलिगी च वानप्रस्थोऽपि नामत ॥ २८० ॥

अर्थ—उत्कृष्ट श्रावक जिसे कि पहिले इस ग्रन्थ मे क्षुल्लक नाम से सूचित किया है उसीका नाम अपवादलिंगी और वानप्रस्थ भी है।

इस प्रकार प० आशाधरजी के उक्त विवेचन से यही फलितार्थ निकलता है कि-जिस श्रावक को समाधिमरण के अवसर मे नग्नलिंग दिया जाता है वह ११वी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक होता है और वह आरोपित महाव्रती माना जाता है मुनि नही। उस समय की नग्नता मुनि अवस्था की नही है। किंतु सन्यास अवस्था की है। ऐसा समझना चाहिये।

इसलिये आजकल जो ११ वी प्रतिमाधारी ही नही सातवीं प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी तक को भी समाधिमरण के समय मे साक्षात् मुनि बनाकर व उसका नाम ही बदलकर मुनिपने का नाम रख दिया जाता है यह सब शास्त्र सम्मत नहीं है। मनमानी है। मैंने यह लेख मननशील विद्वानो के विचारार्थ प्रस्तुत किया है। मेरा लिखना कहां तक सही है इसका निर्णय वे करेंगे। निर्णय करते समय यह ख्याल रखेंगे कि-आशाधर ने समाधिमरण के इस प्रकरण मे नग्नलिंग की चर्चा की है, न कि मुनि होने की। क्योकि यहा इसीके साथ मे आर्यिका व श्राविका के सम्बन्ध मे भी नग्नता का कथन किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि यहा जो वर्णन किया है वह नग्नलिंग का वर्णन किया है मुनि होने का वर्णन नहीं

किया है। अत उसका अभिप्राय मुनिदीक्षा समझना उचित नही है। नग्न हुये बाद भी उसको महाव्रत देने की बात नहीं लिखी है। ऊपर उद्धृत आशाधर के ४४वें श्लोक पर ध्यान दीजिये। उसमे वह निर्यापक के वचनो से अपने मे महाव्रतो का आरोपण करके महाव्रतो की भावना भावे, ऐसा लिखा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह नग्न हुये बाद 'मैं महाव्रती हूँ' ऐसी कल्पना कर लेवे। साक्षात् महाव्रती मुनि अपने को न माने। रत्नकरंड श्रावकाचार के उक्त उद्धरण मे आये "आरोपयेत्" की व्याख्या प्रभाचन्द्र ने भी महाव्रतो की स्थापना करना की है। धारण करना अर्थ नही किया है।卐

卐 आजकल आधुनिक मुनियो की मूर्तिया बनने का रिवाज चालू हो गया है मानो जैसे तीर्थंकर मूर्तियो से ऊब गये हो—यह सब हमारे अविवेक का परिणाम है। जिन मूर्ति और जिन मन्दिर के बजाय अब तो मुनि मूर्ति और मुनि-मन्दिर का युग आ गया है। इस युग प्रवाहमे सब डुबकी लगाना चाहते हैं नई नई होशियारी-कलाबाजी धर्म मे भी प्रविष्ट हो गई है अब तो कोई भी जैनी बिना मुनिपद के मरने वाला ही नही इसके लिये मुनिदीक्षा की केशलोच तपस्यादि की भी कोई झझट तकलीफ नही अन्त समय मे झट से परिवार के लोग मुनि बना देंगे और सागरान्त नाम रखकर फिर उन मुनि की फोटूए, पूजायें, स्तोत्र, चालीसा, समाधिस्थल, मूर्तिया बना देंगे। गरीब हो चाहे अमीर इसमे कोई क्यो पीछे रहेगा सब अपने दादा पिता-भाई नाना-मम्मा आदि परिजनो की छोटी बडी मूर्तियाँ बनाकर जगह-२ मन्दिरो मे विराजमान कर देंगे फिर तो भगवान की जगह सबके परिजन ही पूजे जाने लगेंगे। जब जगत मे रजनीश आदि ४० करीब भगवान हो गये तो जैनी ही क्यो पीछे रहने लगे। अभी पचम काल (कलिकाल) के २१ हजार वर्ष मे से सिर्फ २॥ हजार वर्ष ही बीते हैं अभी से इसका रग चढने लगा है।

२०

कातंत्र व्याकरण के निर्माता कौन है ?

इस ग्रन्थ मे सस्कृत-व्याकरण का विषय ऐसे ढग से गुंफित किया गया है जो न अधिक विस्तृत और न अधिक सक्षिप्त ही कहा जा सकता है। साथ ही क्लिप्ट भी नही है। व्याकरण की मध्यमरूप से शिक्षा पाने के लिये यह ग्रन्थ वहुत ही उच्चकोटि का है। वर्तमान मे इसका विशेष प्रचार नही है। सभव है पहिले किसी समय इसका अच्छा प्रचार रहा हो। यह बात तो हमारी बाल्यावस्था मे भी थी कि हमारे इधर इसका सधिपाठ अपभ्रंशरूप से विद्यार्थियो को कठस्थ कराया जाता था। और जिसको "सीधा" के नाम से बोला करते थे। इस ग्रन्थ को "कात्तत्र" के अलावा "कौमार" और "कालापक" के नाम से भी कहते हैं। इसके कर्ता कोई 'शर्ववर्मा" हैं। किन्तु वे जैन थे या जैनेतर यह अभी विवादग्रस्त है। महाकवि सोमदेव भट्ट-रचित "कथासरित्सगर" मे इस ग्रन्थ की उत्पत्ति की कथा मिलती है। उससे इसका निर्माता अजैन सिद्ध होता है। यह कथा उसके प्रथम लवक षष्ठ तरग श्लोक १०७ वे से लेकर सातवी तरग के श्लोक ११ वे तक है। उसका साराश पाठको की जानकारी के लिये यहा लिख दिया जाता है।

"एक समय राजा सातवाहन वसत के उत्सव मे रानियो के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था। उस बीच मे एक

रानी ने सस्कृत मे राजा को कहा "हे नाथ मोदकैस्ताडय"। सुनकर राजा ने वहाँ लड्डू मगवाये। तव वह रानी हंसकर वोली-हे राजन् यहा जल क्रीडा मे मोदको का क्या काम ? मैंने तो आप से यह कहा था कि "हमे जल से मत ताडना करो" आप 'मा' शव्द और 'उदक' शव्द की सधि भी नही जानते है और मौके को भी नही समझते है। उस समय राजा की और रानियो ने हसी की। इससे राजा वडा लज्जित हुआ। वह जलक्रीडा छोड अपमान से खेदित हो — राजमहल मे चला गया। वहा वह मौन पकड के चिन्तातुर सा रहने लगा। शर्ववर्मा और गुणाढ्य इन दो मत्रियो ने राजा से बातें करना चाहा पर राजा बोला नही। तव शर्ववर्मा ने राजा का मौनभग कराने के अभिप्राय मे एक चौका देनेवाली बात कही कि मुझे रात्रि को एक स्वप्न हुआ है — जिसका फल यह है कि सरस्वती आप के मुख मे प्रवेश कर गई है। यह सुन कर राजा बोल उठा कि तुम वताओ मनुष्य प्रयत्न करे तो कितने दिनो मे पण्डित हो सकता है ? मुझे पाण्डित्य के विना यह राज्यलक्ष्मी अच्छी नही मालूम होती उत्तर मे गुणाढ्य ने कहा—व्याकरण का ज्ञान मनुष्य को वारह वर्ष मे होता है परन्तु आपको मैं छः वर्ष मे ही सिखा दूंगा। वीच ही मे वात काटकर ईर्ष्या से शर्ववर्मा ने कहा सुखी पुरुष इतना श्रम कैसे कर सकता है ? हे राजन् ! मैं आपको छः ही मास मे व्याकरण सिखा सकता हू। यह सुन कर गुणाढ्य क्रोधित हो वोला-जो तुम छ मास में राजा को व्याकरण सिखा दो तो मैं सस्कृत प्राकृत और अपने देश की वोली ये तीनो भाषाये जिन्हे कि मनुष्य वोला करते है वोलना छोड दूंगा। तव शर्ववर्मा ने कहा जो मैं छ महीने मे इन्हे व्याकरण न पढा दू तो वारह वर्ष तक तुम्हारी खड़ाऊँ

अपने सिर पर रक्खू । इस तरह दोनो प्रतिज्ञा करके अपने घर को चले गये । शर्ववर्मा को अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह होना दुस्तर दिखने लगा और पश्चात्ताप-सहित अपना वृत्तात अपनी स्त्री को कहा । तब वह बोली—हे स्वामिन् ऐसे सङ्कट मे सिवाय "स्वामिकुमार" की आराधना के और कोई पार नही लगा सकता । स्त्री की बात को ठीक समझ कर शर्ववर्मा प्रभात ही स्वामिकुमार के पास जा, वहा निराहार मौन धारण कर और अपने शरीर को न गिन कर ऐसा तप किया, कि जिससे प्रसन्न हो कर भगवान् स्वामिकुमार ने उनका मनोरथ पूर्ण किया। साक्षात् स्वामिकुमार ने उन्हे दर्शन दिये और उनके मुख मे सरस्वती का प्रवेश हुआ । बाद्र मे भगवान् स्वामिकुमार छहो मुखो से "सिद्धो वर्णसमाम्नाय" यह सूत्र बोले । जिसे सुन कर शर्ववर्मा ने चपलता से इसके आगे का सूत्र बोल दिया । तब स्वामिकुमार ने कहा—यदि तुम बीच मे न बोलते तो यह शास्त्र पाणिनीय शास्त्र से भी बढ कर होता । अब छोटा होने के कारण इसका "कातन्त्र" नाम होगा और कलापी (मेरे वाहन) के नाम से इसका अपर नाम "कालापक" भी होगा ।"

इस कथा मे शर्ववर्मा को स्वामिकुमार कहिये कार्तिकेय नाम के अजैन देव के उपासक ही नही बतलाया गया है बल्कि ग्रन्थ का उद्गम कार्तिकेय ही से हुआ बतलाया गया है। और इसी अभिप्राय को लेकर ग्रन्थके "कालापक" व "कौमार" नामो की सृष्टि हुई बतलाई गई है । इससे यह ग्रन्थ साफ तौर पर एक अजैन की कृति सिद्ध होता है । साथ ही इस ग्रन्थ का प्राचीनत्व भी सिद्ध होता है । क्योंकि कथा मे इसे सातवाहन राजा को सिखाने के अर्थ बनाया गया बतलाया गया है ।

सातवाहन सभवत. वे ही शालिवाहन राजा हैं जिनका शक सवत् आज १८५७ चल रहा है। इस ग्रन्थ पर कई संस्कृत टीकायें सुनी जाती हैं। श्वेताम्बर टीका का उल्लेख 'भास्कर' की पिछली किरण मे भी हुआ है। लेख मे भी इसे अजैन ग्रन्थ प्रकट किया गया है। इतनी टीकाओ के होते भी इसके कर्ता के विषय मे ऐसा विवाद रहना एक आश्चर्य की बात है। अभी तक यह ग्रन्थ 'भावसेन' मुनि-रचित रूपमाला' नाम की टीका-सहित छपा है। और इसीलिये "कातन्त्र-रूपमाला" इस नाम से प्रचार में आ रहा है। इस टीका के देखने से पता लगता है कि भावसेन मुनि दिगम्बर धर्म के माननेवाले थे। और उन्होंने अपने नाम के साथ 'त्रैविद्यदेव" और "वादिपर्वतवज्री ये दो विशेषण भी लिखे है। ये मुनि अधिक प्राचीन मालूम नही होते हैं। क्योकि इन्होंने रूपमाला टीका की प्रशस्ति मे एक श्लोक दिया है वह सोमदेव कृत "नीतिवाक्यामृत" की प्रशस्ति-गत पद्य की नकल है।

तद्यथा—

क्षीणेऽनुग्रहकारिता समजने सौजन्यमात्माधिके,
सम्मान नुतभावसेनमुनिपे त्रविद्यदेवे मयि।
सिद्धान्तोऽयमथापि यः स्वधिषणागर्वोद्धत केवलम्,
सस्पर्द्धेत तदीयगर्वकुहरे वज्रायते मद्वचः॥

"रूपमाला प्रशस्ति"

अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः,
सिद्धान्तोऽयमुदात्त-चित्त-चरिते श्रीसोमदेवे मयि।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढता प्रौढिप्रगाढा ग्रह-
स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते॥

"नीतिवाक्यामृत-प्रशस्ति"

इन समान पद्यो से यह अनुमान किया जा सकता है कि भावसेन सोमदेव के बाद हुए हैं। ऐसा मालूम होता है कि भावसेन ने कातंत्र को एक जैन कृति समझ कर ही उस पर टीका बनाई है। यह बात रूपमाला के निम्न पद्यो से साबित होती है -

वर्द्धमानकुमारेणार्हता पूज्येन वज्रिणा।
कौमारे ऋषभेणापि कुमाराणां हितैषिणा॥
मुष्टिव्याकरणं नाम्ना कातन्त्रं वा कुमारकं
कालापकं प्रकाशात्मब्रह्मणामभिधायकं॥
प्रकाशिते शं प्रबोधसंपदे श्रेयसो पदं।
समासानां प्रकरणं भावसेन इहाभ्यधात्॥
(पृष्ठ ६५)

चतुःषष्ठिः कलाः स्त्रीणां ताश्चतुःसप्ततिर्नृणाम्।
आपकः प्रापकस्तासां श्रीमानृषभतीर्थकृत्॥
तेन ब्राह्म्यै कुमार्यै च कथितं पाठहेतवे।
कालापकं तत्कौमारं नाम्ना शब्दानुशासनम्॥
यद् वदन्त्यधियः केचित् शिखिनः स्कंदवाहिनः।
पुच्छान्निर्गतसूत्रं स्यात्कालापकमतः परम्॥
तन्न युक्तं यतः केकी वक्ति प्लुतस्वरानुगम्।
त्रिमात्रं च शिखीत्र्यादिति प्रामाणिकोक्तितः॥
न चात्र मातृकाम्नाये स्वरेषु प्लुतसंग्रहः।
तस्मात् श्रीऋषभादिष्टमित्येव प्रतिपद्यताम्॥
"पृष्ठ ११२"

यहां हम यह भी बतला देते हैं कि कातंत्र रूपमाला की अब तक दो आवृत्तियां निकल चुकी हैं। प्रथम आवृत्ति का

प्रकाशन आज से लगभग चालीस वर्ष पहिले सेठ हीराचन्द जी नेमीचद जी के द्वारा हुआ है। उसमे ये श्लोक कतई नही हैं। दूसरी आवृत्ति ९ वर्ष पहिले "जैनसाहित्य-प्रसारक-कार्यालय" की तरफ से प्रकाशित हुई है, उसी मे ये सब श्लोक हैं। और जहां ये दिये गये हैं वहा कुछ अप्रकरण से मालूम होते हैं। इस प्रकार के श्लोक मगलाचरण के बाद मे या ग्रन्थ के अन्त मे दिये जाते तो प्रकरण-सगत लगते। यह भी मालूम होता है कि कातत्र की उत्पत्ति की ऊपर दी हुई कथा से भी भावसेन अपरिचित नही थे, क्योकि इन श्लोको मे उसी कथा का विरोध किया गया है। और कातत्र के कौमार और कालापक नामो का अर्थ जैन-मान्यता मे घटाया गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि भावसेन के वक्त भी इसके कर्त्ता के विषय मे मतभेद था। कोई उसे जैन मानते थे और कोई अजैन। भावसेन का इसे जैनग्रन्थ घोषित करना चाहे ठीक ही हो तथापि इसे अन्तिम निर्णय नही समझ लेना चाहिये। हमारी समझ से अभी इस दिशा मे और भी खोज होने की आवश्यकता है। शर्ववर्मा गृहस्थ विद्वान् थे या साधु ? इसका पता लगाना चाहिये। ऐसा नाम भी बहुत कर के गृहस्थावस्था का ही उपयुक्त हो सकता है। मुनि अवस्था का तो कुछ अटपटा सा दीखता है। अगर वे मुनि ही थे तो उनकी गुरु-परम्परा क्या है ? उन्होने और भी क्या कोई जैन ग्रन्थ बनाये है ? जब कि वे इतने प्राचीन है तो पिछले शास्त्रकारो ने उनका या उनके कातत्र का या अन्य ग्रन्थ का

नोट—कातन्त्र के अवतरण-विषयक एक लेख भास्कर के १ म भाग की २ री किरण मे सम्पादकीय स्तम्भ मे निकल चुका है। हाँ

कही उल्लेख भी किया है या नही ? इत्यादि बातो का अन्वेषण होना जरूरी है। आशा है इतिहासज्ञ जैन विद्वान् इस पर प्रकाश डालेंगे।

इसके रचयिता के बारे मे इस लेख मे कुछ प्रकाश डाला गया है, इसी लिये लेखक के आग्रह से इस किरण मे इसे प्रकाशित कर दिया गया है। मेरा अनुरोध है कि लेखक के अन्तिम कथनानुसार इसके रचयिता के बारे मे इतिहास-वेत्ता कुछ विशेष प्रकाश डालेंगे।

इसमे कातन्त्र को जैन व्याकरण ही माना है।

के० बी० शास्त्री



२१

भगवान् महावीर तथा अन्यतीर्थंकरों के वंश

आदिपुराण पर्व १६ श्लो. २५६ से २६१ मे लिखा है कि— "ऋषभदेव ने हरि, अकंपन, काश्यप और सोमप्रभ इन चारों क्षत्रियों को बुलाकर उन्हें महा-मांडलिक राजा बनाये। हरि का हरिकांत नाम हुआ उससे हरिवंश चला। अकंपनका श्रीधर नाम हुआ उससे नाथवंश चला (१) काश्यप का मघवा नाम हुआ उससे उग्रवंश चला और कुरुदेश का राजा सोमप्रभ अपना कुरराज नाम पाकर उसने कुरुवंश चलाया।" (मोक्ष शास्त्र के "आर्यम्लेच्छाश्च" सूत्र की श्रुतसागरी वृत्ति मे भी इसका अच्छा खुलासा है)

इसी पर्व के श्लो॰ २६५-२६६ मे लिखा है कि— "गौ का अर्थ स्वर्ग हैं। उत्तम स्वर्ग से आने के कारण श्री ऋषभदेव गौतम कहलाते थे और काश्य कहिये तेज की रक्षा करने से वे काश्यप भी कहलाते थे।"

---

(१) इसी से आदि पुराण पर्व ४३ श्लोक २३३, ३३६ तथा पर्व ४४ श्लोक ४५ मे अकम्पन को नाथवश का अग्रणी लिखा है।

पद्मपुराण पर्व ५ के प्रारम्भमे ही लिखाहै कि "इक्ष्वाकु वंश, सोमवश, विद्याधर वश और हरिवश ये चार वश प्रसिद्ध हुये। ऋषभदेवका वश इक्ष्वाकु वश था। उनके पोते अर्ककीर्ति से सूर्यवंश चला। बाहुबली के पुत्र सोमयश से सोमवश चला। सूर्यवश और सोमवश मे अनेक राजा हुये जिनकी नामावली यहा दी है।

इसी के २१ वे पर्व मे हरिवश की उत्पत्ति शीतलनाथ स्वामी के तीर्थ मे राजा सुमुख के जीव द्वारा हुई लिखी है। इसी हरिवंश मे मुनि सुव्रतनाथ हुये। और इसी वंश मे राजा जनक हुये। (श्लो ४५) इक्ष्वाकु वंश मे दशरथ हुये। (यहा इक्ष्वाकुवंशी ऋषभदेव से लेकर दशरथ तक की राज-परपरा का कथन किया है।)

हरिवश पुराण (जिनसेन प्रणीत) सर्ग ६ श्लो ४३ मे लिखा है कि "ऋषभदेव के कुटुम्बी इक्ष्वाकु वशी कहलाये। कुरुदेश के शासक कुरुवशी। जिनकी आज्ञा उग्र थी वे उग्रवशी, न्याय से प्रजा की रक्षा करने वाले भोजवशी (२) कहलाये।

---

(२) भोजवश का उल्लेख तत्वार्थ राजवार्तिक मे 'आर्यम्लेच्छाश्च' सूत्र की व्याख्या मे तथा वराग- चरित पृष्ठ ११ मे भी पाया जाता है। हरिवश पुराण सर्ग ५५ श्लोक ७२ तथा ८२ मे भी राजिमती को भोजसुता लिखा है— इसी से 'चर्चा समाधान' में भी उग्रसेन का दूसरा नाम 'भोज' दिया है। श्वे० नेमिचरित मे भी राजिमती को भोज पुत्री बताया है देखो अनेकात वर्ष १६ किरण ४ पृ. १६३ की टिप्पणी हरिवश पुराण सर्ग ४० श्लोक २० मे भी भोजवश का उल्लेख है।

उन वंशो के नाम ऋषभदेव ने ही निश्चित किये थे। श्रेयांश-सोमप्रभ राजा कुरुवंशी माने गये।"

उसी के १३ वें सर्ग के श्लो १५-१६-१६ मे लिखा है कि "भरत के पुत्र अर्ककीर्तिने सूर्यवंश की स्थापना की तथा बाहुबली के पुत्र सोमयश ने सोमवंश चलाया। इक्ष्वाकुवंश की शाखा स्वरूप इन सूर्यवंश-सोमवंश मे अनेक राजा हुये। उग्र और कुरुवंश मे भी अनेक राजा हुये।" इसी पर्व के श्लो ३३-३४ मे लिखा है कि संसार मे सबसे प्रथम इक्ष्वाकु वंश उत्पन्न हुआ। फिर सूर्यवंश सोमवंश हुये तथा उसी समय कुरुवंश उग्रवंश आदि वंश भी हुये। शीतलनाथ के तीर्थ में हरिवंश हुआ।" इसी के पर्व ४५ मे कुरुवंश की उत्पत्ति सोमप्रभ-श्रेयांश राजा से बताते हुये अनेक राजाओ की नामावली देकर शांतिनाथ कुंथुनाथ-अरनाथ तीर्थंकरो को कुरुवंशियो में लिखा है।

आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराण मे "धर्मनाथ-कुंथुनाथ का कुरुवंश और काश्यप गोत्र लिखा है। अरनाथ का सोमवंश-काश्यप गोत्र और मुनिसुव्रत-नेमिनाथ का हरिवंश काश्यप गोत्र लिखा है।"

यहां जो अरनाथ का सोमवंश लिखा है सो उसका भाव यह है कि राजा सोमप्रभ (श्रेयांश के भाई) से कुरुवंश की उत्पत्ति हुई। इसलिये यहां कुरुवंश को ही सोमवंश के नाम से लिखा गया है।

वरांग चरित सर्ग २७ श्लो ८८ मे भी मुनिसुव्रत-नेमिनाथ को गौतमगोत्री और शेष तीर्थंकरो को काश्यप गोत्री

लिखा है तथा पं० आशाधरजी ने भी अपने प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रथ के अध्याय ४ के श्लो ११ मे तीर्थंकरो के गोत्रो का कथन वरागचरितवत् ही किया है तथा विचारसार प्रकरण (श्वेताम्बर-ग्रथ) मे भी ऐसा ही कथन है। किंतु गोत्रो का कथन न त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे है न पद्मपुराण-हरिवश पुराण मे। आ दामनदिने पुराणसार सग्रह मे महावीर का काश्यपवश लिखा है किन्तु वश का अर्थ यहाँ 'गोत्र' लेना चाहिये। तभी सगति होगी।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति अधिकार ४ गाथा ५५० मे लिखा है कि "धर्मनाथ, अरनाथ, कुथुनाथ ये तीन कुरुवश मे उत्पन्न हुये। महावीरणाह नाथवश मे, पार्श्वनाथ उग्रवश मे, मुनिसुव्रत-नेमिनाथ हरिवश (यादववश) मे और शेष तीर्थंकर इक्ष्वाकु वश मे उत्पन्न हुये।"

यहां शातिनाथ को इक्ष्वाकुवशी लिखा है। जबकि हरिवशपुराण सर्ग ४५ मे कुरुवशी लिखा है। उत्तरपुराण मे शातिनाथ के पिता को काश्यप गोत्री लिखा पर उनके वश का नाम नही लिखा।

आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण मे कुरु, उग्र, नाथ, हरि इन चारवंशो की स्थापना भगवान् ऋषभदेव द्वारा बताई है। जैसा कि ऊपर लिखा गया है। इक्ष्वाकु यह उनका खुद का ही वश था। इस प्रकार इन पाच वशो मे तीर्थंकर पैदा हुये है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे भी ऊपर ये ही ५ वश बताये हैं। पं० आशाधर ने भी स्वरचित प्रतिष्ठासारोद्धर के अध्याय ४ श्लो० १० तथा अनगार धर्मामृत पृष्ठ ५७० मे इन्ही पाचवशो का

उल्लेख किया है। (१)

उत्तरपुराण पर्व ७३ श्लो० ६५ मे पार्श्वनाथ का उग्रवंश लिखा है और उसी के पर्व ७५ श्लो० ८ मे भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ का वंश नाथवंश लिखा है। स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र के श्लोक १३५ मे पार्श्वनाथ का कुल उग्र बताया है— "समग्रधीरुग्र कुलाम्बरांशुमान्" ऋषभ का कुल श्लोक ३ मे इक्ष्वाकु और नेमि का वंश श्लोक १२१ मे 'हरि' बताया है।

वरांगचरित सर्ग २७ श्लो० ८६ मे लिखा है कि— "चार तीर्थंकर कुरुवंशी, दो हरिवंशी एक उग्रवंशी, एक नाथवंशी और शेष १६ इक्ष्वाकुवंशी हुये हैं।" त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे तीन तीर्थंकरो को कुरुवंशी लिखे है। यहां चार लिखे हैं। शायद यहा चौथे शांतिनाथ को कुरुवंशी बताया हो।

धनंजयनाम माला श्लो० ११५ मे महावीर का नाथवंश और काश्यप गोत्र लिखा है। इसके अमरकीर्तिकृत भाष्य में "चत्वार कुरुवंशजा...." यह उक्तंच पद्य दिया है। इसमें लिखा है कि — "धर्मनाथ आदि ४ तीर्थंकर कुरुवंश मे, नेमि मुनि सुव्रत हरिवंश मे, महावीर नाथवंश मे और शेष १७ तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंश मे उत्पन्न हुये है।" ऊपर पार्श्वनाथ को उग्रवंश लिखा है। यहा उनका इक्ष्वाकुवंश लिखा है।

ऊपर इस लेख मे त्रिलोकप्रज्ञप्ति वरांगचरित, धन-

---

(१) शुभचन्द्र कृत पांडव पुराण सर्ग २ श्लोक १६४ में भी प्रायः यही कथन है।

जयनाम माला, उत्तरपुराण और प्रतिष्ठासारोद्धार के अवतरणो मे भगवान् महावीर के व श का नाम नाथव श बताया गया है तथा जयधवला टीका प्रथमभाग के पृ० ७८ पर भी "कुंडपुर पुरवरिस्सर सिद्धत्थ नरवत्तियस्सणाह कुले" गाथा मे महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ की णाह (नाथ) वशी बताया है।

किंतु अकलक ने राजवार्तिक मे तत्वार्थसूत्र के "उच्चैर्नीचैश्च" सूत्र की व्याख्या मे महावीर के कुल का नाम "ज्ञाति" दिया है। यथा—

"लोकपूजितेषु कुलेषु प्रथित माहात्म्येषु इक्ष्वाकू-प्रकुरु-हरिज्ञाति प्रभृतिषु जन्म यस्योदयाद् भवति तदुच्चगोत्रम-वसेयम्।"

इसमे तीर्थंकरो के इक्ष्वाकु, उग्र, कुरु, हरि और ज्ञाति ऐसे पाचो ही वशो के नाम लिख दिये हैं।

अशगकवि ने महावीर चरित के सर्ग १७ श्लो० २१ मे यो "ज्ञातिवशममलेन्दु" वाक्य देकर राजा सिद्धार्थ के वश को "ज्ञाति" नाम से लिखा है तथा इसी सर्ग के श्लो० १२७ मे "ज्ञाति कुलामलाबरेन्दु" पाठ मे भी महावीर के कुल का उल्लेख 'ज्ञाति' शब्द से किया है।

चारित्र भक्ति पाठ में आये श्रीमज्ज्ञातिकुलेंदुना पद मे भी महावीर का कुल 'ज्ञाति' लिखा है। यद्यपि भक्तिपाठो की छपी पुस्तक मे ज्ञाति के स्थान मे ज्ञात शब्द छपा है, परन्तु इसकी प्रभाचद्रकृत टीका मे ज्ञाति शब्द माना है। इससे मालूम होता है कि उनके सामने ज्ञाति पाठ था। हालाकि उनने यहा

टीका मे ज्ञाति और कुल का अर्थ क्रमश: मातृवंश और पितृवंश किया है। ऐसा अर्थ करने से अकलक के राजवार्तिक से विरोध आता है अत. वह योग्य नही है।

बृहज्जैन शब्दार्णव प्रथमभाग पृष्ठ ७ पर राजासिद्धार्थ को हरिवशी (नाथ वश की एक शाखा) बताया है किन्तु यह ठीक ज्ञात नही होता। हरिवंश और नाथवश शास्त्रो मे बिल्कुल जुदा बताये है। कवि वृन्दावन जी कृत-वर्द्धमान जिन पूजा की जयमाला मे भी महावीर स्वामी को हरिवशी बताया है देखो—

"हरिवंश सरोजन को रवि हो।
बलवंत महंत तुम्ही कवि हो॥"

किन्तु यह भी प्राचीन आधार के अभाव से ठीक प्रतीत नही होता। बृहज्जैन शब्दार्णव भाग २ पृ० ६१० में लिखा है कि— "सोमप्रभ ने कुरु या चन्द्रवंश की स्थापना की।" ऐसा लिखना गलत है सोम शब्द से भ्रम मे पड गए हैं सोमप्रभ से तो कुरुवश चला है और बाहुवलि के पुत्र सोमयश से सोम (चन्द्र) वंश चला है। दोनो सोम भिन्न भिन्न है। इसी के आगे फिर लिखा है— 'इक्ष्वाकु वंश को ही सूर्य वश कहते है" यह भी गलत है। क्योंकि ऋषभ का वंश इक्ष्वाकु बताया है और उनके पोते अर्ककीर्ति से सूर्य वश चला है तथा दूसरे पोते सोमयश से सोमवंश चला है इस तरह सूर्य और चन्द्रवश इक्ष्वाकु वश की शाखा हैं। इक्ष्वाकु और सूर्य वश एक नही हैं।

अनेकांत वर्ष ३ किरण ३ मे एक विस्तृत लेख मे मुनि कवीन्द्र सागरजी बीकानेर ने ज्ञातवंश और जाटवश को एक माना है और दोनो मे काश्यप गोत्र होना बताया है। अनेकात

वर्ष १६ पृ० १६१ मे मुनि नथमलजी ने णय से ज्ञात की बजाय 'नाग' लेकर महावीर को नागवशी बताया है। 'भगवान् महावीर' पुस्तक के पृ० ५५ पर कामताप्रसादजी ने ज्ञात का समीकरण नाट (नट) जाति से किया है। किसी ने 'ज्ञातृ' का समीकरण 'जथरिया' जाति से किया है। स्वार्थ अर्थ मे 'क' प्रत्यय करके 'णय' से नायक जाति भी ली जा सकती है। परन्तु ये सब समुचित मालूम नही पडते।

धनंजय नाम माला, जयधवला, महापुराण आदि में महावीर को नाथ वशी ही बताया है, और यह नाथवश भगवान् ऋषभदेव के वक्त से ही चला आ रहा है, नया नही है। यह सब हम पूर्व मे बता आये हैं। फिर भी इसके लिये नीचे और कुछ प्रमाण प्रस्तुत करते है

धवला पुस्तक १ पृ ११२ मे कुछ 'उक्त च' गाथायें देते हुए १२ वशो के नाम बताये है उसमे १२ वा वश दिया है— "बारसमो णाहवसो दु"। उक्त धवला पुस्तक १ के पृष्ठ ९९ तथा १०१ में छठे अग का नाम— "णाहधम्मकहा" (नाथ धर्म कथा) दिया है (जबकि तत्वार्थ सूत्र की सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक आदि टीकाओ में अध्याय १ सूत्र २० में तथा हरिवंश पुराण आदि में छठे अग का नाम ज्ञातृ धर्म कथाग दिया है) गोम्मटसार जीवकाड गाथा ३५७ मे भी णाहधम्म-कहाग (नाथधर्मकथाँग) नाम ही दिया है।

तिलोयपण्णत्तो अ ४ गाथा ६६७ में महावीर के दीक्षावन का नाम णाधवन=नाथवन दिया है। उत्तरपुराण (गुणभद्रकृत) पर्व ७४ श्लोक ३०२ मे भी ऐसा ही लिखा है— "नाथखडवन

प्राप्य"। अशगकृत महावीर चरित्र सर्ग १७ श्लोक ११३ मे "भगवान् वनमेत्य नागखड लिखा है। शायद यहाँ 'नाग' की जगह 'नाथ' हो। दामनदि ने पुराणसार सग्रह के वर्धमान चरित सर्ग ४ मे ज्ञात खडमवाप स. ॥३६॥ लिखा है जिससे ज्ञात खड नाम सूचित होता है।

इससे एक बात यह फलित होती है कि महावीर के वश का नाम और छठे अग का नाम तथा महावीर के दीक्षावन का नाम सब एक ही है। मूलत. प्राकृत मे णाह, णाध शब्द रहा है जिसका संस्कृत रूप नाथ बना है। किसी ने णाह की बजाय णाय माना है जिससे सस्कृत मे ज्ञात और ज्ञातृ रूप बने हैं। किन्तु है ये सब एक।

योगियो मे नाथ और सिद्ध सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं इनमे पारस नाथी और नेमिनाथी दो शाखायें भी है। हो सकता है नाथ वश से इनका सवध रहा हो। 卐

卐 बौद्ध ग्रन्थों मे जो सर्वत्र महावीर के लिए सिर्फ एक नाम— 'णिग्गठ णाथ पुत्र' ही आता है इस मे भी स्पष्ट रूप से महावीर को नाथ पुत्र ही बताया है इस से भी महावीर का वश 'नाथ' ही प्रमाणित होता है।



२२

दिगम्बर परम्परा में श्रावक-धर्म का स्वरूप

जीवो का वह आचरण जिससे जीव सांसारिक दुखो से छुटकारा पाकर आध्यात्मिक सुख की ओर अग्रसर होते है, सम्यक् चारित्र कहलाता है। उसे ही धर्म नाम से भी बोलते हैं। "चारित्त खलु धम्मो" ऐसा शास्त्र वाक्य है। जो लोग प्राय घर मे रह कर इस चारित्र का आंशिक रूप से पालन करते है, वे श्रावक कहलाते है, और गृह के साथ-साथ धन-धान्यादि परिग्रहो का त्याग कर जो इस चारित्र को पूर्णतया पालने का उद्यम करते है, वे साधु या मुनि कहलाते हैं। इस अपेक्षा से धर्म दो भेदो मे बट जाता है—एक श्रावक धर्म और दूसरा मुनिधर्म।

श्रावक धर्म मे अनेक यम-नियम होते हैं। कितने ही श्रावक उच्चकोटि का चारित्र पालते हैं। कितने ही निम्न कोटि का चारित्र पालते हैं। पर उन सब की एक श्रावक सज्ञा ही है। अत एक श्रावक धर्म के भी अनेक उपभेद है। जैसे १० से लेकर ९९ तक की संख्या उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती है, तब भी उन सब की गणना दाई की संख्या मे ही शुमार की जाती है। जो धर्म के २ भेद किये हैं, उसका मतलब इतना ही समझना चाहिये

कि – अमुक सीमा तक का आचरण श्रावक धर्म कहलाता है और उसके ऊपर का आचरण मुनिधर्म कहलाता है। जैसे विद्यालय मे नीची-ऊँची कक्षायें होती हैं जिन्हे क्लासें बोलते है, उसी तरह श्रावक धर्म मे भी नीची-ऊँची कक्षाये (श्रेणियें) होती हैं। श्रावक धर्म के विविध आचारो को आचार्यों ने ११ श्रेणियो मे विभाजित किया है। वे ११ श्रेणियाँ ११ प्रतिमाओ के नाम से बोली जाती है। प्रथय प्रतिमा में प्रवेश करने वाले श्रावक के लिये यह आवश्यक होता है कि वह सम्यग्दर्शन का धारी हो। बिना उसके वह श्रावक धर्म की प्रथम कक्षा मे भी नहीं बैठ सकता है। यह कोई नियम नही है कि—श्रावक धर्म की सब कक्षाओ का अभ्यास किये बाद ही मुनिधर्म मे प्रवेश हो सकता हो। यदि ससार-शरीर-भोगो से तीव्र विरक्तता हो जाये तो वह बगैर श्रावक धर्म की पालना किये भी एकदम से मुनि बन सकता है, किंतु मुनिधर्म मे प्रवेश करने के लिये भी यह जरूरी होता है कि वह पहिले सम्यक दर्शन को प्राप्त करले।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्रो का श्रद्धान करना और जीवादि तत्वो के स्वरूप को समझकर उन पर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस सम्यग्दर्शन के विना श्रावक और मुनि दोनों ही धर्मों में प्रवेश करने का अधिकारी नही होता है। इसका कारण यह है कि – किसी मुमुक्षु जीव को जिस उत्तम सुख की अभिलाषा लगी हुई है, उसको प्राप्त करने के साधनो की जानकारी जिन देव-शास्त्र-गुरूओ से उसे मिली है, उनपर उसका अगर पक्का श्रद्धान नही होगा तो वह धर्म की साधना मे शिथिल रहेगा, क्योकि धर्म का साधन करने मे अनेक कष्टो-परीषहो का सामना करना पडता है। उस वक्त यदि कच्ची श्रद्धावाला हो तो साधना के कष्टो से घबडा कर भ्रष्ट भी हो

सकता है, उसके दिल मे ऐसे विचार पैदा हो सकते है कि धर्म-साधन के मधुर फल आगामी भव मे मिले या न मिलें इस दुविधा मे वर्तमान मे कष्ट मैं क्यो भोगू ? इसलिये साधक की देव-गुरु-शास्त्र पर पक्की श्रद्धा होनी चाहिये। तभी वह निशक होकर साधना मे प्रवृत्त हो सकता है। (उसकी ऐसी समझ होनी चाहिये कि—मोक्षमार्ग के प्रणेता जितने अर्हत देव हुए हैं वे भी किसी दिन मेरी ही तरह से दुखिया ससारी थे। फिर जिन साधनाओ से उन्होने सर्वोच्च स्थान पाया, उन्ही साधनाओ को उन्होंने भव्यजीवो को बताया है। साथ ही उसे इतना बोध भी होना चाहिये कि जिस ससार के दुःखो से वह छूटना चाहता है वह ससार क्या है ? और उसमे यह दुखी क्यो है ? दुख इसको कौन देता है ? और जिस कारण से वह इस दुख-मय ससार मे पडा हुआ है तथा उसका स्वयं का स्वरूप क्या है ? मोक्ष क्या है ? जिसको वह प्राप्त करना चाहता है। मोक्ष प्राप्ति के अव्यर्थ साधन कौन हैं ? इन सबकी जानकारी होने को ही तत्वबोध कहते हैं। ससार, संसार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारण इन चारो का परिज्ञान होकर उनपर अटल प्रतीति होना इसी का नाम तत्वार्थ श्रद्धान है।)

उक्त चार बाते ही सात तत्व हैं, उनसे भिन्न कोई तत्व नही है। जीव, अजीव, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे ७ तत्व माने हैं। जीव-अजीव ये २ तत्व ससार है। आश्रव बध ये २ तत्व ससार के कारण हैं एव सवर-निर्जरा ये २ तत्व मोक्ष के कारण हैं, और मोक्ष यह जीव का साध्य तत्व है। इस वास्ते साधक के लिये तत्वार्थ-श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन भी होना अति आवश्यक है। इस प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे विवेकी और पारखी (परीक्षक) हो जाते हैं कि वे तथ्यहीन लौकिक

रूढियो की दल-दल मे फसते नही हैं। वे वीतराग देव को छोडकर अन्य काल्पनिक मिथ्या देवो व रागी-द्वेषी देवो की उपासना नही करते, बल्कि भवनत्रिक और स्वर्गवासी देवो का भी उनकी निर्मल दृष्टि मे कोई महत्व नहीं रहता है। वे केवल वेषमात्र के पुजारी नही होते हैं, उसके साथ समीचीन गुणो को भी देखते हैं। वे भेदविज्ञान के धारी नाशवान् सासारिक वैभव को पाकर कभी अभिमान नही करते हैं, क्योकि वे सम्यग्दृष्टि तो सबसे बडा वैभव धर्म को समझते हैं। जैसा कि समत-भद्राचार्य ने फरमाया है—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् ।
कापि नाम भवेदन्या संपद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥

अर्थ जिस संसार मे धर्म के फल से कुत्ता भी मरकर देव हो जाता है और पाप के फल से देव भी मर कर कुत्ता हो जाता हैं। उस ससार मे जीवो को धर्म के सिवा अन्य क्या संपदा हो सकती है ?

यदि पापनिरोधोऽन्य संपदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापाश्रवोस्त्यन्य सपदा किं प्रयोजनम् ॥

अर्थ—यदि पापाश्रवका निरोध है किन्तु किसी लौकिक संपदा का कोई लाभ नही हो रहा है तो न सही। उस लौकिक सपदा से जीव को प्रयोजन भी क्या है ? पापो का निरोध होना, यह क्या कम सपदा है ? इस आत्मिक सपदा से तो उसे एक दिन मोक्ष की शाश्वती लक्ष्मी मिलेगी। और यदि घोर पाप कर्मों का आश्रव हो रहा है किन्तु साथ ही उससे धनादि लौकिक

स ादा की अत्यन्त प्राप्ति होती जा रही है तो उस धन वृद्धि से भी जीव का क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? एक दिन उस धन को छोड कर जीव को पापाश्रव के कारण नरक जाना पडेगा और वहाँ उसे दारुण दु ख सहने पडेंगे ।)

प्रतिमा - धारण एक विश्लेषण

१. पहली दार्शनिक प्रतिमा—ऐसा सम्यग्दृष्टि जीवों जब महा पापो का त्याग कर देता है तो उसके श्रावक की पहिली प्रतिमा होती है ।(पाँच उदु वर फल और मद्य माँस, मधु, इनका सेवन आठ महापाप कहलाते हैं, इनका वह त्याग कर देता है । इन आठो का त्याग करना श्रावक के ८ मूलगुण कहलाते हैं)। बड, पीपल, ऊमर, कठूमर, और पाकर इन पाँचो के फलो को उदु बर फल कहते है । इन फलो मे चलते-फिरते बहुत से त्रस जीव होते हैं । इनका सेवन महापाप माना जाता है । अन्य भी मोटे पाप वह छोड देता है जैसे पानी को वह वस्त्र से छानकर काम मे लेता है क्योकि जल मे अगणित ऐसे सूक्ष्म त्रस जीव होते हैं कि जो हमको आँखो से दिखाई नही देते है । वह रात्रि भोजन भी नही करता है। महापाप रूप सात व्यसनो का वह सेवन नही करता है। जुआ, माँस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री ये सात व्यसनो के नाम हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान जिनेन्द्रदेव का अनन्य भक्त होता है। इसलिये उसके इस प्रतिमा मे नित्य जिनदर्शन करने का नियम होता है ।

यह प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रथम प्रतिमा मे वह मद्यमाँसादि महापापो का त्याग कर देता है तो क्या वह

सम्यग्दृष्टि इससे पूर्व मद्यमांसादि का सेवन करता था? सम्यक्त्वी होकर भी मद्यमांसादि का सेवन करे यह कैसे हो सकता है?

उत्तर मे कहा जा सकता है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ ही प्रशम, सवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य ये चार गुण पैदा हो जाया करते हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टि का ऐसा भद्र स्वभाव हो जाता है कि जिससे उसकी उन महापापो के सेवन मे स्वभावत. ही प्रवृत्ति नही होती। पर उनका वह जब तक संकल्प पूर्वक त्याग नही करता है तव तक उसके प्रथम प्रतिमा नही कही जा सकती है। व्रत नाम तो तभी पाता है जब सकल्प से किसी का त्याग करे। जैसे मृग - कपोतादि अपने स्वभाव से ही मांस नहीं खाते है। पर मांस का उन्होने सकल्प पूर्वक त्याग नही किया है। इसलिये उनका मांस - त्याग व्रत नही माना जा सकता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि के सम्वन्ध मे समझ लेना चाहिये। और चूंकि श्रावक की प्रथम प्रतिमा ५ वें गुण स्थान मे मानी जाती है। क्योंकि इसमे यत्किंचित् श्रावक के व्रत शुद्ध हो जाते है। इस प्रतिमा के पूर्व सम्यग्दृष्टि के चौथा गुणस्थान रहता है जिसका नाम अविरत सम्यक्त्व है। उसमे सम्यक्त्व तो होता है पर विरति किसी प्रकार की नहीं होती क्योंकि वहाँ अप्रत्या - ख्यानावरणी कषाय का उदय रहता है। इस कषाय के उदय मे जीवो के किंचित् भी त्याग नही होता है। चतुर्थ गुणस्थान का स्वरूप गोम्मटसार मे इस प्रकार बतलाया है—

णो इन्दियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२६॥
—जीवकांड

अर्थात जो इन्द्रियो के विषयो से तथा त्रस स्थावर जीवो की हिंसा से विरत नही है किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है। वह अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान का धारी माना जाता है।

(अगर हम चौथे गुणस्थान मे भी कुछ त्याग मान लेते हैं तो और फिर चौथे और पाँचवे गुणस्थान मे कोई अन्तर नहीं रहता है। इसलिये फलितार्थ यही निकलता है कि अविरत सम्यग्दृष्टि के यद्यपि प्रतिज्ञा रूप कोई त्याग नही होता तथापि वह मांसभक्षण आदि जैसे महापापो मे प्रवृत्ति नही करता। सम्यक्त्व के प्रभाव से ऐसी ही उसकी प्रकृति हो जाती है।)

२ दूसरी व्रत प्रतिमा—जब प्रथम प्रतिमा वाला (श्रावक) ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षा व्रत इन १२ व्रतों का माया—मिथ्यात्व निदान रूप तीन शल्य रहित होकर पालन करने लगता है तो उसके श्रावक की दूसरी प्रतिमा होती है। ये १२ व्रत श्रावक के उत्तर गुण कहे जाते हैं। इन १२ मे ३ गुणव्रतो और ४ शिक्षाव्रतो की सप्तशील सज्ञा है। ये सप्तशील वाडी की भाँति व्रतरूप खेती की रक्षा करते हैं। इस प्रतिमा का धारी ५ अणुव्रतो को तो निरतिचार पालता है, परन्तु शेष ७ शील व्रतो मे उसके अतिचार लग जाते हैं।

(क) पांच अणुव्रत

स्थूलहिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह इन पाचो पापो के त्याग करने को पाँच अणुव्रत कहते हैं। वे निम्न है—

१. अहिंसाणुव्रत

कषाय भाव पूर्वक मन-वचन-काय और कृत-कारित अनुमोदना से त्रस जीवो को मारना स्थूल हिंसा कहलाती है। उसके त्याग करने वाले के प्रथम अहिंसाणुव्रत होता है। इस प्रतिमा का धारी यद्यपि स्थावर जीवो की हिंसा का त्यागी नही होता है तथापि स्थावर हिंसा से उसका दिल कांपने लगता है जिससे वह व्यर्थ स्थावर हिंसा भी नही करता है।

छेदन, वधन, पीडन, अतिभारारोपण और भोजनपान निरोध ये ५ अहिंसाणुव्रत के अतिचार होते हैं। जो इस प्रकार है —

(१) दुर्भावना से प्राणियो के शरीर के अवयवो को छेदन करना छेदन अतिचार कहलाता है। आभूषण पहनाने के अभिप्राय से बच्चा-बच्ची के कान-नाक का छेदन करना अतिचार नहीं है।

(२) रस्सी, सांकल आदि से किसी प्राणी को दु ख देने की भावना से बांधना वधन अतिचार है। किसी पागल आदि को बांधना अतिचार नही है, क्योकि उसमे बांधने वाले की दुर्भावना नही है। पालतू पशुओ को ढीला बांधना चाहिये जिससे उनको कष्ट न हो। बांधने का ढग ऐसा हो कि आग लगने आदि विपद् काल मे वे स्वय छूट कर अपनी रक्षा कर सके।

(३) दुर्भावना से बेत, चाबुक आदि से किसी प्राणी को चोट पहुँचाना पीडा नामक अतिचार होता है। शिक्षा देने के लिये अगर मास्टर उद्दड विद्यार्थी को चपेट आदि से हलकी ताडना देता है तो वह अतिचार नही है।

(४) जानवरों आदि पर उनकी सामर्थ्य के अतिरिक्त बोझा लादना अतिभारारोपण अतिचार है।

(५) अपने आश्रित प्राणियो को यथा समय आहार पानी न देना भोजनपान निरोध नाम अतिचार है।

२. सत्याणुव्रत

जो जानबूझकर स्थूल झूठ को न तो आप बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है तथा न केवल असत्य ही किन्तु सत्य भी ऐसा नही बोलता जिससे सुनने वालो को पीडा पहुँचती हो वह सत्याणुव्रती कहलाता है। यह अणुव्रत का दूसरा भेद है। यहाँ स्थूल झूठ का अर्थ है वह मोटी झूठ जो राजदण्ड के योग्य हो तथा लौकिक दृष्टि मे निद्य हो, जिसमे विश्वास दिला कर धोखा दिया जाता हो।

परिवाद, रहोभ्याख्यान, पैशून्य, कूटलेखकरण, और न्यासा पहारिता ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार (दोष) हैं। जो इस प्रकार हैं—

(१) निंदा करना, गाली निकालना परिवाद नामक अतिचार है।

(२) किसी की गुप्त बात को प्रकाशित करना, यह रहोभ्याख्यान अतिचार है। इससे जिसकी गुप्त बात प्रगट होती है, उसे दुःख होता है।

(३) चुगली खाना यह पैशून्य अतिचार है।

(४) कपट से ऐसी तहरीर लिखना जिसका अर्थ सत्य-असत्य दोनो निकल सकता हो, जैसा कि युधिष्ठिर ने

"अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा" बोल कर चालाकी की थी, इसे कूटलेखकरण अतिचार कहते हैं।

(५) बेईमानी से किसी की धरोहर का आंशिक हरण करके भी अपनी बेईमानी का पता न पड़ने दें, ऐसी वाग्जाल को न्यासापहारिता अतिचार कहते हैं।

३. अचौर्याणुव्रतः

बिना दिये पर द्रव्य को चाहे वह कहीं रक्खा हो, गढा हो, या गिर गया हो या भूला हुआ हो उसे लोभवश स्वयं न लेना और न दूसरो को देना यह तीसरा अचौर्याणुव्रत कहलाता है। बाप दादो के मर जाने आदि पर जिस कौटुंबिक संपत्ति पर अपना वाजिब हक पहुँचता हो उसे बिना दिये-लेने मे इस अणुव्रती को चोरी का पाप नही लगता।

चौर प्रयोग, चौरार्थादान, विलोप, सदृशसम्मिश्र और हीनाधिक विनिमान ये ५ अचौर्याणुव्रत के अतिचार होते है जो इस प्रकार हैं—

(१) घडाई-सिलाई, व्यापारादि का पेशा करने वाले सुनार, दरजी, व्यापारी (क्रय-विक्रय करने वाले) आदि लोग किस तरकीब से आँखो में धूल झोंककर जनता को ठगते हैं। सुनार सोना चुराता है, दरजी कपडा चुराता है और व्यापारी असली घी मे डालडा या जीरे आदि मे विजातीय द्रव्य मिला देते है। यहा तक कि साफ नकली वस्तुओ को भी असली बताकर उन्हे असली के भावों मे बेच देते है। उनके इन हथकण्डो का पता तक वे नही लगने देते हैं। अचौर्याणुव्रत का

धारी खुद तो ऐसा काम नही करता है किन्तु ऐसी वचकता की विद्या अगर वह अपने भाई-बेटे-मित्रो को बताता है तो उसके चोरप्रयोग नामक अतिचार लगता है।

(२) जान बूझकर चोरी का माल लेना चौरार्थादान अतिचार कहलाता है।

(३) सरकारी टेक्स की चोरी करना, टेक्स जितना जुडे उससे थोडा देना या देना ही नहीं अथवा राज्य विप्लव के समय सरकारी नियन्त्रण से निकलकर मनमानी तौर पर पराये धन को हडपने का प्रयत्न करना विलोप नामक अतिचार है।

(४) अनुचित लाभ उठाने के लिये बहुमूल्य की वस्तुओ मे उसी रग रूप वाली अल्पमूल्य की वस्तुये मिला कर उन्हे बहुमूल्य मे बेचना या उनका वजन बढाने को उनमे अन्य वस्तु का मिश्रण कर देना, जैसे दूध मे पानी, अनाज मे ककरी मिला देना आदि। इसे सदृशसम्मिश्र अतिचार कहते हैं।

(५) न्यूनाधिक नाप, बाट तराजू आदि से लेन-देन कर उनसे अनुचित लाभ उठाना यह हीनाधिक विनिमान अतिचार है।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत

जो पाप के भय से (न कि राजादि के भय से) न तो पर स्त्रियो को आप सेवन करता है और न दूसरो को सेवन कराता है। किन्तु अपनी विवाहिता स्त्री मे सन्तोष रखता है उसके ब्रह्मचर्याणुव्रत होता है।

अन्य विवाहकरण, अनगक्रीड़ा, विटत्व, विपुलतृष्णा,

और इत्वरिकागमन ये ५ ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार है जो इस प्रकार है—

(१) अपने कुटुम्ब से भिन्न गैरो का विवाह करना अन्य विवाहकरण अतिचार होता है।

(२) काम-सेवन के अगो को छोड अन्य अगो मे या अन्य अगो से काम-क्रीडा करना, जैसे हस्त-गुदा मैथुनादि, वह अनग क्रीडा अतिचार है।

(३) काय की अश्लील चेष्टा व भड वचन बोलना विटत्व नाम अतिचार है।

(४) कामवासना की तीव्रना होना विपुलतृष्णा अतिचार है। गर्भवती, रज स्वला, प्रसूतियुक्त रोगिणी, बालिका, वृद्दा, ऐसी अपनी स्त्री हो उसका भी सेवन इस अतिचार मे शामिल है।

(५) व्यभिचारिणी स्त्री से लेन-देन, हसी विनोद करना, उसके यहा आवागमन रखना इत्वरिकागमन अतिचार है। उसका सेवन करना तो अनाचार है।

५ परिग्रह—परिमाण व्रत

धन-धान्यादि १० प्रकार के परिग्रहो का परिमाण करके उससे अधिक मे वांछा नही रखना, इसे परिग्रह परिमाण व्रत कहते है।

अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारवहन ये परिग्रह-परिमाण व्रत के ५ अतिचार हैं जो इस प्रकार हैं —

(१) अधिक लाभ उठाने की दृष्टि से बैलादिको को बहुत लबे समय तक चलाना, दौडाना, जोतना अतिवाहन अतिचार है।

(२) विशेष लाभ की आशा से अधिक काल तक धान्यादि का अधिक सग्रह रखना अतिसग्रह अतिचार है।

(३) दूसरो के अधिक नफा देखकर, चकित होकर पछताना कि हाय यह व्यवसाय हम भी करते तो आज हम भी मालोमाल हो जाते। यह अतिविस्मय अतिचार है।

(४) अच्छा लाभ मिलने पर भी और अधिक लाभ की लालसा रखना अतिलोभ अतिचार है।

(५) लोभवश किसी पर उसकी शक्ति से अधिक बोझा लादना अतिभारवहन अतिचार है।

अणुव्रतो के पालने का फल

पंचाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमण· फलति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुण, दिव्य शरीरं च लभ्यते॥

अर्थात निरतिचार रूप से पालन किये गये पाच अणुव्रत निधि स्वरूप हैं। और वे उस सुर-लोक को फलते हैं जहा पर 'अवधि ज्ञान, अणिमादि ८ ऋद्धियें और दिव्य शरीर प्राप्त होते है।

(ख) तीन गुण व्रत

दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, और भोगोपभोग परिमाणव्रत ये तीन गुण व्रतो के नाम हैं। इनके धारण करने से अणुव्रत कई गुणे बढ जाते हैं। इसलिये इनका नाम गुणव्रत है।

१. दिग्व्रत:

दिशाओं को मर्यादित करके जो पापो की निवृत्ति के अर्थ मरणपर्यंत के लिए यह सकल्प करना कि-मै दशो दिशाओ मे अमुक-अमुक दिशा मे इतने-इतने क्षेत्र से वाहर नही जाऊँगा। इसे दिग्व्रत कहते हैं। यह मर्यादा प्रसिद्ध नदी, पर्वत, वन, देश, नगर और समुद्र को लक्ष्य करके की जाती है, तथा योजनो की गिनती से भी की जाती है। इस दिग्व्रत से मर्यादा के वाहर स्थूल-सूक्ष्म सभी तरह के पापो की निवृत्ति हो जाने के कारण अणुव्रत हैं वे पंच महाव्रतो की परिणति को प्राप्त हो जाते है

२. अनर्थ दण्ड व्रत:

मर्यादा के भीतर भी निरर्थक और अति अनर्थ कारक पाप योगो से वचते रहना अनर्थ दण्ड व्रत कहलाता है। उसके पाच भेद निम्न प्रकार है—

(१) ऐसी वातें सुनाना जिससे सुनने वालो की प्रवृत्ति हिंसामय व्यापारो, आरभो और ठगाई करने आदि मे हो जाये, उसे पापोपदेश नामक प्रथम अनर्थ दण्ड कहते है।

(२) बिना प्रयोजन फरसा, तलवार, गेती, फावडा, अग्नि, अन्य आयुध, विष, साकल आदि हिंसाकारक पदार्थों का किसी को मागे देना या दान करना हिंसा दान नामक दूसरा अनर्थदण्ड हैं।

(३) द्वेषभाव से किसी के वध, बन्धन, च्छेद, क्लेशादिका चिंतन करना और रागभाव से पर स्त्री आदि के रूप श्रृंगारादिका चितवन करना अपध्यान नामक तीसरा अनर्थ दण्ड हैं।

(४) जिन पुस्तको के पढ़ने सुनने से आरम्भ-परिग्रह मे लालसा, दु.साहस मिथ्यात्व, रागद्वेष, मान, कामवासना आदि दुर्भाव पैदा होते हैं, उनका पढ़ना-सुनना चौथा दुश्रुति नाम अनर्थदण्ड है।

(५) व्यर्थ ही जमीन खुरचना, जल को उछालना-छिडकना, आग सुलगाना, पखा करना, वनस्पति को वृक्ष से तोडना-छेदन-भेदन करना, सैर-सपाटा करना, हाथ-पैर हिलाना और कुत्ता-बिल्ली आदि हिंसक जीवो को पालना, यह सब प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है।

३ भोगोपभोग परिमाण व्रतः

जो एक बार भोगने मे आये जैसे अशन, पान, विलेपनादि वे भोग पदार्थ कहलाते हैं, और जो बार-बार भोगने मे आये जैसे, वस्त्र, आभूषणादि वे उपभोग पदार्थ कहलाते हैं। इस प्रकार भोग और उपभोग दोनो ही प्रकार के पदार्थों में इन्द्रियों की विषयासक्ति को घटाने के लिये चाहे वे प्रयोजनीय ही क्यो न हो तथापि उनकी संख्या का किसी नियत काल तक निर्धारित कर लेना कि इतने पदार्थ इतने समय तक नही सेवन करूंगा या अमुक-अमुक पदार्थो का शीत ऋतु मे ही अथवा ग्रीष्मऋतु आदि मे ही सेवन करूंगा, इस प्रकार निषेधमुख या विधिमुख दोनो ही तरह से नियम करना भोगोपभोग परिमाण व्रत नामक तीसरा गुण व्रत है। पहिले परिग्रह परिमाण व्रत में जितनी वस्तुओ का परिमाण किया था, वह परिमाण इस व्रत मे कुछ काल के लिये और भी कम हो जाता है जिससे उसके अणुव्रत वृद्धिगत हो जाते हैं।

अलावा इसके इस व्रत के धारी को उन भोगोपभोगो का भी त्याग करना होता है जिनमे त्रसजीवो का घात होता हो, अनन्त स्थावर जीवो का घात होता हो, जो मादक (नशाकारक) हो, अनिष्ट हो और अनुपसेव्य हो।

बीधा अन्न, बेर, (बदरी फल) सडेफल, बासी भोजन, नीमकेतकी के फूल, मर्यादा बाहर का आटा (आटे की मर्यादा शीतऋतु मे ७ दिन, ग्रीष्म मे ५ दिन, वर्षाऋतु मे ३ दिन की है। तदुपरांत उसमे त्रस जीवो की उत्पत्ति शुरू हो जाती है) रात मे बनाया भोजन, चर्मपात्र मे रक्खा घृत-तेल-जलादि द्रव द्रव्य, इकलगे सिघाडे-पिस्ता-चिरोजी-छुवारा-जायफल-सू ठ-इलायची आदि, द्विदलान्न या द्विदलान की बनी वस्तुओ को गोरस (दही, दूध, छाछ) के साथ खाना, बहुत दिनो का अचार, प्रसिद्ध २२ अभक्ष्य, जलेबी, फाल्गुण बाद के तिल इत्यादि वस्तुओ मे त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। अतः इनके भक्षण का तो यावज्जीवन त्याग करना होता है।

तथा कन्दमूल, आदो, आलू, गाजर, मूली, सकरकद, सूरण, गीली हलदी, प्याज, गिलोय, मू ग-चणा आदि जिनमे अ कुर फूट निकले हो, इत्यादि हरी वनस्पतियो को आगम मे अनन्तकाय माना है। प्राय: प्रत्येक जीव का अपना २ अलग २ शरीर होता हैं। परन्तु उक्त वनस्पतियो मे अनन्त जीवो का एक ही शरीर होता है, जिससे ये अनन्तकाय कहलाती है। इनका भक्षण करने से अनंतानत एकेन्द्रिय जीवों का घात होता हैं। अतः इनका भी आजीवन त्याग कर देना आवश्यक है। आगम मे मद्य-मांस की तरह मक्खन को भी महाविकृति कारक माना है, अत- यह भी अभक्ष्य है, तथा मादक वस्तुये-भाग,

धतूरा, अफीम, गांजा आदि को भी त्याग देना चाहिये। जो हिंसाजनक भी न हो और मादक भी न हो किंतु अपनी प्रकृति के अनुकूल न हो अर्थात जिनके खाने से अपने बीमारी पैदा होती हो वे अनिष्ट वस्तुयें कहलाती हैं उनका भी त्याग होना चाहिये। क्योंकि बिना प्रतिज्ञा किये योही किन्ही वस्तुओ को सेवन नही करने से व्रत नही होता है और उसका फल भी नही मिलता है। अयोग्य विषयो का तो त्याग करना लाजिमी है ही किन्तु योग्य विषयो का भी प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करना चाहिये इसी को व्रत कहते हैं। स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड मे कहा है—"अभिसंधिकृता, विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रत भवति" ॥

कुछ चीजे ऐसी भी होती हैं जो निर्दोष होने के साथ २ अपने लिये अनिष्ट भी नही है किन्तु उत्तम पुरुषो के सेवन योग्य नही होती हैं, उन्हें अनुपसेव्य कहते हैं। धूम्रपान, गोमूत्र, ऊटनी का दूध, शखचूर्ण, लहसन, जरदा, उच्छिष्ट आहार, रज स्वला आदि स्पर्शित भोजन-पान, सूवासूतक युक्त गृह का आहार, अनार्यो की वेषभूषा, अश्लील भंड वचन बोलना या वैसे गीत गाना, अशुद्धचर्या-गदा रहना इत्यादि अनुपसेव्यो का भी त्याग कर देना चाहिये।

जीभ के थोडे से स्वाद के लिये त्रसजीवो और अनन्त स्थावर जीवो की हिंसा करके घोर पाप कर्मो का बन्ध करना श्रावक के लिये किसी भी तरह से उचित नही है।

(ग) चार शिक्षा व्रत :

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोपधोपवास, और वैयावृत्य ये ४ शिक्षाव्रत हैं। इनसे महाव्रतो की ओर बढ़ने की शिक्षा

मिलती है, जिससे इनका नाम शिक्षाव्रत है।

(१) **देशावकाशिक व्रत**—दिग्व्रत मे यावज्जीवन के लिये जितने क्षेत्र का परिमाण रक्खा था उसे गांव, नदी, आदि को लक्ष्य करके काल की मर्यादा से घटाते रहना, जैसे आज या इतने दिन-मास तक मै अमुक नदी, खेत, गांव, घर आदि से आगे नही जाऊगा इसे देशावकाशिक व्रत कहते है। यह व्रत नित्य रहता है यानी इस व्रत के धारी को एक दफे क्षेत्र की मर्यादा जितने समय तक के लिये की है उस समय के समाप्त होने पर फिर काल परिमाण से नई मर्यादा करते रहना आवश्यक है। इस व्रत मे उतने काल तक के लिये मर्यादा के बाहर के क्षेत्र मे व्रती के सभी प्रकार के पाप छूट जाते है। वह वहा की अपेक्षा महाव्रतो का साधक वन जाता है।

(२) **सामायिक व्रत**—किसी विवक्षित समय तक पांचों पापों का सर्वथा त्याग कर कायवचन की प्रवृत्ति और मन की व्यग्रता को रोककर वन, मकान, या चैत्यालय मे जहाँ भी एकांत–निरूपद्रव स्थान हो वहाँ प्रसन्नचित्त होकर सब तरह के दुध्यानो को छोडता हुआ एकाग्र मन से बैठकर या खडे होकर परमात्मा की स्तुति, वदना करना, उनके गुणो का स्मरण व बारह भावनो का चितन आदि शुभ ध्यान मे लगे रहना सामायिक नाम शिक्षाव्रत कहलाता है। यह सामायिक प्रोषध के दिन करे या नित्य भी कर सकता है। सामायिक मे शीतोष्ण को, दशमशक आदि परीषहो को और अन्य कोई उपसर्ग आवे तो उसको भी निश्चल होकर शात भाव से सहना चाहिये। इसका अभ्यास महाव्रती बनने मे सहायक होता है। इसमे वस्त्र के सिवा कोई परिग्रह नही रहता है और आरभ भी सब छूट

जाते है। अत सामायिक धारी श्रावक को उतने काल के लिये एक ऐसे मुनि की तरह समझना चाहिये जैसे किसी ने वस्त्र डालकर मुनि पर उपसर्ग किया हो।

(३) **प्रोषधोपवास व्रत** —एक मासमे दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ऐसे चार पर्व-दिन माने जाते है। पर्वदिन से पूर्वोत्तर दिन मे मध्यान्ह मे एक बार भोजन करके धारणा, पारणा करना और पर्व के दिन मे सब प्रकार का भोजनपान, छोडकर समय को निरालसी होकर ध्यान, स्वाध्याय या उपदेश मे विताना यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है, यह उपवास धर्मकामना से (सवर निर्जरा के ध्येय से) किया जाना चाहिये न कि मत्रसिद्ध, लघन आदि के उद्देश्य से। प्रोषधोपवास के काल मे पचपापो का त्याग करने के साथ ही साथ श्रृगार-करना, सुगन्ध लगाना, पुष्पमाला पहिनना, स्नान करना, अजन लगाना, तमाखू सूघना आदि नस्य, दातो का मजन, उद्योग, धधा, नृत्य गीत आदि को त्याग देना चाहिये और पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये।

(४) **वैयावृत्य व्रत**.—सम्यग्दर्शनादि गुणो के धारी, गृहत्यागी, निष्परिग्रही, निरारभी साधु को केवल धर्मभावना से भक्ति पूर्वक यथाशक्ति आहार, औषध, उपकरण और वसतिका प्रदान करके तथा गुणानुराग से उन सयमियो की पग चपी आदि रूपसे जितनी भी सेवा अपने से बन मके करके उनका कष्ट निवारण करना वैय्यावृत्य नामक चौथा शिक्षा-व्रत है। इस वैय्यावृत्य से गृहस्थ के कामधधो से सचित हुए पाप धुल जाते हैं साधुओं को दिया हुआ थोडा भी दान बहुत फलका कारण होता है। जैसे बड के छोटे से बीज को वोने से बहुत छाया व बहुत फलवाला वट वृक्ष पैदा होता है। ग्रथातरो मे

आहार, औषध, शास्त्र और अभय ऐसे ४ दान लिखे हैं। स्वामी समतभद्राचार्य ने शास्त्रदान-अभयदान के स्थान मे उपकरणदान-वसतिका दान लिखा है। शास्त्र ज्ञानोपकरण है अत उपकरण दान मे शास्त्रदान आ जाता है। पीछी सयमोपकरण है उसका अतर्भाव अभयदान मे हो सकता है। वसति का दान भी अभय-दान ही है। उसके अतर्गत जिनालय, धर्मशाला आदि भी आ सकते है। ज्ञानदान की अपेक्षा उपकरण दान का कुछ अधिक व्यापक क्षेत्र है। कमडलु (जलपात्र) पूजा के उपकरण, जाप करने की माला, प्रातिहार्य्य, मंगलद्रव्य, पाटा, चौकी, मेज, चदोवा, बिछायत आदि पदार्थो के दान का अतर्भाव उपकरण दान मे ही हो सकता है। जघन्य-मध्यम पात्रो को वस्त्रादि देना भी उपकरण दान मे ही शुमार किया जा सकता है, क्योकि-दानादि से वैयावृत्य केवल उत्तम पात्रमुनियो की ही नही की जाती है किन्तु अवरित सम्यग्दृष्टि और देशव्रती श्रावको की भी की जाती है जोकि जघन्य और मध्यम पात्र माने जाते है। साधारणजनो और दीनजनो के लिए उपकार व करुणा बुद्धि से प्याऊ, औषधालय, अनाथालय, सदाव्रत आदि भी दान के क्षेत्र हैं।

३. तीसरी सामायिक प्रतिमा :

सामायिक मे सामायिक दंडक व चतुर्विंशतिस्तव के पाठ बोलने के साथ-साथ तीन-तीन आवर्तों का चार बार करना, चार प्रणाम करना, ऊर्ध्व कायोत्सर्ग और २ उपवेशन इत्यादि अनुष्ठान किया जाता है जिसकी विशेष विधि शास्त्रो से समझनी चाहिये। वह सामायिक पहले शिक्षाव्रतो मे दूसरी प्रतिमा के स्वरूप वर्णन मे कह आये हैं वही यहा तीसरी प्रतिमा

मे विशेष रूप से की जाती है। वहा उसे पर्व के दिनो मे करना या नित्य करना यह व्रती की इच्छा पर छोड दिया था और वहाँ तीनो सध्याओ मे करने का भी कोई खास नियम न था। दिन मे एक बार भी कर सकता था, और उसके अनुष्ठान मे कभी अतिचार भी लग जाता था। अब इस प्रतिमा मे नित्य, त्रिकाल निरतिचार रूप से सामायिक करना आवश्यक होता हैं।

४. चौथी प्रोषध प्रतिमा

प्रोषध का स्वरूप ऊपर शिक्षाव्रतो मे बता आये हैं। वहाँ इस व्रत मे कभी कुछ त्रुटियाँ भी हो जाया करती थी। और वहाँ ऐसा पक्का नियम भी न था कि-हर पर्व मे १६ पहर ही अनशन मे बिताया जावे। कभी-कभी धारणे-पारणे के दिन एकाशन न करके केवल पर्व के खास दिनो मे ही उपवास कर लिया जाता था। किन्तु इस चौथी प्रतिमा मे प्रोषधव्रत पूरी शक्ति के साथ पूर्णरूप से पूरे काल तक निरतिचार पाला जाता हैं।

५. पांचवीं सचित्तत्याग प्रतिमा :

वनस्पति के अधिकतया ८ अग होते है—मूल, फल, शाक, शाखा, कूपल, कद, पुष्प और बीज। जो दयालु श्रावक वनस्पति के इन ८ अवयवो को सचित्त (हरी) अवस्था मे नही खाता है और यथाशक्य स्थावर काय की भी विराधना नही करता है, वह सचित विरत पद का धारक होता है।

६ छठी रात्रिभक्तविरत प्रतिमा :

अन्न, पान, खाद्य, लेह्य ऐसे ४ आहार के भेद हैं। धान्य

से बना भोजन रोटी-पुडी आदि अन्न कहलाता है। लड्डू, पेडा, बर्फी, पाक, मेवा, फलादि खाद्य कहलाता है। जल, दुग्ध, शर्बत, आम्ररस, इक्षुरस आदि पान कहलाता है। चटनी, रबडी, आदि लेह्य कहलाता है। इन चार प्रकार के भोज्य पदार्थों को जीवो पर अनुकपा करने वाला जो श्रावक रात्रि मे नही खाता है वह रात्रिभक्त विरत पद का धारक होता है।

यद्यपि रात्रिभोजन जैसे महापाप का त्याग तो प्रथम प्रतिमा मे ही हो जाता है किन्तु वहाँ कभी-कभी रात्रि मे जल, औषधादिक ले लेता था और दूसरो को रात्रि मे भोजन जिमा भी देता था। वे सब त्रुटिया इस प्रतिमा मे नही रहती हैं अथवा ग्रथांतरो मे रात्रिभक्त व्रत का दूसरा अर्थ यह किया है कि–जिसके रात्रि मे ही स्त्री सेवन करने का नियम हो, दिन मे उसका त्याग हो वह रात्रिभक्तव्रत का धारी कहालता है। भक्त शब्द के भोजन और सेवन इन दो अर्थों को लेकर इस प्रतिमा का स्वरूप दो तरह से बताया गया है।

७ सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा :

जिस स्त्री के शरीर मे कामीजन रति करते हैं, वह शरीर मल से उत्पन्न हुआ है, मल को पैदा करने वाला है, दुर्गंधित और मलो से भरा हुआ होने से घिनावना है। इस प्रकार के शरीर को देखकर जो श्रावक मैथुन कर्म से विरक्त हुआ स्त्रीमात्र का त्याग कर देता है, वह ब्रह्मचारी सातवी प्रतिमा का धारी होता है इस प्रतिमाधारी के परस्त्री सेवन का तो पहिले ही त्याग था। अब वह इस प्रतिमा मे स्वस्त्री सेवन का भी त्याग कर देता है।

८वीं आरम्भ त्याग प्रतिमा :

जो श्रावक नौकरी, खेती, व्यापारादि ऐसे आजीविकाओ को त्याग देता है जिनसे जीव हिंसा होती हो, वह आरम्भ त्याग नाम ८वी प्रतिमा का धारी माना जाता है।

९वीं परिग्रह त्याग प्रतिमा :

जिसके १० प्रकार के बाह्य परिग्रहो मे ममत्व छूट जाने से जो सन्तोषपरायण बन गया है ऐसा श्रावक परिग्रह परिमाण व्रत मे जितने परिग्रह का परिमाण कर रक्खा था उससे भी जिसके विरक्त भाव पैदा हो गये है। इसलिये उनमे से जो अल्प मूल्य के थोडे वस्त्र-पात्रादि रखकर शेष का त्याग कर देता है, वह परिग्रह त्याग प्रतिमा धारी श्रावक माना जाता है।

१०वीं अनुमति त्याग प्रतिमा :

इस पद का धारी श्रावक आरभ, परिग्रह-ग्रहण, और विवाहादि लौकिक कार्यों को करना तो दूर रहा उनमे अपनी अनुमति भी नही देता है। वह ऐसा उदासीन रहता है कि— परिवार के लोग इन कार्यों को करो या न करो उन पर उसका कोई लक्ष्य ही नही जाता है। इस प्रतिमा का धारी चैत्यालय मे स्वाध्याय करता हुआ जब मध्याह्न वदना से निपट जाता है उस वक्त बुलाया हुआ जाकर या तो अपने घर मे भोजन करता है या अन्य साधर्मी के घर मे भोजन करता है। इस उद्दिष्ट भोजन को भी जल्दी से जल्दी छोड़ देने की भावना करता रहता है।

११वीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा :

इस पद को धारण करने के लिये घर छोडना पडता है और गुरु के पास जाकर ही यह पद ग्रहण करना पडता है। इस प्रतिमा का धारी अनुद्दिष्ट भिक्षा भोजन करता है, तपस्या करता है, गुरु के सघ मे रहता है और खड वस्त्र रखता है। खंडवस्त्र का अर्थ है या तो लगोट मात्र रखता है या ऐसी एक छोटी चादर रखता है जिसे पैर पसार कर ओढी जाये तो पूरा शरीर ढका नही जा सके। इस प्रतिमा के धारी को उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं। क्षुल्लक भी इसी का नाम है।

यहाँ तक श्रावक धर्म की सीमा है। इससे आगे निर्वस्त्र रूप मे मुनि का धर्म शुरू होता है। इन प्रतिमाओ के विषय मे विशेष यह समझना चाहिये कि-जो जिस प्रतिमा का धारी होता है उसे उससे नीचे की सब प्रतिमाओ का आचार पालना जरूरी होता है।

आयु के अन्त मे सभी तरह के श्रावको को सल्लेखना से मरण करना आवश्यक होता है। इस प्रकार यहाँ दिगम्बर जैन शास्त्रों के अनुसार सक्षेप मे श्रावक धर्म का स्वरूप निरूपित किया गया है।



२३

पं० टोडरमलजी का जन्मकाल तथा उनकी एक और साहित्यिक रचना

प्राचीन हिन्दी गद्य के साहित्यकारो मे पडित प्रवर टोडरमलजी साहब का नाम सर्वोपरि है। यदि वे गोम्मटसारादि सिद्धात ग्रन्थो की वचनिका नही बनाते तो आज के जिज्ञासुओ को इतनी विशदता से सैद्धातिक ज्ञान का लाभ नही होता। टीका ग्रन्थो के अतिरिक्त "मोक्षमार्ग प्रकाशक" जैसा हिन्दी मे अपूर्व स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर तो आप अपना नाम ही अमर कर गये हैं।

आपके देहान्त की दु खद घटना वि स १८२४ के लगभग घटी है। इस घटना का वर्णन कवि बखतरामजी साह कृत "बुद्धि विलास" नाम ग्रन्थ मे मिलता है। बखतरामजी मूलत चाटसू के निवासी थे। तदुपरात वे सवाई जयपुर मे रहने लगे थे—

आदि चाटसू नगर के वासी तिनिको जान।
हाल सवाई जयनगर माहि बसे है आन॥

उन्होने बुद्धि विलास को वि० स० १८२७ मे पूर्ण ।क्रम

था।● अत वे भी प टोडरमलजी के वक्त मे ही हुये थे इसीसे उनकी मृत्यु घटना की उनको पूरी जानकारी थी। बुद्धि विलास मे उन्होने इस घटना का वर्णन "अथ कलिकाल दोषकरि उपद्रव वर्णन" ऐसा शीर्षक देकर हिन्दी छन्दो मे किया है। (पृष्ठ १५१) उनके कथनानुसार माधव सिंह जी के वक्त में जयपुर और उसके आस-पास वि० स० १८१८ से लेकर १८२६ तक के समय मे दि० जैनो पर तीन वार घोर उपद्रव हुये है। वि० स० १८१८ मे राजा माधवसिंहजी ने एक श्याम नाम के तिवाडी व्राह्मण का राजगुरु के पद पर स्थापन किया था। अत उसीने जैनो पर उपद्रव किया, जिसमे अनेक जैन मन्दिरों का विध्वस किया गया। यह जैनो पर प्रथम उपद्रव था। उसका वृत्तात इस प्रकार दिया है—

अमलराज को जैनी जहाँ, नाम न ले जिनमत को तहाँ ॥
अबावति (आमेर) मे एक श्याम प्रभु के देहुरे।
रही धर्म की टेक वच्यो सु जान्यो चमत्कृत ॥१२६४॥
कोऊ आधो कोऊ सारो, वच्यो जहाँ छत्री रखवारो।
काहू मे शिवमूरति धर दी, ऐसी मची श्याम की गरदी ॥१२६५॥

यह विध्वंस लीला अधिक समय तक नही चल सकी। अकस्मात् उस राजगुरु श्याम तिवाडी पर राजा ने कुपित होकर उसे देश से निकाल दिया। और राजाज्ञा से जैनायतनो की क्षति पूर्ति होकर पूर्ववत् पुन जैनी लोग अधिकाधिक धर्मोत्सव करने लग गये। उसीके परिणाम स्वरूप वि० स० १८२१ मे जयपुर में

● यह ग्रन्थ "राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर" मे प्रकाशित हुआ है। मूल्य ३) रु० ७५ नये पैसो मे वही से मिलता है।

इन्द्रध्वज पूजा का ऐसा महान् उत्सव किया गया कि जिसमे ६४ गज का लम्बा चौडा तो केवल एक चबूतरा ही मडल रचना के अर्थ बनाया गया था। राज्य का भी तब उस काम मे पूरा सहयोग था। ऐसा ब्र० रायमल्लजी की लिखी उस उत्सव की पत्रिका से जाना जाता है। (जैनियो के ये समारोह तत्कालीन ब्राह्मण समाज को सहन नही हो रहे थे। इसलिये उनकी तरफ से जैनियो के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा गया, जिसमे ब्राह्मणो ने अपनी शिवमूर्ति उठाने का इल्जाम जैनो पर लगाकर राजा को जैनो से विमुख कर दिया और राजा ने सख्त नाराज होकर जैनो की पकडाधकडी की। तथा उनके प्रसिद्ध प० टोडरमलजी को इस काम मे अगुआ समझ कर उनकी हत्या करवा दी। यह जैनियो पर रोमाचकारी दूसरा उपद्रव था) तदनन्तर फिर जैसे तैसे जैनी लोग रथयात्रा के जलूस निकाल निकालकर नाचने कूदने लग गये तो उससे चिढकर अब के हजारो ब्राह्मणो ने मिलकर झूठमूठ ही शिवमूर्ति उठाने का दोष जैनो पर मढ कर बिना राजा को सूचित किये स्वय ही जैन मन्दिरो को लूटा और वहाँ की मूर्तियो का विध्वस किया। जयपुर मे जैनो पर यह तीसरा उपद्रव वि० स० १८२६ मे हुआ था। इस उपद्रव का हाल "बुद्धि विलास" मे निम्न प्रकार लिखा है—

फुनि भई छब्बीसा के साल,
मिले सकलद्विज लघु रु विशाल।
सवनि मतो यह पक्को कियो,
शिव उठान फुनि दूषन दियो ॥१३०७॥

द्विजन आदि बहु मिले हजार,
बिना हुकम पाये दरबार।

दोरि देहुरा जिन लिय लूटि,
प्रतिमा सव डारी तिन फूटि ॥१३०८॥

काहू की मानी नहि कानि,
कही हुकम हमको है जानि।
ऐसी म्लेच्छनहु नहि करी,
वहुरि दुहाई नृप की फिरी ॥१३०९॥

इस प्रकार प० टोडरमलजी साहव का निधन समय तो एक तरह से निश्चित ही है। परन्तु उनका जन्म समय निश्चित नही है। जिससे हम यह नही कह सकते हैं कि मृत्यु के वक्त उनकी कितनी उम्र थी? प० देवीदासजी गोधा ने अपने चर्चा ग्रंथ मे उनका जन्म सवत् १७९७ दिया है। उसमे भूल मालूम पडती है। क्योकि टोडरमलजी ने लब्धिसार की टीका वि० स० १८१८ मे पूर्ण की है। ऐसा उसकी प्रशस्ति में लिखा है। और ब्र० रायमल जी की चिट्ठी से यह जाना जाता है कि—टोडरमलजी ने गोम्मटसार लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसार इन चार ग्रन्थो की टीका तीन वर्ष मे बनाई है। त्रिलोकसार को छोड शेष ३ ग्रन्थो के सशोधन, प्रतिलिपि उतरवाने आदि कार्यो मे अगर हम २ वर्ष का काल और मान ले तो इसका अर्थ होता है उन्होंने वि० स० १८१३ मे टीकाओ का रचना शुरू किया था। टीकाओ के रचने के पूर्व उन्होंने इन ग्रन्थो का एक दो वर्ष तक मनन चिन्तन भी किया ही होगा। ऐसी हालत मे गोम्मटसारादि ग्रन्थो के पठन का समय उनका वि० सं० १८११ तक पहुँच जाता है। अगर हम उनका जन्म समय वि० स० १७९७ को ही सही मान लेते हैं तो इसका मतलव यह होता है कि वे १४ वर्ष की उम्र मे ही सिद्धात शास्त्रो का मनन करने जैसे हो

गये थे इतनी छोटी उम्र मे ही बुद्धि का इतना विकास नही हो सकता है कि जो वे सिद्धात के रहस्यो का उद्घाटन कर सकें। अगर ऐसी बात होती तो ब्र० रायमलजी अपनी चिट्ठी मे जहाँ टोडरमलजी की अन्य-अन्य प्रशसा लिखी है वहाँ वे यह भी जरूर लिखते कि उन्होने इतना विशाल ज्ञान छोटी उम्र मे ही पा लिया था सो तो रायमल्लजी ने कही ऐसा लिखा नही है। उल्टे उन्होने तो 'इन्द्रध्वजोत्सव की पत्रिका मे यह लिखा है कि "टोडरमलजी की इच्छा और पांच सात शास्त्रो की टीका करने की है सो ऐसा तो आयु की अधिकता होने पर बन सकेगा★ इससे यही फलितार्थ निकलता है कि यदि गोम्मटसारादि की टीका रचनेके वक्त उनकी उम्र१८वर्ष करीबकी होती तो रायमल जी ऐसा नही लिखते। अत. उनका जन्मकाल जो ऊपर वि० स० १७९७ दिया है वह ठीक नही है। आभास कुछ ऐसा होता है कि १७९७ की जगह १७७९ हो सकने की सभावना की जा सकती है। किसी प्रतिलिपिकार के द्वारा प्रमाद से ७९ की सख्या ९७ लिख दी गई। इसको गलत मानने मे एक हेतु यह भी है कि प० टोडरमलजी कृत गोम्मटसार पूजा का निर्माण महाराजा जयसिंह के राज्यकालमे होना लिखा है। वुद्धिविलास मे जयपुर राजवश के राजाओ की क्रमवार नामावली दी है उसमे लिखा है कि- राजा जयसिंह के ईश्वरसिंह और माधवसिंह ये दो पुत्र थे (पृष्ठ २६) छोटे पुत्र माधवसिंह को

★ भाई रायमल्लजी ने एक जगह अपने परिचय मे प० टोडरमलजी को गोम्मटसारादि की टीका बनाने की प्रेरणा देते हुए लिखा है, "तुम या ग्रन्थ की टीका करने का उपाय शीघ्र करो आयु का भरोसा है नही"।

रामपुरे का राज्य दिया गया और जयसिंह के बहुत वर्ष राज्य किये बाद ईश्वरसिंह को राजगद्दी मिली। ईश्वरसिंह के बाद माधवसिंह रामपुरे से आकर जयपुर के राजा बने। यह वर्णन बुद्धिविलास मे निम्न प्रकार किया है—

भये भूप जयसाहि के पुत्र दोय अभिराम।
ईश्वरसिंह भये प्रथम लघु माधवसिंह नाम ॥१६८॥

रामपुरी दुर्ग भान को ताको लेके राज।
दीनो माधवसिंह को सगि दिये दल साज ॥१६९॥

बहुत वर्ष लो राज किय श्री जयसिंह अवनीप।
जिनिके पटि बैठे सुदिनि ईश्वरसिंह महीप ॥१७०॥

बहुरि पाट बैठे नृपति रामपुरे तें आय।
भाई माधवसिंह जू दुर्जन को दुखदाय ॥१७३॥

इस विवरण से जाना जाता है कि जयसिंह के बाद जयपुर मे ईश्वरसिंह ने राज्य किया और उनके बाद माधवसिंह ने राज्य किया। माधवसिंह का राज्यकाल वि० स० १८११ से १८२४ तक का माना जाता है। माधवसिंह के राज्यकाल मे ही टोडरमल्ल जी ने गोम्मटसारादि ग्रन्थो की टीकायें रची हैं। जयसिंह का राज्यकाल वि० स० १७५६ से १८०१ तक का माना जाता है। जबकि गोम्मटसार की पूजा को पडित जी ने जयसिंह के राज्यकाल मे लिखा है तो उनका जन्म स १७९७ मे होना कैसे बन सकता है? जयसिंह के आखिरी राज्यकाल तक ही जब उनकी उम्र ४ वर्ष की थी तो इस उम्र मे साहित्यिक रचना कैसे हो सकती है? अत स० १७९७ मे उनका जन्म मानना सरासर असगत है। गोम्मटसार की टीका लिखने से

पूर्व ही उसकी पूजा बनाना तो असगत नही कहा जा सकता। क्योकि ऐसा तो उनकी गोम्मटसार के प्रति विशेष भक्ति होने से भी हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि महावीर जी अतिशयक्षेत्र से प्रकाशित "राजस्थान के जैन शास्त्रभडारो की ग्रन्थसूची" के ३रे भाग के पृष्ठ १६१ पर प० टोडरमलजी कृत आत्मानुशासन की टीका का रचनाकाल वि० स० १७९६ भादवासुदी २ लिखा है। इससे भी उनका जन्मकाल स० १७९७ मानना गलत सिद्ध होता है। इस वक्त तक यदि हम पडित जी की उम्र १७-१८ वर्ष की भी मान ले तो हमने जो ऊपर उनका जन्म स० १७७९ की कल्पना की है वह ठीक मालूम देता है। (इस ऊहापोह से यह सिद्ध होता है कि जब दुर्घटना से उनकी मृत्यु हुई तब उनकी उम्र ४५ वर्ष के करीब थी।) 卐□

卐 १७९७ की जगह १७६७ भी सभव है। ६ को गलती से ९ पढा गया है। प० देवीदास जी गोधा ने सिद्धांतसार सग्रह की अपनी भाषाटीका के अन्त मे लिखा है कि " प० टोडरमलजी महा बुद्धिमान के पास शास्त्र-श्रवण का अवसर मिला। प० टोडरमलजी के बड़े पुत्र हरिश्चन्दजी और छोटे पुत्र गुमानीरामजी भी उस वक्त थे दोनो महा बुद्धिमान कुशल वक्ता थे जिनके पास भी शास्त्रो के अनेक रहस्य ज्ञातकर ज्ञान प्राप्त किया" (देखो वीरवाणी वर्ष २३अ क ५) इस वक्त को अगर हम श्री प० टोडरमलजी की मृत्यु से कम से कम दो वर्ष पूर्व भी अर्थात् १८२२ भी मान लें तो उस वक्त उनके दो बडे बडे विद्वान पुत्र थे जिनकी आयु ३०-३५ वर्ष भी मान लें तो उस वक्त प० टोडरमलजी की आयु ५५ वर्ष के करीब अवश्य होनी चाहिये अत कम से कम १७६७ मे उनका जन्म सवत् मानना ठीक होगा।

अब तक उनकी ११ रचनाओ का पता लगा है। उनके नाम कालक्रम से इस प्रकार हैं—

आत्मानुशासन टीका, गोम्मटसार पूजा, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, गोम्मटसार जीवकाड-कर्मकांड टीका, लब्धिसार-क्षपणासार टीका, अर्थसदृष्टि, त्रिलोकसार टीका, मोक्षमार्ग प्रकाशक और पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय टीका। इनमे से पिछली दो रचनायें अपूर्ण हैं। वि० स० १८२१ मे लिखी इन्द्रध्वजमहोत्सव की पत्रिका मे ब्र० रायमल्लजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक का उल्लेख किया है अतः यह ग्रन्थ उस वक्त बन रहा था। इसी बीच पडित जी पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय की टीका भी बनाने लग गये थे और अकस्मात् ही वि० स० १८२४ के करीब वे मार दिये गये। फलत उनकी दोनो ही रचनायें अधूरी रह गईं। उनमे से पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की उनकी अधूरी टीका को तो प० दौलत राम जी ने वि० स० १८२७ मे जयपुर मे पूर्ण कर दी। उस वक्त वहाँ पृथ्वीसिंह का राज्य था परन्तु मोक्षमार्ग प्रकाशक उनका स्वतंत्र ग्रन्थ होने के कारण पूरा नही किया जा सकता है।

इन ११ रचनाओ के अलावा एक १२वी रचना उनकी और मिली है वह है हिन्दी गद्य मे समवशरण का वर्णन। यह रचना उन्होने त्रिलोकसार की टीका पूर्ण किये बाद की है और हस्त-

☐ अजमेर के शास्त्रभडार में "सामुद्रिक पुरुष लक्षण" ग्रथ की १ हस्तलिखित प्रति है उसके अन्त मे लिखा हुआ है 'स० १७९३ भादवासुदी १४ के दिन जोबनेर मे प० टोडरमलजी के पठनार्थ प्रतिलिपि की गई"। इन सब प्रमाणो से स्पष्ट सिद्ध है कि उनका जन्म १७९७ में मानना और उनकी मृत्यु अल्पायु मे मानना नितान्त गलत है।

लिखित त्रिलोकसार की प्रतियो मे उनके साथ लगी हुई उपलब्ध होती है। न मालूम मुद्रित त्रिलोकसार मे वह कैसे छूट गई है ?

समवशरण का यह वर्णन हस्तलिखित ९ पत्रो अर्थात १८ पृष्ठो मे किया गया है। उसका आदि भाग ऐसा है -

'बहुरि अठ आगे धर्मसग्रह श्रावकाचार वा आदि पुराण वा हरिवश पुराण वा त्रिलोकप्रज्ञप्ति, या के अनुसार समोशरण का वर्णन करिये हैं सो हे भव्य तू जाणि।

दोहा—

अशरण शरण जिनेश को समवशरण शुभ थान।
ताको वर्णन जानि तुम पावहु चैन सुजान ॥

बीच का कुछ अश —

बहुरि जिस प्रकार यहु अवसर्पिणीकाल विषै तीर्थ करनि के घटता क्रम लिये वर्णन किया तैसे उत्सर्पिणीकाल विषै बधता क्रम जानना। बहुरि विदेह क्षेत्र विषै प्रथम तीर्थंकरवत् जानना। ऐसे समवशरण विषै रचना वा प्रमाण वर्णन त्रिलोक प्रज्ञप्ति, धर्मसग्रह, समवशरण स्तोत्रादिक की अपेक्षा लिखा है। बहुरि कोई रचना वा प्रमाण का वर्णन केई आचार्य अन्य प्रकार कहे है। जैसे कोई सर्व तीर्थकरनि के समवशरण भूमि का प्रमाण बारह योजन ही कहे हैं। अर केई प्रसाद भूमि की रचना न कहे है। इत्यादि रचना प्रमाण विषै विशेष है सो हमारी बुद्धि सत्य असत्य निर्धार करने की नाही तातै केवली देख्या है तैसे प्रमाण है।'

'कोई ऐसा जानेगा कि भगवान् के तो इच्छा नाही।

इच्छा बिना कैसे डग भरै अर कैसे उठै बैठे ? ताका उत्तर-भगवान् के इच्छा ना ही यह तो सत्य है परन्तु भगवान् के शरीरादि वा चार अघातिया कर्म बैठा है ताका निमित्त करि मन वचन काय योग पाइये है। तासो ही भगवान् के मनका प्रदेशा का चचलपना वा वाणी का खिरना, वा शरीर का उठना बैठना वा डग भरना सभवै है, यामे दोष नाहीं। जायगा-जायगा ग्रन्थ विषै कहा है।' अन्तिम अश—

'ऐसे बिहारकर सहित समवशरण का वर्णन सम्पूर्ण।

इति श्री त्रिलोकसार जी श्री नेमीचन्द्र आचार्य कृत मूल गाथा ताकी टीका संस्कृत का कर्त्ता आचार्य ताकी भाषा टीका टोडरमलजी कृत सम्पूर्णम्।'

इस प्रकार पं० टोडरमल्लजीसाब की यह भी एक स्वतत्र कृति मालूम पडती है। मुद्रित त्रिलोकसार के साथ इसके प्रकाशित न होने से लोग उनकी इस कृति को भूल बैठे है।



२४

क्या 'पउमचरिय' दिगम्बर ग्रंथ है ?

विमलसूरिकृत प्राकृत पद्योमे एक 'पउमचरिय' नामका ग्रथ है। जिसे १८ वर्ष पहिले 'जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर' ने छपाया था और जिसका सशोधन प्रोफेसर हर्मनजेकोबी जर्मन ने किया था। यह ग्रन्थ ११८ पर्वो मे विभक्त है जिसमे मुख्यतया रामरावण की कथा है एक तरहसे इसे प्राकृत जैन रामायण कहना चाहिये। ग्रन्थ के अतमे उसका निर्माण समय इस प्रकार लिखा है—

पचेव य वाससया दुसमाए तीसवरिससजुत्ता।
वीरे सिद्धिमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥१०३॥

इस गाथापरसे ऐतिहासिक विद्वान इसे वीर निर्वाण संवत ५३० (विक्रम सवत ६०) मे बना बताते हैं। इससे यह ग्रथ बहुत ही प्राचीन मालूम होता है। समग्र जैन सप्रदाय मे इतना प्राचीन कथा ग्रथ अभी कोई उपलब्ध न हुआ होगा। इस ग्रथ के कर्त्ता अपना परिचय ग्रथात मे इस प्रकार देते है—

राहू नामायरियो ससमयपरसमयगहियसब्भावो
विजओ य तस्स सीसो नाइलकुलवंसनदियरो ॥११७॥

सीसेण तस्स रइयं राहवचरियं तु सूरिविमलेणं ।
सोऊणं पुव्वगए नारायणसीरिचरियाइं ॥११८॥

इन पद्योमे यह सूचित किया है कि स्व समय पर समयमे सद्भाव रखनेवाले 'राहू' नामक आचार्य के एक नागिलवंशज 'विजय' नामके शिष्य थे। उनके शिष्य 'विमलसूरि' ने यह रामचरित्र रचा है।

ग्रन्थकी अंतिम संधिसे यह भी प्रगट होता है कि इस ग्रन्थके कर्त्ता पूर्व धारी थे। वह सन्धि इस प्रकार है—

"इइ नाइलवंसदिणयर राहुसूरिपसीसेण पुव्वहरेण विमलायरियेण विरइय सम्मत्तं पउमचरियं ।"

नागिलवंशके सूर्य जो राहुसूरि उनके प्रशिष्य पूर्वधारी विमलाचार्य रचित पउमचरिय समाप्त हुआ।

अपने दिगंबर संप्रदायमे रविषेणाचार्यकृत पद्मचरितकी भाषा बचनिकाका, जो पद्मपुराणके नाम से मशहूर है काफी प्रचार है। उसके बाबत मैं बहुत दिन पहिलेसे सुन रहा था कि यह प्राकृत पउमचरियसे मिलता हुआ है। अब जब कि वह पद्मचरित माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला द्वारा मूल संस्कृतमे छपा तो उसे पउमचरिय से मिलाने का मुझे अवसर मिला। इसीके साथ मैंने हेमचन्द्राचार्यकृत श्वेतांबर जैन रामायणका हिन्दी अनुवाद तथा स्व० पं० दौलतरामजीकृत पद्मपुराण वचनिका को भी साथ २ मिलान किया है।

इस प्रकार चार ग्रन्थोंको परस्पर निरीक्षण करने से मुझे कितनी ही नई बाते जानने मे आई है। और वह भेद भी कितने

ही अशो मे खुल गया है जो अबतक चला आ रहा था कि 'यह पउमचरिय दिगम्बर ग्रन्थ है या श्वेताम्बर'।

जैन हितैषी भाग ११ मे जैन समाजके ऐतिहासज्ञ विद्वान प० नाथूरामजी प्रेमीका इस सम्बन्धमे एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमे इस ग्रन्थको उस समयका अनुमान किया है जिस समय जैनधर्ममे श्वेताबर दिगबर भेद ही न हुए थे। साथ ही उन्होने लिखा था कि "मैं इसे रविषेणके पद्मचरितसे मिला रहा हू। दोनो सप्रदाय सम्बन्धी कोई खास बात इसमे निकलेगी तो वह आगे प्रकट कर दी जायेगी"। इसके बाद फिर कभी इस सम्बन्ध मे उन्होने लिखा या नही यह मेरे देखनेमे नही आया। सस्कृत पद्मचरितकी भूमिका भी उन्होने लिखी पर वहाँ भी प्रेमीजीने एतद्विषयक कोई प्रकाश नही डाला। इसके अलावा 'खडेलवाल जैन हितेच्छुमे भी किसी विद्वानने इस सम्बन्धमे लेख छपाया था। जिसमे पउमचरियको दिगम्बर ग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की थी। यह बात उन दिनोकी है जब 'हितेच्छु' के सम्पादक प० पन्नालालजी सोनी थे।

मैंने जो इसका यत्किचित् तुलनात्मक ढंगसे निरीक्षण किया है उससे मैं इस नतीजेपर पहुँचा हू कि 'यह ग्रथ न तो उस वक्तका कहा जा सकता है जिस वक्त कि जैनधर्ममे दिगम्बर श्वेताबर भेद ही न हुए थे, और न यह दिगम्बर ग्रन्थ ही है। यही सब खोज आज मैं पाठकोके सामने रखता हू।

यो तो पद्मचरितमें जो कुछ है वह सब पउमचरिय के अनुसार ही है। दोनो ग्रन्थोका रचनाक्रम शब्द और भाव विन्यास अधिकाशमे समानरूपसे पाया जाता है। ऐसा मालूम

होता है कि पउमचरियको सामने रखकर ही उसकी छाया के आधारपर कुछ अधिक विस्तार से पद्मचरित रचा गया है। यहाँतक कि दोनों का नाम भी एक ही है卐 प्रकृत मे जिसे पउंमचरियं कहते हैं उसका ही संस्कृतनाम पद्मचरित है। नमूने के तौर पर दोनो के कुछ अश यहाँ लिख देना ठीक होगा—

देहं रोगाइण्णं जीयं तडिविलसियं पिव अणिच्चं ।
नवरं कव्वगुणरसो जाव य ससिसूरगहचक्कं ॥१७॥
अल्पकालमिदं जंतो शरीरं रोगनिर्भरम् ।
यशस्तु सत्कथाजन्म यावच्चन्द्रार्कतारकम् ॥२५॥
ते नाम होंति कण्णा जे जिणवरसासणम्मि सुइपुण्णा ।
अन्ने विदूसगस्स व दारुमया चेव निम्मविया ॥१८॥
सत्कथाश्रवणौ यौ च श्रवणौ तौ मतौ मम ।
अन्यौ विदूषकस्यैव श्रवणाकारधारिणौ ॥२८॥
तं चेव उत्तमंगं जं घुम्मइ वण्णणांइ सासन्ने ।
अन्नं पुण गुणरहियं नालियरकरकयं चेव ॥२०॥
सच्चेष्टावर्णनावर्णा घूर्णते यत्र मूर्द्धनि ।
अयं मूर्द्धान्यमूर्द्धा तु नालिकेरकरकवत् ॥२६॥
जे वि य सममुल्लावं भणति ते उत्तमा इह ओट्ठा ।
अन्ने सुत्तजलूगा पट्ठोसबुक्कसमसरिसा ॥२४॥

卐 रविषेण ने विमलसूरि की शैली को यहाँ तक अपनाया है कि—पउमचरिय, मे जहाँ पर्वान्त मे विमल, शब्द दिया गया है वहाँ पद्मचरित मे रविषेण ने रवि, शब्द का प्रयोग किया है। दोनो के उद्देश्यों के नाम तक एक हैं।

श्रेष्ठावोष्ठौ च तावेव यौ सुकीर्तनवर्तिनौ ।
न शम्बूकास्यसभुक्तजलौकापृष्ठसन्निधौ ॥३१॥
त पियग्र इवइ पहाण मुहकमल जं गुणेसु तत्तिल्लं ।
अन्नं बिलं व मण्णइ भरिय चिय दन्तकोडाण ॥२६॥
मुख श्रेयः परिप्राप्तेमुख मुख्यकथारतं ।
अन्यत्तु मलसपूर्णं दंतकीटाकुल बिलम् ॥३३॥
जो पढइ सुणइ पुरिसो सामण्णे उज्झमेइ सत्तोए ।
सो उत्तमो हु लोए अन्नो पुण सिप्पियकओ व ॥२७॥
वदिता योऽथवा श्रोता श्रेयसां वचसां नर ।
पुमान् स एव शेषस्तु शिल्पिकल्पितकायवत् ॥३४॥

ये सब पद्य दोनों ही ग्रथके प्रथम पर्वके है । इनमे जो सस्कृतके है वे पद्मचरितके हैं और प्राकृतके है वे पउमचरिय के । आगेके पर्वोंका भी प्राय यही हाल है । इतना सादृश्य होते भी कही २ कुछ कथनभेद भी दोनोमे पाया जाता है । जिसकी तालिका बतौर नमूनेके नीचे दी जाती है—

"पउमचरियमे"

१—'विद्युद्दंष्ट्र मोक्षगया' 'पर्व ५'
२—अजितनाथको दीक्षा लिये बाद १२ वर्षमे केवलज्ञान हुआ । 'पर्व ५'
३—कैकईके भरत, शत्रुघ्न दो पुत्र हुये, दशरथके तीन ही राणिये लिखी हैं–सुप्रभा नामकी चौथी राणीका उल्लेख नही है । 'पर्व २५'
४—अतिवीर्यको पकडने के लिये रामलक्ष्मणके नृत्यकारिणीका स्वाग भवनवासिनी देवीने बनाया । 'पर्व ३७'

५ – वाहुवलीकी राजधानी 'तक्षशिला' है। 'पर्व ४'
६ — संस्थानका जिकर ही नही।
७—रावणकी मृत्यु ज्येष्ठकृष्णा ११ को हुई। 'पर्व ७३ के अतमे'
८—रावण लक्ष्मण चौथे नरक गये 'पर्व ११८'

"पद्मचरितमे"

१—विद्युद्दंष्ट्र स्वर्ग गया।
२—चौदह वर्ष वाद केवलज्ञान हुआ।
३ - सुप्रभाराणीके शत्रुघ्न और केकईके भरतका जन्म हुआ। दशरथके चार राणियें थी जिनके चारो पुत्र हुये।
४—नृत्यकारिणीका रूप स्वयंने वनाया। भवनवासिनीका उल्लेख ही नही है।
५—वाहुवलीकी राजधानी 'पोतनापुर' है।
६—रामचन्द्रजीके न्यग्रोधपरिमंडल सस्थान लिखा है। 'पर्व ४६'
७—मितीका कोई उल्लेख नही है।
८—तीसरे नरक गये 'पर्व १२३'

इन्हे आदि लेकर कुछ और भी जहां-तहां सूक्ष्म फर्क है जो विस्तारभयसे छोडे जाते है। दोनोकी पर्वसख्या भी समान नहीं है। पउमचरियमे ११८ और पद्मचरितमे १२३ पर्व हैं। किन्तु इसके कारण कथनमे रंचमात्र भी भेद नही पडा है। सिर्फ कथनके विभाग करनेमें फर्क है। उसमें भी ५५ पर्वतक तो दोनो एक हैं। आगे ५६, ६७, ६६, और १०७, ११२वा ये ५ पर्व पद्मचरितमे वढाये गये है।

ये तो हुई अन्य २ वातें। अव में पाठकोको पउमचरियमे

से वे बातें बतलाता हू जो इसे श्वेताबर ग्रन्थ होना सिद्ध करती हैं।

पुराने विद्वानोंने जो दिगम्बर श्वेताम्बरके ८४ अन्तर छाटे हैं उनमेसे कितने ही अन्तर इस पउमचरियमे पाये जाते है। जैसे-भगवान्‌की माताको चौदह स्वप्न दीखना, हरिवशकी उत्पत्ति भोगभूमिज युगलसे होना, स्वर्गोकी सख्या १२ मानना और चक्रवर्तीके ९६ हजारसे कम राणिये वताना। ये सब बातें पउमचरियके निम्न पद्योमे देखिये—

१— अह सा सुह पसुत्ता रयणीए पच्छिमम्मि जामम्मि।
पेच्छइ चउदस सुमिणे पसत्थजोगेण कल्लाणी ॥१२॥
'पर्व २१'

अर्थ-मुनिसुव्रतकी माताने रात्रिके पिछले प्रहरमे १४ स्वप्न देखे।

२—सीयल जिणस्स तित्थे सुमुहो नामेण आसि महिपालो।
कोसंबीनयरीए तत्थेव य वीरयकुविंदो ॥ २ ॥
हरिऊण तस्स महिलं वणमाल नाम नरवइ तत्थ।
भुञ्जइ भोगसमिद्धं रईए समयं अणंगो व्व ॥ ३ ॥
अह अन्नया नरिंदो फासुयदाण मुणिस्स दाउण।
असणिहओ उववन्नो महिलासहिओ य हरिवासे ॥४॥
कंताविओयदुहिओ पोट्ठिलयमुणिस्स पायमूलम्मि।
घेत्तूणय पव्वज्ज कालगओ सुरवरो जाओ ॥ ५ ॥
अवहिविसएण नाओ देवो हरिवंस×सभवं मिहुण।
अवहरिऊणय तुरियं चपानयरम्मि आणेइ ॥ ६ ॥

× 'हरिवस' पाठ अशुद्ध है गल्तीसे छप गया मालूम होता है। 'हरिवास' पाठ चाहिये, हरिवश तो अभी पैदा ही नही हुआ तब उसमे

हरिवाससमुप्पन्नो जेण हरिऊण आणिओ इहइ।
तेण चिय हरिराया विक्खाओ तिहुयणे जाओ ॥ ७ ॥
पर्व २१ वां

अर्थ—शीतलनाथके तीर्थमे कोसावी नगरीमे एक सुमुख नामका राजा हुआ। वही 'वीरक' कुविद★ (जुलाहा) रहता था। उसकी वनमाला स्त्रीको राजाने हरकर उसके साथ कामदेवके समान भोग भोगने लगा। एकदिन राजाने मुनिको प्रासुक दान दिया और वह वज्रपातसे मरकर स्त्री सहित हरिवर्ष (भोगभूमिक्षेत्र) मे पैदा हुआ। वह वीरक भी स्त्री वियोगसे दुखी हो पोट्टिल (प्रोष्टिल) मुनिसे दीक्षा ले मरा और देव हुआ। अवधिज्ञानसे जानकर वह देव हरिवर्षमे उत्पन्न उक्त जोडेको हरकर चपानगरीमे लाया। हरिवर्षमे पैदा होने और वहासे हरकर लानेके कारण वह हरि राजाके नामसे विख्यात हुआ (आगे उसीसे हरिवश चला)।

३— सो हम्मीसाण सणंकुमार माहिंदबम्भलोगो य।
लतयकप्पो य तहा छट्ठो वि य होइ नायव्वो ॥३५॥
एत्तो य महासुक्को सहसारो आणवो तह य चेव।
तह पाणओ य आरण अच्चुयकप्पो य बारसमो ॥३६॥
पर्व ७५

जन्म कैसे बताया जासकता है? गाथा ४ व ७ मे 'हरिवास' पाठ है अत यहा भी वही होना ठीक है।

★ इसने मुनि दीक्षा ली है, जुलाहा आम तौर पर नीच जाति होता है इसीलिये पद्मचरितमे वीरकको वणिज लिखा जान पडता है। शूद्र दीक्षाका यह भी दोनों ग्रन्थोमे साम्प्रदायिक खास भेद हो सकता है।

अर्थ—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, छठवा लातव कल्प, आगे महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और बारहवा अच्युत, इस प्रकार १२ कल्प है।

४— "सगरोवि चक्कवट्टी चउसट्ठिसहस्सजुवइकयविहवो"
॥ १६८ ॥ पर्व ५

सगर चक्रीके चौसठहजार स्त्रियोका विभव था (पत्र ७ मे भी इतनी ही राणियें लिखी हैं)

इस प्रकारका कथन श्वेतावर सम्मत है। इसीलिये रविषेणके पद्मचरितमे उन्ही पर्वों और उन्ही प्रकरणोमे बदलकर लिखा गया है। जैसे चौदहके स्थानमे १६ स्वप्ने, १२ के स्थानमे १६ स्वर्ग, और चौसठ हजारकी जगह चक्रीके ९६ हजार राणियें। हरिवंशकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे भी बदलनेकी चेष्टा की गई पर वह पूरी तौरसे बदला न जासका। जैसा कि पद्मचरितके निम्न श्लोकोसे प्रकट है—

जिनेन्द्रे दशमे नीते राजासीत्सुमुखश्रुतिः ।
कौशांब्यामपरोऽत्रैव वणिजो वीरकश्रुतिः ॥२॥
हृत्वा तद्दयितां राजा श्रित्वा काम यथेप्सित ।
दत्वा दानं विरागाणां पुरे हरिपुरसज्ञके ॥३॥
उत्पन्नौ दंपती क्रीडां कृत्वा रुक्मगिरि ययौ ।
तत्रापि दक्षिणश्रेण्यां भोगभूमिसमाश्रितः ॥४॥
दयिताविरहांगारदग्धदेहस्तु वीरकः ।
तपसा देवतां प्राप देवीनिवहसंकुलम् ॥५॥
विदित्वावधिना देवो वैरिण हरिसमत्रं ।
भरतेऽतिष्ठिपद्यात दुर्गति पापधीरिति ॥६॥

यतोऽसौ हरितः क्षेत्रादानीतो भार्यया समं।
ततो हरिरिति ख्यातिं गतः सर्वत्र विष्टपे ॥७॥
'पर्व २१वां'

इनमें लिखा है कि—दशवें तीर्थंकरके तीर्थमे कौशाबीके राजा सुमुखने वीरक सेठकी स्त्रीको हरकर उसके साथ भोग भोगा। फिर मुनिदान दे मरकर हरिपुरमे दपति हुये, जो विजयार्द्धकी दक्षिणश्रेणीमे क्रीडाकर भोगभूमिमे पहुँचे। उधर वीरक स्त्रीवियोगसे दग्ध हो तप कर देव हुआ। अवधिज्ञानसे हरि (?) मे पैदा हुआ। वैरीको जानकर उसे भरत क्षेत्रमे ले आया। इस प्रकार वह पापबुद्धि दुर्गतिको गया। क्योंकि वह हरिक्षेत्रसे भार्या सहित लाया गया जिससे लोकमे 'हरि' इस नामसे विख्यात हुआ।

कहनेकी आवश्यकता नही कि पद्मचरितका यह कथन कितना अस्पष्ट और संदिग्ध है। श्लोकोंकी रचना भी विलक्षण हो गई है। चौथे श्लोकपदोका एक दूसरेसे सम्बन्ध ही नहीं मिलता। छठवें श्लोकमे हरिके साथ पुर शब्द भी उड़ गया है। और भी विचारिये—"राजा सुमुख और उसकी रखेल स्त्रीका हरिपुरमे दपति उत्पन्न होना।" यह कथन कितना भ्रमपूर्ण है। मरकर दपति होना तो भोगभूमिमे ही सभवहो सकता है। कर्मभूमिमे तो दोनो ही अलग २ मातापिताओके यहाँ जन्म लेकर फिर विवाह होनेपर दपति बनते है। यहाँ दोनोके कौन मातापिता थे ऐसा कुछ भी उल्लेख नही है। यह सब गडबड़ पउमचरियके अनुकरणके कारण हुई मालूम होती है।

यहाँ मैं इतना और बतला देना चाहता हूं कि दिगम्बर श्वेताबरमे ८४ बातोंके अतिरिक्त भी अन्य कितना ही अन्तर हैं

जो मुझे इसकी छानबीनमे ज्ञात हुये हैं उनमेसे भी एक दो यहां लिख देता हू—

दिगम्बर सप्रदायके मामूली शास्त्रज्ञ भी यह जानतेहै कि तीर्थंकर प्रकृतिकी कारणभूत भावना १६ होती हैं जिसे षोडशकारण भावनाके नामसे बोलते है और यही पद्मचरितमे लिखा है किन्तु पउमचरिय उसकी २० भावना× लिखी है। यथा— 'वीस जिणकारणाइ भावेओ' पर्व २ गाथा ८२।

इसी तरह जहा पद्मचरितमे सुमेरु और सौधर्मके वीच वालाग्र मात्र अतर वतलाया है वहा पउमचरियमे सौधर्मको मेरुकी चूलिकासे स्पर्शित बताया गया है। यथा—

'वालाग्रमात्रविवरास्पृष्टसौधर्मभूमिक ।'
पद्मचरित पर्व ३ श्लोक ॥३४॥
'उवरिं च चूलियाए सोहम्म चेव फुसमाणो ।'
पउमचरिय पर्व ३ गाथा २४

यहांतक तो दिगम्बर मान्यता के प्रतिकूल जो भी कथन ऊपर पउमचरियमेसे निकालकर बताया गया है उसे एक तरह से मामूली कहना चाहिये। दिगम्बर श्वेताम्वरमे जो केवलीभुक्ति स्त्रीमुक्ति और साधुको वस्त्रपात्रादि रखनेका खास भेद है वह पउमचरियमे मिलना चाहिये। इसके लिये मैंने खूब ढूढ खोज की, आखिर मुझे ऐसा कथन भी मिलगया। केवलीभुक्ति और स्त्रीमुक्तिका कथन तो कही न मिला किन्तु मुनिके वस्त्रपात्रादि

× श्वेतावरोके आवश्यक सूत्रादि ग्रन्थोमे भी २० भावना लिखी हैं।

रखनेका आभास पउमचरियमे अवश्य पाया जाता है जो इस प्रकार है—

पउमचरिय पर्व २२ मे लिखा है कि–'मांस भक्षी राजा सोदासको राज्यच्युत कर निकाल दिया तो वह घूमता हुआ दक्षिण देशमे श्वेत वस्त्रधारी मुनिको पाकर उनसे श्रावक दीक्षा ली। ग्रन्थके पद्य इस प्रकार है—

पेच्छइ परिब्भमंतो दाहिणदेसे सियंवरं पणओ।
तस्स सगासे धम्म सुणिऊण तओ समाढत्तो ॥७८॥
सुणिऊण वयणमे यं मुणिवरविहियं भएण दु.खाणं।
होउं पसन्नहियओ सोदासो सावओ जाओ ॥८०॥

इसमे साफ तौरपर मुनिके लिये सियवर शब्द है जो सितांबर यानी सफेद कपडेका वाचक है। पद्मचरितमे इस जगह वस्त्राश्रय रहित मुनि लिखा है। जैसे—

दक्षिणापथमासाद्य प्राप्यानंबरसंश्रयं।
श्रुत्वा धर्मं बभूवासावणुव्रतधरो महान् ॥१४८॥

यह तो हुआ मुनिके वस्त्रविधान, अब पात्र रखनेका विधान सुनिये–पर्व ८९

अह अन्नया कयाई साहू मज्झण्हदेसयालम्मि।
उप्पइय नहयलेणं साएयपुरिं गया सव्वे ॥११॥

पर्व २२ गाथा १ "अह ततो किनधरो मुणिवसभो मलविलित्त सव्वगो" रेखांकित से दि॰त्व सिद्धि होती है।

भिक्खट्ठे विहरन्ता घरपरिवाडीए साहवो धीरा।
ते सावयस्स भवण संपत्ता अरहदत्तस्स ॥१२॥
चिंतेइ अरहदत्तो वरिसाकाले कहिं इमे समणा।
हिण्डन्ति अणायारी नियय ठाणं पमोत्तूणं ॥१३॥
ते सावएण साहू न वदिया गारवस्स दोसेणं।
सुण्हाए तस्स णवर तत्तो पडिलाभिया सव्वे ॥१७॥
दाऊण धम्मलाभं ते जिणमवण कमेण सपत्ता।
अभिवदिया जुईण ठाणनिवासीण समणेण ॥१८॥
ते तत्थ जिणाययणे मुणिसुव्वयसामियस्स वरपडिम।
अभिवदियो निविठ्ठा जुइणसमय कया हारा ॥२०॥

अर्थ—एक दिन वे सप्तर्षि चारण मुनि मध्याह्न कालमे आकाशमार्गसे चलते हुये 'साकेत' पुरीमे आये वहाँ भिक्षार्थ घूमते हुये अर्हदत्त श्रावकके घर गये। उन्हे देखकर अर्हदत्त विचारता है कि–ये अनाचारी साधु नियतस्थानको छोडकर वर्षाकालमे कैसे विहार करते है। आखिर 'अर्हदत्त'ने उनकी वदना तक न की। तव केवल उसकी स्नुषा कहिये पुत्रवधूने उन मुनियोको पडगाहा। वे मुनि धर्मलाभ देकर पैदल जिनभवनको गये। तत्स्थाननिवासी द्युति नामके श्रमणने उनकी वदना की। वे मुनि वहा जिनालयमे मुनिसुव्रतस्वामीकी प्रतिमाको नमस्कार कर बैठ गये और वही 'द्युति' श्रमणके समीप उन्होने आहार किया।

इस कथनसे यह साफ सिद्ध है कि अर्हदत्तके घर मुनियो ने भोजन उदरस्थ किया नही। सिर्फ वहासे तो वे भोज्य सामग्री को अपने साथ ले आये थे। जिसे उन्होंने 'द्युति' श्रमणके उपाश्रयमे आके जीमा। दाताके घरसे भिक्षा प्राप्त कर उसे

उपाश्रयमे लेजाकर जीमना हो उनके पात्र रखनेका निश्चित सुबूत है।

यही कथा श्वेतांबर जैन रामायण×मे भी इसी तरह पाई जाती है। उसके अनुवादको यहां मे ज्योका त्यो दे देता हू-

"एकबार वे मुनि पारणा करनेके लिये अयोध्यामे गये। वहा अर्हद्दत्त सेठके घर भिक्षाके लिये गये। सेठने अवज्ञाके साथ उनकी वंदना की और मनमे सोचा कि ये कैसे साधु हैं जो वर्षा-ऋतुमे भी विहार करते है मैं इनसे कारण पूछू ? नहीं। ऐसे पाखंडियोसे बात करना वृथा है सेठकी स्त्रीने उनको आहार-पानी दिया। वे आहारपानी लेकर द्युति नामा आचार्यके उपाश्रयमे गये। द्युति आचार्यने उनको आसान दिया उसी पर बैठकर उन्होने पारणा किया।" पृष्ठ ३८७

पाठक सोचते होंगे कि इस जगह पद्मचरितमे कैसा कथन है ? पद्मचरितमे और तो सब ऐसा ही कथन है किन्तु उसमे चारण मुनियोका द्युति भट्टारकके यहा आकर भोजन जीमनेका कथन नही है।

इसके अलावा एक बात और भी विचारणीय है और वह

× हेमचन्द्राचार्यकृत 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' के सप्तम पर्वमे जो राम रावणकी कथा है उसीका हिन्दी अनुवाद ग्रन्थ भण्डार, माटूंगा, बंबई' ने जैन रामायणके नामसे छपाया है। अनुवादक हैं कृष्ण-लालजी वर्मा 'प्रेम'। ग्रथ बडासा है जिसमे १० सर्ग हैं। कथा पउम-चरिय और पद्मचरितसे अधिकाशमे मिलती हुई हैं, कही २ थोडा बहुत फर्क भी है।

यह है कि-दोनो ही ग्रथोमे सैकडो जगह मुनिवाचक शब्द आये है। किन्तु पद्मचरितमे जहा जातरूप, नग्न, अचेल, पाणिपात्र, गगनांबर, दिग्वास आदि या इन्ही अर्थवाले अन्य नाम आते हैं वहा पउमचरियमे मुनिके पर्यायवाची ऐसे नाम भूलकर भी न मिलेंगे (उपर्युक्त 'सियबर' शब्दको छोडकर) किन्तु वहा मिलेंगे निर्ग्रन्थ, मुनि, साधु, श्रमण, यति आदि सामान्य शब्द । श्वेतावराम्नायमे जिनकल्पी साधुका स्वरूप नग्न होते भी इतने वडे भारी पुराणमे जिसमे चतुर्थकालकी आदिसे लेकर अन्त तक होने वाली कितनी ही कथाओका समावेश है एक भी साधुको नग्न नही लिखना ग्रन्थकर्त्ताका नग्नत्वके प्रति अवश्य उपेक्षाभाव जाहिर होता है।

(इसप्रकार जिस पउमचरियमे इतनी बातें दिगवर संप्रदायके विरुद्ध पायी जाती हैं यहातक कि मुनिके वस्त्र और पात्र तक रखना जिसमे प्रमाणित होता है और जिसका कर्त्ता मुनिके लिये दिगबर शब्द तकका प्रयोग करना नही चाहता उसे दिगंबर ग्रथ बतलाना भारी भूलहै। और यह भी नही कह सकते कि 'यह ग्रन्थ उस समय बना है जब जैनधर्ममे दिगवर श्वेताबर भेद नही हुआ था।")फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि- शायद यह ग्रथ उस वक्त का हो जब जैनधर्ममे दिगबर श्वेतावर भेद स्पष्ट तौरपर न होकर उसकी परिस्थिति तैयार होरही हो कोई एक दल नय मार्ग निकालनेकी फिराकमे हो जिसके लिये धार्मिक ग्रथोमे छिपे तौरपर मिलावट भी की

इससे यह ज्ञात होता है कि पउमचरिय मे कीर्तिधरके ग्रन्थ का अनुसरण करते हुए भी ग्रथ को किसी श्वेतावर ने बदला है अथवा कीर्तिधर के ग्रथ को बदलकर श्वेताबर बनाने का प्रयत्न किया है।

जारही हो। यह अनुमान इसलिये भी ठीक होसकता है कि पउमचरिय जैसे एक बडे ग्रन्थमे मुनिके वस्त्र पात्रका उल्लेख सिर्फ एक-एक ही मिला है। और वह भी अति सक्षेपसे।

यहापर 'खडेलवाल जैन हितेच्छु' के उस लेखपर विचार करना भी आवश्यक प्रतीत होता है, जिसमे पउमचरियको दिगवर ग्रन्थ सिद्ध करनेका उद्योग किया गया था। जिसका कि जिकर ऊपर किया गया है। वह लेख जिस अकमे मैंने पढा था उसमे अपूर्ण था, आगेके अकोमें पूरा निकला होगा किन्तु वे मेरे देखने मे नही आये। अत उक्त लेखाशमे जो लिखा था उसीपर मैं यहाँ विचार करताहू।

(उस लेखमे लिखा था कि—"पउमचरियमे महावीर जिनका गर्भापहरण व उनका विवाह नही पाया जाता और केवलीके उपसर्गका अभाव भी उसमे निरूपण किया है इससे वह दिगम्बर ग्रन्थ है।")

बेशक मैं यह मानता हूँ कि पउमचरियके दूसरे पर्वमे जो महावीरस्वामीका चरित्र लिखा है, उसमे महावीरका माता त्रिशलाके गर्भमे आना बताया गया है व विवाहका कथन भी नही है। जिसका उत्तर यह भी होसकता है कि कथन सक्षेप होनेके कारण वैसा न लिखा गया हो। क्योकि यहां खासतौरसे महावीरका चरित्र तो कहना ही न था जो सिलसिलेवार पूरा वर्णन करें। यहा तो कथाकी उत्थानिकाके तौरपर मामूली कथन करना था। अथवा सभव है कि गर्भापहरणकी कल्पना श्वेतावर ग्रन्थकारोकी पीछेकी हो। केवलीके उपसर्गका अभाव इसीमे क्या अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थोमे भी पाया जाता है। वीर जिनके केवली अवस्थामे उपसर्गका होना जो श्वेताम्बर आगममे पाया

जाता है वह एक विशेष बात है जिसे उन्होने भी आश्चर्य नामसे लिखा है। और वह पउमचरियमे सक्षेपताके कारण नही लिखा गया है ऐसा जान पडता है। लेखकने एकबात अपनी जाणमे बडे मार्केकी लिखी है। वह पउमचरियके निम्न पद्यको जिसमे पाच तीर्थंकरोको कुमारावस्थामे दीक्षा लेनेका कथन है महावीर की अविवाह सिद्धिमे पेश किया है—

......मल्लो अरिट्ठनेमी पासो वीरो य वासुपुज्जो ॥५७॥
एए कुमारसीहा गेहाओ णिग्गया जिणवरिंदा।
सेसा वि हु रायाणो पुहई भोत्तूण णिक्खंता ॥५८॥
पर्व २०

अर्थ—मल्लि, अरिष्टनेमि, पार्श्व, वीर और वासुपूज्य ये पाच तीर्थंकर कुमारपणेमे घरसे निकले—यानी दीक्षा ली, और शेष तीर्थंकर राजा हो पृथ्वीको भोग दीक्षा ली।

यहा भी लेखकने कुमार शब्दमे गलती खाई है। यहा कुमारसे मतलब है राज्याभिषेकके पूर्वकी अवस्था, न कि बाल-ब्रह्मचारित्व। नही तो ग्रन्थकर्त्ता यो नही लिखते कि—'शेष तीर्थंकर राज भोगकर दीक्षा ली'। इसी तरहका वर्णन श्वेताम्बरोके 'आवश्यक सूत्र' मे भी पाया जाता है। यथा—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मोत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२४३॥
★मय इच्छियाभिसेया कुमारवासंमि पव्वइया।
'आवश्यक सूत्र'

★ रायकुलेसु विजाया वियुद्धवसेसु खत्तिअकुलेसु।
ण य इत्थि आभिसेआ कुमारं वासमि पव्वय ॥
आवश्यक निर्युक्ति

अर्थ -वीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य इन पच तीर्थकरोको छोडकर बाकी तीर्थंकर गजा हो दीक्षा ली। और उक्त पाचो ने राज्याभिषेकको नही चाहते हुए कुमारावस्था मे ही दीक्षा ली।

पाठकोको यह स्मरण रहे कि इसी आवश्यक सूत्रमें महावीर जिनका विवाहही नही उनके सतान तकका उल्लेख है।

इसप्रकार लेखकने पउमचरियको दिगम्बर ग्रन्थ साबित करनेके लिये जो-जो दलीले दी वे सब नि सार और अकिंचित्कर है।

पद्मपुराणकी प्रामाणिकता मे संदेह—

रविषेणके पद्मचरितमे कितना ही कथन ऐसा भी है जो दिगम्बर मान्यताके विरुद्ध पडता है। और वह पउमचरियका अनुसरण करते हुये किसी तरह उसमे प्रविष्ट होगया जान पडता है। जैसे-

मेरुको कपित करनेसे महावीर नाम होना ×(खण्ड १ पृष्ठ १५) विद्याधर वशकी उत्पत्ति नमिविनमिसे बताना +(ख० १ पृ० ६८) जबूद्वीपके अधिपति यक्षकी देवियोका, रावणपर मोहित हो उससे सभोगकी इच्छा करना। (खड १ पृष्ठ १६४) जिन प्रतिमाके मुकुट धारण, (खड २ पृष्ठ ३०) दो केवलीका

× अशग कविकृत महावीर चरित और श्री धर्मचन्द्रकृत गौतमचरितमे भी ऐसा उल्लेख है वह पद्मचरित परसे लिया गया ज्ञात होता है। तथा इसकी भी गणना दिगम्बर श्वेताबरके ८४ अन्तरोमे है।

+ क्या पहिले विद्याधर नही थे।

साथ २ रहना और दोनोकी एक ही गधकुटी बनना, (खं० २ पृ० १६२) लक्ष्मणका खरदूषणकी स्त्रीपर आसक्त होना,★ (ख० २ पृ० २४३) देवोंका परस्परयुद्ध, (ख० ३ पृ० २१) उत्कृष्ट अणुव्रती क्षुल्लकका शस्त्रविद्या सिखाना, (ख० ३ पृ० २४७) मुनिका रात्रिमे मामूली बात के लिये बोलना, (ख० ३ पृ० ३१८) ।

इन सबका विशेष कथन लेख बढ जानेके भयसे छोडा जाता है ।

यहाँ मैं इतना स्पष्ट और कर देता हू कि पद्मचरितकी उक्त बातें जिन्हें देखना हो उन्हें माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित संस्कृत मूल पद्मचरित++देखना चाहिये उसीके ऊपर खंड, पृष्ठ लिखे गये हैं। स्वर्गीय प० दौलतरामजी कृत वचनिकामे प्रायः ये बाते न मिलेगी ।

वचनिकार तो येही क्या और भी कितनी ही सैकडों बाते उडा गये हैं और इस तरह ग्रन्थकर्त्ताके कितने ही अभिप्रायोंसे पाठकोको वचित रक्खा है। किसी अनुवादककी ऐसी कृति प्रशसनीय नही कही जासकती । सच तो यह है कि वचनि-

---

★ यह सिद्धांत विरुद्ध तो नही है किन्तु बात नई सी है।

++यह ग्रंथ बहुत ही अशुद्ध छपा है। पं० वीरेन्द्रकुमारजी शास्त्री केकडीने एक हस्तलिखित प्रतिसे छपी प्रतिको मिलाकर उसकी ढेर अशुद्धियें छाटकर अलग सग्रह किया है। संस्कृत ग्रन्थका इस तरह बेपर्वाह और अ धाधु धी से छपना अफसोसकी बात है। उन अशुद्धियोंकी शुद्ध कर लेनेपर भी प्राकृत लेखमे उठाये गये आक्षेपोमे कोई फेरफार नही होता ।

काकारकी इस कृपासे ही यह ग्रन्थ अबतक थोडा बहुत प्रमाण माना जारहा है। अन्यथा ऐसी बातोका दिगबर संप्रदायमे क्या काम ? मुझे आश्चर्य और साथही खेद भी है कि दिगबर मतका कहा जानेवाला एक प्राचीन पौराणिक ग्रन्थका यह हाल है। यह सब एक विभिन्न आम्नायके ग्रन्थकी नकल करनेका परिणाम है। नकलका रग तो यहातक चढा है कि आप सारे पद्मचरितको देख जाइये सैकड़ो जगह मुनि धर्मके कथनका प्रसग होते भी उसमें २८ मूल गुणोंके नाम न मिलेंगे क्योंकि जब पउमचरियमे नही तो पद्मचरितमे कहाँसे मिल सकते हैं। और इसीलिये हरिवंशकी उत्पत्तिमे भी गडबडी हुई हैं जैसा कि ऊपर कहा गया है। पद्मचरित पर्व ३२ के अन्तमे जो जिनप्रतिमाके पंचामृताभिषेकका विवेचन हैं वहभी हूबहू पउमचरियकी नकल है। आश्चर्य नही जो अन्य दि०ग्रन्थोंमे पचामृताभिषेकका पाया जाना इसीका प्रताप हो उत्तरोत्तर ग्रन्थकर्ता देखादेखी ऐसा ही कथन करते चले गये हो और इस तरह पर एक भिन्न सप्रदायकी थोथी क्रियाकाडकी परम्परा चल पड़ी हो। तेरहपथका उसे न मानना भी इस अनुमानको दृढ करता है कुछ भी हो ये बाते हमको सावधान करनेके लिये पर्याप्त है कि किसी सस्कृत प्राकृत ग्रन्थको महज एक प्राचीन होनेकी वजहसे ही मान्य नही कर लेना चाहिये। किन्तु ऐसे मामलेमे सदसद्विवेक बुद्धिसे पूरा काम लेना चाहिये।

दोनो ग्रन्थोंमे एक अत्यंत चितनीय स्थल—

चउसट्ठि सहस्साइं वरिसाणं अंतरं समक्खायं।
तित्थयरेहि महायस भारहरामायणाणं तु ॥१६॥
पर्व १०५ 'पउमचरिय'।

वष्टिवर्षसहस्राणि चत्वारि च ततः परं।
रामायणस्य विज्ञेयमतरं भारतस्य च ॥ २८ ॥

'पद्मचरित' पर्व १०६

(इनमे लिखा है कि महाभारत और रामायणमे यानी श्रीकृष्ण पाडवादि और रामरावणादिक समयका अतर ६४ हजार वर्षका है। " यह अन्तर वहुत ही विचारणीय है मुनिमुव्रतके तीर्थमे श्रीरामचन्द्र हुए और नेमिनाथके वक्त श्रीकृष्ण। तथा दोनो ही ग्रन्थोंके पर्व २० मे जो तीर्थंकरोका अन्तराल कथन है वहा लिखा है कि मुनिसुव्रतके छह लाख वर्षवाद तो हुए नमिनाथ और नमिनाथके ५ लाख वर्षवाद हुए नेमिनाथ। अर्थात् मुनिसुव्रत और नेमिनाथका अन्तराल समय ११ लाख वर्षका होता है। तव यहाँ भारत और रामायणका अन्तर ६४ हजार वर्ष ही कैसे लिखा है। हमने खूब ही विचार किया पर किसी तरह इस कथनकी सगति नही बैठती। अन्य विद्वानोको भी सोचना चाहिये। इति)। ★

★ पद्मचरित की प्रशस्ति में रविषेण ने जिनको गुरु रूप में नमस्कारादि किया है वे जैनाभास प्रतीत होते हैं– यापनीय सघादि या चैत्यवासी हो। 'पउमचरिय' की हस्तलिखित प्रतियां भी मात्र श्वे० ग्रथ भण्डारो मे ही पाई जाती है दि० ग्रथ भण्डारो मे कतई नहीं इससे भी पउमचरिय श्वे० कृति सिद्ध होती है।



२५

प्रतिष्ठाचार्यों के लिये एक विचारणीय विषय मोक्षकल्याणक

आजकल प्रतिष्ठाचार्य भगवान् अर्हंत देव की प्रतिष्ठा मे मोक्षकल्याण के विधान मे अग्निकुमार देव के मुकुट से उत्पन्न अग्नि मे भगवान् के दाह संस्कार का दृश्य दिखाते है। ऐसा करना उनका शास्त्र सम्मत प्रतीत नही होता है। क्योकि दाह सस्कार के समय मे जब भगवान् अरिहन्त ही न रहेंगे तो उनकी प्रतिमा भी अर्हंत प्रतिमा कैसे मानी जायेगी ? दाह सस्कार भगवान् के निर्वाण होने बाद किया जाता है। उस वक्त अरिहन्त अवस्था का लेश भी नहीं रहता है। अरिहन्तदेव के अघातिया कर्मों का नाश होता नहीं और दाह सस्कार उनका अघातिया कर्मों के नाश होने के बाद ही किया जाता है। वर्तमान मे प्रचलित किसी भी प्रतिष्ठाशास्त्र मे दाह-सस्कार का दृश्य दिखाने का उल्लेख नही है। फिर न जाने ये प्रतिष्ठाचार्य मनमानी कैसे कर रहे हैं ? चूंकि भविष्य मे प्रतिमा अरिहन्तदेव की मानी जायेगी, अत. उनका मोक्ष गमन दृश्यरूप मे बताना किसी तरह उचित नही है। अर्थात् केवल ज्ञानी भगवान् का धर्मोपदेश-विहार आदि बताये बाद उनका दृश्यरूप मे मोक्ष गमन न बताकर उनके मोक्ष गमन का मात्र स्मरण कर लेना

चाहिये कि इसके बाद भगवान् मोक्ष पधार गये।

इसी आशय को लेकर जयसेन ने स्वरचित प्रतिष्ठा शास्त्र के पद्य न० ६११ के आगे गद्य मे ऐसा लिखा है —

'निर्वाण भक्तिरेव निर्वाण कल्याणारोपण, साक्षात्तु न विधेयं स्मरणीयमेवेति ।

इसकी वचनिका—

'अर पचकल्याणनि मे च्यारिकल्याण तो विधान सयुक्त किया। अर पचम कल्याण मोक्षकल्याण है सो निर्वाणभक्ति पाठमात्र ही आरोपण करना। साक्षात् विधान नही करना। स्मरणमात्र ही है। ऐसा अनिर्वाच्य समझि लेना।'

(यहाँ मोक्ष कल्याण का विधान निर्वाणभक्ति का पढलेना मात्र बताया है और साक्षात् विधान करने का निषेध किया है। ऐसी सूरत मे प्रभु के दाह-सस्कार को दृश्यरूप मे बताना साक्षात् विधान करना होगा और स्पष्ट ही शास्त्राज्ञा का उल्लंघन करना कहलावेगा। जयसेन ने मोक्षगमन का साक्षात् विधान नही लिखने के साथ ही साथ उन्होने मोक्षकल्याण के अर्थ इन्द्रादि देवो का आगमन भी नही लिखा है और न चौवीस तीर्थंकरो की मोक्षतिथियो की पूजा ही लिखी है। जब कि वे अन्य कल्याणको मे उन कल्याणको की तिथियो की पूजा लिखते रहे हैं इससे यही फलितार्थ निकलता है कि जयसेन की दृष्टि मे अर्हतप्रतिमा मे मोक्षकल्याण की प्रधानता नही है। और जबकि मोक्षकल्याण मे देवो के आगमन का ही उल्लेख नही है तो अग्निकुमारदेव के मुकुट से अग्नि उत्पन्न करना आदि दृश्य दिखाना स्पष्ट ही शास्त्र विरुद्ध है।) इसके अतिरिक्त अरिहन्त-

मूर्ति के पादपीठ पर जो प्रतिष्ठा की तिथि अकित की जाती है वह भी ज्ञानकल्याणक के दिन की ही अकित की जाती है। (इससे भी यही सिद्ध होता है कि अर्हत्प्रतिमा मे मोक्षकल्याण का साक्षात् विधान नही है, स्मरणमात्र है, साक्षात् विधान असगत है (सिद्ध प्रतिमा मे पचम कल्याण प्रदर्शन फिर भी सगत हो सकता है, अर्हत्प्रतिमा मे नही))।

आशा है वर्तमान के प्रतिष्ठाचार्य इस पर गम्भीरता से विचार करेंगे। उनके विचारार्थ ही हमने यह लेख प्रस्तुत किया है। अगर अर्हत्प्रतिमा मे दाह-सस्कार का विधान करना उन्हे भी अयुक्त नज़र आये तो उनका कर्तव्य है कि आगे के लिए उन्हे ऐसा करना बन्द करना चाहिये ताकि गलत परम्परा यहीं समाप्त हो जाये। प्रतिष्ठा सम्बन्धी और भी भूले हमने पहिले दिखाई थी जिनकी चर्चा 'जैन निबन्ध रत्नावली' पुस्तक मे की गई है उन पर भी ध्यान दिया जाये ऐसी प्रार्थना है।



२६

नवकोटि विशुद्धि

जिन आहारादि के उत्पादन मे मुनि का मन, वचन, काय के द्वारा कृत कारित अनुमोदितरूप कुछ भी योगदान न हो ऐसा आहारादि का लेना मुनि के लिऐ नवकोटि विशुद्धिदान कहलाता है.। अर्थात जो आहारादि मुनि के मन के द्वारा कृत-कारित-अनुमोदित न हो। न उनके वचन के द्वारा कृत-कारित अनुमोदित हो और न उनके काय के द्वारा कृत-कारित-अनुमोदित हो ऐसे आहारादि का दान नवकोटि विशुद्ध दान कहलाता है। मतलब कि देयवस्तु के सम्पादन मे मुनि का कुछ भी संपर्क नही होना चाहिये। इससे आहारादि के निमित्त हुआ आरम्भदोष मुनि को नही लगता है। वरना वह मुनि अध कर्म जैसे महादोष का भागी होता है। अनेक ग्रन्थो मे नवकोटि विशुद्धि का यही स्वरूप लिखा मिलता है। किन्तु आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण पर्व २० मे नवकोटि विशुद्धि का एक अन्य स्वरूप भी लिखा है। यथा—

दातु विशुद्धता देय पात्रं च प्रपुनातिसा।
शुद्धि र्देयस्य दातार पुनोते पात्रमप्यव ॥१३६॥
पात्रस्य शुद्धि र्दातारं देय चंद पुनात्यत।
नवकोटि विशुद्धं तद्दानं भूरिफलोदयम् ॥१३७॥

अर्थ—दाता की शुद्धि देय और पात्र को पवित्र बनाती

है देय की शुद्धि दाता और पात्र को शुद्ध करती है। एव पात्र की शुद्धि दाता देय को पवित्र करती है। इस प्रकार का नव-कोटि शुद्ध दान प्रचुर फल का देने वाला होता है।

इसमे जो लिखा है उसका अभिप्राय ऐसा है कि दाता, देय (दान का द्रव) और पात्र (दान लेने वाला) इन तीनो मे यदि तीनो ही अशुद्ध हो तब तो वह दान विधि दोषास्पद है ही। किन्तु इन तीनो मे से कोई भी दो अशुद्ध हो और एक शुद्ध हो तो उस हालत मे भी वह दान विधि दोषास्पद ही है। यही नहीं तीनो मे से यदि दो शुद्ध हो और सिर्फ एक ही कोई सा अशुद्ध हो तब भी वह दान विधि दोषास्पद ही समझनी चाहिए। मतलब कि दान विधि मे दाता देय और पात्र ये तीनो ही निर्दोष होने चाहिये तब ही वह बहुत फल को दे सकती है। तीनो मे कोईसा एक भी यदि सदोष होगा तो वह दान विधि प्रशस्त नही मानी जा सकती है।

उक्त श्लोक द्वय मे लिखा है कि दाता की शुद्धि देय और पात्र को पवित्र बनाती है। इस लिखने का भाव यह है कि यद्यपि देय और पात्र शुद्ध है मगर दाता अशुद्ध है तो इस एक की अशुद्धि ही सब दान विधि को सदोष बना देगी और दाता व पात्र शुद्ध है मगर देय कहिये दान का द्रव अशुद्ध है तो यहाँ भी इस एक की अशुद्धि ही समस्त दान विधि को सदोष बना डालेगी। इसी तरह दाता और देय शुद्ध है मगर पात्र अशुद्ध है तो वह दान विधि भी सारी की सारी सदोष ही समझी जाएगी।

जिन सेना चार्य का यह कथन आशाधर ने सागर धर्मामृत अध्याय ५ श्लोक ४७ की टीका मे तथा अनगारधर्मामृत के

५ वें अध्याय के अन्त में और शुभचन्द्र ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३६० की टीका मे उद्धृत किया है।

किन्तु सोमदेव ने यशस्तिलक के निम्न श्लोक मे जिनसेन के उक्त कथन के विरुद्ध लिखा है।

भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् ।
ते संतः संत्वसंतो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ॥८१८॥

अर्थ—भोजनमात्र के देने में साधुओ की क्या परीक्षा करनी ? वे चाहे श्रेष्ठ हों या हीन हो। गृहस्थ तो उन्हें दान देने से शुद्ध हो ही जाता है।

सोमदेव ने इस श्लोक मे यह शिक्षा दी है कि मुनि को आहार दान देते वक्त गृहस्थ को यह नही देखना चाहिए कि यह मुनि आचारवान् है या आचार भ्रष्ट है उसकी जाँच पडताल करने की जरूरत नही है। मुनि चाहे कैसा ही अच्छा बुरा क्यों न हो गृहस्थ को तो आहारदान देने का अच्छा ही फल मिलेगा।

सोमदेव का ऐसा लिखना जिनसेनाचार्य की आम्नाय के विरुद्ध है क्योकि जिनसेन ने ऊपर यह प्रतिपादन किया है कि—पात्रकी शुद्धि दाता और देय दोनोको पवित्र बनातीहै। प्रकारातर से इसी को यो कहना चाहिए कि—पात्र की (दान लेने वाले साधुकी अशुद्धि दाता और देयको भी अशुद्ध बनादेती है। भावार्थ उत्तमदाता और उत्तम देय के साथ-साथ दान लेने वाला भी सुपात्र होना चाहिए तबही दानीको दानका यथेष्टफल मिलताहै।

महर्षि जिनसेन और सोमदेव के इन परस्पर विरुद्ध वचनो मे किनका वचन प्रमाण माना जाए यह निर्णय हम विचारशील पाठको पर ही छोडते है।



२७

अढाई द्वीप के नक्शे में सुधार की आवश्यकता

यह नक्शा हाल ही मे श्रीयुत पन्नालाल जी जैन दिल्ली की ओर से प्रकाशित हुआ है। जैन भूगोल के ज्ञान की जैन समाज में बडी कमी है। और तो क्या जैन विद्वान तक भी इस दिशा मे पूरी जानकारी नहीं रखते है। ऐसी अवस्था मे आपका यह प्रयास समयोपयोगी और स्तुत्य है। आपने परिश्रम के साथ यह नक्शा तैयार किया है तदर्थ आप धन्यवाद के पात्र है। इसके पहिले आपने चौबीस तीर्थंकरों के ज्ञातव्य विषयो का नक्शा भी प्रकाशित करके वितरण किया है। ऐसे कामो में आपकी अभिरुचि होना यह एक सराहनीय बात है।

उक्त अढाई द्वीप का नक्शा मेरे सामने है। देखने पर उसमे मुझे भूलें नजर आई हैं, जिनका मैं यहां उल्लेख कर देना उचित समझता हूं।

(१) विदेह क्षेत्र मे सीता के उत्तर तट और सीतोदा के दक्षिण तट के देशो को नक्शे मे उल्टेक्रम से लिखे है। यानी वे लवणसमुद्र से भद्रशालवन की तरफ लिखे गये हैं। ऐसा लिखना गलत है। उन्हे क्रम से भद्रशाल से लवण समुद्र की तरफ लिखने

चाहिये। प्रमाण के लिये देखो त्रिलोकसार की ६८७ आदि गाथायें।

(२) नक्शे में युग्मधर का स्थान सीताके दक्षिण तटपर, बाहुका सीतोदाके दक्षिण तटपर और सुबाहुका सीतोदाके उत्तर तटपर बताया है वह भी गलत है। क्योकि ग्रन्थो मे युग्मधर की नगरी का नाम विजया लिखा है। यह नाम शास्त्रो मे सीता के दक्षिण तट की नगरियो मे कही नही है। और बाहु की नगरी का नाम सुसीमा लिखा है यह नाम भी सीतोदा के दक्षिण तट की नगरियो मे नही है।

तथा सुबाहु की नगरी का नाम वीतशोका लिखा है यह नाम भी सीतोदा के उत्तर तट की नगरियो मे नही है। इससे मालूम होताहै कि-इन तीनो तीर्थंकरोके जो स्थान नक्शेमे बताये गये हैं वे गलत हैं। और इसी माफक नक्शे मे अन्य चार मेरु सम्बन्धी विदेहो मे शेष १६ विद्यमान तीर्थंकरो के स्थान बताये है वे गलत है। सही स्थान युग्मधर, बाहु, सुबाहु का क्रमश. सीतोदा का उत्तर तट, सीता का दक्षिण तट और सीतोदा का दक्षिण तट है। इसी माफक धातकी द्वीपादि के विदेहो में समझना चाहिये। प्रमाण के लिये देखो कवि द्यानतराय जी कृत धर्म विलास मे 'वर्तमानबीसी दशक' नामक पाठ। इस विषय मे हमारा एक लेख गत कार्तिक कृष्णा ५ के जैनमित्र के अंक मे छपा है उसे देखना चाहिये।

(३) नक्शे में हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत इन क्षेत्रो के मध्य मे वैताढ्य पर्वत बताया हैं। वह गलत है, उसकी जगह नाभिगिरि लिखना चाहिये।

(४) नक्शे मे गंगा सिन्धु को दक्षिण की तरफ के लवण समुद्र मे गिरना चित्रित किया है। यह गलत है, दोनो नदियें दक्षिण भरत के अर्द्ध भाग तक ही दक्षिण की ओर बह कर फिर पूर्व-पश्चिम की ओर मुडकर सीधी पूर्व-पश्चिम की तरफ के लवण समुद्र में गिरी है। इसी तरह की गलती रक्ता रक्तोदा के सम्बन्ध मे की गई है। प्रमाण के लिये देखो त्रिलोकसार की गाथा ५६६ वी।

(५) नक्शे मे धातकी और पुष्करार्द्ध द्वीप की रचना अंकित की है परन्तु दोनो द्वीपो के नाम कही नही लिखे है।

(६) नक्शे मे धातकी और पुष्करार्द्ध के पूर्वापर भागो को विभाजित करने वाले चार पर्वतो के नाम वक्षारगिरि लिखे है। यह गलत है, उनकी जगह इक्ष्वाकार गिरि नाम लिखने चाहिये।

(७) धातकी और पुष्करार्द्ध मे गंगाको आधे भरत क्षेत्रमे लिखकर उसीको आधे भरतमे सिंधु नामसे लिखाहै। और सिंधु को भी आधे भरतमे गंगा के नामसे लिखा है। यही भूल उक्त दोनो द्वीपो के ऐरावत क्षेत्र मे की है।

(८) नदीश्वर द्वीप मे ५२ जिनालयो की रचना मे दधिमुख और रतिकर पर्वतो के नाम लिखकर यह सूचित किया है कि-उनपर जिनालय हैं। किन्तु उनकी तो सख्या ४८ ही होतीहै। शेष ४ जिनालय कहा किस पर्वत पर है यह नक्शेमे कहीं नही लिखा गया है। ४ जिनालय 'अजनगिरि' पर है। ४ दधिमुख भी नही लिखे हैं वे भी लिखने चाहिए।

(९) २५ से ३२ तक के क्षेत्रो पर 'भूतारण्य' तथा १७ से

२४ पर "देवारण्य" दिया है उनकी जगह क्रमश "देवारण्य" "भूतारण्य" परिवर्तित करना चाहिए। देखो त्रिलोकसार गाथा ६६० की वचनिका।

(१०) नक्शे मे हृद जगह-जगह लिखा है सर्वत्र ह्रद चाहिए अथवा द्रह कर देना चाहिए।

(११) कालोदधि समुद्र लिखा है यह गलत है क्योकि उदधि, समुद्र दोनो एकार्थक हैं अत 'कालोदक समुद्र' नाम देना चाहिए अथवा सिर्फ "कालोदधि"।

(१२) हैरण्यवन क्षेत्र हैमवन क्षेत्र लिखा है चाहिए हैरण्यवत्त क्षेत्र हैमवत्त क्षेत्र।

(१३) नदी नामो मे हरि नदी लिखा है चाहिए हरित् नदी। इसीतरह कही-कही 'नरकाता' नदी का नाम भी गलत लिखा है।"

इस प्रकार ये भूले नक्शे में हमारी दृष्टि मे आई है। यदि इस विषय के किसी अच्छे जानकार विद्वान् से परामर्श करके नक्शा तैयार किया जाता तो ये भूले उसमे नही रहती। नक्शे का आकार भी बेडौल है। अगर कुछ महीन अक्षरो मे छापा जाता तो नक्शा कुछ छोटा बनकर काच मे जडने योग्य बन जाता व उसमे और भी आवश्यक जानकारी दी जा सकती थी। जैसे विदेह क्षेत्र सम्बन्धी मुख्य नगरियो के नाम, विभगा नदिये, वक्षारगिरि, जम्बूशाल्मली वृक्ष, भद्रशाल आदि वन वगैरह। नक्शे मे सकेतसूचिका, सबोधन आदि देकर व्यर्थ ही नक्शे का कलेवर भरा गया है। इनकी जगह अढाई द्वीप मे कहा-कहा अकृत्रिम चैत्यालय है उनकी कुल कितनी सख्या है, मेरु की

ऊचाँई, चौडाई कितनी है। विदेह के प्रत्येक देश में चक्रवर्ती छहखडो का विजय करता है वे छह खण्ड वहा कैसे बनते है, इत्यादि विवरण लिखा जाना चाहिये था।

जो भूले हमने यहा बताई हैं उनका सशोधन नक्शे मे जरूर सूचित किया जाना चाहिये। वर्ना गलत प्रचार होगा जो अच्छा नही है। हमारी राय मे नक्शे में जहा सकेतसूचिका और सबोधन शीर्षक के नीचे जो कुछ छपा है वे खास आवश्यक नही है उसके ऊपर ही सशोधनपत्र चिपका देने चाहिये।

आशा है भाई पन्नालाल जी साहब इस पर ध्यान देने की कृपा करेंगे।

नोट —वर्धमान प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित जम्बूद्वीप का नक्शा (मोटा ग्लेज कागज) काफी शुद्ध है त्रिलोकसारानुसार बिल्कुल सही है।



२८

कतिपय ग्रंथकारों का समय निर्णय

शुभचन्द्राचार्य

यहां हम उन शुभचन्द्राचार्य के समय की चर्चा कर रहे हैं जिन्होने ज्ञानार्णव नामक उत्तम शास्त्र बनाया है। उसमे संस्कृत के कोई ४३ पद्य अन्य ग्रंथो के 'उक्तंच' रूपसे पाये जाते है। ये सब पद्य स्वयं ग्रन्थकार ने ही उद्धृत किये है, टीकाकार ने नही। हमारे समक्ष ज्ञानार्णव की एक ऐसी हस्तलिखित मूल प्रति है जिसको सकलकीर्ति की शिष्यपरम्परा मे होने वाले शुभचन्द्र के शिष्य विशालकीर्ति मुनि ने वि० सं० १६११ मे लिखाई थी। उसमे भी ये पद्य इसी तरह से "उक्त च" लिखे है। उन पद्यो मे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और यशस्तिलक के भी पद्य हैं। यशस्तिलक के पद्य ज्ञानार्णव के पृ० ७० और ८७ पर तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का "मिथ्यात्ववेदरागा" पद्य पृष्ठ १६५ पर उद्धृत है। यह पृष्ठसंख्या ज्ञानार्णव के तीसरे संस्करण की समझनी चाहिये। इनमे से यशस्तिलक का रचनाकाल पूर्णतया निश्चित है। यशस्तिलक की प्रशस्ति मे उसके कर्त्ता सोमदेव ने उसको वि० सं० १०१६ मे बनाकर समाप्त किया लिखा है। इससे प्रगट होता है कि ज्ञानार्णव के रचनाकाल की पूर्वावधि वि० सं० १०१६ की है। यानी वह वि० सं०१०१६ से पहिले का बना हुआ नही है। बाद मे बना है। कितने बाद मे बना है? इसके लिये रत्नकरडश्रावकाचार की प्रभाचन्द्र कृत संस्कृत

टीका दृष्टव्य है। उसके ५ वे परिच्छेद के श्लोक २४ की टीका मे प्रभाचन्द्र ने ज्ञानार्णव का निम्न पद्य उद्धृत किया है—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
शयनासनं च यानं कुप्यं भांडममी दश ॥४॥
सर्ग १६

प्रभाचन्द्र ने कुछ साहित्य राजा भोज के राज्य मे और कुछ साहित्य भोज के उत्तराधिकारी राजा जयसिंह के राज्य मे निर्माण किया है। इतिहास मे राजा भोज का राज्य-काल वि० स १०७० से १११० तक का और उसके बाद जयसिंह का राज्यकाल वि सं १११६ तक का माना है। यही और इससे कुछ आगे तक का समय प्रभाचन्द्र का है। शुभचन्द्र के समय की उत्तरावधि भी यही समझनी चाहिये यानी इस समय से पहिले पहिले ज्ञानार्णव का निर्माण हुआ है। अर्थात् ज्ञानार्णवकी रचना विक्रम की ११ वी शती का दूसरा तीसरा चरण हो सकता है। श्री विश्वभूषण ने इन शुभचन्द्र को राजा मुंज और भोजदेव के समकालीन लिखा है। इस कथन की सगति भी उक्त समय से मिल जाती है। विश्वभूषण ने भर्तृहरि को भी इन्ही शुभचन्द्र के समसामयिक लिखा है सो ये भर्तृहरि शतकत्रय के कर्त्ता भर्तृ-हरि से भिन्न कोई अन्य ही भर्तृहरि हो सकते हैं। क्योंकि भर्तृहरि के नीतिशतक का "नेता यस्य वृहस्पति" और वैराग्य-शतक का "यदेतत्स्वच्छद" ये दोनो पद्य गुणभद्रकृत आत्मा-नुशासन मे क्रमश ३२ और ६७ नम्बर पर पाये जाते हैं। अतः शतकत्रय की रचना गुणभद्र से भी पहिले हुई है। गुणभद्र का अस्तित्व वि. स ९१० के लगभग तक का माना जाता है। इस-लिये ज्ञानार्णव के रचयिता शुभचन्द्र जिनका कि समय ऊपर

हम विक्रम की ११ वीं शती बता आये हैं, के काल मे शतकत्रय के कर्त्ता भर्तृहरि के होने की सभावना नहीं है ।

हेमचन्द्र ने योगशास्त्र (श्वेताबर) लिखा है ज्ञानार्णव और योगशास्त्र के बहुत से स्थल एक समान मिलते है । दोनों मे पहिले कौन हुआ ? यह प्रश्न बराबर चला आरहा था । हेमचन्द्र का समय निश्चित है कि वे वि सं १२२६ तक जीवित थे । इसलिये अब यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानार्णव से करीब डेढ सौ वर्ष बाद योगशास्त्र बना है ।

आचार्य अमृतचन्द्र

अमृतचन्द्रकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपायके कितनेही पद्यजयसेनके धर्मरत्नाकरमे पाये जाते हैं । धर्मरत्नाकर का रचनाकाल वि स १०५५ है । अत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के रचनासमय की इसे उत्तरावधि समझनी चाहिये । अर्थात् पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ वि स १०५५ से पहिले बना है, बाद मे नहीं । कितने पहले बना है ? इस पर जब विचार किया जाता है तो पट्टावली में अमृतचन्द्र के पट्टारोहण का समय वि सं ६६२ दिया है वह ठीक जान पडता है इससे उनका अस्तित्व अधिकतया विक्रम की ११ वी शती के एक दो दशक तक कहा जा सकता है । यही समय यशस्तिलक के कर्त्ता सोमदेव का है । दोनो समकालीन हैं ।

पद्मनंदी

हम जिन पद्मनंदी के समय पर विचार कर रहे हैं वे हैं "पद्मनंदिपचविंशतिका" ग्रन्थके कर्त्ता पद्मनंदी । इस ग्रन्थके "अध्रुवाशरणे" आदि २ पद्य जिनमे १२ अनुप्रेक्षाओ के नाम

लिखे हैं रत्नकरंडश्रावकाचार के परिच्छेद ४ श्लो १८ की प्रभाचन्द्रकृत टीका मे पाये जाते है। इससे ज्ञात होता है कि यह पंचविंशतिका ग्रन्थ प्रभाचन्द्र से पहिले का बना हुआ है। रत्नकरड की टीका के कर्त्ता प्रभाचन्द्र का काल विक्रम की ११ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १२ वी के प्रथम चरण तक का है जैसा कि हम ऊपर बता आये है। इस समय को 'पचविंशतिका' की उत्तरावधिका समझना चाहिये। अर्थात् यह ग्रन्थ इस समय से बाद का बना हुआ नही है, पहिले का बना हुआ है। कितना पहिले का बना है? इस सम्बन्ध मे फिलहाल हम इतना ही कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण के श्लो १९७ मे, द्वितीय प्रकरण के श्लो ५४ मे और ९ वे प्रकरण के श्लो ३२मे पद्मनदी ने वीरनदि को अपना गुरु लिखा है। बोधपाहुड गाथा १० की टीका मे श्रुतसागर ने भी वीरनदि को इन पद्मनदी का गुरु लिखा है। एक वीरनदि वे हुये हैं जिन्होने चन्द्रप्रभ काव्य बनाया था। उनके गुरु अभयनदी थे। इन वीरनदि का समय विक्रम की ११ वीं शती का पूर्व भाग माना जाता है। यदि यही समय पद्मनदी का भी माना जाये तो दोनो का समकाल होने से हमारा मन कहता है कि कहीं ये ही वीरनदि तो इन पद्मनदी के गुरु नहीं हैं?

पद्मनदिपंचविंशतिका के चतुर्थप्रकरण-एकत्वसप्तति की कन्नडभाषा मे एक टीका भी उपलब्ध है। उस टीका के रचयिता भी पद्मनंदी ही हैं। पर ये टीकाकार पद्मनदी और मूलग्रन्थकार पद्मनंदी दोनो एक नहीं, भिन्न २ हैं। क्योकि टीकावाले पद्मनदी के गुरु का नाम शुभचन्द्रराद्धांतदेव लिखा है। जबकि मूल ग्रन्थकार पद्मनदी स्वय अपने गुरु का नाम

वीरनदि लिखते हैं। वे सारे ग्रन्थभर मे शुभचन्द्र का कही कोई उल्लेख नही करते हैं तथा कनडी टीका वि सं. ११९३ के आसपास रची गई है। अगर यही समय मूलग्रन्थकार पद्मनदी का मान लिया जाये तो विक्रम स. ११०० के लगभग होने वाले प्रभाचन्द्र के द्वारा पचविंशतिका का पद्य उद्धृत कैसे किया जाता ? जैसाकि हम ऊपर लिख आये हैं।

कनडीटीकाकार और मूलग्रंथकार पद्मनदी को अभिन्न समझने की भ्राति ने इतिहास मे बहुत गडबडी पैदा की है। इस भ्रांति मे पड कर ही आत्मानुशासन (जीवराज ग्रन्थमाला से प्रकाशित) की प्रस्तावना मे आत्मानुशासन, समाधिशतक और रत्नकरड इन तीनो ही ग्रन्थो के टीकाकार प्रभाचन्द्र को प आशाधरजी के वक्त का बता दिया गया है (पृ. २०) जो बिल्कुल तथ्यहीन है।

वसुनंदी

यहां हम उन वसुनंदी के समय की चर्चा कर रहे हैं जिन्होने प्राकृतभाषा मे एक श्रावकाचारग्रथ लिखा है, जिसका प्रचलित नाम वसुनदिश्रावकाचार है। इन्होने ग्रन्थ के अत मे अपनी प्रशस्ति लिखी जरूर है पर उस मे आपने ग्रथ का रचनाकाल लिखने की कृपा नही की है। प्रशस्ति मे आपने जो अपनी गुरुपरपरा दी है उसमे तीन नाम लिखे हैं। प्रथम ही श्रीनदी हुये, उनके शिष्य नयनदी हुये, नयनदी के शिष्य नेमिचन्द्र हुये। उन नेमिचन्द्र के शिष्य वसुनदी ने यह उपासकाध्ययन (वसुनदिश्रावकाचार) ग्रन्थ बनाया। इन वसुनदि के प्रगुरु वे नयनदी तो हो नही सकते जिन्होने वि. स ११०० मे सुदर्शन-

चरित (अपभ्रंश) की रचना की है क्योंकि वे अपने गुरु का नाम माणिक्यनदि (परीक्षामुख के कर्त्ता) लिखते है, जबकि वसुनदि ने नयनदि के गुरु का नाम श्रीनदि लिखा है।

एक श्रीनदि वे हुए हैं जिनके शिष्य श्रीचन्द्र ने पुराणसार बनाया हैं तथा पुष्पदत के अपभ्रंश महापुराण और रविषेण के पद्मचरित पर टिप्पण लिखे है। इन तीनो की रचना श्रीचन्द्र ने धारा नगरी मे राजा भोज के समय क्रमश १०७०, १०८० और १०८७ मे की थी।

पद्मचरित के टिप्पण की प्रशस्ति में श्रीचन्द्र ने अपने गुरु श्रीनंदि को बलात्कारगण का आचार्य लिखा है (देखो "भट्टारकसंप्रदाय" पृ० ३९)। बलात्कारगण के साथ कुन्दकुन्दान्वय और सरस्वती गच्छ ये दो विशेषण भी लगे रहते हैं। सरस्वती गच्छ विशेषण विक्रम की १४ वी सदी से लगने लगा है। इस गण के साधु ११ वी १२ वी सदी मे ही भूमि-दान लेने लग गये थे। वसुनदि ने जो अपनी गुरु परम्परा लिखी है उसमे उन्होने श्रीनदि को कुन्दकुन्दान्वयी लिखकर उनका बलात्कार-गण इगित किया है। अत वसुनदि की गुरुपरम्परा के श्रीनदि और उक्त श्रीचन्द्र के गुरु श्रीनदि दोनो एक ही मालूम पडते हैं। इन्ही श्रीनदि के शिष्य नयनदि हुये हो और नयनदि के शिष्य नेमिचन्द्र तथा नेमिचन्द्र के शिष्य वसुनंदि को मान लिया जावे और जो समय श्रीचन्द्र का स० १०८७ आदि उपर लिख आये है वही समय वसुनदि के दादा गुरु नयनदि का भी मान लिया जावे तो इस हिसाब से वसुनदि का अस्तित्व विक्रम की १२ वीं शती के दूसरे चरण मे माना जा सकता है।

एक और श्रीनदि का उल्लेख स्व० पडित जुगलकिशोर जी मुख्तार ने वसुनदि के समय का निर्णय करते हुए रत्न-करण्ड-श्रावकाचार की प्रस्तावना पृ० ७४ मे किया है वहा लिखा है .—

"श्रीनदि को दिये हुए कुछ दानो का उल्लेख गुडिगेरि के टूटे हुए एक कनडी शिलालेख मे पाया जाता है जो वि० स० ११३३ का लिखा हुआ है। इससे मालूम होता है कि श्रीनदि वि० सं० ११३३ मे भी मौजूद थे। ऐसी हालत मे आपके प्रशिष्य नेमिचन्द्र के शिष्य वसुनदि का समय विक्रम की १२ वीं शताब्दी का प्रायः अन्तिम भाग और सभवत, १३ वी शताब्दी का प्रारम्भिक भाग भी अनुमान किया जा सकता है।"

इस तरह अब तक के अन्वेपण के अनुसार १२ वी शताब्दी का दूसरा चरण और १३ वी का प्रथम चरण दोनो ही समय वसुनदि के हो सकते है।

प्रभाचन्द्र ने रत्नकरड टीका पृ० ८० मे "पडिगहमुच्च-ट्ठाण" गाथा दी है। यह गाथा वसुनदि श्रावकाचार मे २२५वे नम्बर पर है परन्तु दोनो गाथाओ का चौथा चरण भिन्न है इससे ऐसा आभास होता है कि इस प्राचीन गाथा का चौथा चरण बदल कर वसुनदि ने इसे अपनी बना ली है। प्रभाचन्द्र ने इसे अन्यत्र से ली है।

वसुनदि के नाम से श्रावकाचार के अतिरिक्त मूलाचार पर आचारवृति भी पाई जाती है। कुछ विद्वान दोनो रचनाओं को एक ही वसुनदि की कृति मानते हैं पर मैं इससे सहमत नही हू मैं उक्त दोनो रचनाओ को वसुनदि नाम के दो भिन्न-भिन्न

ग्रथकारो की कृति समझता हू।

आचारवृत्ति मे एक स्थान पर अमितगतिश्रावकाचार के कुछ पद्य उद्धृत है इससे यह कहना कि आचारवृत्ति के कर्त्ता वसुनदि अमित-गति के बाद हुये है ठीक नही अमितगति ने भी तो सस्कृत भगवती आराधना के अत मे वसुनदि का उल्लेख किया है इससे अमितगति और वसुनदि दोनो समकाल मे हुए सिद्ध होते है और सभवतः ये ही वसुनदि आचारवृत्ति के कर्त्ता है।

अमितगति ने वि० सं० १०५० मे राजा मुज के समय मे "सुभाषित रत्नसदोह" बनाया है। उस वक्त यदि अमितगतिकी आयु २५ वर्ष के लगभग को मान ले और पूरी आयु उनकी ७५ वर्ष करीब की भी मान ले तो अमितगति का अस्तित्व वि० स० ११०० के आसपास तक ही रहता है और इनके समकालीन होने के कारण इन वसुनदि का अस्तित्व भी ११०० के आसपास ही मानना होगा जबकि श्रावकाचार के कर्त्ता वसुनदि का कम से कम निकट का समय ऊपर १२वी शताब्दी का दूसरा चरण सिद्ध किया है। ऐसी हालत मे दोनो वसुनदि अपने आप ही भिन्न-भिन्न सिद्ध हो जाते है।

इसके अलावा मूलाचार समयसाराधिकार के प्रारम्भ मे टीकाकार वसुनदि ने नरेन्द्रकीर्ति का उल्लेख किया है। जबकि श्रावकाचार के कर्त्ता वसुनदि ने नरेन्द्रकीर्ति का प्रशस्ति आदि मे कही कोई नाम नही दिया है इससे भी दोनो वसुनदि जुदे-जुदे ही सिद्ध होते है।

प्रभाचन्द्र

जो प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड व न्यायकुमुदचन्द्रोदय

ग्रन्थो के कर्त्ता हैं तथा जिन्होंने अनेक ग्रन्थो पर टीका टिप्पण लिखे है उनका समय विक्रम की ११वी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर १२वी के प्रथम चरण तक का है। यह समय अब अनेक प्रमाणो और उल्लेखो से अच्छी तरह स्पष्ट हो गया है अत यहाँ उसके दोहराने की जरूरत नही है। यहाँ हम विद्वानो का ध्यान इस बात पर आकृष्ट करना चाहते है कि प्रभाचन्द्र ने प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि की समाप्ति पर जो पुष्पिका वाक्य लिखे है उनमे वे अपने को धारा-निवासी पडित प्रभाचन्द्र लिखते है इसका क्या मतलब है ? इन वाक्यो से साफ तौर पर यह प्रतिभासित होता है कि-उस वक्त तक प्रभाचन्द्र ने गृहत्याग नही किया था। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड को उन्होने धारा मे राजा भोज के समय मे बनाया और न्यायकुमुद को भोज के उत्तराधिकारी राजा जयसिंह के समय मे बनाया। अगर वे महाव्रती हो गये होते तो भोज से लेकर जयसिंह तक के लम्बे समय तक एक ही धारा नगरी मे कैसे रह सकते थे ? और मुनि हुये बाद स्वय ही अपने को किसी एक खास नगर का निवासी भी कैसे लिख सकते थे ? और देखिये इन्हीं प्रभाचन्द्र ने आराधना गद्य कथाकोश लिखा है जिसमे ८६वी कथा के आगे पुष्पिका वाक्य लिखे है और ग्रन्थ-समाप्ति पर भी लिखे हैं इस प्रकार एक ही ग्रन्थ मे दो जगह प्रशस्ति लिखी है इसका कारण यही मालूम होता है कि—८६ कथा तक की रचना उन्होने गृहस्थावस्था मे की है और उनसे बाद की कथायें भट्टारक होकर की हैं इसीसे वे प्रथम प्रशस्ति मे अपने को पडित प्रभाचन्द्र लिखते है और दूसरी प्रशस्ति मे अपने को भट्टारक प्रभाचन्द्र लिखते हैं।

और जो इन्होंने न्यायकुमुद आदि की प्रशस्तियो मे अपने

को पद्मनदि का शिष्य लिखाहै उसका तात्पर्य इतनाही समझना चाहिये कि पद्मनदि के पास से उन्होने जैन शास्त्रो का अध्ययन किया था जिससे वे उनके विद्यागुरु लगते थे अत प्रभाचन्द्र ने विद्यागुरु के नाते पद्मनन्दि का उल्लेख किया है। इसके सिवा ग्रन्थ की प्रामाणिकता को जाहिर करने की दृष्टि से भी निर्ग्रन्थ गुरु का उल्लेख करना उन्होने आवश्यक समझा है। (जिस तरह गृहस्थ मेधावी ने अपने श्रावकाचार मे जिनचन्द्र मुनि का उल्लेख किया है)

भास्कर नंदि

जिन्होने तत्वार्थसूत्र पर सुखबोधा नाम की सस्कृत मे टीका लिखी उन भास्करनन्दि के समय का निर्णय भी अभी तक नही हो पाया है। इन्होने इस टीका के अत मे प्रशस्ति लिखी है जिसमे केवल अपने गुरु और प्रगुरु का नाम मात्र लिखा है पर टीका का कोई समय नही दिया है।

प्रशस्ति के जिन श्लोको मे भास्करनन्दि ने अपने प्रगुरु का नाम दिया है वह नाम अशुद्ध प्रतीत होता है जिससे भास्करनन्दि का समय गडबड होरहा है, देखिये—

नोनिष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं ह्येहि याहीति जातु।
नोकंडूयेत्गात्रं व्रजति न निशिनोद्‌घाटयेत् द्वारं दत्ते ॥
नावष्टभ्नाति किंचिद् गुणनिधिरितियो बद्धपर्यं कयोगः
कृत्वासन्यासमंतेशुभगतिरभवत्सर्वसाधुः स पूज्य ॥३॥
तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टि विभवः सिद्धांत पारं गतः,
शिष्य श्रीजिनचंद्रनामकलितश्चारित्रभूषान्वित ।
शिष्यो भास्करनंदिनामविबुधस्तस्याभवत्तत्ववित् ।
तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्वार्थवृत्तिःस्फुटं ॥४॥

इनमे तीसरे श्लोक के चौथे चरण मे जो "शुभ गति" शव्द है वह अशुद्ध है, उससे अर्थ की सगति ठीक नही बैठती। इस श्लोक मे भास्करनन्दि ने अपने जिनचन्द्रगुरु के गुरु का नाम लिखा है पर श्लोक मे सर्वसाधु के सिवा अन्य किसी नाम की उपलब्धि नही होती किन्तु "सर्वसाधु" कोई नाम नही होता।

अगर 'शुभगति' के स्थान पर 'शुभयति' पाठ मान लिया जाये तो मामला सब साफ हो सकता है। शुभयनि का अर्थ होगा शुभचन्द्र भट्टारक। प्रशस्ति के उक्त श्लोको का तब इस प्रकार अर्थ होगा .—

जो न तो थूकते हैं, न सोते हैं, न दूसरो को आने जाने को कहते हैं, न शरीर को खुजाते हैं, न रात्रि मे गमन करते हैं, न द्वार को खोलते हैं, न द्वार को बद करते हैं, न पीठ लगाकर दीवार के सहारे बैठते हैं। ऐसे शुभचन्द्र मुनि (सवस्त्र भट्टारक) वद्धपर्यंक होकर आयु के अन्त मे सन्यास धारण कर सर्वसाधु (नग्न दिगम्बर) हो गए थे वे पूज्य हैं। उनके शुद्धदृष्टि, सिद्धात-पारगामी, चारित्र भूषण जिनचन्द्र नाम के शिष्य थे। उन जिनचन्द्र के तत्वज्ञानी भास्करनन्दि नाम के विद्वान् शिष्य हुए जिन्होने तत्वार्थसूत्र पर यह सुखबोधिनी टीका बनाई"।

पद्मनन्दि के शिष्य ये वे शुभचन्द्र हैं जिन्होंने दिल्ली जयपुर की भट्टारकीय गद्दी चलाई। इनका समय वि स १४५० से १५०७ तक माना है। फिर इनके पट्ट पर जिनचन्द्र बैठे थे। जिनचन्द्र का समय वि. म १५०७ से १५७१ तक का माना जाता है। इन जिनचन्द्र ने प्राकृत मे सिद्धातसार ग्रन्थ लिखा था जो माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा "सिद्धातसारादि सग्रह" में

छपा है। वि. सं. १५४८ मे सेठ जीवराजजी पापडीवाल ने शहर मुडासा मे इन्ही जिनचन्द्र भट्टारक से हजारो मूर्तियो की प्रतिष्ठा कराई थी। श्रावकाचार के कर्त्ता प० मेधावी इन्ही जिनचन्द्र के शिष्य थे। उक्त भास्करनन्दि को भी सभवत इन्ही का शिष्य समझना चाहिये। इस हिसाव से इन भास्करनन्दि का समय विक्रम की १६ वी शताब्दी माना जा सकता है।

एक "ध्यानस्तव" नाम का संस्कृत ग्रन्थ जिसमे अधिकतया रामसेन कृत तत्वानुशासन का अनुसरण किया गया है और जो जैन-सिद्धातभास्कर भाग १२ किरण २ मे छपा है वह भी इन्ही भास्करनन्दि का वनाया हुआ है। उसकी प्रशस्ति मे भी वे ही पद्य हैं जो तत्वार्थ टीका मे लिखे है अत. दोनो के कर्त्ता एक ही है।

श्री कुमार कवि

इनका वनाया हुआ १४९ सस्कृत पद्यो का एक "आत्मप्रवोध" नामक ग्रन्थ है, जो भारतीय जैन सिद्धात प्रकाशिनी सँस्था कलकत्ता से हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ था। अनुवादक प० गजाधरलालजी न्यायतीर्थ थे। यह अध्यात्म विषय का बडा ही सरस सुन्दर ग्रन्थ है। कवि ने ग्रन्थ के अन्त मे अपना नाम देने के सिवा और कुछ भी परिचय नही दिया है, रचनाकाल भी नही लिखा है, इस ग्रन्थ का निम्नांकित पद्य प आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत अ० ९ श्लो० ४३ की टीका मे उद्धृत किया है :—

मनोवोधाधीनं विनयविनियुक्तं निजवपु—
र्वच पाठायत्तं करणगणमाधाय नियतम्।

दधान स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैनवचने;
करोत्यात्मा कर्म क्षयमिति समाध्यन्तरमिदं ॥५१॥
—आत्मप्रबोध

अर्थ :—जिस स्वाध्याय मे मन ज्ञान के ग्रहण धारण मे लीन रहता है, शरीर विनय सयुक्त रहता है, वचन पाठ के उच्चारण मे लगा रहता है और इन्द्रिय-समूह नियत्रित रहता है इस प्रकार सारी परिणति जिसमे जिनवाणी की ओर रहती है ऐसे स्वाध्याय को धारण करने वाला निश्चय ही कर्मों का क्षय करता है, अत. स्वाध्याय भी एक तरह से समाधि का रूपान्तर ही है।

इससे सिद्ध होता है कि यह आत्म-प्रबोध ग्रथ प आशाधरजी से पहिले का बना हुआ है ।

हस्तिमल्लके 'विक्रात कौरव' नाटकसे पता पडता है कि एक श्रीकुमार कवि उनके ४ बडे भाइयो मे सब से बडे भाई थे। अगर उनके समय का आशाधर की प्रौढावस्था के समय से मेल बैठता हो तो वे ही श्रीकुमार कवि इस आत्मा-प्रबोध के कर्त्ता माने जा सकते है और तब यो कहना चाहिये कि आशाधर की पिछली उम्र मे वे मौजूद थे। अनगारधर्मामृत की टीका वि स १३०० मे पूर्ण हुई अत उससे पांच सात वर्ष पहिले श्रीकुमार कवि ने आत्म-प्रबोध बनाया होगा। ऐसी हालत मे हस्तिमल्ल के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भिक समय विक्रम की १४ वीं शती का प्रथम चरण समझना चाहिये।

इस तरह ७ ग्रन्थकारो के समयादि पर यहाँ कुछ नया प्रकाश डाला गया है।

स्व० पं० मिलापचन्द्रजी कटारिया ने अपने अध्ययन के बल पर जैन समाज के मूर्धन्य विद्वानों में स्थान प्राप्त किया था। अध्ययन की उनकी यह दृष्टि बडी पैनी थी। स्मारिका को अपने जीवन के प्रारम्भ काल से ही उनका सहयोग मिला था। खेद है वे अब हमारे बीच नहीं रहे। जैन शास्त्रो का तलस्पर्शी अध्ययन रखने वाले विद्वानों की माला का एक मणिया टूट गया। पुरानी पीढी के विद्वान् एक एक कर काल कवलित हो रहे हैं और नए उनका स्थान ग्रहण करने को आ नही रहे है। निश्चय ही जैन समाज के लिये यह स्थिति शोचनीय और विचारणीय है।

सम्बन्धित आचार्यों के काल निर्णय सम्बन्धी विवाद को हल करने में प्रस्तुत रचना पर्याप्त अंशो मे सहायक सिद्ध होगी।



२६

अजैन साहित्य में जैन उल्लेख और सांप्रदायिक संकीर्णता से उनका लोप

अमर कोष

अमरकोष संस्कृत का एक जगद्विख्यात प्राचीन कोश ग्रंथ है। इसके कर्त्ता अमरसिंह हैं जैसाकि तीनों काडो के अन्त मे दिये "इत्यमरसिंह कृतौ नामलिंगानुशासने" श्लोक द्वारा प्रकट है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के आरम्भ मे देवनामो मे प्रथम अपना नाम 'अमर' दिया है। इसी तरह ग्रन्थ के आदि मगल-श्लोक मे भी "अमृताय च" के रूप मे 'अमर' नाम द्योतित किया है।

ग्रन्थ का नाम पूर्वोक्त श्लोकानुसार "नामलिंगानुशासन" है (जिसमे नाम और लिंग दोनो एक साथ बताये गये है जो इसकी अन्य कोशोसे खास विशेषता है, किन्तु ग्रंथकारके नाम पर इसका नाम अमरकोष प्रसिद्ध हो गया है और आज यह कोष संस्कृत जगत् मे वास्तव मे ही अमर हो गया है। इसमे ३ काड होनें से 'त्रिकाड कोश' और देवभाषा-सस्कृत मे होने से देव कोश भी इसके नाम है। इस पर संस्कृत को निम्नाकित टीकाये है –१ व्याख्या प्रदीप २. काशिका ३. अमरकोषोद्घाटन,

४ कौमुदी ५ पदार्थ कौमुदी ६. शब्दार्थ सदीपिका ७ अमर पजिका ८ अमर दीपिका ९ सुबोधिनी १०. व्याख्या सुधा ११ शारदा सुन्दरी १२ विद्वन्मनोहरा १३ अमर विवेक १४ मधु माधवी १५ पद चन्द्रिका १६ त्रिकाड चिन्तामणि १७ त्रिकाड विवेक १८ प्रदीप मजरी १९ पीयूष २० वैपम्य कौमुदी २१. पद विवृति २२ पदमजरी २३ व्याख्यामृत २४ सन्देह भजिका २५ टीका सर्वस्व २६ अमरकोप टीका (आशाधर कृत) २७ त्रिकाड रहस्य २८. अमर चद्रिका आदि ।

इनके अतिरिक्त-कनडी, काश्मीरी, चीनी, फारसी, तिव्वती, तेलगु, मराठी, ब्राह्मी, श्यामी, सिहली, अग्रेजी, हिन्दी, गुजराती, उर्दू, आदि भापाओ मे भी अमरकोप पर टोकाये बनी हैं। "कवि काव्यकाल कल्पना" नाम के बृहद् ग्रन्थ मे अमरकोप की ६९ टीकाओ का विवरण दिया है।

विविध प्राचीन ग्रथो की सस्कृत टीकाओ मे इस कोष के अनेक जगह प्रमाण दिये गये हैं। इसका पठन पाठन सस्कृत की प्राय. सभी पाठशालाओ मे अद्यावधि चला आ रहा है। यह सब इस कोश की महान् लोकप्रियता का द्योतक है। इसी से-कवियो ने ये उद्घोप किये हैं-"अमरोऽयं सनातन"। "अमरकोपो जगत्पिता"।

अमरकोप मे बौद्ध और वैदिक धर्म के अवतारी पुरुषो के नाम हैं किन्तु जैन तीर्थंकरो के कोई नाम नही है। ग्रन्थकार बहुत उदार रहे हैं। (उन्होने मगलाचरणमे भी किसी धर्माराध्य का नाम नही दिया है) फिर उन्होने जैन महापुरुषो के नाम

नही देकर अपने कोष को अपूर्ण क्यो रखा ? यह प्रश्न प्रत्येक निष्पक्ष विचारक और जैन धर्मानुयायी के मस्तिष्क मे सहज उठता है । इसके लिए जब हमने अमरकोप की कुछ सस्कृत टीकाओ को देखा तो मालूम हुआ कि बुद्ध के नामो के आगे जिन देव के भी नाम अवश्य मूल ग्रन्थकार ने दिये है किन्तु वह श्लोक सप्रदायाभिनिवेश के कारण मूल से निकाल दिया गया है और धीरे-धीरे उसका लोप कर दिया गया है देखिये —

(१) ओरियटल बुक एजेसी पूना से सन् १९४१ मे प्रकाशित क्षीरस्वामि कृत (ईस्वी ११वी शती) टीका पृष्ठ ७ प्रथम काड-श्लोक १५ की टीका के आगे-

(सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन् केवली तीर्थ-
कृज्जिनस्त्रिकाल विदाद्या ऊह्या)

(२) निर्णय सागर प्रेस मुम्बई से सन् १९१५ मे प्रकाशित-व्याख्या सुधा पृष्ठ ८

"यद्यपि वेद विरुद्धार्थानुष्ठातृत्वा
ज्जिनशाक्यौ नरकवर्गे वक्तुमुचितौ ।
तथापि देवविरोधित्वेन बुद्धयुपारोहादत्रैवोक्तौ ।"

(अर्थ —यद्यपि वेद विरोधी होने से जिनेन्द्र और बुद्ध के नाम नरक वर्ग मे देने चाहिये तो भी यहा इसलिये दिये गये हैं कि उनका देव विरोधित्व साथ साथ वुद्धि मे आ जाये)

इसी पर टिप्पणी १ लगाकर लिखा है--क्वचित्पुस्तके इत उत्तरम्- "सर्वज्ञोवीतरागोऽर्हन् केवली तोर्थकृज्जिन. । जिन देवता नामानि षट् । इत्यधिकम् ॥

(३) आज से ११२ वर्ष पूर्व विक्रम स. १९१६ मे प्रकाशित देवदत्त त्रिपाठी कृत हिन्दी टीका पृ० ३ पर लिखा है:— "सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्, केवली, तीर्थंकृत, जिन ये ६ नास्तिक के देवताओ के नाम है।" (मूल मे श्लोक नही दिया है, जब हमने पूरे श्लोक के लिये अमरकोष की हस्तलिखित प्रतियो की खोज की तो बघेरा, टोंक, निवाई आदि के जैन भण्डारो की प्रतियो मे वह पूरा श्लोक इस प्रकार उपलब्ध हुआ—

"सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्केवली तीर्थकृज्जिनः ।
स्याद्वादवादी निर्ह्रीकः निर्ग्रन्थाधिप इत्यपि ॥"

अनेक जैन विद्यालयो के संस्कृत कोर्स (पाठ्यक्रम) मे अमरकोष नियत है। अधिकारियो का कर्त्तव्य है कि—वे यह श्लोक विद्यार्थियो को अमर कोष मे पढाने का प्रबन्ध करावें जिससे इसका प्रचार हो। साथ ही जैन प्रकाशन सस्थाओ का भी कर्त्तव्य है कि—वे भी अमरकोष मे बुद्ध के नामो के आगे यह श्लोक मोटे टाइप मे प्रकाशित कर अमरकोष के विविध सस्करण निकाले जिससे दीर्घकाल से चली आ रही क्षति की कुछ पूर्ति हो।

इसी की टाइप (नकल) का श्लोक धनंजय नाममाला मे इस प्रकार है—

सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्केवली धर्मचक्रभृत् ॥११६॥

इससे भी अमरकोष मे उक्त श्लोक वर्तमान रहना प्रमाणित होता है।

जिन देव के नाम वाले श्लोक के सिवा अमरकोष के

द्वितीय कांड के ब्रह्म वर्ग मे श्लोक ६ के बाद आठ दार्शनिको मे जैनदर्शन के भी दो नाम दिये हैं देखिये– स्यात्स्याद्वादिक आर्हत ।। पूरे आठ दर्शनो के दो-दो नाम इस प्रकार दिये हैं –

मीमांसको जैमिनीये, वेदांती ब्रह्मवादिनी ।
वैशेषिके स्यादौलूक्यः, सौगत शून्यवादिनि ।।१।।
नैयायिकस्त्वक्षपादः स्यात्स्याद्वादिक आर्हतः ।
चार्वाक लौकायतिको, सत्कार्ये सांख्य कापिलौ ।।२।।

इनमे सभी भारतीय (श्रमण वैदिक) दर्शन आ गये हैं अत ये श्लोक वहुत महत्वपूर्ण हैं फिर भी अनेक सस्करणो मे इन्हे क्षेपक रूप मे प्रदर्शित किया है और अनेक मे बिल्कुल निकाल ही दिया है सभवत. यह सब बौद्ध और जैन इन दो श्रमण-धर्मों से विरोध के कारण किया गया है★ अन्यथा ये श्लोक मूल ग्रन्थकार कृत हैं, क्योंकि हेमचन्द्राचार्य ने भी(१२वी शती मे) इसी की स्टाइल पर निम्नाकित श्लोक "अभिधान चिन्तामणि" के मर्त्यकाड ३ मे इस प्रकार बनाये है –

स्याद्वाद वाद्यार्हत स्यात्,
शून्यवादी तु सौगतः ।।५२५।।
नैयायिकस्त्वक्षपादो योग.
सांख्यस्तु कापिल ।

★श्लोक १ के चौथे चरण मे बौद्ध के और श्लोक २ के दूसरे चरण मे जैन के नाम हैं अगर इन नामो को हटाकर सिर्फ वैदिक दर्शन के ही नाम रहने से देते तो दोनो श्लोक अधूरे हो जाते अत विवश हो दोनो श्लोको को ही मूल से निकाल दिया है ।

वैशेषिकः स्यादोलूक्यः,
बार्हस्पत्यस्तु नास्तिकः ॥५२६॥
चार्वाक लौकायतिकश्चैते
षडपि तार्किकाः ।

(इनमें षड् दर्शनों के ही नाम दिये हैं शेष दो मीमांसा और वेदांत के नाम देवकाड २ के श्लोक १६४-६५ मे दिये है)

अतः जैन ग्रन्थ-प्रकाशको को चाहिये कि वे इन दो "मीमांसको जैमिनीये....." श्लोकों को भी अमरकोष काड २ के ब्रह्मवर्ग मे श्लोक ६ के बाद मोटे टाइप मे प्रकाशित करने का प्रक्रम करे जिससे सांप्रदायिको का प्रयत्न विफल हो और ग्रन्थ अक्षुण्ण बने+

+बघेरा, उदयपुर, टौंक आदि के जैन भण्डारों मे प्राप्त अमरकोष की प्रतियो के अन्त मे लेखको ने भिन्न-भिन्न प्रशस्तिया दी हैं पाठको के उपयोगार्थ समुच्चय रूप से नीचे उन्हें भी प्रस्तुत किया जाता है इनमे प्रथम जैन और द्वितीय शैव हैं:—

—अन्त्य प्रशस्ति—

१— कृतावमरसिंहस्य, नामलिंगानुशासने ।
काण्डस्तृतीय. सामान्यः, साग एव समर्थित ॥
इत्युक्त व्यवहारार्थं, नामलिंगानुशासनम् ।
शब्दाना न मतोअन्त, तावपीन्द्रवृहस्पती ॥
पद्मानि बोधयत्यर्क , काव्यानि कुरुते कवि ।
तत्सौरभ नभस्वत , सन्तस्तन्वन्तु तद्गुणान् ॥
(वायुरित्यर्थः)

अमरसिंह किस सप्रदाय-विशेप के थे यह उन्होंने कही नही लिखा है किन्तु अमरकोप के सूक्ष्म अध्ययन और अन्य प्रमाणो से इसका निर्णय किया जा सकता है वही नीचे देखिये:- अमरदीपिका टीका मे अमरकोप के मगलाचरण को बुद्ध वाची वताया है। इसी तरह क्षीर स्वामी (वैदिक) टीका मे भी मगलाचरण को जिन (बुद्ध) वाची ही वताया है। तथा वामनाचार्य-दुर्गाप्रसाद, काशीनाथ, शिवदत्त, एन जी देसाई, शील-स्कध वेवर आदि वैदिक, बौद्ध, अग्रेज विद्वानो ने अपने प्रस्तावना-निवन्धों मे अमरकोप कार को बौद्ध ही माना है इसके लिये इन्होने निम्नाकित ३ युक्तिया दी है –

(१) अमरसिंह ने देव विशेष के नामों मे सर्वप्रथम

यदक्षर पद भ्रष्ट, स्वर व्यंजन वर्जित ।
तत्सर्वं क्षम्यता देवि, प्रसीद परमेश्वरि ॥
यावत्पृथ्वी रविर्यावत् यावच्चन्द्र हिमाचलौ ।
पठ्यमाना बुधै स्ताव, देषा नन्दतु पुस्तिका ॥
यावच्छ्री वीतरागस्य, धर्मो जयति भूतले ।
विद्वद्भिर्वाच्यमानोऽय ग्रन्थस्तावद्विनन्दतु ॥
२– यावच्चन्द्र दिवाकरौ ग्रहपती क्षोणी समुद्रा अपि ।
यावद् व्योम वितान सलिभतया दिक् चक्र माक्रामति ॥
यावद् देहनिवासिनी पशुपते गौरी मुख चुम्बति ।
ताव त्तिष्ठतु कोष एष सुधिया कठेषु रत्नोपम ॥
नानाकवीना भुवि नाम कोषा ।
सन्त्येव शब्दार्थविदा प्रवधा ।
तथापि सूक्तेऽमरसिंह नाम्न ।
कवे रतीव प्रसृत मनो मे ।

भगवान् बुद्ध और उनके अवातर भेदो के नाम दिये है फिर वैदिक देवी-देवताओ के नाम दिये है।

(२) काड ३ नानार्थ वर्ग ३ के श्लोक ३१ मे "धर्मराजौ जिनयमौ" पाठ दिया है इसमे जिन (बुद्ध) को प्रथम दिया ह और यम (वैदिक श्राद्ध देव) को वाद मे। अगर ग्रन्थकार चाहते तो 'यमजिनौ' पाठ भी दे सकते थे इसमे छदोभग की भी आपत्ति नही थी किन्तु उनके तो जिन (बुद्ध) आराध्य थे अत• पहिले उन्हे स्थान दिया।

(३) यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि–अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वभाष्यमचूचुरत् अर्थात्– पापी अमरसिंह ने सारा भाष्य (पातजल महाभाष्य) चुरा लिया। अगर अमरसिंह वैदिक होते तो वैदिक विद्वान् कभी उनको पापी और भाष्य की चोरी करने वाला नही बताते।

इनसे स्पष्ट है कि अमरसिंह बौद्ध विद्वान् थे। इसके वावजूद भी कुछ जन विद्वान् अमरसिंह को जैनधर्मानुयायी वताते है और अमरकोष को जैन कोष। इसके लिये उनकी युक्तिया निम्नाकित है–

(१) किसी जैन ग्रन्थकार ने एक कथा दी है कि अमर-सिंह नाममालाकार धनजय कवि के साले थे।

(२) जैन शास्त्र भण्डारो मे अमरकोष की अनेक प्रतिया मिलती हैं।

(३) अमरकोष पर जैन विद्वान् आशाधर (वि. १३ वीं शती) ने टीका बनाई है।

(४) शाकटायन (जैन व्याकरण की स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति (वि. स ९वी शती) मे अमरकोप का उल्लेख है ।

(५) "जैन बोधक" वर्ष ४३ अक ५ (फरवरी १९३३) मे एक हस्तलिखित प्रति के अनुसार अमरकोष मे १२५ जैन श्लोक दिये हैं और अमरसिह को जैन सिद्ध किया है एव उनको बौद्ध माने जाने का निरसन किया है ।

नीचे क्रमश सक्षेप मे इनकी समीक्षा की जाती है—

(१) यह कथा किसी ने यो ही गढ डाली है इसमे अनेक ऊलजलूलताये है अत. यह बिल्कुल अप्रामाणिक है। इसमे अमर सिह को धनजय का साला बताया है जो निराधार है क्योकि धनजय ८-९ विक्रम शतीके हैं जबकि अमरसिह इनसे कम से कम चार-पाच सौ वर्ष पूर्व हुए हैं जैसा कि इतिहास से प्रमाणित है—

(क) ७वी ८वी विक्रम शती मे बौद्ध विद्वान् जिनेन्द्र बुद्धि ने काशिका विवरण पजिका मे अमरकोप का "तत्र प्रधाने सिद्धाते" ॥१८५॥ (नानार्थ वर्ग, काड ३) श्लोक उद्धृत किया है ।

(ख) उज्जयिनी के गुणराट् ने ईसा की ६ठी शती मे अमरकोष का चीनी अनुवाद किया है ।

(ग) क्षीर स्वामी (शिवोपासक, ईस्वी ११वी शती) ने अमरकोषोद्घाटन मे लिखा है कि अमरसिह चन्द्रव्याकरणकार चन्द्र गोमिन् से पूर्व हुए हैं। चन्द्रगोमिन् वसुराट् के गुरु और ४५० ईस्वी मे होने वाले बगाली, बौद्ध विद्वान् है ।

(घ) धन्वन्तरि. क्षपणकामरसिह शकु वेताल भट्ट घटकर्पर कालिदासा. ।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपते सभाया रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इस प्रसिद्ध श्लोक मे अमरसिंह को विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नो मे से एक रत्न वताया है।

ऐसी हालत मे अमरसिंह को धनजय का साला वताना कितना मनघढत है यह पाठक सहज जान सकते हैं।

(२) जैन भण्डारो मे अमरकोप की प्रतिया मिलने से उसे जैन कोप वताना यह अद्भुत युक्ति है इस तरह तो जैन भण्डारो मे मिलने वाले अनेक वैदिक ग्रन्थ यथा-भर्तृहरि कृत शतकत्रय, कालिदास कृत मेघदूत, रघुवश आदि भी जैन ग्रन्थ हो जायेंगे। और वैदिक भण्डारो मे मिलने वाले जैन ग्रन्थ वैदिक हो जायेंगे अत यह युक्ति निस्सार ही नही बल्कि काफी आपत्तिजनक है। वास्तविकता यह है कि ग्रन्थ भण्डारो मे विरुद्ध धर्मों के ग्रन्थो का सग्रह उनका परस्पर अध्ययन समीक्षण करने की दृष्टि से किया जाता है।

(३) आशाधर ने तो रुद्रट के काव्यालकार और वाग्भट के अष्टाग हृदय आदि वैदिक ग्रन्थो पर भी टीका बनाई है अत. किसी जैन विद्वान् के द्वारा जैनेतर ग्रन्थ पर टीका बनाने से वह ग्रन्थ जैन नही हो जाता। जैसे जिनसेनाचार्य ने कालिदास के मेघदूत को अपने पार्श्वाभ्युदय मे वेष्टित कर लिया है इससे मेघदूत जैनग्रन्थ नही हो जाता। अमरकोष पर तो पचासो वैदिक विद्वानो ने टीकाये लिखी हैं इससे वह वैदिक ग्रथ नही हो गया। स्वय अनेक वैदिक विद्वानो ने युक्तिपूर्वक अमरकोष को बौद्ध ग्रन्थ सिद्ध किया है जैसा कि पूर्व मे बताया जा चुका है।

(४) जैन ग्रन्थो मे किसी ग्रन्थ का उल्लेख मात्र होने से ही वह जैन ग्रन्थ नही हो जाता। जैन ग्रन्थो मे तो अनेक जैनेतर ग्रन्थो के उल्लेख हैं इस तरह तो वे भी सव जैन ग्रथ हो जायेंगे अत. यह युक्तिवादभी लचरहै। जैनेतर ग्रन्थो मे भी अनेक जैनग्रन्थो के उल्लेख है इससे जैनग्रन्थ जैनेतर नही वन जाते। सही बात यह है कि–परस्पर विद्वान् एक दूसरे धर्म के लोक-प्रिय ग्रन्थो का प्रमाण रूप मे या समीक्षादि के रूप मे उल्लेख करते आये हैं।

(५) जैन वोधक अक ५ मे जो १२५ श्लोक दिये है उनमे मगलाचरण का एक श्लोक "श्रिय पति पुष्यतु व समीहित" " बताया है। किन्तु यह श्लोक तो मूलत. वादीभसिंह कृत गद्य चिन्तामणि का है। इसी तरह की हालत कुछ अन्य श्लोको की भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि–जब अमरकोष को जैन वनाने के लिये कथा गढ डाली गई तो किसी जैन विद्वान् ने अमरकोष को स्पष्ट जैन वनाने की दृष्टि से या उसमे जैन कथनो क अभाव की पूर्ति करने की दृष्टि से यह प्रयत्न किया है। इस वक्त उक्त अक हमारे पास नही होने से हम उसकी पूरी समीक्षा नही कर रहे है। कोई भी विज्ञ पाठक थोडे से विचार से ही उसकी निस्सारता-युक्ति हीनता अच्छी तरह हृदयगम कर सकता है।

अव मैं नीचे ऐसे दो नये प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ जिनसे सहज जाना जा सकेगा कि अमरकोष जैन कोष नही है.–

(१) अमरकोष के टीकाकार प आशाधरजी ने अनगा-रधर्मामृत अध्याय १ श्लोक २४ के स्वोपज्ञ भाष्य मे पृष्ठ २९ पर–

लोके यथा–"स्याद्धर्ममस्त्रिया पुण्य श्रेयसी सुकृत वृष-इति" । लिखा है यह अमरकोष के काड १ काल वर्ग ४ का २४वा श्लोक है । इसी के बाद—

"शास्त्रे यथा–" करके आत्मानुशासन गुणभद्र कृत का एक श्लोक और नीतिवाक्यामृत (सोमदेव कृत) का एक सूत्र दिया है ।

इससे साफ प्रकट है कि आशाधर ने अमरकोष को लौकिक ग्रन्थ वताया है, जैन ग्रन्थ नही ।

(२) अमरकोष की अनेक प्रतियो मे प्राप्त–"सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन् ·" श्लोक जो पूर्व मे उद्धृत किया गया है उसमे जिनेन्द्र का नाम 'निर्ह्रीक' भी वताया है । जिसका अर्थ लज्जाहीन (नग्न) है । ऐसा नाम कभी कोई जैन अपने आराध्य-देव के प्रति नही दे सकता ।

धनजय कृत नाममाला और हेमचन्द्र कृत अभिधान चिन्तामणि जो प्रसिद्ध प्राचीन जैन कोष हैं उनमे कही भी यह नाम या इसके अर्थ का कोई पर्यायवाची नही है । हाँ शिवो-पासक क्षीर स्वामी ने जरूर अमरकोष टीका मे पृष्ठ १७३ पर ब्रह्म वर्ग मे बुद्ध और जैनादि के नाम देते हुए दिगम्बर जैन के इस प्रकार नाम उद्धृत किये हैं–

क्षपणार्षि दिगम्बर । नग्नाट· श्रावकोऽह्लीको, निग्रंथो जीवजीवको ।।' इसमे एक नाम 'अह्लीक' है जिसका भी अर्थ लज्जाहीन (नग्न) ही है । यह साफ अमरकोष के 'निर्ह्रीक' का पर्यायवाची है卐

अत. स्पष्ट है कि अमरकोष जैन कोष नही है। अमरकोष मे २४ तीर्थंकरो के नाम, जैन सैद्धातिक-प्ररूपण, जैन पारिभाषिक शब्द आदि कुछ भी तो जैनत्व सूचक कथन नही पाये जाते। उल्टा, काड ३ विशेष्यनिघ्न वर्ग प्रत्यक्ष स्यादैन्द्रियकमप्रत्यक्षमतीन्द्रिय ।।७६।। मे ऐन्द्रियक ज्ञान को प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय ज्ञान को अप्रत्यक्ष बताया है जो तत्वार्थ सूत्र (जैन सिद्धात ग्रथ) के 'आद्ये परोक्ष" "प्रत्यक्षमन्यत्" सूत्रो के विरुद्ध पडता है।

ऐसी हालत मे अमरकोप को जैन बताना मिथ्या मोह मात्र है। निष्पक्ष दृष्टि से यह बौद्ध ही है–सत्य का अनुरोध भी यही है।

अमरकोष के ब्रह्मवर्ग में जो ब्राह्मण धर्मीय कथन है उससे कोई इसे वैदिक माने तो यह ठीक नही है। अमरकोष के पहिले भी कात्य, वाचस्पति, व्याडि, भागुरि आदि के वैदिक कोष ग्रन्थ थे उन्ही मे ब्रह्म वर्ग के अपने विषयानुसार सामग्री ली गई है जो विषय की पूर्णता की दृष्टि से आवश्यक थी। इसी को ग्रथकार ने ग्रन्थारभ मे "समाहृत्यान्य तन्त्राणि सक्षिप्तै: प्रतिसस्कृतै" ।।२।। श्लोक से व्यक्त किया है। श्वे. जैन हेमचन्द्राचार्य ने भी यह सब ब्राह्मण धर्मीय कथन अपने "अभिधान चिन्तामणि" कोष मे दिया है।

कोष, व्याकरण, गणित, आयुर्वेद आदि विषय ऐसे हैं जो किसी सप्रदाय विशेष से सम्बद्ध नही होते। अगर कोई ऐसा करता है तो वह अपूर्णता को ही प्राप्त होता है उसे लोकप्रियता नही मिलती।

अत: पूर्णता की दृष्टि से अमरसिंह ने बौद्ध होते हुए भी अमरकोष मे बौद्ध जैन वैदिक सभी भारतीय धर्मों का परिचायक आवश्यक लोक प्रसिद्ध कथन बडी उदारता के साथ सग्रह किया है।

कहाँ तो ग्रन्थकार की महान् उदारता और कहा व्याख्या सुधाकर का यह लिखना कि–"वेद विरोधी होने से बुद्ध और जिनेन्द्र के नाम नरक वर्ग मे देने चाहिये थे"। यह कथन कितना संकीर्ण और गौरव विहीन है पाठक स्वय विचार करें।

—श्रृंगार शतक—

(मोक्ष मार्ग प्रकाशक) के ५वें अधिकार मे "अन्यमतो से जैनमत की तुलना" प्रकरण के अन्तर्गत प. टोडरमलजी सा. ने भर्तृहरि कृत वैराग्य शतक नाम के प्राचीन वैदिक ग्रन्थ से एक श्लोक दिया है जो इस प्रकार है.–

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्धधारी हरो।
नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासंगो न यस्मात्पर ॥
दुर्वारस्मर बाण पन्नग विष व्यासक्त मुग्धो जनः।
शेष कामविडंबितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षम ॥

अर्थात्–रागियों मे तो एक महादेव हैं जिन्होने अपनी प्रियतमा (पार्वती) के आधे शरीर को धारण कर रखा है। और वीतरागियो मे एक जिनदेव है जिनसे बढकर स्त्री-त्यागी कोई दूसरा नही है। शेष लोग तो दुर्निवार कामदेव के बाण रूपी सर्प विष से ऐसे गाफिल हैं कि जो विषयो को न तो भली-भाति भोग ही सकते हैं और न छोड़ ही सकते हैं–इस तरह वे

सिर्फ काम विडवना से पीडित हैं ।

इस श्लोक मे योगिराट् भर्तृहरि ने सरागियो मे महादेव को और वीतरागियो मे जिनदेव को प्रधान बताया है ।

सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली से प्रकाशित मोक्ष मार्ग प्रकाशक मे पृ २०१ पर इस श्लोक को श्रृंगार शतक का ९७वा श्लोक और मथुरा के संस्करण मे पृ १२९ पर इसे श्रृगार शतक का ७१वा श्लोक बताया है। किन्तु हमने भर्तृहरि के अनेक मुद्रित शतकत्रयो को देखा-बहुत सो मे तो-"न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी" यह सोचकर इस श्लोक को बिल्कुल निकाल ही दिया है देखो-ज्ञानसागर प्रेस बम्बई से सन् १९०२ मे प्रकाशित "भर्तृहरि शतकम्" (सस्कृत हिन्दी टीका युक्त)तथा सन् १९२० से १९२३ मे हरिदास एण्ड कम्पनी मथुरा से प्रकाशित-विस्तृत हिन्दी टीका युक्त) प्रसिद्ध, सचित्र सस्करण ।

कुछ संस्करणो मे यह श्लोक देने की तो कृपा की है किन्तु उसे इस तरह बदल कर रख दिया है:-

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो ।
नीरागेष्वपि यो विमुक्तललनासगो न यस्मात्पर ॥
दुर्वारस्मर बाण पन्नग विष ज्वालावलीढो जन ।
शेषः काम विडबितो हि विषयान्
भोक्तु च मोक्ष क्षमः ॥८३॥

देखो-सन् १९१९ मे निर्णयसागर प्रेस मुम्बई से प्रकाशित कृष्ण शास्त्रि कृत सस्कृत टीका सहित 'श्रृगार शतक' का चतुर्थ सस्करण ।

इसमे खास परिवर्तन-"नीरागेषु जिनो" की जगह "नीरागेष्वपि यो" किया गया है। इस तरह मूल ग्रथ कार ने जो जिनेन्द्र को वीतरागियो मे प्रधान बताया था उस विशेषता का सर्वथा ही लोप कर दिया है। और मन कल्पित पाठ परिवर्तन कर अर्थ यह दिया गया है कि-सरागियो और वीतरागियो दोनो मे ही एक महादेव ही प्रधान है किन्तु यह अर्थ श्रृंगार शतक के ही प्रथम-श्लोक के विरुद्ध है जिसमे स्पष्ट बताया है कि-"उस विचित्र चरित्र कामदेव को नमस्कार हो जिसने महादेव ब्रह्मा और विष्णु को भी मृगनयनी गृहिणियो का दास बना दिया है।"

दूसरी बात यह है कि-"न यस्मात्पर" पद के साथ कृष्ण शास्त्रीजी का पूर्वोक्त अर्थ जमता ही नही है। इसके सिवा इस पद के 'न' को श्लोक के अन्तिम पद के साथ जोडकर अर्थ किया गया है उससे महान् दूरान्वय दोष उत्पन्न हो गया है। तथा 'भोक्तु न मोक्षु' क्षम" इस अन्तिम पद के 'न' की जगह 'च'-कर दिया गया है इससे भी बड़ा बेतुकापन हो गया है।

सही बात है-सम्प्रदायाभिनिवेश न ग्रन्थ के गौरव को देखता है और न अर्थ को वास्तविकता को (उसे तो दोनो की मिट्टी पलीद करनें से काम)

कहाँ तो मूल ग्रन्थकार की निष्पक्ष उदात्त भावना और कहा सकीर्णतावश उसका लोप और विपर्यास ! दोनो पर विज्ञ पाठक विचार करें।

—वैशम्पायन सहस्रनाम—

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के उक्त प्रकरण मे ही आगे वैश-

म्यायंन सहस्रनाम का यह श्लोक दिया गया है –कालनेमिर्मंहा-वीर. शूर. शौरि जिनेश्वर ' ।। यह श्लोक महाभारत के अनुशासन पर्वं, अध्याय १४६ का ८२वा श्लोक है। जहा वैशम्पायनजी ने विष्णु के सहस्रनाम का प्ररूपण किया है। इसमे विष्णु का एक नाम 'जिनेश्वर' दिया है। (सभवत इसीसे हेम-चन्द्राचार्य ने 'अनेकार्थ संग्रह' काड २ श्लोक २६६ मे लिखा है–'जिनोऽर्हद् बुद्ध विष्णुषु'।)

परन्तु साम्प्रदायिकता को यह भी सहन नही हुआ है और किसी ने इसको इस प्रकार बदल दिया है –कालनेमिनिहा वीर शौरि शूरजनेश्वर । देखो–श्रीपाद दामोदर सातवेलकर, औंध (सितारा) से सन् १६३१ मे प्रकाशित महाभारत। तथा गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत पृ ६०४३ (सन् १६५८) ।

मूलग्रन्थकार की उदारता का हनन कर अप्रमाणिकता को प्रश्रय देने की पद्धति कहा तक शोभनीय है इस पर विज्ञ पाठक विचार करें।

—मनुस्मृति, यजुर्वेद—

आगे 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' मे निम्नाकित ३ श्लोक मनु-स्मृति से और १ मंत्र भाग यजुर्वेद से उद्धृत किया है–

कुलादि बीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहन ।
चक्षुष्मान् यशस्वी नाभि चन्द्रोऽथप्रसेन जित् ।।१।।

मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुल सत्तमा ।
अष्टमो मरुदेव्या तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।।२।।

दर्शयन्वर्त्म वीराणां सुरासुर नमस्कृत ।
नीति वितय कर्त्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः ॥३॥

ॐ नमोऽर्हतो ऋपभो ॐ ऋपभ पवित्र पुरुहूत मध्वर यज्ञेषु नग्न परममाहसस्तु त वर शत्रु जयत पशुरिन्द्रमाहुति रिति स्वाहा । ॐ त्रातारमिद्र ऋपभ वदति अमृतारमिन्द्र हवे सुगत सुपार्श्वमिन्द्र हवे शक्रमजित तद्वर्धमान पुरुहूत मिन्द्रामाहुरिति स्वाहा ।"

आज ये दोनो कथन भी मनुस्मृति और यजुर्वेद मे नही पाये जाते । प टोडरमलजी के वाद २०० वर्षो मे ही साप्रदायिको ने साहित्य का कितना अगभग और उसमे कितना रद्दोवदल कर दिया है यह इन प्रमाणो से अच्छी तरह जाना जा सकता है 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' मे पं टोडरमलजी ने और भी विविध वैदिक ग्रन्थो से जैन उल्लेख उद्धृत किये है शायद उनमे से कुछ और को भी यही हालत हुई हो ।

इस प्रकार जैन उल्लेखो के निष्कासन और विपर्यास की यह छोटी सी कहानी है । अव एक दो उदाहरण ऐसे भी नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमे एतद् विषयक वड़ा ही अर्थ का अनर्थ किया गया है—

'सत्यार्थ प्रकाश' द्वि सस्करण सन् १८८४ के पृष्ठ ४४७ पर लिखा है:—

न भुंक्ते केवली न स्त्री मोक्ष मेति दिगंबराः ।
प्राहुरेषामय भेदो महान् श्वेतावरैः सह ॥

इसका अर्थ स्वामी दयानन्दजी सा. ने इस प्रकार किया

है—"दिगबरो का श्वेताम्बरो के साथ इतना ही भेद है कि—दि लोग स्त्री का ससर्ग नही करते और श्वे करते है इत्यादि बातो से मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यह इनके साधुओ का भेद है"। उर्दू सस्करण मे भी लिखा है—दि श्वे मे इतना ही इखतलाफ है कि—दि औरत के नजदीक नही जाते और श्वे जाते हैं।"●

यह श्लोक वास्तव मे सायण माधवाचार्यकृत "सर्वदर्शन-सग्रह" (१३०० ईस्वी सन्) का है। खेमराज श्री कृष्णदास बम्बई से वि स १९६२ मे प्रकाशित सस्करण मे पृष्ठ ७३ पर यह ९२वा श्लोक दिया है। उदयनारायणसिहजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है:—"अकेला न भोजन करते न स्त्री को भोगते ऐसा दिगम्बर मोक्ष को पाते हैं यह वडा भेद श्वेताम्बरो के साथ कहा है।"

ये सब अर्थ कितने असत्य और शालीनता से बाहर है यह जैनधर्म से थोड़ा भी परिचय रखने वाले अच्छी तरह जान सकते है।

● बादके सस्करणोमे इस अर्थ मे थोडा परिवर्तन कर दियाहै फिर भी सही अर्थ नही हो पाया है। पूरा सही अर्थ इस प्रकार है—"केबली (अर्हन्त) भोजन नही करते और स्त्री मोक्ष नही प्राप्त करती ऐसा दिगम्बर कहते हैं यही श्वेताम्बरो के साथ इनका महान् भेद है।" सत्यार्थ प्रकाश मे जो जैन धर्म की आलोचना के लिये एक लम्बा चौडा समुद्देश लिखा है इस एक नमूने से ही उसकी भी असत्यता और अप्रमाणिकता का अच्छी तरह परिचय मिल जाता है।

इसी प्रकार के गलत हिन्दी अनुवाद इस 'सर्वदर्शनसग्रह' मे पद पद पर है—उदाहरणत पृष्ठ ७२ पर देखिये—'अष्टादश दोषा न यस्य च ॥८३॥' इसका अर्थ किया है—"ये ही १८ नयदोष है।" जबकि इसका सही अर्थ यह है कि—"जिसके १८ दोष नही है" (ऐसे जिनेन्द्र हैं)। इसी तरह पृ ७३ पर देखिये—

लुंचिता पिच्छकाहस्ता पाणिपात्रा दिगंबरा ।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातु द्वितीयास्यु जिनर्षय ॥८१॥

इसमे तीसरे चरण का अर्थ इस प्रकार किया है—"दिगबर लोग दाता के घर भी भोजन नही करते हैं।" जबकि सही अर्थ यह है कि—'दाता के घर मे खडे भोजन करने वाले दि हैं।'

निष्पक्ष उदार विद्वानो से प्रार्थना है कि—वे साम्प्रदायिक सकीर्णता की पर्याप्त निंदा करें और जो इस प्रकार के कार्य हुए हो उन्हे वापिस सुधारे जिससे श्रमण ब्राह्मण धर्म मे परस्पर भ्रातृभाव की ओर भी वृद्धि हो।

'शत्रोरपि गुणा वाच्या' के रूप मे कहो चाहे सहज रूपमे कहो पूर्वकालीन अनेक वैदिक विद्वानो ने जैनधर्म के प्रति वात्सल्य भाव प्रदर्शित किया है जो उनकी उदात्त भावना का द्योतक है। इसकी जड उन्होने इतनी गहरी डाली थी कि—जैनो के भगवान् ऋषभदेव को ८वें ऋषभावतार के रूप मे मान्य किया था। आज के साप्रदायिको को उस ओर ध्यान देना चाहिये एव पूर्वजो के गुणानुराग का अनुसरण करना चाहिये। इसी मे भारतीत एकता है जो आज के युग की खास आवश्यकता है।

अमरकोष के कर्त्ता अमरसिंह किस धर्म के मानने वाले थे यह आज भी निश्चय रूप से नही कहा जा सकता, यद्यपि ऐतिहासिको का बहुमत उन्हे बौद्ध मानता है। स्व रावजी सखाराम दोशी के अनुसार 'यस्य ज्ञान ··· ' वाले श्लोक से पूर्व दो श्लोक प्राचीन प्रतियो मे '१ जिनस्य लोक त्रयवन्दितस्य···· ' २ नम श्री शान्तिनाथाय·····' और थे जिन्हे धार्मिक असहिष्णुता के कारण निकाल दिया गया। इसमें से श्लोक सख्या १ तो गद्य चिन्तामणि का मगलाचरण है किन्तु २ का श्लोक कहाँ का है अभी भी शायद अज्ञात ही है। इस ही प्रकार 'सर्वज्ञोवीतरागो··· ·· ' वाला श्लोक भी मुद्रित प्रतियो मे नही है जबकि हस्तलिखित कई प्रतियो मे वह मिलता है, कोषकार ने जिनेन्द्र वाची नाम अपने कोष मे न दिये हो यह बात मानी नही जा सकती। निष्पक्ष ऐतिहासिकों को इस सम्बन्ध मे और भी अनुसधान कर सच्चाई प्रस्तुत करनी चाहिये।



मूर्ति निर्माण की प्राचीन रीति

आज कल हम देखते हैं कि जिस किसी बन्धु को जिन मूर्ति की प्रतिष्ठा करानी होतीहै, वह यदि मूर्ति बडे परिमाणकी चाहता हो या और कोई विशेष प्रकार की चाहता हो और वैसी बनी बनाई तैयार मूर्ति कारीगरो के यहाँ नही मिलती हो तो प्रतिष्ठा से बहुत पहिले ही किसी कारीगर को साई देकर व कीमत तय करके उसका सौदा कर लिया जाता है और जो साधारण प्रतिमा की ही प्रतिष्ठा करानी होती हैं तो प्रतिष्ठा के आस-पास के वक्त मे ही बनी बनाई मूर्ति किसी कारीगर से खरीद ली जाती हैं। जहाँ पचकल्याणक प्रतिष्ठा का महोत्सव होता है वहाँ भी तैयार मूर्तियाँ लेकर बेचने को कितने ही कारीगर लोग पहुँच जाते हैं। उनसे भी कितने ही जैनी भाई मूर्तियाँ खरीद कर प्रतिष्ठा करवा लेते हैं। आज कल सर्वत्र ऐसा ही आम रिवाज हो गया है। इस विषय मे शास्त्रोक्त मार्ग क्या है उसे लोग भूल से गये हैं। आज से करीब सवासात सौ वर्ष पूर्व के बने प० आशाधरजी के प्रतिष्ठा पाठ मे इस विषय मे जो कथन किया गया है उसको देखने से मालूम होता है कि आज की यह प्रथा पुरानें जमानें मे नहीं थी। इस विषय मे जैसा कथन आशाधरजी ने किया है वैसा ही प्राय. वसुनन्दी ने भी स्वरचित प्रतिष्ठा सार संग्रह ग्रन्थ मे किया है। यह प्रतिष्ठा पाठ अभी तक मुद्रित नही हुआ है।

मूर्ति घडाने के लिये जगल मे जाकर खान से पाषाण कैसा हो और किस विधि से लाया जावे और कैसे कारीगर से मूर्ति घडाई जावे इत्यादि कथन जो इन प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे लिखा मिलना है उसकी जानकारी आधुनिक जैन समाज को नही के वरावर है। अत मैं यहा उस प्रकरण को वसुनदिकृत प्रतिष्ठा पाठ से लिखता हू। यह वर्णन उसके तीसरे परिच्छेद मे है।

गृहे निष्पाद्यमाने च निष्पन्ने भावयिष्यति।
शिला विबार्थमानेतु गच्छेच्छिल्पि समन्वित ॥६७॥

जिन मन्दिर बन रहा हो उसके पूर्ण होने मे अभी थोडा काम वाकी हो तब ही प्रतिमा वनाने के लिए पाषाण लेने को शिल्पी के साथ जावे।

कृत्वा महोत्सवं तत्र निमित्तान्य वलोक्य च।
यात्रानुकूल नक्षत्रे सुलग्ने शोभने दिने ॥६८॥

जाने से पहिले वहा उच्छव करे और शुभ निमित्तो को देखे। फिर उत्तम लग्न और शुभ दिन मे अनुकूल नक्षत्र के होते यात्रा करे।

(आगे ७ श्लोक मे यात्रा मुहूर्त सम्बन्धी ज्योतिप का विषय लिखा है। विस्तारभय से वह कथन यहा छोडा जाता है।)

गच्छत्वेवं प्रयत्नेन सम्यगन्वेषयेच्छिला।
प्रसिद्धपुण्यदेशेषु नदी नगवनेषु च ॥७६॥

प्रसिद्ध पुण्य स्थानो, नदी, पर्वत, वनो मे जाकर वहा यत्न के साथ अच्छी तरह से प्रतिमा वनाने योग्य पाषाण को ढूढना चाहिए।

श्वेता रक्ता ऽसिता पीता मिश्रा पारावतप्रभा ।
मुद्गकापोतपद्माभा मजिष्ठाहरिताप्रभा ॥७७॥
कठिना शीतला स्निग्धा, सुस्वादा सुस्वरा दृढा ।
सुगंधात्यंततेजस्का मनोज्ञा चोत्तमा शिला ॥७८॥

वह शिला जिससे कि प्रतिमा वनाई जायेगी सफेद, लाल, काली, पीली, कबु री, सलेटिया, मू गिया, कबूतरिया, कमल जैसे रग की, मजीठ के रग जैसी और हरे रग की होनी चाहिये। और वह कठिन, ठण्डी, चिकनी, उत्तम स्वाद वाली, उत्तम आवाज की (झोजरी न हो) मजवूत, अच्छी गधवाली, अत्यन्त चमकीली, मनोहर और उत्तम होनी चाहिए।

मृद्वी विवर्ण दग्धा वा लघ्वी रूक्षा च धूमिला ।
निःशब्दा बिंदुरेखादिदूषिता वर्जिता शिला ॥७९॥

जो कमल, कुवर्ण, जली हुई, हल्की, रूखी, धूमिल, विना आवाज की, और विंदुरेखादि दोषो वाली हो ऐसी शिला प्रतिमा बनाने के काम मे नही लेनी चाहिये। ।

परीक्ष्यैवं शिलां सम्यक् तत्र कृत्वा महोत्सवम् ।
पूजां विधाय शस्त्राग्रं ह्रू कारेणाभि मंत्रयेत् ॥८०॥

परीक्षा से उत्तम शिला मिल जाय तो खान मे से उस शिला को काटने के पहिले वहा भली प्रकार उच्छव के साथ पूजा विधान करके जिस शस्त्र से शिला को काटनी हो उस शस्त्र के अग्रभाग को "ओम् ह्रू फट् स्वाहा" इस मत्र से मन्त्रित कर लेवे।

शिलां विभिद्य शस्त्रेण पुनर्गंधादिभिर्यजेत् ।
प्रदोषसमये कृत्वा गंधं हस्तानु लेपनम् ॥८१॥

फिर उस शस्त्र के द्वारा शिला को काटकर उसकी गधादि से पूजा करे। तत्पश्चात् रात्रि के पूर्व भाग मे गध द्रव्यो का हाथो मे लेपन करके

सिद्धभक्ति बिधाया दौ मंत्र मनसि संस्मरेत्।
ओम् नमोस्तु जिनेन्द्राय ओम् प्रज्ञाश्रवणे नम ॥८२॥
नम केवलिने तुभ्यं नमोस्तु परिमेष्ठिने।
स्वप्ने मे देवि विद्यांगे ब्रूहि कार्यं शुभाशुभम् ॥८३॥
अनेन दिव्यमंत्रेण सम्यग्ज्ञात्वा शुभाशुभम्।
प्रात स्तत्र पुनर्गत्वा पूजयेत्ता शिला तत ॥८४॥

और प्रथम ही सिद्धभक्ति का पाठ करके आग के मत्र का मन मे स्मरण करें। "ओम् नमोस्तु जिनेन्द्राय, ओम् प्रज्ञा-श्रवणे नम। नम केवलिने तुभ्य, नमोस्तु परमेष्ठिने॥ स्वप्ने मे देवि! विद्यागे!, ब्रूहि कार्यं शुभाशुभ"॥ इसका स्मरण करते हुये सो जावे। इस दिव्यमत्र से स्वप्न मे अच्छी तरह शुभाशुभ जानकर यदि कार्य शुभ दीखे तो प्रभात ही फिर वहा जाकर उस शिला की पूजा करे।

यथा कोटिशिला पूर्वं चालिता सर्वविष्णुभिः।
चालयामि तथोत्तिष्ठ शीघ्र चल महाशिले ॥८५॥
सप्ताभिमन्त्रिता कृत्वा मत्रेणानेन तां शिलाम्।
पीडार्थं प्रतिमार्थं वा रथमारोपयेत्ततः ॥८६॥

"यथा कोटिशिला। ." यह पूरा श्लोक ही मत्र है। इस मत्र से उक्त शिला को ७ बार मत्रित किये वाद बैठक सहित प्रतिमा को बनाने के लिये उस शिला को रथ मे रखकर ले चले।

एवमानीय तां सम्यक् त्रि परीत्य जिनालयम् ।
कृत्वा महोत्सवं तत्र सुदिने संप्रवेशयत् ॥८७॥

इस प्रकार उस शिला को अच्छी तरह लाकर किसी शुभ दिन मे उच्छव करके और जिनालय की तीन प्रदक्षिणा देकर जिन मन्दिर मे ले जावे ।

वही शिल्पी को बुलाकर उससे उस शिला की मूर्ति घडाई जावे । इस सम्बन्ध मे आशाधरकृत प्रतिष्ठा पाठ मे इस प्रकार लिखा है—

सुलग्ने शांतिकं कृत्वा सत्कृत्य वरशिल्पिनम् ।
तां निर्मापयितु जैनं बिंबं तस्मै समर्पयेत् ॥६१॥
सद्दृष्टिर्वास्तु शास्त्रज्ञो मद्यादि विरत शुचिः ।
पूर्णांगो निपुण शिल्पी जिनार्चाया क्षमादिमान् ॥६२॥
[अध्याय १]

अर्थ—शाति विधान करके शुभ मुहुर्त मे जिनबिब बनाने के लिये किसी अच्छे कारीगर को सत्कारपूर्वक वह शिला सुपुर्द कर देवे । वह कारीगर तेज नजर का, वास्तु शास्त्र का ज्ञाता मद्यादिका त्यागी, पवित्र, पूर्णांगी, शिल्पकाम मे निपुण और क्षमादिकाधारी- अक्रूर परिणामी होना चाहिये । ऐसा शिल्पी जिनबिब बनाने के योग्य होता है ।

पाठक देखेगे कि जिन प्रतिमा बनाने के कहा तो पूर्व काल के विधि-विधान और कहा आज की प्रथा, दोनो मे आकाश पाताल का अन्तर है । प्रतिमा निर्माणार्थ पाषाण लाने की विधि तो दूर रही आजकल तो इतना भी विचार नही किया जाता कि जिस मूर्ति को हम प्रतिष्ठार्थ ले रहे है उसका घडने

वाला शिल्पी कही मद्यमासाहारी तो नही है ? बस बाजार बिकती चीज खरीद की और प्रतिष्ठा मे रख दी ऐसी मूर्तियो मे चमत्कारो की आशा करना मृगमरीचिका है। पाषाण को भगवान बनाना कोई बच्चोका खेल नही है। पूर्वकालमे भगवान की मूर्ति घडने वाले सलावट भी ऐसे विचारवान् होते थे कि वे अपना खानपान शुद्ध रखते थे और पवित्र रहते थे और हम परमेश्वर की मूर्ति घडने वाले हैं इस बात से अपने आप मे गौरव का अनुभव करते थे। इसी से आशाधरजी ने आकर-शुद्धि का वर्णन करते हुए जन्मकल्याणक मे भगवान् का प्रथम धूली कलशाभिषेक सूत्रधार (शिल्पी) के हाथ से कराना लिखा है। ऐसे शिल्पियो का सन्मान भी उस जमाने मे खूब किया जाता था। उनके सन्मान का उल्लेख भी आशाधरजी ने उक्त कलशाभिषेक के कथन मे किया है। इन्होने ही प्रतिष्ठाविधि मे गर्भकल्याणक के प्रसग मे एक और उल्लेख किया है—

सार्वर्तुकानि वरवस्त्रफलप्रसून
शय्यासनाशनविलेपन मडनानि ।
तत्तत्क्रियोपकरणानि तथेप्सितानि
तीर्थेशमातुरुपदी कुरुतां धनेश ॥२०।
[अध्याय ४]

ओम् निधीश्वर जिनेश्वरमात्रे भोगोपभोगान्युपनयोपनयेति स्वाहा। चारुवस्त्र मुद्रिकाहार फल पत्रपुष्पादिक पीठाग्रे प्रतिष्ठयेत्। तच्च सर्वं विश्वकर्मा गृह्णीयात्।

अर्थ - सब ऋतुओ के उत्तम वस्त्र, फल, पुष्प, शय्या, आसन, भोजन, विलेपन, मडन तथा और भी उन उन क्रियाओं की साधक इच्छित सामग्री को कुबेर जिनमाता को भेंट करें।

सुन्दर वस्त्र, अगूठी, हार, फल, पत्र पुष्पादि भेट की सामग्री को "ओम निधीश्वर" आदि ऊपर लिखे मत्र को बोलते हुए भद्रासन के आगे रक्खे। उस सब सामग्री को शिल्पी ग्रहण करे। आजकल इनमे से वस्त्र, शय्या, आसन आदि चीजो को कोई कोई प्रतिष्ठाचार्य पण्डित ले लेते हैं या यह सामग्री मेला कराने वाली पचायत या यजमान के अधिकार मे रह जाती है। पहिले इसके लेने का नियोग शिल्पी का था जैसा कि आशाधर जी ने कहा है।

गर्भावतार की विधि मे शिल्पी सम्बन्धी एक और उल्लेख आशाधरजी ने निम्न प्रकार किया है—

"तामेव रहसि पुरानिरूपितप्रतिष्ठेयामर्हत्प्रतिमां नूतन-सितसद् वस्त्रप्रच्छादिता पुरश्चरतटंकिकाकरविश्वकर्मा सौध-र्मेन्द्रो महोत्सवेनानीय सुविशुद्धभद्रासनगर्भपद्मे निवेशयेत्।"

जिसके आगे टाकी हाथ मे लेकर प्रतिमा घडने वाला शिल्पी चल रहा है, ऐसा सौधर्मेन्द्र पूर्व कथित उसी प्रतिष्ठेय जिनप्रतिमा को नये सफेद उत्तम वस्त्र से ढककर और महोत्सव के साथ लाकर पवित्र भद्रासन पर कमल के मध्य मे एकात मे स्थापन कर दे।★

★ आचार्यकल्प प० टोडरमलजी के साथी विद्वद्वर प० रायमल्लजी कृत 'ज्ञानानन्द श्रावकाचार" के पृष्ठ १०२-१०३ पर भी मूर्ति निर्माण के विषय मे इस प्रकार वर्णन है —

"आगे प्रतिमा का निर्मापण के अर्थ खान जाय पाषाण लावे ताका स्वरूप कहिये हैं—सो वह गृहस्थी महा उछाव सू खान जावे

इन उद्धरणो से सहज ही जाना जा सकता है कि प्राचीन काल में भगवान की प्रतिमा बाजारू खरीद बेच की चीज नही थी जिस शिला से वह बनाई जाती थी वह भी खान से बडे विधि-विधान से लाई जाकर मन्दिर मे रक्खी जाती थी और वही पर सलावट आकर उसे बनाता था। बनाने वाला शिल्पी भी शुद्ध आचार-विचार का धारी होता था और वह समाज मे सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। यहा तक कि प्रतिष्ठा की विधियो मे भी उसे साथ रक्खा जाता था और प्रतिष्ठोपयोगी कितने ही बहुमूल्य पदार्थों की प्राप्तिके अधिकार भी उसे मिले हुए थे जिससे वह मालोमाल हो जाता था। इसके अतिरिक्त और भी पुरस्कार उसे यजमान द्वारा मिला करते थे।

खान की पूजा करे। पीछे खान को न्योत आवे अरु कारीगर ने मेल आवे सो वह कारीगर ब्रह्मचर्य अगीकार करे, अल्प भोजन ले, उज्ज्वल वस्त्र पहिरे, शिल्पशास्त्र का ज्ञानी घना विनय सू टाकी करि पाषाण की धीरे-धीरे कोर काटे।

पीछे वह गृहस्थ गृहस्थाचार्य सहित और घना जैनी लोग, कुटुम्ब परिवार के लोग गाजा-बाजा बजाते मगल गावते जिनगुण के स्तोत पढते महा उत्सव सू खान जाय। पीछे फेरि बांका पूजन कर विना चाम का सजोग करि महामनोज्ञ रूपा सोना के काम का महा पवित्र मन कू रजायमान करने वाला रथ विषे मोकली रूई का पहला मे लपेट पाषाण रथ मे धरे। पीछे पूर्ववत् महा उत्सव सू जिन मन्दिर लावे।

पीछे एकांत स्थानक विषे घना विनय सहित शिल्पशास्त्रानुसार प्रतिमाजी का निर्माण करे ता विषे अनेक प्रकार गुण-दोष लिख्या है

जिस मूर्ति को माध्यम बनाकर हम अपने आराध्य देव की आराधना करके अपना कल्याण करते है—इहलोक परलोक सुधारते हैं उस मूर्ति को बाजारू चीज बना देने से क्या उसका गौरव रहेगा, यह प्रश्न काफी गम्भीर और विचारणीय है।

सो सर्व दोषा ने छोड सम्पूर्ण गुण सहित यथाजात स्वरूप निपुणता होय चार पाच सात वर्ष मे होय, एक तरफ तो जिन मदिर की पूर्णता होय और एक तरफ प्रतिमाजी अवतार धरे।

पीछे घने गृहस्थाचार्य पडित अरु देश-देश का धर्मी ताकू प्रतिष्ठा का मुहुर्त ऊपर कागज दे दे घना हेत सू बुलावे। सर्व सघ को नित प्रति भोजन होय और सर्व दु खित को जिमावे, कोई जीव विमुख न होय रात्रि दिवस ही प्रसन्न रहे।

पीछे भला दिन भला मुहुर्त विषे शास्त्रनुसार प्रतिष्ठा होय। घनो दान बटे इत्यादि घनी महिमा होय। ऐसी प्रतिष्ठी प्रतिमाजी पूजना योग्य है। बिना प्रतिष्ठी पूजना योग्य नही॥"

●

सारे देश मे प्रतिवर्ष कितनी ही पचकल्याणक प्रतिष्ठायें होती हैं और उनमे १०-२० नही किंतु सैकडो की सख्या मे जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा होती है। लेकिन ये मूर्तिया शास्त्रोक्त विधि से निर्मित कलापूर्ण एव मनोज्ञ हैं या नहीं इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। प्रस्तुत लेख मे विद्वान् लेखक ने मूर्त्ति निर्माण की शास्त्रोक्त विधि पर विशद प्रकाश डाला है उस पर मूर्त्ति प्रतिष्ठापको एव प्रतिष्ठाचार्यों का ध्यान जाना आवश्यक है।



३१

पीठिकादि मंत्र और शासनदेव

कुछ पडितो का कहना है कि आदि पुराण मे भगवज्जिनसेन ने पीठिकादि मत्रो मे "सौधर्माय स्वाहा" "कल्पाधिपतये स्वाहा" "अनुचराय स्वाहा" इत्यादि सुरेन्द्र मत्र लिखे हैं। तथा अग्निकुमारो के इन्द्र और कुबेर का भी मत्रो मे उल्लेख किया है। ऐसा कथन करके आचार्य जिनसेन ने देवगति के देवो की पूजा करने का सकेत किया है उससे शासन देवो की पूजा करना सिद्ध होता है।

नीचे हम इस लेख मे इसी बात पर ऊहापोह करते है—

आशाधरजी आदि कृत प्रतिष्ठा ग्रन्थो में चक्रेश्वरी आदि २४ यक्षियो को शासन देवता और गौमुख आदि २४ यक्षो को शासन देव के नाम से लिखा है। इसके अलावा नवग्रह, दशदिग्पाल, क्षेत्रपाल, जयादि देविये और रोहिणी आदि विद्या देविये इत्यादि देवदेवियो की यागमडल मे स्थापना कर उनकी प्रतिष्ठादि ग्रथो मे पूजा करने का कथन आता है। उनमे से भी किसी देव-देवी का नाम इन पीठिकादि मत्रो मे नही है। जब कि क्रियाकाडी ग्रन्थो मे अधिकतर इन्ही की पूजा-आराधना लिखी है तब जिनसेन का पीठिकादिमत्रो मे उनमे से किसी एक का भी उल्लेख न करना यह बताता है कि आचार्य श्री जिनसेन उक्त देव-देवियो की पूजा आराधना करने के पक्ष मे कतई नही थे।

रही वात सुरेन्द्र मत्रो को सो इस विपय मे ऐमा समझना चाहिये कि भगवज्जिनमेन ने आदि पुराण मे गर्भ से लेकर निर्वाणपर्यंत ५३ गर्भान्वय क्रियाये कही है। उनमे से सब से उत्तम ७ क्रियाओं को परमस्थान वताते हुये उनका कर्त्रन्वय नामकरण किया है।

अगले तीसरे भवमे तीर्थंकर होनेवाला जीव जव उच्चवर्ण के शुद्ध जाति कुल मे जन्म लेकर गर्भाधानादि संस्कारो से युक्त होता है तव उसके सज्जाति नामक प्रथम परमस्थान माना जाता है। सज्जाति ही आत्मोन्नति का मूल आधार है। वह सज्जाति का धारी सम्यग्दृष्टि श्रावक जब इज्या, वार्ता, दत्ति, आदि षट्कर्मों को करता हुआ धर्म मे दृढ रहता है, अन्य गृहस्थो मे न पाई जावे ऐसी शुभ वृत्ति का धारी होता है और पाप रहित आजीविका करता है तथा शास्त्र ज्ञान और चरित्र मे विशिष्ट होता है तब वह गृहस्थो का स्वामी गृहस्थाचार्य कहलाता है इसे ही गृहीशिता नामकी २० वी क्रिया कहते है और यही सद्गृहित्व नामका दूसरा परमस्थान कहलाता है। वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक ग्रामपति और मानार्ह इन नामो को कहकर लोग उसका सत्कार करते है। (आदिपुराणपर्व ३८ श्लोक १४७) उक्त सद्गृहस्थ जब वस्त्रादि परिग्रहो का त्याग कर जिनदीक्षा धारण करता है तव उसके जिनरूपता नाम की २४ वी क्रिया होती है। यह ही पारिव्राज्य नामक तीसरा परमस्थान कहलाता है। इस क्रियाका धारी ही आगे चलकर सोलह कारण भावना भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है। वह मुनि समाधिमरण से प्राण त्याग कर जब स्वर्ग मे उत्पन्न हो इन्द्रपदवी का धारी होता है तब उसके इन्द्रोपपाद नामकी ३३ वी क्रिया होती है

और वह ही सुरेन्द्रत्व नामक चौथा परमस्थान कहलाता है। फिर वह इन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर गर्भ-जन्मकल्याणक से युक्त तीर्थंकर हो चक्रवर्त्तिपद का धारी होता है तब उसके साम्राज्य नामकी ४७ वी क्रिया होती है और वही साम्राज्य नामक ५ वा परमस्थान माना जाता है। तदनतर वे तीर्थंकर दीक्षा ले मुनि हो तप कर केवलज्ञान पा अर्हंत अवस्था को प्राप्त होते हैं तब उनके अष्टप्रातिहार्य, बारहसभाये, समवशरण आदि विभूतिये होती हैं, इसे ही ५० वी आर्हंत्य क्रिया कहते है और यही ६ वा परमार्हंत्य नामक परमस्थान माना जाता है। इस अर्हंत अवस्था के बाद जब उन तीर्थंकर की मोक्ष होती है तब वह ५३ वी अग्रनिर्वृत्ति नाम की क्रिया कहलाती ह और यही "परनिर्वाण" नामक ७ वा परमस्थान माना जाता है।

यद्यपि ये क्रियायें गर्भान्वय की ५३ क्रियाओ के अतर्गत है तथापि जब ये क्रियायें किसी तीर्थंकर होनेवाले जीव के होती है तब उनकी कर्त्रन्वय नाम से जुदी सज्ञा कही जाकर वे सात परमस्थान माने जाते हैं। जैसे गर्भ से सम्बन्धित क्रियाये गर्भान्वय कही जाती हैं, और दीक्षा से सम्बन्धित क्रियाये दीक्षान्वय कही जाती हैं। उसी तरह किसी विशिष्ट कर्त्ता से (तीर्थंकर जीव से) सम्बन्ध रखने वाली क्रियाये कर्त्रन्वय कहलाती हैं। नही तो कर्त्रन्वय सज्ञा का अन्य क्या अर्थ हो सकता है? अतिनिकट काल मे तीर्थंकर होने वाले ऐसे जो कोई पुण्यशाली जीव हैं उन्ही के ये कर्त्रन्वय क्रियाये होती है। आदिपुराण मे लिखा है कि –

अथात संप्रवक्ष्यामि द्विजा· कर्त्रन्वयक्रियाः।
या प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेयु र्भव्यदेहिन ॥८१॥
पर्व ३९

तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया याः प्राप्याः पुन्यकर्तृभिः।
फलरूपतया वृत्ताः सन्मार्गाराधनस्य वै ।।६६।।
सज्जाति. सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ।।६७।।
स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये।
अर्हन्वाग्मृता स्वादात् प्रतिलभ्यानि देहिनाम् ।।६८।।
पर्व ३८

अथ —अथानतर हे द्विजो मैं आगे उन कर्त्रन्वय क्रियाओ को कहता हू जोकि अतिनिकट भव्यप्राणी ही के हो सकती है।

कर्त्रन्वय क्रियायें वे है जो पुण्य करने वालो को प्राप्त होती हैं। और जो समीचीन मार्ग की (सोलहकारण की) आराधना करने के फलस्वरूप प्रवृत होती हैं। उनके नाम- सज्जाति, सद्गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रत्व, साम्राज्य, परमार्हंत्य और परनिर्वाण। ये तीन-जगत् मे ७ परमस्थान माने गये है। ये स्थान अर्हंत के वचनामृत के पान से जीवो को मिलते है। अर्थात जिनवाणी के अभ्यास से मिलते हैं।

ये ही सात परमस्थान पीठिकादि सात जाति के मत्रो मे गर्भित हैं। वे इस तरह कि- पीठिका मत्रो मे परनिर्वाण स्थान जातिमत्रो मे सज्जाति स्थान, निस्तारक मत्रो मे सद्गृहित्व, ऋषिमन्त्रो मे पारिव्राज्य, सुरेन्द्रमन्त्रो मे सुरेन्द्रस्थान, परमराजादिमन्त्रो मे साम्राज्य स्थान और परमेष्ठिमन्त्रो मे परमार्हंत्य स्थान। इस प्रकार सातो जाति के मन्त्रो मे सातो परमस्थान गर्भित हो रक्खे हैं।

इन परमस्थानो के जिस अनुक्रम से उपर नाम लिखे है

उसी अनुक्रम से ही वे तीर्थंकर होने वाले जीव के होते है। ऐमा आदिपुराण के निम्नपद्यो से प्रगट होता है -

भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचिता जातस्तत सद्गृही।
पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरूमतादासाद्य यातो दिवम्॥
तत्रैन्द्रीं श्रियमाप्तवान् पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रितां।
प्राप्तार्हंत्यपद. समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिन् ॥२११॥
पर्व ३८

अर्थ—वह भव्य पुरुष प्रथम ही योग्य जाति सज्जाति को पाकर सद्गृहस्थ होता है। फिर गुरू के पास से उत्कृष्ट परिव्रज्या (मुनि दीक्षा) धारण कर स्वर्ग जाता है। वहा उसे इन्द्र की सम्पदा मिलती है। तदनतर वहा से च्युत होकर चक्रवर्ती पद को प्राप्त होता है। फिर अर्हंत पद को पाकर समस्त महिमा का धारी होता है। और इसके बाद निर्वाणको प्राप्त करता है।

इस विवेचन से साफ तौर पर यही सिद्ध होता है कि पीठिकादि सप्तविधमन्त्रो मे केवल सप्त परम स्थानो का उल्लेख है वहा शासन देवो का कोई प्रसग ही नही है। सुरेन्द्रमन्त्र भी सुरेन्द्र नामक परमस्थान की वजह से समझने चाहिये, न कि शासनदेव की वजह से अथवा भाविनैगमनय की दृष्टि से तीर्थंकर पूज्यता को लेकर यह सब मन्त्र कल्प समझना चाहिये। खास ध्यान देने योग्य चीज यहा यह भी है कि इन सात जाति के मत्रो मे जो अर्हंत, सिद्ध और ऋषि वाचकमत्र हे। उनके आगे आचार्य ने केवल नम. शब्द लगाया है, स्वाहा शब्द भी नही लगाया है। और शेष मत्रो के आगे बिना नम शब्द के खाली स्वाहा शब्द लगाया है। इसका कारण स्पष्टत. यही

मालूम होता है कि अर्हत, ऋषि खास पूजनीय होने से उनके आगे नम शब्द का प्रयोग किया है। और शेष परमस्थान पूजनीय नही होने से उनके आगे नम शब्द नही लिखा है। खाली स्वाहा शब्द लिखकर आहुति(आह्वान) देने मात्र उनका सम्मान प्रदर्शित किया है। वह भी गर्भाधान, विवाहादि सासारिक कार्यो मे ही। और अर्हंत, सिद्ध व ऋषि वाचक मत्रो के आगे जो स्वाहा शब्द भी नहीं लगाया गया है उससे आचार्य का अभिप्राय उनको यहा आहुति दिलाने का भी नही जान पडता है। क्योकि दूसरो को आहुति देने के साथ इनको भी आहुति देने के लिये स्वाहा शब्द लिख देते तो पूजा की पद्धति सबको समान हो जाती। ऐसा होना आचार्य को अभीष्ट नही था। इसलिये आचार्य ने अर्हंतादिको के आगे स्वाहा शब्द नही लिखा, खाली नम शब्द लिखकर यह भाव दर्शाया है कि अर्हंतादिक को यहा आहुति नही देनी चाहिये, नमस्कार करना चाहिये।

यहा आचार्य जिनसेन ने तो सुरेन्द्र परमस्थान के धारी सुरेन्द्र तक को सुरेन्द्रमत्रो मे नमस्कार के योग्य नही माना है। ऐसी हालत मे आशाधरादिको का अपने-अपने प्रतिष्ठापाठादि क्रियाकाडी ग्रथो मे भवनत्रिक देवो को जो किसी तरह परमस्थान के धारी भी नही है अर्हतादि की तरह नम. शब्द के साथ पूजा का कथन करना निश्चय ही जिनसेनाचार्य की आम्नाय से बहिर्भूत है। अत मान्य नही है।

यहा ऐसा भी नही समझना कि-सुरेन्द्रमत्रो मे स्वाहा शब्द से इन्द्र को आहुति देने का कथन करके ग्रन्थकार ने शासन देवो की पूजा का आशय व्यक्त किया है। ग्रन्थकार तो सुरेन्द्रमत्रो की तरह गृहस्थाचार्य के वाचक निस्तारक मत्रो मे भी

स्वाहा लिखते है इससे यही फलितार्थ निकलता है कि ग्रन्थकार की दृष्टि स्वाहा शब्द लिखते वक्त परमस्थान की तरफ थीं जिससे दोनो ही परमस्थानीय होने से दोनो ही के मत्रो मे उन्होने स्वाहा लिख दिया है। "क्या कोई शासन देव भी होते हैं ?" ऐसा तो उनके विचारो मे भी नही था।

प्रश्न – अगर ऐसी ही बात थी तो पीठिकामत्रो मे अग्नि-कुमारो के इन्द्र का नाम और निस्तारक मत्रो मे कुबेर का नाम तथा सुरेन्द्रमत्रो मे "अनुचराय स्वाहा" जिसका अर्थ होता है इन्द्र के अनुचरो को स्वाहा इत्यादि उल्लेख क्यो किये हैं ? ये तो परमस्थान भी नही है फिर इन सब को स्वाहा कैसे लिखा ?

उत्तर - पीठिकामन्त्रो मे से जिस मन्त्र मे अग्निकुमारो के इन्द्र का नाम आया है वह मन्त्र यह है-सम्यग्दृष्टे २ आसन्न-भव्य २ निर्वाणपूजार्ह २ अग्नीद्र स्वाहा।" इसमे स्वाहा के पूर्व चतुर्थी विभक्ति नही है जैसाकि अन्य मन्त्रो मे है किन्तु सबोधन है। इसलिये अग्नीन्द्र के लिये "स्वाहा" ऐसा अर्थ तो यहा होता नही है। अग्निकुमारो के इन्द्र की गणना सप्त परमस्थानो मे भी नही है इसलिये भी उसके स्वाहा नही लिखा जा सकता है। अनेक दूसरे मन्त्रो के देखने से ऐसा विदित होता है कि कितने ही मन्त्रो मे स्वाहा शब्द का प्रयोग उस मन्त्र की पूर्ति अर्थ मे किया जाता है। यानी अखीर मे स्वाहा लिखकर उस मन्त्र की समाप्ति की सूचना दी जाती है। इसके सिवा वहा स्वाहा का अर्थ आहुति देना या द्रव्य अर्पण करना घटित नही होता है। उदारहण के लिये प्रतिष्ठापाठो मे शुद्धि मन्त्र इस प्रकार लिखा मिलता है—

ओ ह्री अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृत स्रावय २

झ्वी क्ष्वी हस स्वाहा । "ऐसा बोलकर जल के छीटे देवे । तथा विघ्न निवारण मन्त्र ऐसा लिखा है –

ओ ह्रू क्षू फट् किरिटि २ घातय……ह्रू फट् स्वाहा ।" बोलकर सरसो फेंके । "ओ नमोर्हते सर्व रक्ष २ ह्रू फट् स्वाहा ।" इसे ७ बार बोलकर पुष्पाक्षत परिचारको पर डाले । यह रक्षामन्त्र है । इसी तरह सकलीकरण विधि मे 'ओं ह्रां णमो सिद्धाण स्वाहा" बोलकर ललाट का स्पर्श करे । इत्यादि इसी तरह से स्वाहा का प्रयोग यहा पीठिका मन्त्रो में जिनसेम ने अग्नीद्र के साथ किया है । इस प्रकार के मान्त्रिक प्रयोग जिनसेन ने आदि पुराण मे अन्यत्र भी किये हैं । देखिये पर्व ४० के श्लो० १२२ और १२६—

"सम्यग्दृष्टे २ सर्वमातः २ वसुन्धरे २ स्वाहा" बोलकर बालक का नाभिनाल पृथ्वो मे गाड दे । "जिस प्रकार सम्यक्त्व को धारण करने वाली जिनमाता सब की माता है उसी प्रकार सबकी आधारभूत होने से पृथ्वी भी सबकी माता है ऐसी हे पृथ्वी" ऐसा इस मन्त्र का भावार्थ है । सम्यग्दृष्टे यह विशेषण जिनमाता का है पृथ्वी का नही है । और सर्वमात. यह विशेषण दोनो ही का है ।

"सम्यग्दृष्टे २ आसनभव्ये २ विश्वेश्वरि २ उर्जितपुन्ये २ जिनमाता २ स्वाहा ।" यह मन्त्र बोलकर पुत्र की माता को स्नान करावे ।

सासारिक कार्यो को करते हुये पुण्य पुरुषो के नाम का उच्चारण करके यह भावना व्यक्त करना कि उन जैसे हम भी होवें या उनका स्मरण करना ऐसी इन मत्रो की शैली मालूम देती है ।

इससे सिद्ध होता है कि—पीठिकामत्रो मे अग्नीन्द्र 'स्वाहा' का अर्थ अग्नीन्द्र के लिये पूजाद्रव्य अर्पण करने का नहीं है। किन्तु वहा स्वाहा का प्रयोग मन्त्रपूर्ति के लिये किया गया प्रतीत होता है।

चू कि केवलियो के निर्वाण के वक्त उनका निर्जीव शरीर अग्निकुमारो के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न अग्नि से दग्ध हुआ करता है। इसलिये परनिर्वाण नाम के परमस्थान के सूचक इन पीठिका मन्त्रो के साथ अग्नीद्र का उल्लेख किया गया है। इसी से मन्त्र मे उसका एक विशेपण "निर्वाणपूजार्ह लिखा है। जिसका अर्थ होता है केवलियो की निर्वाणपूजा मे काम आने योग्य ।

इसी प्रकार वैश्रवण-कुवेर के लिये समझ लेना चाहिये। मन्त्र मे वैश्रवण शब्द को भी अग्नीन्द्र की तरह ही संबोधनात लिखकर आगे उसके स्वाहा लिखा है। अत यहा भी चतुर्थी विभक्ति न होने से कुवेर के लिये स्वाहा नही लिखा है ।

तथा सुरेन्द्रमन्त्रो में एक मन्त्र "अनुचरायस्वाहा" आता है जिसका अर्थ इन्द्र के अनुचर के लिये स्वाहा किया जाता है। ऐसा अर्थ करना गलत है। वाक्य मे अनुचराय यह चतुर्थी विभक्ति का प्रथम वचन है उससे इन्द्र का एक अनुचर अर्थ प्रगट होता है। इन्द्र के एक नही अनेक अनुचर होते हैं अत उक्त अर्थ स्पष्टत असगत है। सही अर्थ उसका ऐसा है—"भगवान् का अनुचर-सेवक जो सुरेन्द्र है उसके लिये स्वाहा।" यही अर्थ पुराणे पंडित दौलतरामजी ने वचनिका मे किया है ।

पुराणे पडित श्री पन्नालालजी साहब सघी (विद्वज्ज

वोधक के कर्त्ता) और पंडित फतहलालजी (विवाहपद्धति के रचयिता) ने तथा कई आधुनिक पडितो ने पीठिकादि सभी मत्रो का अर्थ अर्हंतसिद्ध-गुरु किया है। यहा तक कि सुरेन्द्र और निस्तारक मन्त्र जो स्वर्गेन्द्र और गृहस्थाचार्य के वाची है उनमे प्रयुक्त शब्दो के प्रसिद्ध अर्थ की भी उन्होने अवहेलना करके उनका भी अर्थ जिनदेव मे ही घटाया है। ऐसा उन्होने क्यो किया ? इसके दो मुख्य कारण है। एक तो यह है कि-इन मन्त्रो मे प्रत्येक जाति के मन्त्र के अन्त मे सेवा फल षट् परमस्थान भवतु" आदि काम्यमत्र आता है। जिसका मतलब होता है उनकी सेवा करने का फल षट् परमस्थान की प्राप्ति चाहना। इस प्रकार की इच्छा पूर्ति जिनदेव और गुरु की आराधना से तो हो सकती है किन्तु स्वर्ग के इन्द्र और गृहस्थाचार्य की आराधना से नही हो सकती है वे षट् परमस्थान आदि की प्राप्ति करा नही सकते हैं।

दूसरा कारण है आदिपुराण का वह वाक्य जो मन्त्रों की विवेचना किये बाद लिखा गया है कि-एतै सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादि क्रियाविधौ।" आधानादि क्रियाओ मे इन मन्त्रो से सिद्धोका अर्चन करना चाहिये यहा इन मन्त्रोसे सिद्धार्चन करने की बात कही हैं। इसलिये मन्त्रो मे आये "ग्रामपतये स्वाहा" "षट्कर्मणे स्वाहा" "कल्पाधिपतये स्वाहा" "सौधर्माय स्वाहा" इत्यादि का अर्थ सिद्ध भगवान करना चाहिये।

इस प्रकार शब्दो के प्रसिद्ध अर्थ करने से उपरोक्त दो आपत्तिया खडी होती है। अत कोई ऐसा रास्ता ढूढा जावे जिससे शब्दो के प्रसिद्ध अर्थ ही किये जावे और उक्त आपत्तियें भी न आने पावे।

इस दिशा मे ऐसा ही कुछ हम यहा लिखने का प्रयत्न करते हैं—

आदिपुराण पर्व ३८ श्लो० ७१ आदि मे लिखा है कि गर्भाधान आदि क्रिया सस्कारो के करते वक्त प्रथम ही वेदी बनाकर उस पर सिद्ध या अर्हंत का बिम्ब विराजमान करे। उस के सामने तीन कुन्डो मे तीन अग्नियो की स्थापना कर वहीं ""छत्रत्रय और" "चक्रत्रय की स्थापना किये बाद प्रथम ही सिद्धपूजा करके फिर पीठिकादि मन्त्रो से हवन करना चाहिये" यह सब विधिविधान सिद्धार्चन कहलाता है। इसमे दो बातें बताई हैं-एक तो सिद्ध भगवान की पूजा करना और दूसरी किसी क्रियासस्कार के निमित्त मन्त्रो से हवन करना। हवन करना यहा सिद्धपूजा नही है। सिद्धपूजा तो हवन के पहिले ही हो चुकती है। जैसा कि आदिपुराण मे लिखा है—

तेऽवर्हदिज्याशेषांशैः आहुतिमन्त्रपूर्विका ।
विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यदा ॥७३॥
तन्मंत्रास्तु यथाम्नाय वक्ष्यतेऽन्यत्र पर्वणि ।
सप्तधापीठिकाजाति मंत्रादिप्रविभागत. ॥७४॥
विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनं ।
अव्यामोहादतस्तज्ज्ञः प्रयोज्यास्त उपासकं ॥७५॥
पर्व ३८

अर्थ—अर्हत्पूजा कर चुकने के बाद बचे हुये पवित्र द्रव्यों से पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से उन अग्नियो मे मत्रपूर्वक आहुति करनी चाहिये। उन क्रियाओ के मत्र तो यथाम्नाय आगे के पर्व मे कहे जायेंगे। वे पीठिकामत्र जाति मन्त्र आदि के भेदो से सात प्रकार के हैं। वे मन्त्र गर्भाधानादि क्रियाओ मे काम आते

हैं ऐसा भगवान ने कहा है। अत उस विषय के ज्ञाता श्रावकों को प्रमाद छोडकर उनका प्रयोग करना चाहिये।

इस कथन से यही प्रगट होता है कि—ये मत्र भगवान् की पूजा के नही हैं। ये तो गर्भाधानादि क्रियाओ के मत्र हैं। भगवान् की पूजा तो पहिले हो चुकती है। फिर गर्भाधानादि क्रियाओ के वास्ते उस पूजा के बचे द्रव्यो से मत्रो को बोलकर आहुतिये दी जाती है। इससे पूजा और मत्राहुतिये दो जुदी २ चीजें हुई। किन्तु भगवान्की प्रतिमाके सामने उनकी पूजा पूर्वक मत्रो से आहुतियें दी जाने के कारण यह सारा ही विधान समुच्चय रूप से सिद्धार्चन के नाम से कहा जाता है। इसलिये एतैं सिद्धार्चन" इन वाक्यो का अर्थ इन मत्रो से "सिद्धो की पूजा करे।" ऐसा नही करना चाहिये, किन्तु इन मन्त्रो के साथ सिद्धो की पूजा करे" ऐसा अर्थ करना चाहिये। उसका मतलब यह होगा कि—सस्कार करते वक्त दो काम करने चाहिये—सिद्धो की पूजा करे और मन्त्रो से आहुतियें देवें दोनो भिन्न २ है। मन्त्रो से आहुतिया देना सिद्धपूजा नही है। आहुतियो के मन्त्र तो गर्भाधान, विवाह आदि सासारिक क्रियाओ के काम के हैं। इसीलिये ग्रन्थकार ने इन्हे क्रियामन्त्र नाम से लिखा है। यथा—

"क्रियामत्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ" यही बात इन वाक्यो से भी व्यक्त की है—

"विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषा मतो जिनै."

तात्पर्य इसका यह है कि ये जैनमन्त्र हैं। इन मन्त्रो का सांसारिक क्रियाओ मे उपयोग करना यह जैनरीति कहलाती है जो जिनेन्द्र की पूजा संसार और कर्मों के नाश करने के लिये व मोहादि विकारो को मिटाने के लिये की जाती है वह उद्देश्य

इन मन्त्रो का नही है। बल्कि ये मन्त्र तो उल्टे गर्भाधान-विवाहादि ससार के वढाने के काम मे लिये जाते है। और जो ऐसे कामो मे सिद्धपूजा की जाती है बह तो मागलिकरूप से मगल के तौर पर की जाती है।

५३ गर्भान्वय क्रियाओ मे २२ वी गृहत्याग क्रिया के बाद तो हवनादि सम्भव ही नही है अत वहा तो इन मन्त्रो का कोई उपयोग ही नहीं होता है गृहत्यागक्रिया से पहिले भी गर्भाधान से लेकर पाच वी मोद क्रिया तक की क्रियाओ मे नवमी निषद्या क्रिया, १०वी अन्नप्राशन क्रिया और १६ वी विवाहक्रिया इन क्रियाओ मे इन मन्त्रो का प्रयोग करने का उल्लेख आदि-पुराण मे किया है और ये सब क्रियायें सासारिक है। अत ये मन्त्र सासारिक कार्यों के लिये हैं ऐसा कहे तो सभवत इसमे कोई अत्युक्ति नही होगी। और इसीलिये इन विवाहादि क्रियाओ के अनुष्ठान जिन मन्दिर मे नही होते है, गृहस्थ के घर पर होते हैं। जैनरीति से की जाने के कारण व्यवहार मे हम इन्हें धार्मिक क्रियाये कहते हैं। जैन धर्म के गौरव को रखने के लिये ऐसे काम भी बडे आवश्यक हैं जिससे कि हमे लौकिक कामो मे भी अजैन ब्राह्मणो के अधीन न रहना पडे। और सभवतः इसी ध्येयको लेकर जिनसेनने यह क्रियाकाड लिखा है।

रही बात "सेवाफल षट् परमस्थान" की सो तत्वार्थ-राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २४ मे वैय्यावृत्य नाम के तप का वर्णन करते हुये आचार्य उपाध्याय मनोज्ञ आदिको का वैय्यावृत्य करना लिखा है। वहाँ मनोज्ञ का अर्थ असयत सम्यग्दृष्टि लिखकर उनका भी वैय्यावृत्य करने को कहा है। परमस्थान के धारी सुरेन्द्र व निस्तारक की गणना भी तो वैय्यावृत्य के भेद

मनोज्ञ मे ही आती है। उनके मन्त्रो मे स्वाहा बोलकर उन्हे आहुतिये देना यह उनका सम्मान है सो ही उनका वैय्यावृत्य ह उनकी सेवा है और वह एक तप है। उसका फल यदि कोई पद् परमस्थान की प्राप्ति होना चाहता है तो इसमे क्या असगतता है ? आयतन सेवा भी धर्म का अग है ही। और स्वामी समत-भद्र ने भी रत्नकरड मे देव पूजा तक का समावेश वैय्यावृत्य मे किया है।

इस प्रकार पीठिकादि मन्त्रो मे प्रयुक्त कतिपय शब्दो का अर्थ अगर सिद्ध भगवान् न करके उनका सहजरूप से होने वाला प्रचलित अर्थ भी किया जावे तो उससे भी शासनदेव पूजा की सिद्धि नही होती है। और तो क्या इस सारे ही प्रकरण मे शासन देवो के नाम तक भी नही हैं। सुरेन्द्र मन्त्रो मे जिसप्रकार सौधर्मेन्द्र को आहुति दी गई है उसी प्रकार निस्तारक मन्त्रो मे सम्यग्दृष्टि गृहस्थाचार्य को भी आहुति दी गई है। दोनो ही परमस्थान के धारी होने के कारण उनके लिये आहुति लिखकर उनका सन्मान बढाया है। वह सन्मान भी लौकिक क्रियाओ तक ही सीमित है पारमार्थिक विधानो मे तो पच परमेष्ठी की ही आराधना की जाती है। सप्त परमस्थानो मे भी सब का समान पद नही है इसी लिये मन्त्रो मे अर्हत–सिद्ध गुरुओ को तो नम लिखा गया है, ★स्वाहा आहुति भी नही और शेष परमस्थानो को खाली स्वाहा (आहुति मात्र) लिखा गया है। इसका यही मतलब निकलता है कि इनको ही आहुति देना, परमेष्ठियो को

★आहुति (आह्वान) और स्वाहा का मतलब बुलाना, स्मरण करना, शिष्टाचार मात्र है।

नही देना। उन्हे तो नमस्कार करना जिससे कि उनकी निम्नोन्नत पद की अभिव्यक्ति होती रहे। यह बात शब्द प्रयोगो से जानने में आ रही है। शब्द प्रयोग यो ही नही किये जाते हैं उनमे भी कोई तथ्य समाया हुआ रहता है। जैनाचार्यों के कथन सदा उच्चादर्श को लिये रहते हैं उनसे हीनादर्श अभिव्यजित करना किसी तरह योग्य नही। विद्वानो को इस ओर पर्ण लक्ष्य रखना चाहिये।



३२

जैन धर्म में अहिंसा की व्याख्या

ससार के किसी भी धर्म पर दृष्टिपात करिये तो उसमे दो बातें मुख्यत पाई जाती है। वे है आचार और विचार। उस धर्म मे बताये गये चारित्र के नियमो का पालन करना आचार कहलाता है। और तत्व निर्णय के लिये ऊहापोह जो किया जाता है उसे विचार कहते है। जैन धर्म मे भी ये दो बाते बताई है और बहुत ही उत्तम बताई है। उनके नाम है—अहिंसावाद और स्याद्वाद। जैन धर्म मे आचार का मूल आधार अहिंसा और विचारो का मूल आधार स्याद्वाद यानी अनेकात बताया गया है। स्याद्वाद से सब, सबके विचारो को शान्ति से समझें, व्यर्थ का वितडावाद न करें और अहिंसा से सब, सबके जीवन की रक्षा करें, खुद आराम से जीवे और दूसरो को भी आराम से जीने देवे। इस प्रकार जैन धर्म ने ससार को ये दो चीजें ऐसी अमूल्य दी हैं जिनके आश्रय से ससार के सभी प्राणियो को शान्ति का लाभ हो सकता है। क्योकि वस्तुत अशान्ति के, वैमनस्य के प्राय दो ही कारण हुआ करते है—आपस मे विचारो का न मिलना और दूसरे के दु खो की परवाह न करना। इसमे कोई सदेह नहीं कि जैन धर्म ने अशान्ति के इन दोनो ही कारणो को मिटाने के लिये अहिंसा और स्याद्वाद बता कर दुनिया का बहुत बडा उपकार किया है। इन्ही बातों का निर्देश करते हुए स्वामी समतभद्र ने जैन मत को अद्वितीय मत बताया है—

**दया दम त्याग समाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥**

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! जिस मत मे दया, दम, त्याग और समाधि मे तत्पर रहने को कहा गया है, और जो नयो तथा प्रमाणो के द्वारा सम्यक् वस्तु तत्व को बिल्कुल स्पष्ट करने वाला है तथा जो एकातवादियो के वितडावादो से अबाधित है, ऐसा आपका मत ही अद्वितीय है।

स्याद्वाद तो एक कसौटी है जिसके जरिये मुमुक्षु को धर्म के असली स्वरूप की पहिचान होती है। किन्तु केवल पहचान से ही आत्मा का उद्धार नही हो सकता है। उद्धार होता है पहचान के बाद तदनुसार आचरण करने से। इसीलिए कहा है कि "आचार प्रथमो धर्म ।" और इसी से जैन धर्म मे बताये गये ग्यारह अगो मे प्रथम अग का नाम आचाराग लिखा है। ऊपर हम लिख आये है कि जैन धर्म मे आचार का मूल अहिंसा बताई है। यो तो कुछ न कुछ अहिंसा सब ही धर्मों मे बताई है। क्योकि अगर अहिंसा किसी भी धर्म मे से निकाल दी जावे तो फिर उस धर्म मे सार चीज कुछ नही रहती है। तथापि जैन धर्म मे अहिंसा की जितनी प्रधानता, जितना उसका विस्तृत रूप और जितनी उसकी सूक्ष्म विवेचना है उतनी अन्य धर्मों मे नही है। अन्य धर्मो मे से किसी मे तो केवल मनुष्यो को ही वध न करने का उपदेश दिया गया है। किसी मे मनुष्यो व गौ बैल अश्व आदि उपयोगी पशुओ को वध करने का आदेश दिया है। किन्तु जैन धर्म मे सूक्ष्म से सूक्ष्म को लेकर बडे से बडे तक सब ही प्राणी मात्र की हिंसा न करने की आज्ञा दी गई है। और कहा है कि—

"अहिंसा भूताना जगति विदितं ब्रह्म परमं ॥" जीवो की दया करना इसे ही जगत् मे परब्रह्म माना है। इस जगत् मे असख्य ऐसे वारीक जन्तु भी है जिनकी हिंसा चलने, वैठने, वोलने, खाना खाने आदि क्रियाओं मे टल नही सकती है। तव यहाँ कव कोई अहिंसक रह सकता है ? ऐसा प्रश्न गणधर देव ने भगवान अरहत देव से किया था। यथा—

कधं चरे कध चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं मुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावंण वज्झदि ॥

अर्थ—अगणित जीवो से व्याप्त इस ससार मे कोई किस प्रकार से चले ? कैसे ठहरे ? कैसे वैठे ? कैसे सोवे ? कैसे खावे? और कैसे वोले ? जिससे पाप वन्ध न होवे ।

इन प्रश्नो का उत्तर भगवान ने इस प्रकार दिया—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं मुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावण वज्झइ ॥

अर्थ—यत्न से चले, यत्न से तिष्ठे, यत्न से वैठे, यत्न से सोवे, यत्न से खावे और यत्न से वोले। इस प्रकार यत्नाचार पूर्वक प्रवृति करने वालो के पापो का वध नही होता है।

मतलव इसका यह हुआ कि—जीव हिंसा को वचाने का विचार रखता हुआ जो क्रिया करता है उस क्रिया मे कदाचित् वाहरमे जीव हिंसा हो भी जावे तो अन्तरगमे वचानेकी भावना होने से उसे पाप नहीं लगता है। इसे ही यत्नाचार कहते हैं और यही जैन धर्म मे अहिंसा पालन का रहस्य है। जैसा कि जैन शास्त्रो मे कहा है कि—

उच्चालयम्हि पाये इरिया समिदस्स णिग्गमत्थाए।
आवाधेज्ज कुलिगं मरिज्ज त जोग मासेज्ज॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमोवि देसिदो समये॥

अर्थ—देख भाल कर पैर उठा कर चलने वाले के पैर के नीचे आकर किसी जीव को बाधा पहुँचे या वह मर भी जावे तो भी उसके थोडा सा भी पाप आगम मे नही कहा है।

विपरीत इसके जो यत्नाचार से प्रवृत्ति नही करता है, उसके हिंसा न होते हुए भी वह हिंसाजन्य पाप का भागी होता है—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसा मेत्तेण समिदस्स॥

अर्थ—जीव चाहे जीवे चाहे मरे असावधानी से काम करने वालो को हिंसा का पाप अवश्य लगता है। किन्तु जो सावधानी से काम कर रहा है, उसे प्राणिवध होजाने पर भी हिंसा का पाप नही लगता है।

अयदाचारो समणो छस्सुवि कायेसु वधगोत्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्च कमल व जले णिरुवलेवो॥

अर्थ—यत्नाचार नही रखने वाला श्रमण छहो ही काय के जीवो के घातजन्य पाप कर्मों का बध करता है ऐसा सर्वज्ञ देव ने माना है। और जो यत्नाचार से प्रवृति करता है वह सदा ही जल मे कमल की तरह पाप लेप से रहित माना गया है।

इससे सिद्ध होता है कि—जैन धर्म मे हिंसा अहिंसा का

होना प्रधानत भावो पर निर्भर है। यदि भावो के आधीन वध मोक्ष की व्यवस्था न हो तो ससार का ऐसा कोई भी प्रदेश नही है जहाँ पहुँच कर साधक पूर्ण अहिंसक रहकर कोई साधना कर सके। जैसा कि कहा भी है कि—

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनो वंधमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्॥

अर्थ—यदि परिणामो के आश्रित के वध मोक्ष नही होता तो चारो ओर से जीवो से भरे इस ससार मे कहाँ किसको मोक्ष होती? क्योकि जीवो से ठसाठस भरे जगत् मे जीव हिंसा से बच निकलना सभव नही है।

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो वंधकृत्।
यदैक्यमुपयोगभू समुपयाति रागादिभि,
स एव किल केवल भवति वधहेतुर्नृणाम्॥

अर्थ—कर्मवध का कारण न तो कर्म वर्गणाओ से भरा जगत् है। न चलन रूप कर्म यानी मन वचन काय की क्रिया रूप योग है। न अनेक प्रकार के करण (इन्द्रिये) है और न चेतन अचेतन का घात है किन्तु आत्मा का उपयोग जब रागादिको के साथ एकता कर लेता है तो निश्चय करके वही एकमात्र पुरुषो के वध का कारण हो जाता है।

क्योकि विशुद्ध परिणामो के धारक जीव के उसके शरीर का निमित्त पाकर हो जाने वाला पर प्राणियो के प्राणो का व्यपरोपण ही यदि वध का कारण हो जाय तो फिर कोई मुक्त

ही नही हो सकताहै। क्योकि वायु कायादि जीवो की विराधना तो योगियो के भी टल नही सकती है। जैसा कि कहा है—

जदि सुद्धस्सवि बंधो होहिदि बहिरगवत्थुजोएण।
णत्थिहु अहिंसगो णाम वाउकायादिवधहेदू ॥

अर्थ—यदि बाह्य वस्तु के सयोग से अर्थात् बाह्य मे किसी जीव का वध हो जाने मात्र से ही शुद्ध जीव के भी कर्मों का वध होने लगे तो कोई भी जीव अहिंमक नही हो सकता है। क्योकि श्वासादि के द्वारा सभी से वायु कायादि जीवो का वध होना निश्चित है।

आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि—(द्वात्रिशतिका ३ मे)

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।
शिव च न परोपघातपरुषस्मृतेर्विद्यते ॥
वधोपनयमभ्युपैति च परानिघ्नन्नपि।
त्वयायमतिदुगम. प्रशमहेतुरुद्योतितः ॥१६॥

अर्थ—कोई प्राणी दूसरेके प्राणो का वियोग करता है फिर भी वह हिंसाका भागी नही होता है। (क्योकि उसके भाव हिंसा करने के नही थे) दूसरा कोई प्राणी जिसके कि बिचार परघात करने की भावना से कठोर हो गये है। (वह निश्चयत हिंसक है) उसका कल्याण नही हो सकता है। तथा तीसरा कोई प्राणी (जिसके कि भाव मारने के है) वह दूसरो को हिंसा न करता हुआ भी हिंसकपने को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार हे जिनेन्द्र! आपने यह अतिगहन शान्ति का मार्ग बताया है।

यहा कोई शका करे कि 'आत्मा तो अजर अमर है उसका वध कभी होता नही है तब जीवहिंसा की बात कहना ही निरर्थक है।' इसका समाधान यह है कि तत्व का निर्णय स्याद्वाद

से होता है। यहा भी स्याद्वाद से विचार करे तो आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न नही है। लक्षण की अपेक्षा से कथचित् भिन्न है। आत्मा चैतन्यमय है और शरीर जड है। तथापि दूध मे शक्कर की तरह आत्मा शरीर के साथ ऐसा घुलमिल जाता है कि महसा दोनो को पृथक् नहीं किया जासकता है। जैसे दोनो मानो एक हो गये हैं। यह अभिन्नता दोनो के एक दूसरे पर पडनेवाले प्रभाव से भी प्रगट होती है। जव आत्मा क्रोध करता है तो आखे लाल होती हैं, चेहरा विकराल हो जाता है। यह उदाहरण बताता है कि शरीर पर आत्मा का प्रभाव पडा है। वाल्य अवस्था मे आत्मा मे हीन शक्ति रहती है फिर युवावस्था तक क्रमशः आत्मा मे बल बढने लगता है, पुन. वृद्धावस्था मे बल घट जाता है इत्यादि से जाना जाता है कि शरीर का प्रभाव भी आत्मा पर काफी पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर मे लक्षण भेद से भिन्नता होते हुए भी दोनो का एक क्षेत्रावगाह हो जाने के कारण दोनो मे बहुत कुछ अभिन्नता भी है। और जब दोनो में अभिन्नत्व है तो शरीर को कष्ट देने से उसके साथ मिले हुये आत्माको भी कष्ट पहुचताहै यही हिंसा है। इस तरह अजर अमर जीव को भी हिंसा होना सिद्ध होता है। जीव हिंसा का अर्थ यहा सर्वथा आत्मा का नाश हो जाना नही है किन्तु कष्ट से वर्तमान शरीर को छोडकर अन्य शरीर मे जाना यह जीव हिंसा का अर्थ है। आत्मा और शरीर को सर्वथा भिन्न या अभिन्न मानने से तो हिंसा और अहिंसा दोनो ही नहीं बनसकेगी। जैसा कि कहा है—

आत्मशरीरविभेदं वदंति ये सर्वथा गतविवेकाः।
कायवधे हंत कथं तेषां संजायते हिंसा॥

जीववपुषोरभेदो येषामैकांतिको मतः शास्त्रम् ।
कायविनाशे तेषां जीवविनाश· कथं वार्यं ॥

अर्थ जो अविवेकी आत्मा और शरीर मे सर्वथा भेद बताते है, खेद है कि उनके यहाँ शरीर के घात से हिंसा कैसे हो सकेगी । इसी तरह जिनके यहा आत्मा और शरीर मे एकातत अभेद माना गया है उनके यहा शरीर के नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जावेगा इस आपत्ति का निवारण कैसे हो सकेगा । अर्थात् आत्मा और शरीर मे सर्वथा भेद मानने से किसी के शरीर का धात करने से आत्मा को कुछ भी आघात नही पहुचेगा तो हिंसा नाम की कोई चीज ही दुनिया मे न रहेगी तब हिंसा के त्याग का उपदेश भी कोई क्यो देगा ? तथा आत्मा और शरीर का सर्वथा अभेद माना जावे तो शरीर के घात से आत्मा का भी घात हो जावेगा । इस तरह जीव का नाश मानने से दयापालनादि धर्माचरण भी व्यर्थ हो जावेगा । जब आत्मा नही तो परलोक भी न रहेगा ।

सत्य तो यह है कि-जैसे अग्नि से तप्त लोहे पर चोट देने से लोहे के साथ मिली हुई अग्नि पर भी आघात पहुँचता है, उसी तरह किसी के शरीर पर आघात पहुँचाने से उसके साथ मिले हुये आत्मा को भी बडी पीडा होती है इस पीडा ही का नाम हिंसा है। क्योकि जीव के शरीर, इन्द्रिय, श्वास आदि द्रव्य प्राण हैं इन्हीसे आत्मा प्रत्येक पर्याय मे जीता है। इन द्रव्य प्राणो का वियोग ही लौकिक मे मरण कहलाता है। 'नहि मृत्युसम दुःख' मृत्यु का दुःख जीवो के सबसे बडा दुःख है। मरणात दुःख देने वाले जीव घोर पातकी, महानिर्दयी, क्रूरपरिणामी होते है। जहा क्रूरता है वही हिंसा है–अधर्म है। दया के

बिना धर्म नही हो सकता है। कहा भी है कि—

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत् ॥

अर्थ—जिसके जीवदया नही है उसके समीचीन चारित्र कैसे हो सकता है ? क्योकि प्राणियो के साथ द्रोह करने वालों का कोई भी काम कल्याण का करने वाला है ।

दयालोरव्रतस्यापि स्वर्गतिः स्यादद्‌दुर्गतिः।
व्रतिनोऽपि दयोनस्य दुर्गतिः स्यादद्‌दुर्गति ॥

अर्थ—दयालु पुरुष यदि व्रताचरण नही भी करता है तो भी उसके लिये स्वर्गगति मुश्किल नही है। और जो व्रतो का पालन करता है किन्तु हृदय मे दया नही है तो उसके लिये नरकादि दुर्गति भी सुलभ है ।

तपस्यतु चिरं तीव्रं व्रतयत्वतियच्छतु।
निर्दयस्तत्फलैर्हीनः पीनश्चैकां दयां चरन् ॥

अर्थ—चाहे कोई चिरकाल तक घोर तपस्या करे, व्रत पाले और दान देवे, यदि दया नही है तो उनका कोई फल मिलने वाला नही है। और एक दया है तो उनका बहुत फल है।

मनो दयानुविद्धं चेन् मुधा क्लिश्नासि सिद्धये।
मनोऽदयानुविद्धं चेन् मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ॥

अर्थ—अगर दया से भीगा हुआ मन है तो सिद्धि के लिये क्लेश उठाने की जरूरत नही है क्योकि दयालु को सिद्धि प्राप्त

कर लेना सुगम है। और जो दया से भीगा हुआ मन नही है तो उसको भी सिद्धि के लिये क्लेश उठाने की कोई जरूरत नहीं है। क्योकि निर्दयी को कभी सिद्धि प्राप्त नही हो सकती है। प्रसिद्ध सत कवि तुलसीदासजी ने भी कहा है कि 'परहित सरिस धर्म नही भाई, पर पीडा सम नही अधमाई ॥' वेदव्यास ने भी सारे पुराणो का सार २ शब्दो मे इस प्रकार बताया है—अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वय । परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥ (अर्थात् १८ पुराणो का सार यह है कि परोपकार ही पुण्य है और परपीडन=हिसा ही पाप है।

सर्वेषां समयानां हृदयं गर्भश्च सर्वशास्त्राणाम् ।
व्रतगुणशीलादीनां पिंड सारोपि चाहिसा ॥

अर्थ—सब मतो का हृदय और सब शास्त्रो का गर्भ तथा व्रत गुण-शीलादिको की पिंड ऐसी सारभूत एक अहिसा ही है।

यद्यपि जैन दर्शन मे किसी को दुःख देना पाप बताया है। किन्तु इसमे भी इतना और विशेष समझलेना चाहिये कि यदि कर्त्ता के कषायभाव हो तो पाप हो सकता है। अगर कषायभाव नही है तो अपने या दूसरे को पीडा देने मात्र से पाप नही होता है। क्योकि डाक्टर भी आपरेशन करके रोगी को पीडा तो पहुचाता ही हैं। साधु भी उपवासादि से अपने आपको कष्ट देता है। गुरु भी शिष्य को ताडना करता है। किन्तु ऐसा करते हुये भी इनको पाप नही लगता हैं। क्योकि इनके भाव अहित करने के नहीं हैं अत. इनके कषायभाव नही है। एक जीवहिसा ही नही अन्य पाप भी भावो पर ही निर्भर है। यथा—

मनसैव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतम् ।
येनैवालिंगिता कांता तेनैवालिंगिता सुता ॥

अर्थ मानसिक परिणामों से किया हुआ ही पाप माना जाता है। बिना मन के केवल शरीर के द्वारा किया हुआ पाप नहीं माना जाता है। क्योंकि जिस शरीर से अपनी स्त्री का आलिंगन किया जाता है उसी से अपनी पुत्री का भी आलिंगन किया जाता है। किन्तु दोनों क्रियायें बाहर से एक समान होते हुए भी भीतर भावों का बड़ा अन्तर रहता है।

इसी तरह का एक और पद्य है—

सर्वासामेव शुद्धीनां भावशुद्धिः प्रशस्यते ।
अन्यथालिंग्यतेऽपत्यमन्यथालिंग्यते पतिः ॥

अर्थ—सब शुद्धियों में भावशुद्धि प्रधान है। एक महिला पुत्र को भी छाती से लगाती है और पति को भी। किन्तु जिस भाव से पुत्र को लगाती है उस भाव से पति को नहीं।

इस प्रकार हिंसा अहिंसा के मसले को समझने के लिये जैन शास्त्रों में बहुत ही गम्भीर विचार किया गया है।

अहिंसा परमो धर्म यतो धर्मस्ततोजयः ।
अहिंसा परमो धर्मः अहिंसा परमागतिः ॥

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।
[पातंजलयोगदर्शन]

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति"
[अमृतचन्द्र]

३३

जैन धर्म श्रेष्ठ क्यों है ?

संसार में मत मतान्तरो का इतना जाल छाया हुआ है, कि उसके मारे किसी मुमुक्षु को यह तक पता नही पडता कि मुझे किस मार्ग से चलने मे लाभ है।

"हरित भूमि तृण संकुलित समुझि परै नहिं पंथ।
जिमि पाखंडि विवाद तें लुप्त होहिं सद्ग्रंथ॥

अर्थात् हरीघासो से अच्छादित मार्ग जिस प्रकार दिखाई नही देता उसी तरह पाखण्डियो के विवाद से यह नही ज्ञान पडता कि उत्तम ग्रन्थ कौन है जिनके कथनानुसार चला जाये। सबही मजहबो की ओर आँख उठाकर देखिये वे सब अपनी-अपनी तारीफो के पुल बाँधते हुए दीख पडेंगे, उन्हे सुनकर हितेच्छु प्राणी डाँवाडोल सा हो जाता है और वह अपने लिये कुछ भी निश्चित नही कर पाता। तब विवश हो यही एक करना सबको अच्छा मालूम होता है और ऐसा ही किया भी जाता है कि जो धर्म बाप-दादो से चला आता है उसीपर हम भी चलते रहे। कहा भी है कि

"स्वधर्मे निधन श्रेय. परधर्मो भयावह."

अपने धर्म का पालन करते-करते ही जीवन व्यतीत

करना ठीक है, अन्य धर्म तो भयानक है卐

कुछ मनुष्य इसके भी आगे बढे हैं, वे कोई धर्म ही नहीं मानते उनका विचार है कि—

तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहाया महाजनो येन गतः स पंथा ॥

अर्थ - तर्क को कोई प्रतिष्ठा नही (उससे असत्य को भी सत्य सिद्ध किया जा सकता है) श्रुतियो का यह हाल है कि वे एक से एक मिलती नही, ऐसा कोई ऋषि भी नही जिसका कि वचन प्रमाण माना जाय इधर धर्म इतना गूढ है कि उसका ठीक तत्व समझ नहीं पडता तब उसी रास्ते चलना चाहिए जिसपर प्रतिष्ठित पुरुष चल रहे है।

पर इस तरह अँधाधुन्ध चलना एक आत्महितैषी के लिये उचित नही कहा जा सकता। इसीलिये इस छोटे से ट्रैक्ट मे यह चर्चा उठाई गई है और इसमे यह पूर्ण रीति से सिद्ध किया गया है कि एक ऐसा भी धर्म वर्तमान मे प्रचलित है जो अपने को सर्व श्रेष्ठ और यथार्थ होने का दावा रखता है वह किस तरह

卐 किन्तु इसमे परीक्षा प्रधानता न होकर पक्षाधता है एक भव्य मुमुक्षु प्राणी इस तरह लकीर का फकीर नहीं बनता एक नीतिकार ने कहा है—"तातस्य कूपोऽय मिति ब्रुवाणा. क्षार जल का पुरुषा पिबति" (यह कुआ हमारे बाप-दादो का है यह मानकर खारे जल को भी पीते रहने वाले कापुरुष हैं, विवेकी नही। जब चार पैसे की हाडी—ठोक बजाकर ली जाती है तो जिस धर्म से इस लोक और परलोक का सम्बन्ध है उसे यो ही मानते चले जाना समझदारों का काम नहीं।

से श्रेष्ठ है उसके बाबत जो बातें नीचे लिखी जायँगी उन्हे एक तरह से सब धर्मों की कसौटी कहना चाहिए, जिसपर कसकर देखने से सब धर्मों मे से एक असली धर्म का पृथक्करण किया जाकर एकमात्र उसे ही अपने जीवन मे उतारा जाय।

सबसे पहले विचार इस बात का होता है कि मनुष्य को किसी धर्म के धारण करने की क्यो आवश्यकता होती है ? इसलिए कि वह उसके द्वारा अपने दु खो से छुटकारा चाहता है। लेकिन इसको दुःख क्या है ? क्या विवाह न होना सतान न होना धन ऐश्वर्यादि का न मिलना इत्यादि ? मान लिया जाय कि ये सब मिल जायें तो क्या वह पूर्ण सुखी हो जायगा ? कदापि नहीं। बड़े-बडे राजाओ और बादशाहो के क्या इनकी कमी थी, फिर भी वे यथार्थ मे सुखी न हो सके। किसी ने ठीक ही कहा है कि—

दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बधन विषं विषया ।
कोऽयं जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ।।

अर्थ स्त्रियाँ तिरस्कार की करनेवाली, परिवार के मनुष्य बन्धन के तुल्य और इन्द्रियो के बिषय विष रूप है। इतने पर भी मनुष्य के मोह को देखो जो इन शत्रुओ से भी मित्रता की आशा रखता है।

संतोषामृततृप्ताना यत्सुखं शांतचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ।।

अर्थ—जो सुख सतोषरूप अमृत से तृप्त होनेवाले शात-चित्त पुरुषो मे है। वह इधर-उधर दौड़नेवाले धनलोलुपियो को कहाँ से मिल सकता है।

बात बिलकुल ठीक है जो आशा और तृष्णा का दास है वह किसका गुलाम नही है। वास्तव मे जिस-जिस आत्मा में काम क्रोध, लोभ, मोह मद मत्सर आदि भाव जितनी ही जितनी मात्रा मे अधिक है उसे उतना ही उतना ज्यादह दु खी समझना चाहिए। और जिसमे ऐसे भावो की जितनी ही कमी है उसे उतना ही सुखी मानना चाहिये।

"नास्ति रागसमं दुखं नास्ति त्यागसमं सुखम्"

राग के समान दु ख और त्याग के समान सुख नही है।

आपदा कथित. पंथाः इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

अर्थ—आपदाओ-दु खों का मार्ग इन्द्रियो का असयम है और उन इन्द्रियो का जीतना उन्हे अपने वश मे रखना यह सम्पदाओ का—सुखो का मार्ग है। जो तुम्हे इष्ट हो उसी पर चलिये। दु ख चाहो तो इन्द्रियो के अधीन बने रहो और सुख चाहो तो उनपर विजय प्राप्त करो।

"येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति"

जितने अशो मे राग द्वेषादि भावो का सद्भाव है उतनी ही अशो मे आत्मा का बन्धन मानना चाहिए। जब यह तय होचुका कि दरअसल मे जीव को दु ख पहुँचाने वाले उसी के कामक्रोधादि भाव हैं, तब यदि कोई दु ख से बचना चाहे तो उसका मुख्य कर्त्तव्य है कि वह ऐसा उपाय सोचे कि जिससे कामक्रोधादि नष्ट हो जायँ, ऐसे धर्म की शरण मे जाय, जो इन कुभावो के मेटने की तजवीज बताता हो, तभी उसकी आत्मा को शाति मिल सकती है।

अब यह देखना है कि वह धर्म कौनसा है जिसकी नीति कामक्रोधादि बुरे भावो के हटाने की हो आज हम आपके सामने एक ऐसी ही किस्म के मजहब का हाल बत ते है जिसका बाहरी परिचय हमारे कितने ही भाइयों को है, पर वे उसके अन्तस्तत्व से बहुत ही कम जानकारी रखते है, और इसीलिए जिसके कितने ही उपयोगी सिद्धात उलटपलट भी समझ लिये गये हैं।

वह मत है "जैनमत"। यह नि.सन्देह कहा जा सकता है कि इस मत की नीति को देखते हुए ससारभर मे यही एक ऐसा मत है जिसके आश्रय से बहुत कुछ सासारिक संकटो से बचाव हो सकता है।

उत्तम आदर्श

किसी मत की उत्तमता को देखने के लिए सबसे पहले उसमे यह होना जरूरी है कि वह दु खी जीवो के दु ख को दूर करने के लिये कोई उत्तम आदर्श रखता हो। ऊपर जिस दु ख का जिक्र किया गया है उसे मेटने के भरपूर साधन जैनमत मे पाये जाते हैं जैनधर्म की रगरग मे इन काम क्रोधादि के दूर करने की आपको शिक्षा मिलेगी, उस मत की मूर्तियो को देखिए वे कितनी शात निर्विकार और वीतराग हैं, जिनके दर्शन करने से ही दर्शको के दिल मे एकबारगी ही शान्ति-धारा वह निकलती है, यही कारण है जो मूर्ति पूजा को भी जैनधर्म जैसे वैज्ञानिक धर्म मे दाखिल किया गया है। जो लोग मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं, उनका वह विरोध चाहे दूसरे धर्मों के लिये किसी तरह ठीक हो सकता है किन्तु जैनधर्म जिस मतलब को लेकर मूर्ति पूजा की इजाजत देता है उसके प्रति आक्षेप की गुन्जाइश ही नही है।

उसका सिद्धात है कि जैसे एक विद्यार्थी नकशे को अपने सामने रखकर अपने हाथ से वैसा ही नकशा खेंचने का अभ्यास करता है, वैसे ही शाति चाहने वाला शातिमय मूर्ति की उपासना कर उसके निर्विकार भाव को अपने हृदय पट पर उतारने का अभ्यास कर सकता है, बतलाइये इसमे कोनसी बात खण्डन के योग्य है।

उसीके अनुरूप उसमत के साधु होते हैं, जिनके लिये लिखा है कि "वे विषयो की आशा से रहित होते हैं, आरम्भ और परिग्रह के त्यागी होते है और होते हैं ज्ञान, ध्यान, तप, मे लवलीन, साथ ही शाति के अवतार, निर्मोही, निर्लोभी, इद्रियो के विजेता, और विशाल क्षमा के धारी होते है। उनकी तपस्या, रहन-सहन इतने ऊँचे दर्जे की होती है कि हरएक विषय-लोलुपी उस वेष को धारण नही कर सकता। इसलिये "नारि मुई घर-सपति नाशी। मूँड मुडाय भये सन्यासी" जैसे फक्कडो का बोल-बाला जैनधर्म मे दिखाई नही पडता। सुलफो, और गाँजो की दम लगाने वाले लाखो नामधारी साधु समूह ने जो भारतवर्ष को बरबाद कर रक्खा है, उसमे जैन नाम धारी कोई साधु आपको न मिलेगा। जैनमुनि चाहे थोडेही मिलो, पर वे होंगे देश के लिये जवाहिरात की तरह कीमती चीज। जो दया पालन के लिये इतने मशहूर होते हैं कि वे अपने शिर के बालो को भी जूँओ के बचाव के लिये उश्तरो से नही मुँडवाते, किन्तु अपने ही हाथो से शिर और डाढी मूँछ के बालो को घास की तरह उखाड कर फैंक देते हैं। यह है "सिंहवृत्ति" इसके लिये अदम्य साहस, शरीर से गहरी निस्पृहता और घोर धीरवीरता चाहिये, उसे दीन और विषयो के भिखारी धारण नही कर सकते। यह बात "श्रीयुत महामहोपाध्याय डा० शतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे प्रकाड

अजैन विद्वान् ने "भी स्वीकार की है कि" जैन-साधु एक प्रशसनीय-जीवन व्यतीत करने के द्वारा पूर्ण रीति से व्रत नियम और इद्रियसयम का पालन करता हुआ जगत् के सन्मुख आत्म-संयम का एक बडा ही उत्तम आदर्श प्रस्तुत करता है" क्यो न हो जहा ज्ञान, वैराग्य, शम, दम, अहिंसा, समदृष्टि आदि गुणो मे एक भी गुण हो तो वह आदरणीय होता है, फिर जहाँ वे सब ही गुण पाये जाये वह फिर किस बुद्धिमान् के पूज्य न होगा। इस तरह क्या तो जैन साधु क्या जैनियो की आराध्य मूर्ति दोनो ही ज्ञान वैराग्य शील-सतोष का हमारे सामने एक उत्तम आदर्श रखते हैं, इसीके सहारे से सभ्यजन अपना आत्म-सुधार कर दु खदायी काम-क्रोधादिक भावो को बहुत कुछ दूर कर सकता है। जैन आगमो मे भी पद पद आपको ज्ञान, वैराग्य, और सतोष की ही शिक्षा मिलेगी, जैनधर्म का सारा ढाँचा ही वैराग्य के रग से रगा हुआ है, वह जो कुछ भी अनुष्ठान या किया काण्ड बतलावेगा, वह ऐसा ही होगा जो प्रत्यक्ष ही शाति का दाता हो, वह आपको ऐसी बातें कभी न बतलावेगा जिसका कोई अच्छा-सा नतीजा वर्तमान मे निकलता कभी नजर न आता हो, और यूँही जिन्हे परलोक मे सुखदाई बतला दिया गया हो। जैन धर्म तो आपको ऐसे ही मार्ग मे चलने का आदेश करता है जिससे आत्मा को इस लोक और परलोक मे शाति मिले। वह पुकार २ कर कहता है कि हे दु खी प्राणियो! तुम दु ख से छूटना चाहते हो तो क्रोध को छोडो, मान को त्यागो, कपट को हटाओ, और लोभ को जलाञ्जलि दो। इद्रिय विषयो के क्षणिक सुख से मुँह मोडो, अपनी आत्मा को क्षमा, सत्य शौच, तप सयम, दया, शील और सतोष से खूब भरदो, तभी तुम्हारा दु खसक्टो से उद्धार होगा। वरना अगणित जन्मो मे यूँही ठोकरे खाते

फिरोगे। "जैसा करे वैसा ही भरे" यह बात जैनधर्म ही बताता है वह यह नहीं कहता कि "किसी को सुखी-दुखी बनाना परमेश्वर के हाथ में है"। किसी मजहब की ऐसी मान्यता कि "सुख-दुख का कर्ता ईश्वरहै" दुनिया के लिये उपयोगी नही हो सकती। ऐसी नसीहत से तो लोग पाप कमाने मे और भी अधिक उच्छृखल-निरकुश बन सकते है। उनके दिल मे यह धारणा होना सम्भव है कि हमसे अन्याय जुल्म और अनर्थ हो भी जायेंगे तो एक दिन परमेश्वरकी खुशामद-भक्ति-करके पापाचार के फल से छूट जायगे। लल्लो-चप्पो से खुश होकर ईश्वर हमारे गुनाहो को माफ करदेगा, लेकिन जैनधर्म को देखिये-उसके यहाँ कोई ऐसी रियायत नही। वहतो डकेकी चोट कहता है कि "सुखी और दुखी होना खुद मनुष्यो के हाथ मे ही है। नेक चलन चलेगा तो सुख पावेगा, वरना दुख उठावेगा। यह तो वस्तु स्वभाव है जा किसी के पलटाये पलट नही सकता है। जैसे कोई शराव पीले तो उसके ऊपर शराब अपना जरूर असर करेगी। शराब से यो कहा जाय कि "हे शराव ! तुझे मै पीगया हू पर तू मुझे पागल मत बना" क्या शराब उसकी यह प्रार्थना सुनेगी ? कभी नहीं; वह तो असर डालेगी ही, क्योंकि उसकी तासीर ही ऐसी है। ठीक वैसे ही जो पाप करेगा उसका फल उसे जरूर मिलेगा, पुण्य करेगा तो सुख रूप मिलेगा, क्यूँकि पाप-पुण्य का स्वभाव ही ऐसा है—वस्तु स्वाभाव मे किसी की दस्तंदाजी चल नहीं सकती और इसके लिये किसी ईश्वर विशेष को बीच मे डालने की कोई जरूरत नही रहती, सब काम अपने आप वस्तु-स्वभाव से ही होते रहते हैं। अग्नि का स्वभाव गर्म है, जल का शीतल है, इसमे कौन क्या कर सकता है "स्वभावोऽतर्क गोचर" अलग-अलग पदार्थ का अगल-अलग स्वभाव अपना २

काम करता रहता है इस तरह वस्तु-स्वभाव को मानने वाले जैन धर्म की बदौलत दुनिया के बहुत कुछ अत्याचार रफा हो सकते है। इसलिये कहना होगा कि

जैन धर्म का अवतार विश्वहित के लिये है

इसी प्रयोजन को लेकर वह हमारे सामने इतना अच्छा कार्यक्रम पेशकरता है जो सरल होने के साथ २ हमे पाप के कीचड़ से भी निकालता जाता है। हमे अगणित पापो के नाम गिनाकर उलझन मे नही डालता। किन्तु उन सब को पाच हिस्से मे बाट कर हमे सुगमरूप सुझाता है। वे पाच ये है— किसी जीव को सताना, झूठ बोलना, चोरी करना, जिनाकारी करना (व्यभिचार) और ममत्व- असतोष रखना। इन्ही पाच पापो मे सभी पाप समाजाते है। जैनधर्म इन्ही के त्याग का उपदेश देता है। जो जितनी मात्रा मे इनका त्यागी है वह उतना ही उत्तम चारित्री है। मनुष्यो की तरक्की के लिये जैनधर्म का चारित्र बहुत लाभकारी है। दर असल मे वह एक अहिंसाप्रधान धर्म है। यद्यपि अन्यधर्म भी अहिंसा का प्रतिपादन करते है, पर जैनधर्म जिस खूबी और जिस प्रणाली से व्याख्यान करता है वह निराली ही है। "याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति" आदि कहने वाले अन्यधर्मों की तरह वह अपना अनुचित पक्षपात नही करता। वह नही कहता कि जैनधर्म के अर्थ की हुई हिंसा अधर्म नही है। किसी को मौत के मुंह मे पहुँचाने को ही जैनधर्म हिंसा नही बताता किन्तु कषायवश किसी के दिल को दुखाना भी वह हिंसा बताता है। साथ ही वह यह भी नही कहता कि मनुष्य और पशु जैसे मोटे जीवो को सताना ही हिंसा हो किन्तु वह तो आँखो से नजर न आनेवाला सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवो की हिंसा से

भी टलने का कथन करता है जिन स्थानो मे ऐसे सूक्ष्म जीव पायेजाते हैं उन्हे अपने दिव्य ज्ञान से देखकर जैनधर्म के सर्वदर्शी भगवान् ने उन स्थानो से यथाशक्ति बचे रहने की हिदायत की है। "खुद जीवो और दूसरो को जीने दो" यह जैनो का खास सिद्धान्त है। एतदर्थ वह कितने ही नियम भी बताता है। जैसे— जल छानकर पीना, रात्रि मे भोजन न करना, अनत जीवो के पिण्ड ऐसे कदमूल न खाना, बहु जतु स्थान ऐसे हरे साग, पत्र, पुष्प, फल न खाना, सब से मैत्रीभाव रखना, प्रेम व्यवहार रखना, किसी से वैर विरोध न करना, शत्रु का भी बुरा न चाहना आदि इसीके साथ वह ऊपर लिखे शेष ४ पापो के छोडने का भी पूर्णतया आग्रह करता है। एक गृहस्थ का जीवन भी अगर जैनत्व को लिये हुये हो तो वह इतना अधिक निर्दोष होगा कि भारतवर्ष को उसका अभिमान होना चाहिये★ जैनधर्म की कथित आचरणव्यवस्था पर ध्यान देने से यह नि सदेह कहा जा-सकता है कि उससे समग्र देश और समाज मे अत्याचार और उत्पात मिटकर अमन चैन बना रह सकता है। और इस गुण से जैनधर्म को यदि विश्वहित का अवतार कहा जाये तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

ईश्वरीयकथन

यो तो सभी मतवाले अपने २ मत की उत्पत्ति किसी ऋषिमुनि और ईश्वर के द्वारा हुई बताते हैं। यह एक परोक्ष बात है, अपनी उत्तमता दिखाने को चाहे कुछ भी कह दिया

★ वह किसी भी देश की कोई भी दण्डविधान-धारा का कभी भी शिकार नहीं हो सकेगा।

जाए। तथापि इसपर भी विचार हो सकता है। ईश्वर जो होता है वह काम, क्रोध, रागद्वेषादि दोपो से रहित होता है। सर्वज्ञ होता है। इसलिये उसका उपदेश भी निर्दोप, पूर्वापरविरोध-रहित सत्य, सर्व हित कर ही होगा। क्योकि वक्ता अपने गुण के मुआफिक ही व्याख्यान किया करता है। अत जिस मत मे न तो कामक्रोधादि दोषो के दूर करने का मार्ग सुझाया है और न कोई किसी खास हित के लिये ही कथन है तथा पूर्वापर विरोध जिन के वचनो मे पाया जाता है वह मत कदापि ईश्वरोक्त नही हो सकता। परोक्ष मे बोलने वाले पक्षी की आवाज सुनकर जैसे उसे बिना देखें ही जान लेते हैं वैसे ही किसी मत के वचन को देखकर ही उसके वक्ता का पता भी लग सकता है। यह एक सीधी सी बात है। जैनधर्म रागादि दोषो को हटाने की पूरी तौर से शिक्षा देता है। उसके सिद्धात मे कही कोई पूर्वापर विरोध भी नजर नही आता और वह हित कर्ता भी है जैसा कि ऊपर बतायागया है। इसलिये वही एक ईश्वरोक्त हो सकता है यह निश्चित है। उसके यहा इष्टदेव की मूर्ति बनाई भी रागादि दोषो से रहित जाती है। इसलिये भी उसका ईश्वरोक्त होना अधिक सभव है।

सैद्धातिक विवेचन

जो धर्म सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कहा हुआ होता है उसके सिद्धात मे अयथार्थता आही कसे सकती है। क्योकि असत्य कथन या तो ज्ञान की कमी से हो सकता है और या मोह, स्वार्थ लोभादि कषायो से हो सकता है। जैनधर्म वीतराग सर्वज्ञ आप्त के द्वारा प्रतिपादित है जैसाकि ऊपर कहा गया है। अत उसका अनेकातवाद, कर्मफिलासोफी, तात्विकसिद्धात आदि विवेच

अणमात्र भी भूल नहीं है। डाक्टर सर जगदीश चन्द्र बोस ने भारत में वनस्पतियों में जीवों का अस्तित्व बताकर पाश्चात्य विद्वानों को चकित कर दिया और कहा कि मैंने जो यन्त्रों द्वारा आज जीवों को सिद्ध कर दिखलाये हैं पर जैन ग्रन्थों में बहुत काल पहिले ही से यह लिखा मिलता है कि वनस्पति में जीव होते हैं।

जैन आगमों में लिखा है कि शब्द पुद्गल का गुण है जब कि अन्य दर्शनों में उसे आकाश का गुण बताया है। इसपर परस्पर के शास्त्रों में गहरा वादविवाद भी लिखा मिलता है। किंतु आज शब्द के फोनोग्राफ में भरे जाने व टेलीग्राफ रेडियो से दूर देश में पहुंचाने आदि से यह अनायास ही साबित हो गया कि शब्द पुद्गल ही की पर्याय है, आकाश की नहीं। तभी तो उसका इस तरह रोका जाना प्रत्यक्ष में दिख रहा है। इत्यादि उदाहरणों से साफ है कि जैनधर्म का सैद्धांतिक विवेचन भी बिल्कुल यथार्थ है। इटली के एक विद्वान् डा० एल० पी० टेसी टोरीसाहब इसी का समर्थन करते हुये बतलाते हैं कि—

"जैनदर्शन बहुत ही ऊँची पंक्ति का है। इसके मुख्यतत्व विज्ञान शास्त्र के आधार पर रचेहुये हैं। यह केवल मेरा अनुमान ही नहीं है बल्कि पूर्ण अनुभव है। ज्यों-ज्यों पदार्थविज्ञान उन्नति करता जाता है त्यों-त्यों ही जैनधर्म के सिद्धात सिद्ध होते जाते हैं।"

जैनधर्म का तत्व और उपदेश वस्तु स्वरूप, प्राकृतिक नियम, न्याय शास्त्र, शक्यानुष्ठान और विज्ञानसिद्धात के अनुसार होने के कारण सत्य है। जैनियों का अनेकांत और

नयवाद एक ऐसा सिद्धात है जो कि सत्य की खोज मे पक्षपात रहित होने की प्रेरणा करता है। जैनदर्शन एक ऐसा अभेद्य किला है जिसका आजतक किसी प्रतिवादी से बाल भी बाका न होसका। पुराने ढर्रे के हिन्दू धर्मावलबी शास्त्री तो अबतक नही जानते कि जैनियो का स्याद्वाद किस चिडिया का नाम है।

परीक्षा की प्रधानता

अपने एक इसी बल पर वह स्पष्ट घोषणा करता है कि—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु।
युक्ति मद्वचनं यस्य तस्य कार्य परिग्रह ॥

[हरिभद्रसूरि]

अर्थात—मेरे न तो वीर भगवान् मे पक्षपात है और न कपिलादि ऋषियो मे द्वेष है। जिसके वचन युक्ति सहित हो उसे ही ग्रहण करना चाहिये। क्योकि—

"युक्तियुक्त प्रगृह्णीयाद् बालादपि विचक्षण"

विचक्षण पुरुष वाजिब बात बालक की भी मानता है, इसी लिये जैन धर्म युक्ति और स्वतत्र विचारो से कभी भयभीत नही होता। वह इतर मतो की तरह ऐसा कभी नही कहता कि जो कुछ हम कहते हैं वही ठीक है। उस पर तर्क-वितर्क करने की जरूरत नही है। इस प्रकार "बाबावाक्य प्रमाण" की उसके यहा पूछ नही है। वह तो खुले रूप मे कहता है कि—

'निर्दोषं कांचनं चेत् स्यात् परीक्षायां बिभेति किम्'

असली सोना है, तो कसौटी का क्या डर है।

सिद्धात की दृढ असलियत का उसे पूर्ण निश्चय है और इसीलिये वह अपने अनुयायियो को जोर देकर आदेश करताहै कि उसपर श्रद्धान करने पर ही तुम्हारे सम्यक्त्व नाम का वह चिह्न प्रकट हो सकेगा जो कल्याण का प्रथम सोपान है।

प्राचीनता

यह कोई नियम नही है कि जो प्राचीन हो वही सत्य हो। प्राचीनता और समीचीनता मे कोई सबध नही है। अगर सत्य प्राचीन हो सकता हो तो असत्य भी क्यों न प्राचीन माना जाय। अनुकूल-प्रतिकूल का द्वंद्व तो सदैव बना रह सकना लाजिमी है। फिर भी लोगो की अक्सर यह धारणा होना अनुचित नही कही जा सकती कि अमुकमत श्रेष्ठ था तो पहिले क्यो नहीं था अब ही नया क्यो हुआ। पूव कालीन मनुष्य अधिक विवेकी हुये हैं यह मार्ग क्यो नही सूझा। एक तरह से इस प्रकार का कथन भी उपेक्षणीय नहीं हो सकता। इसीलिये हरएक मत अपने आपको सबसे पूर्व का बतलाया करता है।

जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने को किसी उलझन में पडने की आवश्यकता नही रहती। क्योकि जैनधर्म तो आत्मा का निज स्वभाव है। जब कि आत्मा अजर-अमर सदैव से चला आता है तो उसीके साथ जैनधर्म भी सदैव का रहा यह निर्विवाद है। आत्मा का खास स्वभाव काम, क्रोधादि रहित है; क्योंकि स्वभाव सदा द्रव्य के साथ बना रहता है। आप देखेंगे कि मनुष्य सदैव निरन्तर क्रोधादि रूप नहीं रहता है। किसी कारण विशेष से उसके कुछ समय तक वैसा विकार हो जाता है, कारण के हटने पर पुन- उसी शात रूप मे आ जाता है। जैसे

जल का स्वभाव ठण्डा है किन्तु अग्नि के प्रसंग से गर्म भी हो जाता है। इससे सिद्ध है कि अगर आत्मा का स्वभाव क्रोधादि मय होता तो वह सदा क्रोधादि रूप ही बना रहता; पर ऐसा निरंतर पाया नही जाता क्योकि वस्तुन उसका असली स्वभाव क्षमादि शात रूप है। और जैन धर्म भी इसे उसी स्वभाव मे रहने की प्रेरणा करता है। अत जो आत्मा का स्वभाव है वही जैनधर्म है। इस लिए उसे नया नही कह सकते। और इसी कारण जैनधर्म की उत्पत्ति का पत्ता लगाना असभव है।

वर्तमान काल कलियुग है। इस निकृष्टकाल से पूर्ववर्ती काल उत्तरोत्तर उत्कृष्ट मान लेने पर जैन धर्म जैसा श्रेष्ठ धर्म भी पूर्वकाल मे अधिकाधिक रूप मे माना जाना चाहिये। क्योकि उत्तम काल मे ही उत्तम चीज का पाया जाना न्याय सगत है। वर्तमान मे जैनधर्म का हीन-प्रभ दिखाई देना भी उक्त मान्यता को पुष्ट करता है। यह बात हम ही अपनी तरफ से कह रहे हों सो नही है किन्तु प्राचीनता का दम भरनेवाले इतर ग्रथ भी उसके साक्षी है। यथा —

१—शकराचार्य महाराज स्वय स्वीकार करते हैं कि जैनधर्म अति प्राचीन काल से है। वे वादरायण व्यास के वेदान्त सूत्र के भाष्य मे कहते है कि दूसरे अध्याय के द्वितीय पाद के सूत्र ३३ से ३६, जैनधर्म ही के सम्बन्ध मे हैं। शारीरिक-मीमासा के भाष्यकार रामानुज जी का भी यही मत है।

२—योगवाशिष्ठ वैराग्य प्रकरण के अध्याय १५ श्लोक ८ में रामचन्द्रजी ने जिनेन्द्र के सदृश शान्त होने की इच्छा प्रकट की है।

३ – वाल्मीकि रामायण बालकाड सर्ग १४ श्लोक २२ मे

राजा दशरथ ने श्रमणगणों का अतिथि सत्कार किया, ऐसा लिखा है—

"तापसा भुंजते चापि श्रमणा भुंजते तथा"

भूपण टोका मे श्रमण का अर्थ जैनमुनि किया है।

४—शाकटायन के उणादि सूत्र म जिन शब्द व्यवहृत हुआ है—

"इण्सिजजिनोडुष्य विभ्योनक्"

सूत्र २५६ पाद ३

सिद्धान्त कोमुदी के कर्त्ता ने इस सूत्र की व्याख्या मे "जिनोऽर्हन्" कहा है। मेदिनी कोप मे भी जिन शब्द का अर्थ अर्हत-जैनधम के आदि प्रचारक लिखा है। वृत्तिकारगण भी जिनका अर्थ "अर्हत्" करते है। यथा उणादि सूत्र सिद्धान्त कोमुदी। शाकटायन ने किस समय उणादि सूत्र की रचना की थी ? यास्क के निरुक्त मे शाकटायन के नामका उल्लेख है। और पाणिनि के वहुत समय पहिले निरुक्त वना है इसे सभी स्वीकार करते हैं। और महाभाष्य प्रणेता पतजलि के कई सौ वर्प पहिले पाणिनि ने जन्म ग्रहण किया था। अतएव अव निश्चय है कि शाकटायन का उणादिसूत्र अत्यन्त प्राचीन ग्रथ है और उसमे जैनमत का जिकर है। ×

५—आज से २४५७ वर्ष पूर्व महावीर स्वामी हुए, जो

× यह पुस्तक सर्वप्रथम वीर निर्वाण स० २४५७ मे प्रकाशित हुई थी।

जैनो के चौबीस वे तीर्थंकर थे। जिनका कि सवत् आज भी चल रहा है। उनके २५० वर्ष पहिले भगवान् पार्श्वनाथ हुये। कुछ लोगो का यह भ्रम पूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के आदि स्थापक थे उन्हे जानना चाहिये कि पार्श्वनाथ के पहिले भी २२ तीर्थंकर और हुये है जो जैनधर्म के विस्तारक थे। सब से प्रथम श्री ऋषभदेव ने इसका प्रचार किया है। भागवत के पाचवें स्कन्ध के अध्याय २-६ मे ऋषभदेव का कथन है जिसका भावार्थ यह है—

"चौदह मनुओ मे पहिला मनु स्वय प्रभू का प्रपौत्र नाभि का पुत्र ऋषभदेव हुआ जो जैनमत का आदि प्रचारक था। इनके जन्मकाल मे जगत् की बाल्यावस्था थी इत्यादि।"

महाभारत की टीका मे भी जैन ऋषभ का उल्लेख है। इससे मानना होगा कि हिन्दू शास्त्रो के मत से भी ऋपभ ही जैनधर्म के प्रथम प्रचारक थे।

६—डा० फुहरर ने जो मथुरा के शिला लेखो से समस्त इतिहास की खोज की है उससे जान पडता है कि पूर्वकाल में जैन लोग ऋषभदेव की मूर्तिया बनाते थे। इस विपय का "एपिग्रेफिया इडिका" नामक ग्रन्थ अनुवाद सहित मुद्रित हुआ है। ये शिला लेख दो हजार वर्ष पूर्व कनिष्क-हविष्क वासुदेवादि राजाओ के राजत्वकाल मे खोदे गये है। इससे सिद्ध है कि यदि महावीर-पार्श्वनाथ ही जैनधर्म के प्रथम प्रचारक होते तो दो हजार वर्ष पहिलेके लोग ऋषभदेवकी मूर्तिकी पूजा नही करते।

७ जैनियो के परम पूज्य चौबीस तीर्थंकरो को वेदो से भी नमस्कार किया है। देखो—

"ओं त्रैलोक्यप्रतिष्ठितानां चतुर्विंशतितीर्थंकराणां ऋषभादिवर्द्धमानान्तानां सिद्धाना शरणं प्रपद्ये"—ऋग्वेद

अर्थ—त्रैलोक्य प्रतिष्ठित ऋषभ से वर्द्धमान पर्यंत जो चौबीस तीर्थंकर सिद्ध हैं उनकी मैं शरण प्राप्त होता हूं।

यजुर्वेद मे कहा है कि—

ओं नमोऽर्हन्तो ऋषभो

ऋग्वेद यजुर्वेद के एतद्विषयक कुछ प्रमाण इस निवन्ध में आगे भी दिये है।

८ उर्व, भारवि, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, बोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ, राजशेखर, आदि महाकवियो ने भी अपने २ काव्यो मे जैन विषयक उल्लेख यत्र तत्र किया है □

इसके अलावा जैनो का उल्लेख कितने ही शिलालेखों, मूर्तिलेखो और ताम्रपत्रो मे भी काफी तौर से पाया जाता है।

सबसे अधिक शिलालेख दक्षिण भारत मे हैं। मि० ई० हुलिस, मि० जे० एफ० फ्लीट, और मि० लेविस राईस आदि भिन्न २ पाश्चात्य विद्वानो ने साउथ इण्डिया इन्स्क्रिप्सन, इण्डियन ऐ टिक्केरी, ऐपिग्रॉफिया कर्णाटिका आदि ग्रन्थो मे वहा के हजारो लेखो का संग्रह किया है। ये लेख शिलाओ तथा ताम्रपत्रो पर सस्कृत और पुरानी कनडी आदि भाषाओ मे खुदे

□ देखो यशस्तिलक चपू आश्वास ४था पृष्ठ ११३ निर्णयसागर मे मुद्रित।

हुऐ हैं। प्राचीन कनडी के लेखो मे जैनियो के लेख बहुत अधिक हैं, क्योकि उत्तर कर्णाटक, दक्षिण कर्णाटक, और मैसूर राज्य मे जैनियो का निवास प्राचीन काल से है। उत्तर भारत मे जो सस्कृत और प्राकृत भाषा के लेख मिले है, वे पाचीनता और उपयोगिता की दृष्टि से बहुत महत्व के है, इन लेखो मे जैन लेखो की सख्या अधिक है, इन सब मे कुछ लेख तो २२०० वर्ष तक के पुराने हैं, ये लेख भारत के इतिहास के लिये भी बहुत सहायक है। बहुतसे राजाओ का पता तो केवल जैनियो के ही लेखो से लगता है। जैसे—कलिंग (उडीसा) का राजा खारवेल। अगर जैन लेख प्रशस्ति न होती तो आज विख्यात कवि "भारवि" के समय का पता लगाना भी मुश्किल हो जाता ★।

तथा यह बात प्राय सभी जानते है कि जैनियो की कितनी ही मूर्तियाँ कितने ही स्थानो मे जमीन खोदते वक्त मिलती रही है, उनमे से कतिपय तो बहुत ही प्राचीन हैं, बल्कि कुछ मूर्तियाँ तो यहाँ केकडी के जैन मन्दिरो मे भी विराजमान है जो धनोप (जिला शाहपुरा मेवाड) की खुदाई मे मिली थी। क्या इस प्रकार जमीन के अन्दर हिंदुस्थान मे चारो तरफ जैनियो के शिलालेखो और विशालकाय मूर्तियो का निकलना अच्छी प्रकार साबित नही करता कि जैन धर्म एक बहुत ही प्राचीन धर्म है जो किसी समय सर्वत्र विस्तृत था।

साहित्य-सम्पदा

जैन साहित्य समुदाय भी कम महत्व का नही है।

★ देखो महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखित हिंदी किरातार्जुनीय की इण्डियन प्रेस इलाहाबाद में मुद्रित भूमिका पृष्ठ २ से ६ तक।

सस्कृत, प्राकृत, मागधी, कनडी, आदि विविध भाषाओ मे ताड-पत्रो पर लिखे कितने ही प्रभावशाली प्राचीन जैन ग्रन्थ पाये जाते हैं। यद्यपि अधिकाश-जैनग्रन्थ विरोधियो की द्वेषाग्नि मे और जैनियो की लापरवाही के कारण चूहो-दीमको आदि से नष्ट हो गये है, तथा कही २ जैनियो की वह लापरवाही अद्यापि वैसी ही बनी हुई है, तथापि ईडर, जैसलमेर, जयपुर, आरा, नागौर, मूडबिद्री आदि स्थानो के ग्रन्थ भडारो मे अब भी जैन-ग्रन्थो का अच्छा सग्रह है। जैन ग्रन्थकर्त्ताओ ने सभी विषयो पर लेखनी उठाई है, उनकी रचना शब्द-सौन्दर्य, भाव गाभीर्य और अर्थ-चमत्कृति मे अपूर्व कही जा सकती है जैनेन्द्र, शब्दानुशासन आदि व्याकरण, अभिधानचिंतामणि, विश्वलोचन आदि कोष गद्य चिंतामणि, तिलक मजरी, आदि गद्यग्रन्थ, धर्मशर्माभ्युदय, पार्श्वाभ्युदय, द्विसधान, चद्रप्रभ चरित आदि काव्य, जीवधर चपू यशस्तिलक चपू आदि चपू, अलकार चिंतामणि, काव्यानु-शासन आदि अलंकार ग्रथ अष्ट सहस्री, प्रमेयकमलमार्तंड, श्लोकवार्तिक, स्याद्वादरत्नाकर आदि न्यायग्रथ, मोक्षशास्त्र, धवल जयधवल, महाधवल आदि दार्शनिक ग्रन्थ, इसी प्रकार वैद्यक ज्योतिष गणित आदि विषयो के भी जैन ग्रन्थो की कमी नही है। इन सब मे कितने ही ग्रन्थ नि सदेह प्रकाण्ड विद्वत्ता के सूचक, गौरव शाली और साहित्य ससार के चमकते हीरे कहे जाने चाहिये। वर्तमान मे जितने जैन ग्रन्थ मुद्रित हुए है उनसे कई गुणे अभी हाल अप्रकाशित हैं। दक्षिण मे तामिल व कनडी इन दोनो भाषाओ के जो व्याकरण प्रथम प्रस्तुत हुए हैं वे जैनियो ने ही रचे थे। अपने उपयोगी और सत्य सिद्धान्तो का सर्व साधारण मे प्रचार करने की गरज से कितने ही मुख्य जैन-ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे रचे गये हैं। हरिभद्र सूरि ने भी यही हेतु

दिया है जैसा कि उनके इस पद्य से प्रकट है । यथा—

"बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थं तत्वज्ञैः सिद्धान्त प्राकृत कृत. ॥

जैन साहित्य के बाबत हम अधिक कुछ न लिखकर एक प्रसिद्ध अजैन विद्वान् श्रीमहामहोपाध्याय डॉ० "सतीशचन्द्र विद्याभूषण" सिद्धान्तमहोदधि कलकत्ता की सम्मति देते है, उसे देखिये—

जैनियो की विचार पद्धति, यथार्थता, सूक्ष्मता, सुनिश्चितता, और सक्षिप्तता को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ था। और मैंने धन्यवाद के साथ इस बात को नोट किया है कि किस प्रकार से प्राचीन न्याय पद्धति ने जैन नैयायिको द्वारा क्रमश उन्नति लाभकर वर्तमान रूप धारण किया है। ब्राह्मणो के न्याय की आधुनिक पद्धति जिसे नव्यन्याय कहते है और जिसे गणेश उपाध्याय ने १४वी शताब्दीमे जारी किया है वह जैन और बौद्धो के इस मध्यकालीन न्याय की तलछट से उत्पन्न हुई है। व्याकरण और कोश रचना विभाग मे शाकटायन, देवनदि और हेमचन्द्र आदि के ग्रथ अपनी उपयोगिता और विद्वत्ता मे अद्वितीय हैं। प्राकृतभाषा सपूर्ण मधुमय सौदर्य को लिये हुए जैनियो की रचनामे ही प्रकट की गई है। ऐतिहासिक ससार मे तो जैनसाहित्य शायद जगत् के लिए सबसे अधिक काम की वस्तु है। यह इतिहास लेखको और पुरावृत्त विशारदो के लिये अनुसधान की विपुल सामग्री प्रदान करने वाला है।"

आक्षेप परिहार

१—हमारे अजैन भाई कह सकते हैं कि जिस जैन धर्म

की तुम इतनी डीग मारते हो वह दरअसल मे इतना श्रेष्ठ होता तो उसके मानने वालो की आज इतनी कम सख्या न होती। उत्तर यह है कि किसी मजहव की उत्तमता उसके अनुयायियो की अधिक सख्या पर निर्भर नही हो सकती, प्राय उत्तम चीज पाई भी थोडी जाती है। पत्थरो के ढेर मिलेंगे पर जवाहिरात बिरली ही जगह पायेंगे। काको के झुड मिलेंगे, लेकिन हस नजर न पडेंगे। एक बात यह भी है कि उत्तम चीज के रखने का पात्र भी तो उसीके योग्य चाहिये, सिहनी का दूध सुवर्ण पात्र को छोड अन्यत्र नही ठहरता। जो दया प्रधान धर्म विषयकषाय छोड नेकी शिक्षा देता है, उमका पालन इन्द्रियो के गुलाम, कषायो के पुतले, कठोर चित्त वाले जिनकी कि अधिक सख्या है क्यो कर कर सकते है। विरोधियो के झूठे अपवाद और उसपर जैनियो के प्रमाद से भी उसको कम क्षति नही हुई है फिर भी देश मे जैन नाम धारियो की चाहे सख्या न बढी हो तो भी उसका अन्य धर्मों पर जो गहरा असर पडा है, उससे अप्रकट आशिक जैन तो वहुत अधिक हैं। इसे ही प्रसिद्ध देशभक्त लो० बालगगाधर तिलक ने भी प्रकट किया है कि 'यथार्थ पशु-हिंसा जो आजकल नही होती है यह एक बडी भारी छाप जैन धर्म ने ब्राह्मण धर्म पर मारी है" क्यो कि —

यच्छुभं दृश्यते वाक्यं तज्जैन पर दर्शने।
मौक्तिकहि यदन्यत्र तदब्धौ जायतेऽखिलम्॥

अर्थ—जो अच्छा उपदेश पर मतो मे मिलता है उसे जैनों से ही लिया हुआ समझना चाहिए। क्योकि मोती कही पर भी हो, आता समुद्र से ही है।

२ जैनियो को निरीश्वर वादी और नास्तिक कहना भी सरासर मिथ्या है अगर जैनी ईश्वर न मानते होते तो वे अपने आलीशान मन्दिरो मे किनकी उपासना करते है ? वास्तव मे जैन लोग निर्दोष, सर्वज्ञ, हितोपदेशी को ही अपना ईश्वर मानते है और उन्ही को प्रतिमा को वे पूजते हैं, अलबत्तह वे किसी ईश्वर को कर्त्ता हर्त्ता नही मानते हैं। जैसा कि उनका कहना है। यथा—

'परेषुयोगेषु मनीषयांधः प्रीतिं दधात्यात्मपरिग्रहेषु ।
तथापि देव स यदि प्रसक्तमेतज्जगद्देवमयं समस्तम् ।।
[यशस्तिकचपू ४ था समाश्वास]

अर्थ—जो शत्रुओ पर द्वेष करता है और आत्मस्नेहियो मे प्रीति करता है ऐसा भी यदि ईश्वर होने लगे तो सारे जगत् को ईश्वरमय मानना चाहिये। क्योकि राग-द्वेष तो सभी मे पाये जाते हैं।

इसीलिये किसी ईश्वर को दुनियावी झझटो मे पडना वे मान्य नही करते। अगर जैनो को इसी कारण से नास्तिक कहा जाता है तो भगवद्गीता मे ऐसा ही उपदेश देने वाले श्री कृष्ण को भी नास्तिक कहना चाहिये। क्योकि उन्होने भी लिखा है कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।
नादत्ते कस्यचित्पापं न कस्य सुकृत विभु ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतव ।।
[भगवद्गीता अध्याय ५ श्लोक १४-१५]

अर्थ परमेश्वर जगत् के कर्तृत्व और कर्म को उत्पन्न नही करता और कर्म फल की योजना भी नही करता स्वभाव से सब होता है ॥ १ ॥

ईश्वर किसी का पाप पुण्य ग्रहण नही करता, ज्ञान पर अज्ञान का परदा पडा होने से प्राणी मोह मे फँस जाते है ॥ २ ॥

आत्मा, पुण्य, पाप और परलोक को मानने वाले जंनो को नास्तिक कहना भारी भूल है। तथा "नास्तिको वेदनिंदक" वैदिक मत को न मानने से भी जैनो को नास्तिक नही कह सकते। यो तो यवन भी कह सकते हैं कि कुरान शरीफ को न मानने वाले नास्तिक है। यदि ऐसा है तो विचारी नास्तिकता सब के गले पडने लगेगी।

३—जैन धर्म की अहिसा को कायरता की जननी और भारतवर्ष के अध पतन का कारण कहना भी ठीक नही है। जिन दिनो सम्राट् चद्रगुप्त, गगराज, अशोक, अमोघवर्ष, कुमारपाल आदि जैन राजाओ का यहा राज्य था तब भारतवर्ष बहुतकुछ उन्नति पर था। जैनो के पूज्य सभी तीर्थंकर क्षत्रिय कुल मे हुये है उनमे शाति, कुथु और अरनाथ इन तीन तीर्थंकरो ने तो दिग्विजय कर षट् खड पृथ्वी का शासन किया है। श्री नेमिनाथ तीर्थंकर भी जरासध से युद्धार्थ रणभूमि मे गये हैं। चामुडराय भामाशाह, आशाशाह, आदि रण पारगत वीर जंन ही थे। फिर मुसलमानी राज्यो मे अकबर का राज्य क्यो प्रशसनीय गिना जाता है ? इसलिए कि अकबर स्वय अहिंसाप्रिय बादशाह था और वह हीरविजय प्रभृति जैन विद्वानो के सदुपदेशो के अनुसार अपने राज्य मे अहिंसा को महत्व देने का प्रयत्न करता था। अगर हिंसा ही उन्नति का कारण होती तो मुसलमानी सल्तनत

का नामशेष क्यो होता। सच तो यह है, कि जब से अहिंसा को छोडा तभी से भारत का पतन हुआ है। राजाओ मे ईर्ष्या, द्वेष, विलासिता और पारस्परिक फूट बढने लगी तब पतन अवश्य-भावी था। अहिंसा तो वीरो का धर्म है। प्रत्यक्ष देखलो, महात्मा गाधी की एक आशिक अहिंसा से ही सुदीर्घकालीन परतत्र भारत स्वतत्र हो गया।

इस प्रकार जैन धर्म मे वे सभी बाते पाई जाती है, जो एक उत्कृष्ट धर्म मे पाई जानी चाहिये, इसी से हम उसे नि सकोच बहुत ही श्रेष्ठ धर्म कह सक्ते है और इसीलिये समत-भद्र जैसे प्रचड नैयायिक उसे अद्वितीय बताते है। यथा—

"दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताजसार्थम्।
अधृष्यमन्यैर्निखिल प्रवादै र्जिन ! त्वदीय मतमद्वितीयम् ॥६॥

[युक्त्यनुशासन]

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका मत नय प्रमाण के द्वारा वस्तुतत्वको बिल्कुल स्पष्ट करने वाला, सपूर्ण प्रवादियो द्वारा अबाध्य होनेके साथ-साथ दया, दम, त्याग और समाधि (प्रशस्त ध्यान) की तत्परता को लिए हुये हैं यही सब उसकी विशेषता है अथवा इसीलिए वह अद्वितीय है ॥

तथा वेही आचार्य आगे चल कर उसे—

"सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयतीर्थमिदतवैव"

इस पद से सपूर्ण आपदाओ का नाशक सर्वोदय तीर्थ तक बतलाते हैं।

इतना अधिक समीचीन और परमोपयोगी होने की वजह

से ही उसके महत्व का यत्रतत्र कथन जैनेतर ग्रन्थकारो को भी करना पडा है। सो ठीक ही है। क्यो कि ' नहि कस्तूरि कामोद शपथेन निवार्यते" (कस्तूरी की खुशवू शपथ (सौगन्ध) खाने से नही रोकी जाती)। ऋग्वेद अष्टक २ अ० ७ वर्ग १७ मे अर्हंत को केवल ज्ञानी अतुल्य वलशाली और सव की रक्षा करनेवाला लिखा है।"

"यजुर्वेद अध्याय ६ मत्र २५ मे २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ को आहुति प्रदान की है। साथ ही उन्हे आत्मस्वरूप के प्रकट कर्त्ता और यथार्थ वक्ता कहा है।"

यजुर्वेद अध्याय १६ मंत्र १४ मे लिखा है कि "अतिथिरूप पूज्य महावीर जिनेन्द्र की उपासना करो, जिससे त्रिविध अज्ञान और मद की उत्पत्ति न हो।"

शिव पुराण मे लिखा है कि "अडसठ ६८ तीर्थो की यात्रा का जो फल है, वह आदिनाथ (ऋषभ देव) के स्मरण से होजाता है" यथा—

अष्टषष्ठिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत् ।
आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत् ॥

योगवाशिष्ठ के वैराग्य प्रकरण मे रामचन्द्रजी ने जिनेन्द्र के सदृश शाति प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की है। यथा—

"माहं रामो न मे वांछा भावेषुच न मे मनः ।
शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनोयथा ॥
[अध्याय १५ श्लोक २८]

दक्षिणामूर्ति सहस्रनाम मे कहा है कि "शिवोवाच "

जैनमार्गरतोजैनो जितक्रोधो जितामय ॥

इसमे भगवान का नाम जैनमार्ग रत, और जैन बताया है। वैशम्पायन सहस्रनाम मे—

कालनेमिनिहा वीरः शूर· शौरिर्जिनेश्वर· ।

यहा भी जिनेश्वर को भगवान् कहा है ।

दुर्वासा ऋषिकृत महिम्न स्तोत्र मे—

"कर्ताऽर्हन् पुरुषोहरिश्चसविता बुद्ध शिवस्त्वं गुरु ॥

यहा अर्हन्त कहकर इष्टदेव की स्तुति की है।

हनुमन्नाटक के मङ्गलाचरण मे—

"अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता·, कर्मेति मीमांसका ।
सोऽयं वो विदधातु वाछितफल त्रैलोक्यनाथ प्रभु"॥

अन्यदेवो के साथ-साथ अर्हन्त से भी जिसे जैन लोग मानते हैं वाछित फल की प्रार्थना की है और उसे तीन लोक का नाथ तक लिखा है । इन सपूण प्रमाणो तथा युक्तियो से जै· धर्म की श्रेष्ठता स्वय सिद्ध होती है।

प्रभास पुराण मे—

"रैवताद्रौ जिनो नेमि युगादि विमलाचले ।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्" ॥

नेमिजिन को मुक्ति का कारण कहा है ।

नगर पुराण मे—

दशभिर्भोजितैः विप्रैः यत्फल जायते कृते ।
मुनेरर्हत्सुभक्तस्य तत्फल जायते कलौ ॥

अर्थ—दस ब्राह्मणो के जिमाने का जो फल कृ-युग मे

होता है वह फल कलियुग मे अर्हन्त भक्तमुनि को आहार देने से होता है। अब जरा मनुस्मृति मे भी लिखा देखिये—

"दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुर नमस्कृत. ।
नीतित्रितयकर्ता यो युगादौ प्रथमो जिन." ॥

अर्थ—युग के आदि मे होनेवाले जो प्रथम जिनेन्द्र हैं वे तीन नीति के कर्ता, वीरो के मार्ग दर्शक, और सुरासुरो से पूजित हैं।

इत्यादि कितने ही प्रमाण है जो ग्रन्थ बढजाने के भय से छोडे जाते है

जो धर्म इतना प्रशसित, इतना मान्य, और इतना अधिक उपयोगी है उसके लिये यो लिखना कि—

"हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमंदिरम् ।"

"हस्ति से ताडित होकर भी अपनी रक्षार्थ जिनमदिर मे न जाय।" लेखक के गम्भीर कलुषाशय को प्रकट करता है। जैसे उसने क्रोध के आवेश मे लिखा हो। इसलिये उसकी कदर भी उतनी ही होनी चाहिये जितनी एक क्रोधी की जबान की होती है।

उसके ऐसा लिखने से जैनधर्म की हानि हुई हो चाहे न हुई हो, किन्तु उसने एक शातिदायी धर्म के ससर्ग से अलग रखकर अपने अनुयायियो को निश्चय ही गहरी हानि पहुचाई है।

प्रध्वस्तघातिकर्माण· केवलज्ञानभास्करा ।
कुर्वंतु जगत शांति वृषभाद्या जिनेश्वरा ॥
ओ शांतिः ! शाति !! शाति. !!!

३४

दर्शनभक्ति (माथुरसंघी) का शुद्ध पाठ

अथ दर्शन-भक्ति

वीरं विलीणमोह णमो णराऽमर णमम्मियं विमलणाण★
कम्म महा घण सेलो पलोट्टिदो जेणिमो अणादिपुराणो ॥१॥

मिच्छत्त बद्ध मूलो कसाय सोलस सिलायडो उसिदतु गो
थी पुणपुंस वेदय गलदुज्झर धादु लिहिद चित्त द्देसो ॥२॥

हस्सरदि मिहुण किण्णरणिसेविदो अरदिसोय सावय गुविल्लो
भयसय अणेय दुस्सहदुगु छिदो वाहि विसम विसहरकडिल्लो ॥३॥

अट्ठविह कम्म पछय णगाहिओ मोह गिरिवरो णाम इमो
जस्स भरेणऽक्कता समम्मि पडिवज्जिद सक्काण सक्का ॥४॥

भवसय सहस्स विहगगण णिसेविदो जेण णासिदो मोह गिरी
मो सम्मणाणदसण चरित्त विहि देस ओ दिसदु मे सिद्धि ॥५॥

— —

भव्य. सम्प्रति लब्धकाल करण प्रायोग्य लब्धयादिकः
सम्यक्त्वस्य समुद्भवाय घटयन् मिथ्यात्वकर्म स्थितिम् ।

★—'विउलणाण' पाठ ।

कर्तुं प्रक्रमते तरां त्रिकरणं संवेगवैराग्यवान्
सशुद्धासुदयावलेरूपरिजां कुर्वन् मूहूर्तं स्थितिम् ॥१॥

मिथ्यात्वं परतस्तत परिणतेर्हेतो स्त्रिधा भिद्यते
शुद्धाशुद्धविमिश्रितं प्रदलनाद्भेदैर्यथा कोद्रवा. ।
ते दृग्मोहविकल्पना स्त्रिगणनाश्चारित्रमोहस्य यै
प्राग्भेदै. सहिताश्चतुर्भिरुदितास्ते सप्त दृग्घातिन ॥२॥

यत्तेषां प्रशमात् तदौपशमिकं सम्यक्त्वमत्राऽन्तरे
प्रक्षीणेषु च तेषु सप्तसु भवेत् तद्दर्शनं क्षायिकम् ।
शुद्धश्चेदुदयं गत प्रशमिता शेषास्तथैव स्थिता.
कर्मांशा. षडुदीरितं मुनिवरैस्तन्नामतो वेदकम् ॥३॥

रत्नानां गणनासु यान्ति गणनां प्रागेव यान्युज्ज्वला-
न्यत्राऽऽशानिचयै भवन्ति सहिता ये संयता. केचन
मुक्ता स्यु' सुखधाम यैश्चविभवा यैरेव संलक्षिता.
सम्यक्त्वानिविभाति तानि सुबृहन्मूल्यानि रत्नानि वा ॥४॥

भीमाऽनेक भवप्रपञ्चविपिना न्नि सर्पणै सार्थवान्
नाना दु ख महासमुद्र भयतो निस्तारणे नौरिव
सान्द्राऽज्ञानतम समूहदलने भास्वानिवाऽभ्युत्थित
सम्यक्त्वत्रितय नमामि तदहं तस्यैव संशुद्धये ॥५॥

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्काय-लेश्या.
पञ्चाऽन्ये चाऽस्तिकाया. व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्र-भेदाः
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितै' प्रोक्तमर्हद्भिरीशै
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् य सवंशुद्धदृष्टि ॥६॥

अरहंताऽऽगम सत्थे चरित्त सद्दहणलक्खण ततु
उवमम वेदय-खइय तिविह सम्मत्तमभिवदे (१) ।।७।।
सम्मत्ते थिरभावो कायव्वो मेरु पव्वय सरिच्छो
जेण हु णाण चरित्ता हवति सम्मत्तमूलाओ (२) ।।८।।
सम्मत्त सलिलपवहो णिच्च हिययम्मि पवहए जस्स
कम्म बालुववरणुघ्व तस्स बध च्चिय ण एइ (३) ।।९।।

।। इति दर्शन भक्ति समाप्ता ।।

नोट—यह दर्शन भक्ति-पाठ माथुर सघी (काष्ठा सघी) हैं मूल सघी नही हैं। मूल सघी और माथुर सघी (काष्ठासघी) भक्ति पाठ जुदे जुदे पाये जाते हैं। यह दर्शनभक्ति का माथुरसघी शुद्ध पाठ एक प्राचीन हस्तलिखित बसवा ग्राम के गुटके से उतारा गया है जो वि० स० १६२१ का है। इस पाठ में प्राकृत दर्शन भक्ति और सस्कृत दर्शन भक्ति के जुदे जुदे पाठ नहीं हैं किन्तु प्राकृत और सस्कृत दोनो भाषाओमें यह एक दर्शन भक्ति बनाई गई है।

'दिव्यध्वनि (मासिक) वर्ष १ अक ५ (अप्रैल ६६) तथा जैन-सन्देश शोधाक न० २३ मे भी यह दर्शन भक्ति पाठ छपा है जो काफी अशुद्ध है। उनकी इस प्रस्तुत पाठ से तुलनाकर शुद्धाशुद्ध रूप को भली प्रकार जाना जा सकता है।

इसकी जो अन्तिम ९वी गाथा है वह पद्मनन्दि कृत 'धम्मर-सायण' ग्रथ मे भी गाथा न० १४० के रूप मे पाई जाती है। तथा कुन्दकुन्द के दर्शनपाहुड मे भी गाथा न० ७ के रूप मे पाई जाती है और वहाँ से यहाँ ली गई है।

अन्य भक्तियो की तरह दर्शन भक्ति-पाठ भी रहा है। प० सोम-देव ने भी यशस्तिलकचम्पू (ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'उपासकाध्ययन' पृ० २२५) में 'दर्शनभक्ति की सुन्दर रचना की है।

३५

जैन खगोल विज्ञान

आसमान मे चमकने वाले सूर्य चन्द्रमा तारे कौन है? और इनका स्वरूप जैनधर्म मे कैसा बताया है? ये हमारी इस पृथ्वी से कितने ऊँचे है? इनका आकार कैसा है? लम्बाई चौडाई इनकी कितनी है? इनकी कितनी सख्या है? ये चलते है? या स्थिर? और इनके द्वारा किस तरह से रात्रि-दिन बनते हैं? इत्यादि वर्णन जैसा भी जैनशास्त्रो मे पाया जाता हैं उसकी भी जानकारी न केवल सामान्य जैनो को किन्तु कितने ही जैनविद्वानो को भी नही है और न उनको इतना अवकाश हैं जो वे इस विषय के सस्कृत-प्राकृत के वडे-२ जैन ग्रन्थो का अध्ययन-मननकर इस विषय को अच्छी तरह हृदयगम कर सके। इसलिये इच्छा हुई कि इस दिशा मे कुछ ज्ञान की सामग्री प्रस्तुत की जावे उसीके फलस्वरूप यह लेख लिखा जा रहा है।

जैनशास्त्रो मे सूर्य चद्रादिको के विमान लिखे है। ये विमान चमकदार पार्थिव परमाणुओ से बने है। इनसे भिन्न २ रगो की प्रभा निकलती है। सूर्य से तपे हुये सोने जैसी, चन्द्रमा से सफेद रग की, राहु-केतु से काले रग की, शुक्र से नई चमेली जैसी, वृहस्पति से मोती की सीप जैसी, बुध सेअर्जुनमय, शनि से तप्त सुवर्णसदृश और मंगल से लाल रग की प्रभा निकलती है। किन्ही की प्रभा गहरी है और किन्ही की हलकी। सूर्य

चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये इनकी ५ किस्मे है और ये ज्योतिष्क कहलाते हैं।

ठोस गोल चीज जिसकी गोलाई गेद जैसी हो उसके दो खड करने पर उनमे से एक खडको ऊपर इस प्रकार स्थापन करें कि गोल भाग नीचे की तरफ रहे और समतल भाग ऊपर को रहे, ठीक ऐसा ही आकार इन ज्योतिष्को का समझना चाहिये। ये सब ऊपर को थाली जैसे गोल होने के कारण जितनी इनकी चौडाई है उतनी ही इनकी लबाई है। चद्रमा की चौडाई एक योजन के ६१ भागो मे ५६ भाग प्रमाण है। सूर्य की चौडाई एक योजन के ६१ भागो मे ४८ भाग प्रमाण है। शुक्र की १ कोश, वृहस्पति की कुछ कम १ कोश। बुध-मगल-शनि की आधा-२ कोश की चौडाई है। तारो की चौडाई किन्ही की पावकोश, किन्ही की आध कोश, किन्ही की पौन तथा एक कोश की है। किन्तु कही यह भी लिखा मिलता है कि – कोई भी तारा आध कोश से अधिक विस्तार का नही होता है। और न कोई भी ज्योतिष्क पाव कोश से कम विस्तार का होता है।

मोटाई का हिसाब प्राय ऐसा है कि—जिसकी जितनी चौडाई है उससे आधी उसकी मोटाई होती है। किन्तु राजवार्तिक – श्लोकवार्तिक आदि शास्त्रो ने शुक्र-वृहस्पति-बुध-शनि-मगल और राहु की मोटाई ढाई सौ धनुष की ही लिखी है। प्रसगोपात्त यहा हम क्षेत्रमान का भी कथन कर देते है—

८ यवधान्य के मध्य की जितनी चौडाई हो उतने माप का एक उत्सेधागुल होता है। ऐसे २४ अगुलो का एक हाथ, चार हाथ का १ धनुष, दो हजार धनुषो का १ कोश और ४ कोशो का १ योजन होता है। यह उत्सेध योजन कहलाता है।

इससे पाच सौ गुण एक प्रमाण योजन होता है।

ऊपर सूर्यादि का माप प्रमाण योजन से वताया है। उत्सेध की अपेक्षा वह माप पाचसौ गुण अधिक होगा। श्लोकवार्तिक मे लिखा है कि—

"अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागत्वात् प्रमाणयोजनापेक्षया, सातिरेकत्रिनवतियोजनशतत्रयप्रमाणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया।"

[मूल मुद्रित पृ० ३७८]

अर्थ—सूर्य का विस्तार जो एक योजन के ६१ भागो मे ४८ भाग प्रमाण वताया वह प्रमाण-योजन की अपेक्षा से वताया है। उत्सेध की अपेक्षा तो उसका विस्तार कुछ अधिक ३६३ योजनो (१५७२ कोश) का होता है।

श्वेतावरमत मे प्रमाणयोजन को उत्सेध योजन से चारसौ गुणा माना है न कि पाच सौ गुणा। अत. उसके अनुसार लोकप्रकाश नामक श्वेतावर ग्रन्थ मे सूर्य का विस्तार इस प्रकार वताया है—

शतानि द्वादशैकोनषष्टि क्रोशास्तथोपरि।
चापाद्वात्रिंशत् त्रिहस्ती त्र्ययोगुलाश्च साधिका.॥
ततायतं सूर्यबिबमुत्सेधांगुलमानत॥

अर्थ—१२५६ कोश, ३२ धनुष, ३ हाथ और साधिक ३ अगुल इतना विस्तार उत्सेधागुलकी अपेक्षा से सूर्यबिब का समझना चाहिये।

ऊपर चन्द्रमा का विस्तार एक योजन के ६१ भागो मे ५६ भाग प्रमाण बता आये है। यह विस्तार पूर्णचद्र का है।

किन्तु चन्द्रमा घटता वढता भी दिखाई देता है। उसका कारण यह है कि—चन्द्रमा के नीचे राहु का विमान विचरता रहता है। यानी राहु के विमान के ध्वजदड से ४ प्रमाणागुल (उत्सेध की अपेक्षा कुछ अधिक ८३ हाथ) ऊपर चन्द्रमा विचरता है। राहु के विमान का वर्ण श्याम है अत उसकी ओट मे चन्द्रमा का अश आजाने से वह अश हमको दिखाई नही देता है। तथा राहु की गति चन्द्रमा की गति के समान नही है। इसलिये वह चन्द्रमा से जितना आगे पीछे रह जाता है, तदनुसार चन्द्रमा हमको इस धरातल पर घटवढ दीखता है। दोनो की गति मे अतर कुछ ऐसे ढग का रहता है जिससे कृष्णपक्ष मे चन्द्रमा का सोल्ह भागो (१६ कलाओ) मे प्रतिदिन एक-एक भाग ढकता रहता है और शुक्ल पक्ष मे प्रतिदिन एक-एक भाग प्रगट होता रहता है। सिद्धातसारदीपक ग्रथ मे लिखा है कि—

शुक्ल पक्ष मे राहु की गति चन्द्रमा से सदैव धीमी रहती है और कृष्ण पक्ष मे सदैव तेज रहती है। इसलिये दोनो पक्षो मे चन्द्रमा घटता वढता नजर आता है। फलितार्थ इसका यह हुआ कि कृष्णपक्ष के अत मे जव चन्द्रमा १६ भागो मे से १५ भाग प्रमाण राहु की ओट मे छुप जाता है तो शुक्लपक्ष मे चन्द्रमा की गति से राहु की गति धीमी होने से शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से चन्द्रमा शनै २ ज्यो ज्यो राहु से आगे निकलता जाता है, त्यो त्यो ही वह हर दिन सोलह भागो मे एक-एक भाग अधिक २ वढता हुआ नजर आता है। पद्रहवे दिन वह इतते आगे निकल जाता है कि उसके नीचे राहु की ओट रहती ही नही। वह दिन पूनम की तिथि का होता है। उस दिन चन्द्रमा हमे पूर्णरूप मे दिखाई देता है। फिर उसके अनतर जव कृष्णपक्ष शुरू होता

है तो राहु की गति चन्द्रमा की गति से तेज हो जाने के कारण चन्द्रमा शनैः २ पीछे रहता है। और ज्यो ज्यो ही राहु आगे आगे बढता जाता है त्यो त्यो ही चन्द्रमा हर दिन सोलह भागो मे एक एक भाग ढकता हुआ चला जाताहै उससे वह हमे प्रतिदिन कम-२ नजर आने लगता है। अमावस को चन्द्रमा के १५ भाग राहु से आच्छादित हो जाने पर भी उसका एक भाग फिर भी अनावृत ही रहता है और सूर्यास्त के वक्त मे ही चन्द्रमा भी उस दिन अपने अस्तस्थान पर पहुँच जाने के कारण उसका वह अनावरण एक भाग भी हमको अमावस की रात्रि मे नजर नही आता है। यह स्थिति तो नित्य राहु की वजह से होती है। किन्तु दूसरा पर्व राहु और होता है, वह भी श्याम होता है जिसकी वजह से चन्द्रग्रहण होता है। पूनम के दिन जब नित्य राहु चन्द्र के नीचे नही रहता तो कभी-२ उस दिन पर्वराहु चन्द्रमा के नीचे आ जाता है। वह जितना कुछ आगे पीछे होता है उसी माफक चन्द्रग्रहण हमे दिखाई देता है। इसी तरह श्यामवर्ण का एक केतु नामक ज्योतिष्क भी होता है। वह भी कभी २ अमावस के दिन सूर्य के नीचे आजाता है जिससे सूर्यग्रहण होता है। त्रिलोकसार गाथा ३३९ मे चन्द्र को राहुग्रस्त और सूर्य को केतुग्रस्त ही होना बताया है। किन्तु भक्तामरस्तोत्र (मानतुंगकृत) के श्लोक न० १७-१८ मे क्रमशः सूर्य चन्द्र दोनो को राहुग्रस्त ही होना बताया है। श्वे० संग्रहणी सूत्र मे लिखा है कि—राहु के समान कभी कभी केतु से भी ग्रहण होता है। चन्द्रग्रहण सदा पूर्णिमा को और सूर्यग्रहण सदा अमावस को होता है। सूर्य और चन्द्रग्रहण कम से कम छह मासो मे एक बार और अधिक से अधिक चन्द्रग्रहण ४२ मासो मे एक बार और सूर्यग्रहण ४८ वर्षो मे एक बार होता है।

धरातल से ज्योतिष्को की ऊंचाई

इस धरातल से ७९० योजन की ऊचाई पर तारे है। उनसे दस योजन ऊपर सूर्य है। सूर्य से ८० योजन ऊपर चन्द्रमा है अर्थात पृथ्वी से ३५ लाख २० हजार मील की ऊंचाई पर चन्द्रमा है। चन्द्रमा से ४ योजन ऊपर नक्षत्र हैं। ग्रहो की सख्या ८८ मे से बुध का स्थान नक्षत्रो से ४ योजन ऊपर है। बुध से आगे शुक्र, वृहस्पति, मगल और शनि ये क्रमश तीन तीन योजन ऊपर-२ हैं। राहु-केतु का स्थान चन्द्र-सूर्य से नीचे है। शेप ८१ ग्रहो का स्थान बुध और और शनि के अतराल मे है। इसप्रकार ज्योतिष्क पटल इस धरातल से ७९० याजनो की दूरी से प्रारभ होकर ९०० योजनो पर्यंत स्थित है अर्थात् ऊपर ७९० योजनो वाद ११० योजनो तक ज्योतिष्को का सद्भाव पाया जाता है। और उन सवका तिर्यक् अवस्थान प्राय एक राजू प्रमाण त्रसनाली मे है। किन्तु इसमे इतना विशेष समझना कि जवूद्वीपस्थ मेरु के इर्दगिर्द ११२१ योजनो तक किसी भी ज्योतिष्क का सद्भाव नही है। वल्कि सूर्य-चन्द्र तो हमेशा जवूद्वीप मे मेरु से कम से कम ४४८२० योजन दूर रहकर ही घूमते है। जिस ज्योतिष्क की धरातल से जितनी ऊचाई वताई है वह धरातल से सदा उतना ही ऊचा रहता है जैसे सूय की ऊचाई पृथ्वी से ८०० योजन ऊपर बताई है तो वह उदयास्त के वक्त भी पृथ्वी से उतना ही ऊचा रहता है। दूर रहने की वजह से अपने को नीचा पृथ्वी से लगा हुआ दिखाई देता है।

ऊपर सूर्य से चन्द्रमादि की जो ऊचाई वताई है उसने यह नही समझना कि चन्द्रमादि सूर्य की सीध मे इतने ऊचे हैं। जव परस्पर मे इनकी समानगति नही है तो वे सदा एक सीध मे

कैसे रह सकते है ? कदाचित् कोई कभी एक सीध मे भी आजाये तो आजाये पर इस सीध की अपेक्षा यहा एक से दूसरे की ऊचाई बताने की विवक्षा नही है। यहा तात्पर्य ऐसा समझना कि—जो ज्योतिष्क आकाश की जिस सतह मे घूमता है यह सतह अमुक ज्योतिष्क से उतनी ऊची है। जैसे चन्द्रमा से ४ योजन ऊपर नक्षत्र बताये तो इसका अर्थ यह हुआ कि आकाश की जिस सतह मे नक्षत्र विचरते है वह सतह चन्द्रमा की विचरते की सतह से ४ योजन ऊपर है। यह ध्यान मे रखना कि जिनका स्थान जितनी ऊचाई पर बताया है वे सब आकाश मे उस स्थान मे एक ही सतह मे विचरते है।

यह नियम है कि जिस द्वीप मे जितने चन्द्रमा होते हैं उनमे से प्रत्येक चन्द्रमा के साथ निम्नलिखित ज्योतिष्क भी अवश्य होते हैं। यह उसका परिवार कहलाता है—

'१ सूर्य, २७ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोडाकोडी तारे" यहा कोडाकोडी से मतलब है ६६९७५ क्रोड को एक क्रोड से गुणा करने पर प्राप्त होने वाली सख्या। वह सख्या प्रचलित के अनुसार ६६ सख, ९७ पद्म ५० नील होती है। जबूद्वीप मे २ चन्द्रमा होने से ज्योतिष्को की उक्त सख्या जबूद्वीप मे दूनी समझना चाहिये। जबूद्वीप मे जब कभी एक चन्द्रमा जहा अपने समस्त सूर्यादि परिवार के साथ, आकाश की गोलाई मे विद्यमान होगा, उसी वक्त आकाश की गोलाई मे सामने दूसरा चन्द्रमा भी अपने सूर्यादि परिवार के साथ विद्यमान रहेगा। जबूद्वीप मे जिस समय एक सूर्य अभ्यतर की प्रथम वीथी मे विचरेगा, उसी समय ठीक उसी के सामने दूसरा सूर्य भी उसी प्रथम वीथी मे (आकाश की गोलाई को वीथी कहते है)

विचरेगा। उस वक्त दोनो सूर्यो के बीच ९९६४० योजनो का अतर रहेगा। वह इस तरह कि अभ्यतर की प्रथम वीथी जबूद्वीप की अतिम सीमा से १८० योजन भीतर है। अत दोनो तरफ का १८०-१८० मिलाने पर ३६० योजन हुए जिन्हे एक लाख योजन प्रमाण जबूद्वीप मे से कम करने पर ९९६४० योजनो की दूरी अभ्यतर की प्रथम वीथी स्थित दोनो सूर्यों के बीच जाननी चाहिये।

ज्योतिष्को का आधार।

ये पृथ्वी के पिंड स्वरूप ज्योतिष्क घनवात के आधार पर ठहरे हुये है। घनवात गाढी पवन का नाम है। अपने यहा जो पवन है वह तो पतली है जिसे तनुवात कहते है। किन्तु ज्यों ज्यो ऊपर को जाइये त्यो त्यो पवन मे गाढापन का अश बढता हुआ मिलेगा। प्रत्यक्ष मे देखते है कि—जब पतग नीचे को रहता है, तब तक वह गोत खाता रहता है यानी अधिक अस्थिर रहता है। वही ऊपर जाने पर स्थिर-सा हो जाता है। और जो घनवात है वह तनुवात पर ठहरी हुई है। तनुवात को आधार की जरूरत नही।

ज्योतिष्को का गमन

जैन शास्त्रो मे पृथ्वी का भ्रमण नही माना है। ज्योतिष्को का भ्रमण माना है। ये जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत के इर्द गिर्द मेरुसे ११२१ योजन दूर रहकर गोलाकार घूमते हैं। मेरु से इतनी दूरी पर भी तारे ही घूमते हैं। सूर्य चन्द्रादि तो मेरु से कम से कम ४४८२० योजन दूर रहकर घूमते हैं। इनमे चन्द्रमा सबसे मंद-गति वाला है और सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारे ये सब चन्द्रमा

से उत्तरोत्तर शीघ्र गति वाले है। किन्तु ग्रहो मे राहु की गति चन्द्रमा से भी कभी-२ धीमी होती है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। यह एक अपवाद नियम है। वर्ना सबसे मद गति चन्द्रमा की है और सबसे तेज गति तारो की है। सग्रहणी सूत्र (श्वेतावर) मे कहा है कि "ग्रहो की गति परस्पर मे न्यूनाधिक है। बुध की गति सभी ग्रहो से मद है। बुध से शुक्र मगल-बृहस्पति और शनि इनकी उत्तरोत्तर शीघ्रगति है।"

चन्द्रमा, सूर्य और ग्रह ये आज जिस वीथी मे घूम रहे हैं कल वे दूसरी वीथी मे और परसो तीसरी मे, इस प्रकार नित्य ये अलग-२ वीथियो मे घूमा करते हैं। ऐसा भ्रमण अन्य ज्योतिष्को का नही है। जिस आकाशमार्ग मे गोलाकार घूमा जाता है। वह वीथी कहलाती है इसी को मडल भी कहते हैं। चन्द्र-सूर्य जब मेरु को बीच मे रखकर उसके इर्दगिर्द एक पूरा गोल चक्कर लगाते है तब वह एक मडल या एक वीथी होता है। फिर दूसरी दफे कुछ आगे बढ कर जब पूरा गोल चक्कर लगाते हैं तब वह दूसरा मडल होता है। इस प्रकार जितने मडल हैं वह उतनी ही बार मेरु के चक्कर लगाता है और कुछ-२ आगे बढता हुआ अगले २ मडलो मे चलता है। जब वह अन्तिम मडल पर पहुँच जाता है तो उसी क्रम से वापिस फिर पीछे की ओर आते-२ पूर्ववत् उसी प्रथम मडल मे आ जाता है। सूर्य की गमन करने की कुल वीथियें (मडल) १८४ है। और चन्द्रमा की १५ वीथियें है। सूर्य की प्रत्येक वीथी मे दो दो योजन का अतराल रहता है तथा चन्द्रमा की प्रत्येक वीथी मे ३५$\frac{३०}{६१}\frac{४}{७}$योजनो का अतराल रहता है। सूर्य की ६५ वीथियें जम्बूद्वीप मे है और ११९ लवण समुद्र मे हैं। तथा चन्द्रमा की

५ वीथियें जंबूद्वीप मे है और १० लवण समुद्र मे है। सूर्य चन्द्र की प्रथम वीथी जवूद्वीप की अन्तिम सीमा से १८० योजन भीतर हैं। और दोनो की आखिर की वीथी समुद्रतट से ३३० योजन परे हैं। दोनो का दक्षिण उत्तर का गमन-क्षेत्र कुल ५१० योजनो का होता है। यह गमन-क्षेत्र वीथियो की चौडाई और उनके अतरालो को जोडने पर निकलता है। प्रत्येक वीथी की चौडाई सूर्य-चन्द्र के विंव प्रमाण है। इस गमन क्षेत्र मे इनके जाने आने को ही दक्षिणायन-उत्तरायन बोलते है। जवूद्वीप मे दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं। प्रत्येक वीथी मे दो सूर्य घूमते है और दो चन्द्रमा घूमते हैं। किन्तु चन्द्रमा की वीथी सूर्य की वीथीसे जुदी है। सूर्य से वह ८० योजन ऊपर को है और उसमे भी दो चन्द्रमा घूमते है प्रत्येक वीथी के घेरे मे एक सूर्य जहा से चलना शुरू करता है वहा तक आने मे उसे ६० मुहूर्त (२ अहोरात्र) लगते है। और इसी काम मे एक चन्द्रमा को ६२ $\frac{२३}{२२१}$ मुहूर्त लगते है। प्रत्येक अपनी-२ वीथी मे दो सूर्य और दो चन्द्रमा परिभ्रमण करतेहै और वे दोनो बिल्कुल आमने सामने रहकर भ्रमण करते है। जब एक सूर्य या एक चन्द्रमा चलता हुआ किसी एक वीथी के आधे घेरे को पूरा करता है तब ही शेष आधे घेरे को सामने का दूसरा सूर्य या चद्रमा चलकर पूरा कर देता है। जिस स्थान मे आज हम को जो सूर्य उदय होता दिखता है उस स्थान पर वही सूर्य पुन ६० मुहूर्त मे आवेगा किन्तु हमे ३० मुहूर्त मे ही आता हुआ नजर आता है वह सूर्य दूसरा है। जबूद्वीप मे दो सूर्यो के उदयास्त की व्याख्या इस प्रकार है—

जवूद्वीप की एक लाख योजनो की चौडाई के ३ भाग किये जावें। जब अगल बगल के दो भागो मे आमने सामने के दो सूर्यो से दिन रहता है तब उसी वक्त बिचले भाग मे पूर्व-

पश्चिम विदेह में रात होती है। और बिचले भाग में आमने सामने के दोनों सूर्यों से पूर्व व पश्चिम विदेह में दिन रहता है तब अगल बगल दोनों भागों में (जम्बूद्वीप के दक्षिण और उत्तर भाग में) रात होती है। जब निषधपर्वत पर पूर्व दिशा में सूर्य उदय होता है तब उस वक्त जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में दिन हो जाता है। उसी वक्त उसी सूर्य का सामने वाला सूर्य नील पर्वत पर पश्चिम दिशा में उदय होकर उससे जम्बूद्वीप के उत्तर भाग में दिन हो जाता है। तब उस वक्त पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह में रात्रि हो जाती है। जब निषधगिरि के पूर्व शिरे पर उदय होने वाला सूर्य चलकर निषध के पश्चिम शिरे पर आ जाता है तब वह जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग के लिये अस्त होकर वहां रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पश्चिम विदेह में उदय माना जाकर वहां दिन हो जाता है। तथा इसी तरह जो दूसरा सूर्य नीलगिरि के पश्चिम शिरे पर उदय हुआ था वह चलकर जब नीलगिरि के पूर्वीय शिरे पर आता है तब वह जम्बूद्वीप के उत्तरीय भाग के लिये अस्त होकर वहां भी रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पूर्व विदेह में उदय माना जाकर वहां दिन हो जाता है। यह ध्यान में रखना कि ऐसा सम रात्रिदिन के वक्त होता है। पूर्व विदेह में उदय होने वाला दूसरा सूर्य जब नीलगिरि से चल कर निषध पर आता है तो वही दूसरा सूर्य भरतक्षेत्र में दूसरे दिन उदय होता है। न कि पूर्व दिन में भरतमें अस्त होने वाला सूर्य। वह तो भरत में तीसरे दिन उदय होगा। क्योंकि जिस दिन जो सूर्य भरत में अस्त होता है उस दिन की रात्रि में वह पश्चिम विदेह में रहता है। उसके दूसरे दिन वह ऐरावत में रहता है और दूसरे दिन की रात्रि में वह पूर्व विदेह में रहता है। वही सूर्य

फिर तीसरे दिन भरत मे प्रकाश करता है। इसी रीति से ऐरावत क्षेत्र का अस्त हुआ सूर्य पुन तीसरे दिन ऐरावत मे प्रकाश करता है। एक सूर्य आधे विदेह को ही प्रकाशित करता है। बीच मे पडे मेरु से विदेह के दो भाग माने जाते है। पूर्व दिशा की ओर के एक भाग को पूर्वविदेह और पश्चिम दिशा की ओर के भाग को पश्चिम विदेह कहते हैं। दोनो भागो मे दो सूर्य का प्रकाश रहता है। निषध और नील पर्वत के बीच मे विदेह क्षेत्र स्थित है। निषध से नील तक जाने मे सूर्य का उतना ही समय लगता है जितना निषध या नील के पूर्व शिरे से पश्चिम शिरे तक जाने मे लगता है। क्योकि जवूद्वीप के कुल १९० भागो मे से ६४ भागो मे बीच का अकेला एक विदेह क्षेत्र है। और शेष ६३-६३ भागो मे दोनो तरफ के दक्षिण-उत्तर के सब कुलाचल और क्षेत्र है।

तत्वार्थसूत्र के श्री अकलकदेवकृत भाष्य मे मेरु को सव क्षेत्रो से उत्तर मे बताते हुये इस विषय मे निम्न प्रकार प्रतिपादन किया है—

"पूर्वविदेहे हि सविता नीलादुदेति, निषधेऽस्तमुपंति। तत्र प्राड्नील, प्रत्यड्निषध, अपाक् समुद्र मेरुरुदक्। अपरविदेहे तु निषधे उदय नीलेऽ स्तमय इति। तत्र प्राड् निषध, प्रत्यड् नील अपाक् समुद्र, उदड् मेरु। उदक्कुरुषु गधमादनादुदयो माल्यवत्यस्तमय। तत्र गधमादन प्राक्, माल्यवान् प्रत्यक्, नील अपाक्, मेरु उदक्। देवकुरुषु सौमनसादुदय, विद्युत्प्रभेऽस्तमय। तत्र सौमनस. प्राक्, विद्युत्प्रभः प्रत्यक्, निषधोऽपाक्, मेरुरुदगिति।"

[अध्याय ३ सूत्र १० की व्याख्या]

अर्थ—पूर्व विदेह मे सूर्य नीलकुलाचल पर उदय होता है निषध पर अस्त होता है वहा पूर्व मे नीलाचल है, पश्चिम मे निषध है। दक्षिण मे समुद्र और उत्तर मे मेरु है पश्चिम विदेह मे सूर्य निषध पर उदय होता है नील पर अस्त होता है। वहा पूर्व मे निषध है, पश्चिम मे नील है, दक्षिण मे समुद्र, और उत्तर में मेरु है। उत्तरकुरु मे गधमादन पर सूर्य उदय होता है, माल्यवान् पर अस्त होता है। वहा पूर्व मे गधमादन है, पश्चिम मे माल्यवान् है, दक्षिण मे नील और उत्तर मे मेरु है। देवकुरु मे सूर्य सोमनस पर्वत पर उदय होता है, विद्युत्प्रभ पर अस्त होता है। वहा सोमनस पूर्व मे है, पश्चिम मे विद्युत्प्रभ है, दक्षिण मे निषध और उत्तर मे मेरु है। इस प्रकार सब स्थानों से मेरु उत्तर की तरफ रहता है। माल्यवान्, सोमनस, विद्युत्प्रभ, और गधमादन ये ४ गजदत पर्वतो के नाम है और इनका स्थान क्रमश मेरु की ईशानादि विदिशाओ मे है। गधमादन और माल्यवान् के बीच उत्तरकुरुक्षेत्र व सोमनस और विद्युत्प्रभ के बीच देवकुरु क्षेत्र है।

लोकप्रकाश (श्वेतांबर) ग्रन्थ के १८ वें सर्ग मे लिखा है कि —

पूर्वापरविदेहेषु निशीथेऽर्हज्जनिर्यदा।
भरतैरावतक्षेत्रे मध्याह्नः स्यात्तदा यतः ।।२४४।।

अर्थ—पूर्वपश्चिम विदेहो मे अर्द्धरात्रि मे जब तीर्थंकर का जन्म होता है तब भरत ऐरावत क्षेत्र मे मध्याह्न होता है।

सूर्य की गमन करने की कुल १८४ वीथिये है। प्रत्येक वीथी मे दो योजन का अन्तराल है। कुल अन्तराल १८३ हैं।

प्रत्येक वीथी मे दो सूर्य आमने सामने चलते हैं। किसी एक वीथी मे चलकर दूसरी वीथी मे आने मे दोनो सूर्यों को एक अहोरात्र (३० मुहूर्त) सम्मिलित काल लगता है। इस तरह एक अयनके १८३ दिन होते हैं। दो अयनोके ३६६ दिनो का एक सूर्य-वर्ष कहलाता है। अभ्यतर की प्रथम वीथी से लेकर ६३वी वीथी मे तिष्ठता सूर्य भरतक्षेत्र मे निषधपर्वत पर उदय होता दीखता है। ६४वी ६५वी वीथीयो मे तिष्ठता सूर्य हरिक्षेत्र पर उदय दिखता है और शेष ११९ वीथियो मे तिष्ठता सूर्य भारतवासियो को लवणसमुद्र पर उदय होता दीखता है। प्रथम वीथी स्थित सूर्य निषधपर्वत के उत्तरतट से १४६२१ $\frac{४७}{६०}$ योजन ओलो तरफ (दक्षिण की ओर) आने पर भरतक्षेत्र के अयोध्यावासियो को उदय होता नजर आता है। और निषधपर्वत के दक्षिणतट से करीब ५५७५ योजन परे जाने पर अस्त होता नजर आता है। ये वीथियें ज्यो ज्यो दक्षिण से उत्तर को गई हैं त्यो त्यो ही वे गोलाई मे उत्तरोत्तर कम होती गई हैं। तथापि उन सब मे प्रत्येक को अपनी गति से पूर्ण करने मे एक सूर्य को ६० मुहूर्त से न अधिक समय लगता है न कम। ऐसा नियम है। अत. कहा जा सकता है कि सूर्य जब दक्षिण से उत्तर को आने लगता है तब उसकी चाल प्रत्येक वीथी मे क्रमश. धीमी होती जाती है और उत्तर से दक्षिण की ओर जाते वक्त उसकी चाल उत्तरोत्तर तेज होती जाती है। वीथियो मे सब से कम गोलाई वाली अभ्यतर की वीथी है। इसकी गोलाई ३१५०८९ योजनो की है। इसमे ६० का भाग देने से सूर्य की एक मुहूर्त की गति ५२५१ $\frac{२९}{६०}$ योजन प्रमाण निकलती है। इसको सवा से गुणा करने पर उतने प्रमाण सूर्य की एक घण्टे की गति होगी। यह गति सूर्य की अभ्यतर की प्रथम वीथी मे जाननी चाहिए। आगे की वीथियो

मे उत्तरोत्तर गति बढती जाती है। अतिम १८४वी वीथी की गोलाई ३१८३१४ योजनो की है और उसमे सूर्य की एक मुहूर्त की गति ५३०५$\frac{१५}{६०}$ योजनो की होती है।

चन्द्रमा की कुल १५ ही वीथियें है और प्रत्येक वीथी मे ३५$\frac{२१४}{४२७}$ योजनो का अतराल है। ये वीथियें भी दक्षिण से उत्तर की तरफ ज्यो ज्यो आती गईहैं त्यो त्यो ही वे उत्तरोत्तर गोलाई मे कम होती आई हैं। चन्द्रमा की प्रथम वीथी और अतिम वीथी सूर्य की प्रथम वीथी और अन्तिम वीथी के ठीक ८० योजन ऊपर सीध मे हैं। इसलिये सूर्य की इन दो वीथियो की गोलाई जितने योजनो की बताई उतनी ही चन्द्रमा की भी इन दो वीथियो की समझनी चाहिये। चन्द्रमा प्रत्येक वीथी को चाहे वह कितनी भी छोटी बडी हो एक से दूसरी पर जाने मे उसे ६२$\frac{२३}{२२१}$मुहूर्त लगते हैं कम अधिक नही। अत वह भी सूर्य की तरह दक्षिण से उत्तर मे आते वक्त उत्तरोत्तर मंद-गति से और उत्तर से दक्षिण मे जाते हुये उत्तरोत्तर तीव्रगति से गमन करता है।

यो तो जबूद्वीप मे सभी ज्योतिष्क गमनशील हैं किन्तु इसमे भी एक अपवाद है। इस द्वीप मे कुछ (३६) तारे ऐसे भी हैं जो गमन नही करते है। उन्हे ध्रुवतारे कहते है। (त्रिलोक-सार गाथा ३४७)।

श्वे० तत्वार्थाधिगम भाष्य में लिखा है कि—ध्रुवतारा की गति मेरु की प्रदिक्षणा रूप से नही है। वह अपने ही स्थान पर घूमता रहता है। यथा—

"तस्यैव स्थाने स ध्रुव परिभ्राम्यति न तु मेरो प्रादक्षिण्येन गति प्रतिपद्यते। तथाहि तदद्यापि ध्रुवताराचक्रमाक्रातोत्तरदिक्क

परिवर्तमानमुपलभ्यते प्रत्यक्षप्रमाणेनैव।" (४ थे अध्याय के १४ वे सूत्र का भाष्य)

नक्षत्रो का गमन

जिस प्रकार सूर्य चन्द्रमा एक दूसरी और दूसरी से तीसरी आदि वीथियो मे भ्रमण करते है उसी प्रकार नक्षत्र भ्रमण नही करते हैं। जिन नक्षत्रो की जो खास एक वीथी नियत है वे उसी मे सदा भ्रमण किया करते हैं ऐसी वीथिये सब नक्षत्रो की कुल ८ है। उनमे २ वीथी जवूद्वीप मे हैं और ६ लवण समुद्र मे ह। प्रथम वीथी से अतिम वीथी उत्तर दक्षिण मे ५१० योजन दूर है। नक्षत्रो की प्रथम वीथी चन्द्रमा की प्रथम वीथी के ऊपर हैं और ८वी वीथी चन्द्रमा की अतिम १५वी वीथी के ऊपर है। नक्षत्रो की शेष २ री से ७वी वीथी क्रम से चन्द्रमा की ३ री, सातवी, छठवी आठवी, दशवी, ११ वी वीथी के ऊपर है। नक्षत्रों की प्रथम वीथी मे १२ नक्षत्र घूमते हैं, उनके नाम—

अभिजित्, श्रवण, घनिष्ठा शतभिषा, पूर्वाभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, स्वाति, पूर्वाफाल्गुणी, भरणी।

तीसरी वोथी मे—मघा, पुनर्वसु ये २ नक्षत्र घूमते हैं। सातवी वोथी मे रोहिणी, चित्रा, ये २ नक्षत्र घूमते है, छठवी मे कृत्तिका, आठवी मे विशाखा, दशवी मे अनुराधा, और ११वी मे ज्येष्ठा मदा भ्रमण किया करता है। १५ वी वीथी से ८ नक्षत्र भ्रमण करते है उनके नाम—

हस्त, मूल,पूर्वाषाढ, उत्तराषाढ, मृगशीर्षा, आर्द्रा, पुष्य, और अश्लेषा। जो नक्षत्र जिस वीथी मे घूमता है वह अपनी

चाल से उस वीथी को ५६$\frac{३}{३}$ $\frac{०}{६}$ $\frac{७}{७}$ मुहूर्तों मे पूर्ण कर लेता है अर्थात् पूरा एक चक्कर लगा लेता है।

प्रकाश और अंधकार

कोई कहते है—"सूर्य जब, मेरु की आड मे आ जाता है तब वह हमे अस्त होता नजर आता है और आड से निकलते वक्त उदय होता नजर आता है। परन्तु ऐसी जैन-मान्यता नही है। क्योकि मेरु उत्तर दिशा मे है और सूर्य का उदयास्त पूर्व-पश्चिम दिशा मे होता है। दूसरी बात यह है कि मेरु की चौडाई जैनागम मे दस हजार योजनो से अधिक नही लिखी है। इसको तो सूर्य अपनी गति से करीब दो मुहूर्त से कम मे ही लाघ सकता है। ऐसी अवस्था मे मेरु की आड़ की बात बनती नही है।

कोई कहते हैं—"पृथ्वी नारगी की तरह गोल है और सूर्य उसके नीचे ऊपर चक्कर लगाता है अत उसकी आड मे आने से सूर्य अस्त और आड से निकलने पर उदय होता है। जिससे उदयास्त के वक्त सूर्य पृथ्वी मे निकलता व उसमे प्रवेश होता नजर आता है। और इसी से उदयास्त के वक्त सूर्य का पाव आधा आदि हिस्सा भी दृष्टिगोचर होता है। एक दम पूरा मडल दिखाई नही देता है।"

किन्तु इस प्रकार की भी जैन मान्यता नही है, इसका कारण यह है कि – यद्यपि सूर्य पृथ्वी से आठ सौ योजन ऊचा है तथापि वह उदयास्त के वक्त हमसे बहुत दूर रहने के कारण पृथ्वी से लगा हुआ प्रतीत होता है और दूर होने से पहिले उसका आगे का भाग नजर आता है, बाद मे फिर पिछला भाग भी दिखने लगता है उसी से हमको उस के पाव आध आदि हिस्सा दीखने का भ्रम हो जाता है।

तथा हम यह भी सर्वथा नही कहते कि पृथ्वी बिल्कुल दर्पण के समान सपाट ही है, उसमे भी कालादिवश से ऊंचाई नीचाई हुई है। यह बात आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामीने श्लोक-वार्तिक के निम्न वाक्यो मे प्रगट की है—

"न च वय दर्पणसमतलामेव भूमि भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्या कालादिवशादुपचयापचयसिद्धे निम्नोन्नताकारसद्भावात्... ... तत एव नोदयास्तमययो सूर्यादिबिंबार्द्ध दर्शन विरुध्यते। भूमिसलग्नतया वा सूर्यादिप्रतीतर्न सभाव्या, दूरादि-भूमेश्तथाविधदर्शनजननशक्तिसद्भावात्।"

[अध्याय ४ सूत्र १३]

अर्थ—हम जैन यह भी नही कहते कि पृथ्वी दर्पण के समान समतल ही है। समतल कहना प्रतीति के विरुद्ध है। कालादि के वश से घटावढी होकर पृथ्वी मे ऊचानीचापन देखा जाता है। इसलिये उदयास्त के वक्त सूर्यादि का आधा बिंब दिखाई देने मे कोई आपत्ति नही है। और विपक्षी का यह कहना कि पृथ्वी नारंगीवत् गोल न होती तो उदयास्त के वक्त सूर्यादि का भूमि से लगा हुआ दृष्टि मे आना सभव नही था" उचित नही है। वैसा तो भूमि मे दूरी होने और दूर की चीज पृथ्वी से लगी हुई नजर आवे ऐसी नेत्रशक्ति होने से भी हो सकता है।

इस प्रकार खासतौर से किसी पदार्थ की आड के कारण सूर्य का उदयास्त नही है। किन्तु समतल भूमि मे जहाँतक सूर्य का प्रकाश फैलता है। उसकी दूरी से सूर्य का उदयास्त समझना चाहिये। जब सूर्य अभ्यतर की प्रथम वीथी मे होता है तब उस का कुल प्रकाश पूर्व से पश्चिम मे ९४५२६ $\frac{6}{5}$ योजनो तक फैलता

है उसमे से आधा आगे को और आधा पीछे को रहता है। यानी साधिक ४७२६३ योजनो की दूरी पर भरत क्षेत्र के अयोध्यावासियो को वह पूर्वदिशा से उदय होता नजर आता है, और इतनी ही दूरी पर वह पश्चिम मे अस्त होता नजर आता है। निषधाचलके जिस स्थान पर सूर्यका उदयास्त होताहै वह स्थान भी अयोध्या से इतना ही दूर है। इसी अपेक्षा से भरतक्षेत्र के वास्ते सूर्य का उदयास्त निषध पर्वत पर बताया है। इतना ही प्रकाश सामने के दूसरे सूर्य का रहता है। दोनों तरफ अतराल मे अधयार रहता है। ज्यो ज्यो सूर्य आगे चलता जायेगा उसका प्रकाश भी उसके साथ आगे २ बढता जावेगा और पीछे २ अधकार होता आवेगा। इस वीथी की परिधि ३१५०८९ योजनो की है। उनमे से आमने सामने के दोनो सूर्यों का ताप १८९०५३$\frac{४}{५}$ योजनो का है। तथा एक तरफ के अतराल मे ६३०१७^{५} योजनो का अधकार रहता है। दोनो तरफ के अधकार का प्रमाण १२६०२५$\frac{३}{५}$ योजनो का होता है। कुल ताप (प्रकाश) और तम (अधकार) की जोड ३१५०८९ योजनो की होती है सो ही अभ्यन्तर प्रथम वीथी की परिधि (घेरा) होती है। इस वीथी मे सूर्य के गमन करते समय जंबूद्वीप मे प्रायः सर्वत्र १८ मुहूर्तों का दिन और १२ मुहूर्तों की रात्रि होती है। इस वीथी मे स्थित सूर्य का उत्तर दक्षिण ताप मेरु के मध्य से लेकर लवण समुद्र के ६वें भाग तक फैला रहता है। ऊपर को आताप एक सौ योजन और नीचे को १८०० योजन तक रहता है। यह वीथी मेरु के मध्य से ४९८२० योजनों की दूरी पर है। इस वीथी से ज्यो ज्यो उत्तर की तरफ जाइये त्यो त्यों ही आकाश प्रदेशो की गोलाई उत्तरोत्तर कम होती जायेगी और दक्षिण की तरफ गोलाई बढ़ती जायेगी। अत- जो ताप प्रथम वीथी स्थित सूर्य

का प्रथम वीथी मे बताया है वह ताप भी उस वक्त उत्तर की तरफ के आकाश प्रदेशो की गोलाई मे उतना नही बताया है किन्तु उत्तरोत्तर घटता बताया है। और दक्षिण तरफ के आकाश प्रदेशोकी गोलाईमे उत्तरोत्तर बढता बताया है। इसका कारण शायद यह हो कि गोलाई का मोड जहाँ जहाँ कम दूरी पर हुआ है वहाँ वहाँ ताप कम फैला है। और जहाँ जहाँ मोड अधिक दूरी पर हुआ है वहाँ वहाँ ताप अधिक फैला है।

और जब सूर्य अन्तिम बाह्यवीथी मे विचरता है तब वहाँ दोनो तरफ के सूर्यो का ताप १२७३२५$\frac{३}{५}$योजनो का रहता है। और दोनो तरफ का अधकार १९०९८$\frac{२}{५}$योजन प्रमाण रहता है। प्रकारातर से यो समझिये कि प्रथम वीथी मे जब सूर्य विचरता है तब उस प्रथम वीथी को आदि लेकर सभी वीथियो की अपनी-अपनी परिधियो मे १० भागो मे से ६ भागो मे ताप रहता है और ४ भागो मे अधकार रहता है। तथा जब सूय अन्तिम बाह्य वीथी मे विचरता है तब उसमे और अन्य सभी वीथियो की परिधियो मे १० भागो मे से ४ भागो मे ताप व ६ भागो मे अधकार रहता है। मध्य की शेष वीथियो मे से जिस किसी वीथी मे सूर्य के विचरते वक्त अन्य सब वीथियो मे ताप प्रमाण कितना है ? यह जानने के लिये उन वीथो की परिधियो मे ६० का भाग देने पर जो लब्धि आवे उसको सूर्य के विचरने वाली वीथी के दिनमान के मुहूर्तों से गुणा करने पर जो सख्या हो उतने योजनो का उनमे ताप प्रमाण समझना चाहिये। इससे प्रगट होता है कि आदिपथ से बाह्यपथ की ओर जाते समय सूय का स्वभावत ही ताप उत्तरोत्तर घटता जाता है और बाह्यपथ से अभ्यतर पथ की ओर आते समय ताप उत्तरोत्तर बढता हुआ

जाता है। अन्तिम वाह्य वीथी मे सूर्य के विचरते वक्त प्राय· जंबूद्वीप मे दिनमान १२ मुहूर्त का और रात्रिमान १८ मुहूर्त का होता है। यह सबसे छोटा दिन और सबसे बडी रात-माघ मास मे होती है। तथा १८ मुहूर्त का बडा दिन और १२ मुहूर्त की छोटी रात श्रावण मास मे होती है। वैशाख और कार्तिक मे १५-१५ मुहूर्तो का समरात्रि दिन होता है। उस समय सूर्य मध्यम वीथी मे विचरता है। और उस समय सभी वीथियो मे ताप और तम का प्रमाण समान भागो मे रहता है। अभ्यंतर की प्रथम वीथी से वाह्य की अन्तिम वीथी मे जाने मे सूर्य को १८३ दिन लगते हैं। इसी को दक्षिणायन कहते हैं। इससे उल्टे वाह्य मे अभ्यतर मे आने मे उसी सूर्य को १८३ दिन लगते है। उसे उत्तरायण कहते है। दक्षिणायन मे क्रमशः दिन घटता है, और उत्तरायण मे क्रमश. दिन वढता है। यह घटावढी ६ मुहूर्त तक होती है। १८३ दिनो मे ६ मुहूर्त की हानि-वृद्धि हो तो एक दिन मे कितनी हो ऐसे त्रैराशिक करने से २ मुहूर्त का ६१ वा भाग प्रमाण काल की प्रतिदिन हानि-वृद्धि होगी। अर्थात ३०॥ दिन मे १ मुहूर्त दिन घटे-वढेगा। यानी श्रावण मे १८ मुहूर्त का, भाद्रपद मे १७ मुहूर्त का आगे माघ मास तक प्रति मास एक एक मुहूर्त दिन घटना समझ लेना। इस प्रकार दक्षिणायन मे दिनमान घटता जाता है। इससे आगे उत्तरायण चलता है। उसमे श्रावण मास तक प्रतिमास इसी क्रम से दिनमान वढता जाता है। जैसे फाल्गुन मे १३ मुहूर्त का, चैत्र मे १४ का इत्यादि। प्राय. ३० मुहूर्त का अहोरात्र होता है। ऐसा नियम है इसलिये जब जितना दिनमान होगा तव ही शेष मुहूर्तो की रात्रि होगी।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि—हमारे यहाँ दिन

होगा तो विदेह क्षेत्र मे रात्रि होगी और विदेह मे रात्रि होगी तो हमारे यहा दिन होगा, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि—हमारे यहा सूर्यास्त होते ही विदेह मे सूर्योदय होने लग जाय या वहा सूर्योदय होते ही यहा सूर्यास्त होने लग जावे। ऐसा तो समरात्रि दिन के वक्त हो सकता है। विषम रात्रि दिन मे तो ऐसा नही हो सकता है। क्योकि जब १८ मुहूर्त का दिन और १२ मुहूर्त की रात्रि होती है तब भरत क्षेत्र मे सूर्यास्त होने के ३ मुहूर्त पहिले ही पश्चिम विदेह मे सूर्योदय हो जायेगा। और पूर्व विदेह मे सूर्यास्त के ३ मुहूर्त पूर्व ही भरत मे सूर्योदय हो जायेगा। मतलब कि उसवक्त भरत मे जो दिन का अन्तिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही पश्चिम विदेह मे दिन का ३ मुहूर्तात्मक प्रारम्भिक भाग है। तथा पूर्व विदेह मे जो दिन का अतिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही भरत मे दिन का ३ मुहूर्तात्मक प्रारम्भिक भाग है। और जब १८ मुहूर्त का दिन होता है तब सूर्यास्त के तीन मुहूर्त बाद मे पश्चिम विदेह मे सूर्योदय होता है। और पूर्व विदेह मे सूर्यास्त के ३ मुहूर्त बाद मे भरत मे सूर्योदय होता है। कारण कि दिनमान और रात्रि मान मे जो काल का अन्तर है उसमे दिनमान जितना अधिक होगा उसका आधा समय पूर्वक्षेत्र मे सूर्यास्त का शेष रहते ही उत्तर (अगले) क्षेत्र मे सूर्योदय हो जायेगा। तथा जितना अधिक रात्रिमान होगा उसका आधा समय पूर्व क्षेत्र मे सूर्यास्त के बाद उत्तर क्षेत्र मे सूर्योदय होगा।

शुक्ल-कृष्णपक्ष

जिस पखवाडे मे सूर्यास्त के बाद प्रतिरात्रि उत्तरोत्तर बढते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा दिखाई देता है, और फिर

अस्त हो जाता है वह शुक्लपक्ष कहलाता है। और जिस पखवाडे मे सूर्यास्त के बाद प्रतिरात्रि उत्तरोत्तर बढते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा का उदय नही होता बाद मे उदय होकर सारी रात्रि तक चन्द्रमा दिखता रहता है वह कृष्णपक्ष कहलाता है। ऐसा चन्द्रसूर्य की समानगति न होने के कारण से होता है। हमेशा चन्द्रमा सूर्य से धीमी गति चलता है। चलते २ हर अमावस को चन्द्रसूर्य साथ हो जाते हैं। इसीलिये अमावस का पर्याय नाम सूर्येन्दुसगम भी है। उस दिन दोनो साथ-२ अस्त होते है। दूसरे दिन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्रमा अपनी चाल से सूर्य से इतना पीछे रह जाता है कि उस दिन जहां उसे अस्त होना है वहां वह सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद मे पहुँचता है इसलिये शुक्ल प्रतिपदा को सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद तक चन्द्र दिखता रहता है। फिर अस्त हो जाता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त, तृतीयाको ३ मुहूर्त बढते-बढते पूर्णिमाको सूर्यास्तके १५ मुहूर्त बाद तक चन्द्रदर्शन होता रहता है। समरात्रि दिनमे रात्रि १५ मुहूर्त की होती है। अत तब पूर्णिमा को सारी रात्रि मे चन्द्रमा की चांदनी रहती है। उस दिन जिस वक्त पश्चिम मे सूर्यास्त होता है उसी वक्त पूर्व दिशा मे चन्द्रमा अपने उदय स्थान मे आकर उदय हो जाता है। आगे कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा चाल मे इतना पीछे रह जाता है कि सूर्यास्त के मुहूर्त बाद मे चन्द्रमा अपने उदय स्थान पर आकर उदय होता है। इसीलिये कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा का उदय सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद होता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त बाद, तृतीया को ३ मुहूर्त बाद, इत्यादि प्रतिदिन एक एक मुहूर्त बढते २ चतुर्दशी को सूर्यास्त के १४ मुहूर्त बाद चन्द्रोदय होता है। आगे अमावस को सूर्यास्त के वक्त ही चन्द्रमा भी अपने अस्त स्थान पर पहुच कर अस्त होकर

सूर्य चन्द्र दोनो साथ साथ हो जाते हैं। चूकि चन्द्रमा की सूर्य से मदगति होने के कारण उस रात्रि के अत मे चन्द्रमा के अपने उदयस्थान पर पहुँचने के पहिले ही सूर्य आगे चलकर उदय हो जाता है इससे अमावस की सारी रात्रि मे चन्द्रदर्शन नही होता है। इस प्रकार यह सूर्य के निमित्त से कमज्यादा समय तक चन्द्रदर्शन होना जानना चाहिये। लेख के शुरू मे चन्द्रमा के छोटे बडे आकार का होना राहु के निमित्त से बताया है यह इन दोनो कथनो मे खास अतर समझना चाहिये।

भूगोल-खगोल के विषय मे कुछ विशिष्ट ज्ञातव्य बाते हमने "जैन-निबध रत्नावली" पुस्तक मे भी ग्रथित की हैं—देखो पृ २८४ पर "भरतैरावत मे वृद्धि-ह्रास किसका है?" शीर्षक निबध तथा पृ० २६१ पर—"उपलब्ध जैन ग्रन्थो मे ज्योतिष-चक्र की व्यवस्था" शीर्षक निबध।

भारतीय वर्ष मास तिथि नक्षत्रादि की गणना सूर्य चन्द्र तारो की चाल पर आधारित्त है जब कि अन्य सभी की कैलेन्डर (Calander) पचाग पद्धति काल्पनिक है अत वह ऋतुओ से भी मेल नही खाती। प्रसगोपात्त भूभ्रमण के विषय मे भी कुछ समीक्षात्मक विचार नीचे प्रस्तुत किये जाते है —

भू-भ्रमण मान्यता की सदोषता

जैन-जैनेत्तर-पौर्वात्य एव पाश्चात्य सभी के धर्मग्रन्थो (आगम, पिटक, वेद, बाईबिल, कुरान आदि) मे पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर माना है किन्तु जब ज्योतिष और गणित पद्धतियो मे विकास का युग आया तब इस विषय मे तार्किक दृष्टि से ऊहापोह होने लगा। वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर,

लल्ल, भास्कर तथा महावीर आदि प्रसिद्ध गणिताचार्य इस विषय मे धर्मग्रन्थो की मान्यता के ही समर्थन मे रहे पर इस बीच आर्यभट्ट (वि० स० ५३३ आदि) कुछ गणिताचार्यो ने पृथ्वी को चर बताया। भारतवर्ष मे वह युग भी इस विषय के खडन-मडन का रहा।

भू-स्थिर वादियो के जोरदार तर्क (प्रश्न) निम्नाकित थे —

१—अगर पृथ्वी चल है तो पक्षी सुबह अपने घोसलो को छोडकर शाम वही वापिस कैसे आ जाते है ?

२—आकाश मे फेंके जाने वाले बाण विलीन क्यो नही हो जाते ? आकाश मे फेंकी गई वस्तु विषम-गति-शील और दिशान्तर क्यो नहीं हो जाती ?

३ पृथ्वी की गति का मद होना इसमे कारण माना जाय तो एक दिन-रात मे इस विस्तृत पृथ्वी का पूरा भ्रमण कैसे हो जायेगा ?

इसके विपरीत अगर पृथ्वी का तीव्र वेग से घूमना मानते हो तो इससे उस पर इतनी प्रचड वायु चलेगी कि जिससे महल, मकान, वृक्ष पर्वतादि की चोटिया, ध्वजाए आदि सब छिन्न-भिन्न हो जायेंगे। अतः पृथ्वी का भ्रमण किसी भी तरह सिद्ध नही होता।

४—पृथ्वी समान रूप से गति करती हुई वर्ष भर मे सूर्य का एक पूरा चक्कर लगाती है तो ऋतुओ का परिवर्तन कैसे सभव है ?

५—अगर पृथ्वी चलती है तो ध्रुवतारा उत्तर की ओर

ही सदा एक स्थान पर ही क्यो दिखाई देता है ? पृथ्वी के साधारण दैनिक भ्रमण से प्रतिदिन सूर्य पूर्व से पश्चिम मे जाता हुआ दिखता रहे और पृथ्वी के दैनिक-वार्षिक भ्रमण मे भी ध्रुवतारा ज्यो का त्यो स्थिर खडा रहे यह कैसे मान जाय ?

इन प्रश्नो और तर्कों का कोई समुचित उत्तर भू-भ्रमण वादियो के पास नही।

इसके सिवा भू-भ्रमण प्रत्यक्ष-बाधित भी है क्योकि सर्व देश काल मे सर्व प्राणियो को पृथ्वी की स्थिरता का ही अनुभव होता है। अनुमान से भी भू-भ्रमण का कोई निश्चय नही होता क्योकि उस प्रकार का कोई अविनाभावी हेतु नही देखा जाता। (विशेष जानने के लिए—"पी० एल० ज्योग्राफी" ग्रन्थ द्रष्टव्य है)।

इस भू-स्थिरता का सिद्धात सुदीर्घ काल तक मान्य और प्रचलित रहा किन्तु पाश्चात्य देशो मे सर्वप्रथम १६ वी शती मे कोपरनिकस ने पृथ्वी को चर और सूर्य को स्थिर बताया। गेलिलिओ ने भी विभिन्न प्रमाणो से इसकी पुष्टि की किन्तु पोप लोगो ने इसे बाइबिल का अपमान बताया। परिणाम स्वरूप गेलिलिओ आदि को राजकीय दण्ड भोगने पडे। फिर भी यह मान्यता नये नये सिद्धातो की खोजो से उत्तरोत्तर बढती रही और पश्चिम को लाघकर यह पूर्व मे भी प्रचलित हो गई एव राज-मान्यता के साथ विद्यालयो मे पाठ्य-विषय भी बन गई।

इस प्रकार भूभ्रमण का सिद्धात काफी लोकप्रिय हो गया और सूर्य-भ्रमण का सिद्धात प्राचीन ग्रन्थो का विषय रह गया।

फिर भी बहुत से ऐसे पाश्चात्य बिचारक विद्वान् भी

होते रहे है जिन्होने भू-स्थिरता को ही मान्य किया है। हेनरी फास्टर ने सन् १९४९ मे एक लेख मे लिखा है कि "विलियम एडगल ने ५० वर्षो के महान् प्रयत्न के वाद यह निर्णय प्रकट किया कि पृथ्वी थाली के समान चपटी है और इसके चारो ओर सूर्य भ्रमण करता है।"

इसी तरह जे० मेकडोनल्ड ने भी सन् १९४६ मे अपने विस्तृत लेख मे यह लिखा है कि सूर्य गति करता है। और जो यह मानते है कि—पृथ्वी अपनी धुरी पर १ हजार मील प्रति घण्टे की गति से गमन करती है वह हास्यास्पद है।

आधुनिक वैज्ञानिको से अभी भू-स्थिरवदियो के पूर्वोक्त प्रश्नो का ही यथोचित समाधान नही हो रहा है कि—सापेक्ष-वाद सामने आ उपस्थित हुआ जिसके प्रस्तुतकर्त्ता इस २० वीं ईस्वी सदी के विश्व-प्रसिद्ध गणितज्ञ वैज्ञानिक आईंस्टीन हैं। उन्होने बताया है कि—"गति व स्थिति केवल सापेक्ष-धर्म हैं। 'प्रकृति' कुछ ऐसी है कि किसी भी ग्रह-पिण्ड की वास्तविक गति किसी भी प्रयोग द्वारा निश्चित रूप से नही बताई जा सकती। पृथ्वी की अपेक्षा मे सूर्य चलता है या सूर्य की अपेक्षा मे पृथ्वी चलती है। दोनों सिद्धात अपनी अपनी जगह ठीक है फिर भी पहला सिद्धात कुछ जटिल है और दूसरा सिद्धात सरल है।

इस तरह भू-भ्रमणवाद पर जो बल दिया जा रहा है वह सिर्फ सामान्य जनता की सुविधा की दृष्टि से है। अत यह सुविधावाद भी एक तरह से सापेक्षिक ही हैं।

आईन्स्टीन के सापेक्षवाद ने वैज्ञानिक के एकान्ताग्रह को

झकझोर दिया है और अब वे यह कहने को बाध्य हो गए है कि—

सूर्य चलता है या पृथ्वी, यह विवाद महत्वहीन और निरर्थक है। दोनो मे से कुछ भी माना जा सकता है। कोई बाधा नही। प्रकृति अनंत धर्मात्मक होने से अति सूक्ष्म है अतः वास्तविकता का साक्षात्कार करना असभव-सा है।

लेखक का समाधान

खगोल के विषय मे वर्तमान विज्ञान या जैनेतर शास्त्रो की मान्यता गलत है या सही है इसको लेकर वह लेख नही लिखा गया है। जैन शास्त्रो मे इस विषय का वर्णन किस प्रकार से लिखा मिलता है यह दिखाने को वह लेख लिखा गया है। यह बात मैंने उस लेखके प्रारम्भ मे ही प्रगट करदी है। इसलिए उस लेख मे अगर मैंने कही जैन शास्त्रों से विरुद्ध मनघडत लिख दिया हो या कही अपनी बुद्धि की मदता से जैन शास्त्रो के वाक्यो का अर्थ यथार्थ न समझकर अन्यथा प्ररूपणा करदी हो, इस प्रकार की कोई बातें हो तो उसका उत्तर-दायित्व मेरे ऊपर है और उसी का ज्वाब देना मेरा काम है। ऐसी सूरत में "जैन खगोल विज्ञान की आलोचना" इस शीर्षक का लेख छपाना और उसमे उसके लेखक से जैन मान्यता को सिद्ध करने की मांग पेश करना अनधिकार चर्चा है और जिनवाणी को चुनौती देना है क्योंकि उसका विवेचन लेखक का नही जैन शास्त्रो का है। इसलिये समालोचक जी के लेख का उक्त शीर्षक अनुचित है। जैन मान्यता को छोडिए इस विषय मे जैनेतर शास्त्र भी तो सबके सब एकमत नही है। समालोचक जी ने चन्द्रमा को सूर्य से नीचे माना है पर विष्णुपुराणमे ऊँचा माना है। भास्कराचार्य ने पृथ्वी को चलती मानी है, समालोचक

जी उसे स्थिर मानते हैं। विज्ञान की तो खगोल-भूगोल के विषय मे और भी भिन्न मान्यतायें हैं फिरभी सभी अपने-अपने ढग से सामजस्य बैठाते हैं। अस्तु।

इस पृथ्वी से ज्योतिष्क कितनी दूरी पर है? और वे आपस मे एक से दूसरे कितने-कितने नीचे-ऊचे हैं? उनकी अपनी लम्बाई चौडाई कितनी-कितनी है? उनकी सख्या कितनी-कितनी है? चन्द्रमा के घटबढ का क्या कारण है? उनकी गति का हिसाब कैसे हैं? इत्यादि बातें ऐसी हैं जिनको सही-सही रूप से समझना छद्मस्थ की बुद्धि से परे है। इस प्रकार के अतीन्द्रिय विषयो के लिए सिवा आगम प्रमाण के और कोई चारा नही है। अगर हम आगमो को धत्ता बताकर अपने तर्क के आधार पर ही सब कुछ मानें तो सुमेरुपर्वत व राम, रावण, कृष्ण नारायणादिका मानना भी छोडना पडेगा। इसलिए हमारे यहाँ यह आदेश दिया है कि—"आज्ञासिद्धं चतद्ग्राह्य, नान्यथा वादिनो जिना.।

हा जो चीज प्रत्यक्ष से विरुद्ध पडती हो उसमे अगर कोई तर्क करे तो कर सकता है इसी खयाल से हमारे लेख के अन्तिम भाग में भू भ्रमण पर कुछ विचार पेश किये गये थे। बाकी वह लेख खडन-मडन की दृष्टि से नही लिखा गया है सिर्फ उसमे स्वमत का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

समालोचक जी ने हमारे लेख की कुछ बातें प्रत्यक्ष विरुद्ध भी बतलाई हैं उनपर विचार नीचे प्रस्तुत है—

हमारे लेखमे "चन्द्रमाको सूर्यादिसे मदगति वाला बतायाहै और तारो की गति सबसे तेज बताई है। और ग्रहो की आपसी चाल मे बृहस्पति व शनि की चाल तेज बताई है।" हमारे लेख के इस कथन

पर समालोचक जी ने यह आपत्ति की कि – आकाश मे उक्त ज्योतिष्को की चाल इससे विपरीत दृष्टिगोचर होती है। समालोचक जी का ऐसा लिखना ठीक नही है। जैन शास्त्रो मे बृहस्पति-शनिका स्थान ऊचाई मे सब ज्योतिष्को से ऊपर माना है। इसलिए वे हमे दूर होने के कारण धीमे चलते नजर आते हैं। वैसे गति उनकी अन्यग्रहो से तेज ही है और जो हमने चन्द्रमा की गति सूर्यादि से धीमी लिखी वह भी ठीक ही लिखी है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि अमावस के दिन सूर्यचन्द्र साथ-साथ अस्त होकर साथ-साथ चलते हुये दूसरे दिन सूर्यास्त के वक्त चन्द्रमा सूर्य से पीछे रह जाता है, तभी वह सूर्यास्त के बाद कुछ समय तक हमको दिखने लगता है। पीछे रहने का यह अतर अगले-अगले दिनो मे उत्तरोत्तर बढता जाता है। इससे साफ जाहिर होता है कि – चन्द्रमा की चाल सूर्य की चाल से धीमी होती है। जैन शास्त्रो मे एक राहु का विमान ऐसा माना है जो हमेशा चन्द्रमा के साथ-साथ नीचे चलता है। किन्तु दोनो की गति समान नही है और राहु के विमान का वर्ण श्याम है इसलिए राहु की आड मे जितना चन्द्रमा का अश आता रहता है उतनी ही चन्द्रमा की गोलाई मे कमी हमको दिखाई देती रहती है और ज्यो-ज्यो चन्द्रमा राहु की आड से निकलता रहता है त्यो-त्यो ही उसकी कलायें हमे बढती नजर आती रहती है। बस चन्द्रमा की घटाबढी का यही कारण है और बातें सब काल्पनिक हैं। इसका विशेष खुलासा हमारे लेख में किया है उसे देखें।

इसके प्रतिवाद मे समालोचक जी लिखते हैं कि—

'चन्द्रमा की राह में नित्य कोई राहु होता तो चन्द्रमा का प्रकाश शुद्ध नही मिल सकता। उसका धुधलापन आकाश में दिखा करता।"

उत्तर मे निवेदन है कि—राहु चन्द्रमा से नीचे चलता है। वह

श्याम वर्ण का होने से उसकी आड मे जितना भाग चन्द्रमा का आता है उतना भाग हमें दिखाई नहीं देता है। जैसा कि हम ऊपर लिख आये है और जितना भाग चन्द्रमा का राहु की आड मे नहीं रहता उतनें भाग का शुद्ध प्रकाश तो मिलता ही है यह प्रत्यक्ष सबके है ही और रात्रि में स्वच्छ आकाश मे जब आप थोडी कला वाले चन्द्रमा को कभी ध्यान से देखेंगे तो चन्द्रमा का जितना भाग राहु की आड मे होता है उसका भी कुछ आभास होता ही है। प्रत्यक्ष किं प्रमाणम्।

इस पर शंकायें होती है कि—चन्द्रमा में स्वयं मे चमक नहीं वह सूर्य के प्रकाश से चमकता है तो अन्य ग्रह नक्षत्रादि किसके प्रकाश से चमकते हैं और स्वयं सूर्य भी किसके प्रकाश से चमकता है? यदि सूर्य स्वयं प्रकाशवान है तो वैसा ही चन्द्रमा को क्यों न माना जावे और चन्द्रमा मे प्रकाश सूर्य का दिया हुआ है तो चन्द्रमा की चांदनी शीतल क्यों है? सूर्य का प्रकाश पाते ही कमल खिल उठते हैं ऐसा प्रकृति का नियम है। अगर चद्रमा का प्रकाश सूर्य का दिया हुआ होता तो कमल मुद्रित भी नहीं होते और आपके लेखानुसार चंद्रमा जब सूर्य से नीचे चलता है तो सूर्य का प्रकाश चंद्रमा के ऊपरी हिस्से पर पडेगा न कि नीचे के हिस्से पर। तब हमको चद्रमाके नीचे का हिस्सा प्रकाशवान् नही दिखना चाहिए था। ऐसी अटपटी बातें लिखने से क्या फायदा? सीधी सी बात जो चंद्रमा के घटबढ की जैन शास्त्रो मे लिखी है वही स्वाभाविक मालूम पडती है। और भी राशि आदि की बातें व तीसरें वर्ष अधिक मास होना आदि सब जैन शास्त्रो मे लिखा है। आप त्रिलोकसार नामक जैन शास्त्र देखिएगा उसमे सब मिलेगा।

इस तरह जैन खगोल (ज्योतिष्क) से भी पचांग की सब बातें समीचीन ढग से सिद्ध होती है।



छप्पन दिक्कुमारियें

आजकलके प्रतिष्ठाचार्य प्रतिष्ठा विधि मे जिन माता की सेवा ५६ दिक्कुमारियो द्वारा करवाते हैं। परन्तु कुमारियो की इस ५६ सख्या का उल्लेख दिगम्बर जैन परपरा मे तो न कही-करणानुयोग, प्रथमानुयोग के ग्रन्थो मे देखने मे आया और न प्रतिष्ठा शास्त्रो मे ही आया फिर न मालूम ये प्रतिष्ठाचार्य किस आधार पर ऐसा करते है ?

भगवान् की माता के गर्भ-शोधन का कार्य श्री ह्री आदि कुलाचल वासिनी देवियें आकर करती हैं, ऐसा तो अनेक जैन शास्त्रो मे लिखा मिलता है और ये ही दिक्कुमारियें या दिक्कन्यायें कहलाती हैं। किन्तु उनकी तो सख्या सभी करणानुयोगी शास्त्रो मे छ बताई है, न कि छप्पन ? तथा तत्वार्थ राजवार्तिक, त्रिलोकसार, हरिवश पुराण आदि ग्रन्थो मे लिखा है कि –

१३ वे रूचकद्वीप के मध्यमे वलयाकार रूचक नाम का पर्वत है, उसके कूटो पर निवास करने वाली देवियो का नियोग जिनमाता की सेवा करने का है। इनकी सख्या ४४ लिखी है। इन रूचकवासिनी देवियो द्वारा जिनमाता की सेवा का कथन पं० आशाधरजी ने और प० नेमिचन्द्र जी ने भी अपने २ प्रतिष्ठा शास्त्रो मे किया है। पार्श्वपुराण मे प० भूधरदासजी ने गर्भ-

अत भूधरमिश्र ने जो ५६ कुमारियें लिखी हैं वे मानने योग्य नही हैं।

त्रिलोकसार गाथा ६४१ मे मानुषोत्तर पर्वत के १२ कूटों पर भी निवास करनेवाली दिक्कुमारियें बताईहैं। इनको उक्त ४४ रूचकवासिनियो की सख्या मे मिलाकर ५६ सख्या बना लेना भी उचित नही है। क्योकि ऐसा करने मे कुलाचल वासिनी छः प्रसिद्ध दिक्कुमारियाँ छूट जाती हैं और इन छः को शामिल करने पर ५६ के बजाय ६२ दिक्कुमारियों की सख्या बनती है। इस लिये खाली दिक्कुमारी नाम देखकर ही उन्हे ५६ की सख्या मे शामिल करना योग्य नही है। यो तो त्रिलोकसार की गाथा ७४४ मे वक्षार पर्वतो पर भी दिक्कन्याओं का निवास बताया है। इस तरह सभी दिक्कुमारियो का नियोग जिनमाता की सेवा करने का मानने पर तो उनकी सख्या ५६ से भी बहुत अधिक हो जायेगी इसलिये गणना मे उन्ही देवियों को लेना चाहिए जिनका नियोग जिनमाता की सेवा करने का शास्त्रो मे लिखा हो।

प्रतिष्ठाशास्त्रोमे सर्वत्र श्री ह्री आदि ८ दिक्कुमारियों के नाम मिलते है। इनमे आदि के छ नाम तो शास्त्रोक्त है और अन्त के दो नाम कल्पित है। इन ८ नामो को यदि रूचकवासिनी देवियो की संख्या मे मिला दिये जायें तब भी कुल सख्या ५२ ही बनती है, ५६ नही। हाँ, अगर दिक्कुमारियो के कल्पित नाम २ की बजाय ६ लिखे होते तो ५६ सख्या हो सकती थी, मगर ६ कल्पित नाम किसी प्रतिष्ठा शास्त्र मे देखने मे अभी तक आये नही।

इसलिए वर्तमान के प्रतिष्ठाचार्य जो दिक्कुमारियो की ५६ सख्या मानते हैं और आमन्त्रण पत्रिकाओ मे लिखते है, उनका कर्तव्य है कि वे किसी मान्य आगम प्रमाण से छप्पन सख्या को सिद्ध करे, ऐसी हमारी प्रार्थना है । वरना उन्हे आगामी अब ५६ सख्या का उल्लेख नही करना चाहिये ।



३७

द्रव्यसंग्रह का कर्त्ता कौन ?

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैनग्रन्थमाला वाराणसी से इन दिनो द्रव्यसग्रह नामक ग्रन्थ पुराणे पण्डित जयचन्दजी कृत भाषावचनिका और भाषा पद्यो सहित प्रगट हुआ है। सपादक जी ने इसके सम्पादन मे वहुत परिश्रम करके इसको सब तरह से उपयोगी बनाया है। उक्त वचनिका और भाषा पद्यो का यह प्रकाशन पहिली बार ही हुआ है। इसके पूर्व नही हुआ। साथ मे लघुद्रव्यसंग्रह भी छपा है। सम्पादकजी ने इस पर ४० पृष्ठों की प्रस्तावना लिखकर ग्रन्थ ग्रन्थकार और ग्रन्थ के सस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव व भाषा वचनिकाकार के विषय में अच्छी विचार सामग्री प्रस्तुत की है। उसमे अन्य २ बातों के अलावा आपने यह भी व्यक्त किया है कि इस द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता वे प्रसिद्ध नेमिचन्द्र नही हैं जिन्होने गोम्मटसार-त्रिलोकसारादि ग्रन्थो की रचना की है। किन्तु ये कोई दूसरे ही नेमिचन्द्र हैं जो उनसे उत्तरकाल मे हुए हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिए आपने बहुत लिखा है। फिरभी हम उसे अंतिम निर्णय माननेको तैयार नही है। अब भी उसके विरुद्ध काफी लिखे जाने की गुन्जाइश है। इस सम्बन्ध मे आपने जो दलीले दी हैं उन्हे हम हमारी समीक्षा के साथ नीचे लिखते हैं—

(दलील न० १) द्रव्य सग्रहकार मे द्रव्यसग्रह की प्रशस्ति

मे अपने को तनुसूत्रधर लिखा है और उसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने उनका उल्लेख सिद्धान्तदेव के नाम से किया है। त्रिलोकसार-आदिके कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्री थे। न वे तनुसूत्रधर थे और न सिद्धातदेव इस तरह से दोनो नेमिचन्द्र एक नही, भिन्न-२ थे।

(समीक्षा) द्रव्यसग्रह की तरह त्रिलोकसार की प्रशस्ति में भी ग्रन्थकार ने अपने को अल्पसूत्र का धारी बताया है। इतना ही नही और भी कथन त्रिलोकसार के कर्त्ता ने यहाँ प्राय द्रव्य-सग्रह की भाँति ही किया है। दोनो के वाक्यो को देखिये—

इदि णेमिचन्दमुणिणा अप्पसुदेणभयणदिक्च्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमंतु त बहुसुदा इरिया ॥१०१८॥

[त्रिलोकसार]

दव्वसंगहमिण मुणिणाहा दोससचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयतु तणुसुत्तधरेण णमिचन्दमुणिणा भणिय जं ॥५८॥

[द्रव्यसग्रह]

णेमिचन्दमुणि, सुदपुण्ण-बहुसुदा, तणुसुत्तधर-अप्पसुद।

ये शब्द दोनो मे समानार्थक है। द्रव्य सग्रह मे नेमिचन्द्र मुनि ने अपने को अल्पशास्त्र का धारी बताकर पूर्ण श्रुतज्ञानियोसे अपनी कृति को शोधने की प्रार्थना की है। यही आशय त्रिलोक-सार मे भी व्यक्त करते हुए लिखा है कि अल्पश्रुति होते हुए भी नेमिचन्द्र मुनि नें त्रिलोकसार ग्रन्थ रचा इस ढीठता के लिये बहुश्रुति आचार्य उसे क्षमा करें। इस समान कथन से यही प्रति-भासित होता है कि दोनो के कर्त्ता एक ही व्यक्ति हैं। (रही सिद्धातचक्री और सिद्धातदेव की बात सो त्रिलोकसार के

गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा का समय कल्कि स० ६०० लिखा है। प्रोफेसर प० हीरालालजी ने जैनशिलालेखसग्रह प्रथम भाग की प्रस्तावना मे कल्कि सं० ६०० को विक्रम स० १०८६ सिद्ध किया है। बाहुबलि मूर्ति की स्थापना चामुण्डराय ने की थी उस वक्त उनके गुरु नेमिचन्द्र जो मौजूद थे हो। इसके अलावा मुद्रित चारित्रसार खुले पत्र पृ० २२ मे चामुण्डराय ने अमितगति श्रावकाचार का "उपेत्याक्षाणि सर्वाणि ..." श्लोक उद्धृत किया है वह श्लोक उसके १२वें परिच्छेद का ११६वा है। अमितिगति का अस्तित्व विक्रम की ११वी शताब्दि के उत्तरार्द्ध तक है। उनके श्लोक उद्धृत करने से चामुण्डराय नेमिचन्द्र का समय राजा भोज के वक्त तक पहुँच जाता है। इतिहास मे राजाभोज का राज्यकाल वि० स० १०७५ से ११११० तक का माना है। ब्रह्मदेव ने राजा भोज के समय मे ही द्रव्यसग्रह का रचा जाना बताया है। इससे गोम्मटसार के कर्ता और द्रव्य-सग्रह के कर्ता एक ही नेमिचन्द्र प्रतीत होते हैं। भिन्न २ नहीं।

आप द्रव्यसग्रह के कर्ता नेमिचन्द्र का समय वि० स० ११२५ बताते है। परन्तु जब ब्रह्मदेव के कथनानुसार द्रव्यसग्रह राजाभोज के समय मे बना है और भोज का समय वि० स० १११० के बाद नही हैं तो आपका स० ११२५ का समय बताना सगत हो सकता है? साथ ही आपका द्रव्यसग्रहकार नेमिचन्द्र को वसुनन्दि श्रावकाचार के कर्ता का गुरु बताना भी ठीक नही है। क्योकि वि० सं० ११०० में होने वाले जिन नयनन्दी को आप वसुनन्दी के दादागुरु मानकर उनके आधार पर नेमिचन्द्र का समय वि० स० ११२५ कल्पना करते है वह आधार ही गलत है। गलत इसलिये है कि उक्त नयनन्दी अपने बनाये अपभ्रंश

के सुदर्शनचरित मे अपने गुरु का नाम माणिक्यनन्दी लिखते है। जब कि वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार की प्रशस्ति मे नयनन्दी के गुरु का नाम श्रीनन्दि लिखा है। इस सम्बन्ध मे अपने विचार हमने जैन निबन्ध रत्नावली के पृष्ठ ४१३ मे लिखे है उस स्थल को आप देखे।

आपका यह लिखना कि—"ब्रह्मदेव ने द्रव्यसग्रह अधिकार २ के प्रारम्भ मे वसुनन्दि श्रावकाचार की न० २३-२४ की २ गाथाये उद्धृत करके उनकी वे उसी प्रकार से व्याख्या करते है जिस प्रकार से कि उन्होने द्रव्यसग्रह की गाथाओ की है। अत वसुनन्दी के गुरु नेमिचन्द्रजी द्रव्यसग्रह के कर्ता होने चाहिये।" यह सब बेतुकी कल्पना है।★ उन दो गाथाओ मे से "परिणामिजीवमुत्त" यह एक गाथा तो मूलाचार षडावश्यक अधिकार की गाथा न० ४८वी है, और दूसरी गाथा अलबत्ता वसुनन्दि कृत हो सकती है। जा गाथा मूलाचार की है उसकी व्याख्या पञ्चास्तिकाय पृ० ५६ मे जयसेन ने भी उसी तरह कर रक्खी है जैसी कि ब्रह्मदेव ने की है। दोनो टीकाकारो का गद्य बराबर एक समान मिल रहा है। जिसे देखकर आशका होती है कि दोनो मे से किसने किस का अनुसरण किया है। यहाँ

★ यह कोई नियम नही है कि किसी उक्त च गाथा की भी साथ मे व्याख्या करने से उस गाथाकार के गुरु ही विवक्षित (व्याख्यकृत) ग्रन्थ के कर्ता हो अगर ऐसा माना जायगा तो जयसेन ने अनेक ग्रथो की टीकाओ मे कुछ उक्तञ्च गाथाओ की भी साथ व्याख्या कर दी है तो क्या टीकाकृत ग्रथ उक्त च गाथाकार के गुरु की कृतियाँ हो जायेंगे ? अगर नही तो ऐसा नियम बनाना ठीक नही, देखिये—

ब्रह्मदेव ने वसुनन्दी की जिन दो गाथाओ को लेकर उनकी जितनी और जैसी व्याख्या द्रव्यसग्रह मे की है। वैसी ही और उतनी ही व्याख्या जयसेन ने पचास्तिकाय मे मूलाचारवाली एक ही गाथा उद्धृत करके की है। इसमे स्पष्टत यही प्रतिभासित होता है कि इस स्थल मे अगर जयसेन ने ब्रह्मदेव का अनुसरण किया होता तो वे भी दोनो गाथाओ को देकर उनकी व्याख्या करते पर जयसेन ने ऐसा नही किया। उन्होने तो सिर्फ एक मूलाचारवाली गाथा ही की व्याख्या की है। और ब्रह्मदेव ने दोनो गाथाओ को उद्धृत करके उनकी व्याख्या की है। इससे यह भी प्रगट होता है कि—जयसेन ने जिस एक गाथा की व्याख्या की है उसे उन्होने मूलाचार से ली है न कि वसुनन्दी श्रावकाचार से और ब्रह्मदेव ने जिन दो गाथाओ की व्याख्या की है उन गाथाओ को उन्होने वसुनन्दिश्रावकाचार से ली हैं।

जयसेन और ब्रह्मदेव इन दोनो की टीकाओ मे अन्य भी कई एक स्थल समानता को लिये हुये है卐 उनमे से पचास्तिकाय गाथा २७ की टीका (पृ० ६१) मे "इदानी मतार्थ कथ्यते" ऐसा लिखकर "वच्छक्खर" गाथा उद्धृत करते हुये १० पक्तिये गद्य मेलिखी हैं जिनमे चार्वाक, भट्टचार्वाक, साख्य, बौद्ध, मीमासक-

---

卐 उदाहरणार्थ देखिये :—

जयसेन कृत टीका—	ब्रह्मदेवकृत टीका —
पचास्तिकाय गाथा २३	परमात्मप्रकाश दोहा १४७
पचास्तिकाय गाथा १५२	परमात्मप्रकाश दोहा १५६
पचास्तिकाय गाथा १४६	द्रव्यसग्रह गाथा ५७
पचास्तिकाय गाथा २७	द्रव्यसग्रह गाथा ३

मताश्रित शिष्यो को समझाया है और फिर ११वी पक्ति मे "इतिमतार्थो ज्ञातव्य" लिखकर इस प्रकरण को समाप्त किया है। इसी विषय का ब्रह्मदेव ने द्रव्यसग्रह की गाथा ३ की टीका मे वर्णन करते हुए सिर्फ वही "वच्छक्खर" गाथा उद्धृत करके और केवल चार्वाकमतानुसारी शिष्य को ही समझाने का दो एक लाइन मे कथन करके बाकी कथन जयसेन की टीका वाला छोड दिया है इससे यही ध्वनित होता है कि ब्रह्मदेव ने जयसेन का अनुसरण किया है। जब जयसेन ने यहा १० लाइने अपनी बुद्धि से गद्य मे बनाकर लिखी हैं तो उसमे की एक दो लाइने ही वे ब्रह्मदेव की क्यो लेगे ? उन्हे क्या वे नही बना सकते थे ? इस ऊहापोह से ब्रह्मदेव जयसेन से उत्तरकालवर्ती सिद्ध होते हैं। (ऐसी हालत मे जयसेन ने पचास्तिकाय की टीका पृ० ६ में द्रव्य सग्रह की रचना मे सोमश्रेष्ठी का जो निमित्त लिखा है, वह जानकारी जयसेन को ब्रह्मदेव कृत द्रव्य सग्रह की टीका से मिली हो ऐसा नही समझना चाहिये। किन्तु जयसेन को यह जानकारी ब्रह्मदेव से पहिले ही किसी अन्य स्रोत से मिली हुई थी।)

प्रवचनसार अधिकार २ की गाथा ४६ की जयसेन कृत टीका के वाक्य पद्मप्रभ मलधारी ने नियमसार गाथा ३२ की टीका मे उद्धृत किये है। अत जयसेन पद्मप्रभ से पहिले हुये है। पद्मप्रभ वि० स० १३वी सदी के पूर्वार्द्ध मे हुए है। और जयसेन ने पचास्तिकाय गाथा २ की टीका मे वीरनन्दी कृत आचारसार का चौथे अध्याय का एक पद्य "येनाज्ञानतम" उद्धृत किया है। अत ये जयसेन वीरनन्दि के बाद हुये है। वीरनन्दि ने आचारसार की स्वोपज्ञ कनडी टीका वि० स०

१२१० मे बनाई है। इन सब उल्लेखो के आधार पर जयसेन का समय वि० स० १२०० करीब का सिद्ध होता है और ब्रह्मदेव का इनसे बाद का।

इतिहास का वही खोजी तथ्य तक पहुँच सकता है जो तटस्थ होकर पक्षपात और आग्रह को न रखता हुआ समय २ पर मिलने वाले साधक-बाधक प्रमाणोके अनुसार अपने विचारो को बदलता रहता हो।

अन्त मे माननीय सम्पादक जी सा० से हमारा सविनय अनुरोध है कि इस विषय मे आपने जो अपने विचार द्रव्यसंग्रह की प्रस्तावना मे व्यक्त किये है उन पर शान्ति से पुन. मनन करने का कष्ट करे।

प्रस्तावना पृ० ४८ मे "आन इष्ट को ध्यान अयोगि, अपने चलन शुभ जोगि "पद्य का अर्थ—"इसे उन्होंने अपना इष्ट और शुभोदय समझा" ऐसा दिया है किन्तु सही अर्थ इस प्रकार होना चाहिए-अन्य इष्ट का ध्यान विचार अयोग्य है अपने इष्ट के यहाँ चलना ही शुभ और योग्य है।

'लघुद्रव्य सग्रह' मे मुद्रण की गलतियो के अलावा भी कुछ पाठ अशुद्ध है जिनके शुद्ध रूप इस प्रकार हैं :—

अशुद्ध पृष्ठ ६० सखादासखादा
शुद्ध—सखासखाणता
अशुद्ध—पृष्ठ ६२ ठाण साहूण
शुद्ध—ताण साहूण
अशुद्ध—पृष्ठ ६२ गणिणा
शुद्ध—मुणिणा

अशुद्ध—पृष्ठ 'अवत्त' का अर्थ "अव्यक्त"
शुद्ध—"अव्यक्त"

निम्नांकित गलत छपे है शुद्ध इस प्रकार है—

अशुद्ध—पृष्ठ ५८ पुठवी
शुद्ध—पुढवी
अशुद्ध—पृष्ठ ६२ पज्जयणायेण
शुद्ध—पज्जयणयेण



हवनकुण्ड और अग्नित्रय

दि० जैन धर्म के ज्ञात साहित्य मे इस विषय का संक्षिप्त कथन सबसे पहिले आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण मे पाया जाता है यही नही और भी क्रिया-कांडो के विषय पर सबसे पहिले लेखनी चलाने वाले दिगम्बर ऋषियों मे उक्त जिनसेन का ही आभास होता है। दूसरे इनके बाद क्रियाकांड पर और भी विस्तृत लिखने वाले पं० आशाधर जी नजर आते हैं। किन्तु इस विषय मे दोनो का दृष्टिकोण भिन्न २ प्रतीत होता है। आचार्य जिनसेन ने इस विषय मे जो कुछ विधान प्रस्तुत किये है उनमे उन्होने जैनधर्म की मूल सस्कृति की सुरक्षा का पूरा २ ध्यान रक्खा है कि जब कि आशाधर जी द्वारा निरूपित विधि-विधानो मे कहीं २ यह चीज नही पाई जाती है। आशाधर जी के विधि-विधानो मे लौकिक मान्यताओं और श्वेतांबरी मान्यताओ का बहुत कुछ उपयोग किये जाने की वजह से यह विसंगति खडी हुई है। उदाहरण के तौर पर इसके लिये जैन-सन्देश-शोधाक १० मे तथा जैन निबन्ध रत्नावली प्रथमभाग पृ० ६० मे प्रकाशित हमारा नवग्रह वाला लेख देखियेगा। आशाधर जी के बाद इन्द्रनन्दि, हस्तिमल्ल, एकसन्धि आदि ने तो इस विषय को और भी वृद्धिगत किया है जिसमे इन्होने आशाधर जी का अनुसरण करने के साथ ही ब्राह्मणमत की कई नई क्रियाओ का भी समावेश किया है।

आशाधर जी द्वारा रचित इस प्रकार के साहित्य में हवन के विषय का कोई प्रकरण हमारे देखने मे नही आया है। यह तो नही कह सकते कि उन्हें हवन क्रिया अभीष्ट ही नही थी क्योकि वे अपने प्रतिष्ठासारोद्धार के प्रथम अध्याय मे ऐसा लिखते है—

दातृसंघ नृपादीनां, शांत्यै स्नात्वा समाहिताः।
शांतिमंत्रैर्जपं होमं, कुर्युरिंद्रा दिने दिने ॥१४०॥

अर्थ—दाता, सघ और राजा आदि की सुख शाति के लिये वे इन्द्र (याजक) स्नान करके निराकुल चित्त से शान्ति मत्रों के द्वारा प्रतिदिन जप होम किया करें।

इस विषय का वर्णन आदि पुराण मे हमारे देखने मे निम्न प्रकार आया है। पर्व ३८ के श्लोक ७१ से ७३ तक मे लिखा है कि—

"जिन प्रतिमा के सामने तीन पुण्याग्नियो के साथ छत्रत्रय सहित चक्रत्रय स्थापन करने चाहिये। अर्हंत, गणधर और शेष केवलियो के निर्वाण समय जो तीन अग्नियाँ जलाई गई थी वे यहा सिद्ध प्रतिमा की वेदी के समीप सस्कारित करनी चाहिये अर्थात् मत्र पूर्वक जलानी चाहिये। उन अग्नियो मे अर्हत्पूजा मे बचे पवित्र द्रव्यो से मन्त्र पूर्वक आहुतिये देनी चाहिये।"●

● आदिपुराण पर्व ४७ श्लोक ३४७-३४८ मे तीर्थंकर कुण्ड के दाहिनी ओर गणधर कुण्ड व बाई ओर सामान्य केवलिकुण्ड की स्थापना लिखी है सामान्य केवलियो की अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है

तथा पर्व ४० के श्लोक ८२ से ८४ मे लिखा है कि—

"क्रियाओ के प्रारम्भ मे उत्तम द्विजो को रत्नत्रय के सकल्प से अग्निकुमार देवो के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न हुई तीन प्रकार की अग्नियाँ जलानी चाहिये। ये अग्नियाँ तीर्थंकर, गणधर और शेष केवलियो के निर्वाण महोत्सव मे पूजा का अग होकर पवित्र मानी गई है। गार्हपत्य आह्वनीय, और दक्षिणाग्नि नाम से प्रसिद्ध ये तीनो महाग्नियाँ तीनो कुण्डो मे जलाने योग्य हैं।" ★इस विषय मे उत्तर पुराण मे भी कुछ ज्ञातव्य अश हैं इसके लिए देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० २५८।

बस इतना ही कथन महापुराण मे हमारे नजर मे आया है इस सक्षिप्त वर्णन से यह नही जाना जाता कि अग्नि कुण्डो का आकार, उनका प्रमाण क्या रहे इत्यादि बातो का खुलासा नही होता है।

इस विषय को प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे टटोला गया तो आशाधर कृत प्रतिष्ठापाठ मे तो केवल हवन का उल्लेख मात्र है विशेष कुछ लिखा नही है जैसा कि इस लेख मे ऊपर हम बता आये है। आशाधर के बाद कई प्रतिष्ठा ग्रन्थ बने उनमे से आखिरी

उसका स्थान आदिपुराण मे बाई ओर लिखा है तब इसका नाम दक्षिणाग्नि क्यो है? शायद यह नाम हवन करने वाले के दक्षिण की ओर वह अग्नि होने के कारण से हो। और आदिपुराण मे उसका स्थान बाई ओर वहाँ स्थित प्रतिमा की अपेक्षा कहा हो

★ आदिपुराण मे ऋषभदेव के निर्वाण महोत्सव के प्रकरण मे भी इस विषय का कथन आया है

प्रतिष्ठा ग्रन्थ नेमिचन्द्र कृत प्रतिष्ठातिलक है ऐसा हमारा ख्याल है। यह प्रतिष्ठा तिलक विस्तृत भी लिखा गया है। प्रारम्भ मे ही इसके कर्ता ने साफ लिख दिया है कि इसका निर्माण इन्द्रनन्दि आदि की सहिताओ के आधार पर किया गया है और यह बात इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ के अध्ययन से भी जाहिर होती है कि इसमे यत्र-तत्र आशाधर, इन्द्रनन्दि, एकसन्धि के कथनो का काफी उपयोग किया है। इसके कर्ता नेमिचन्द्र ने जो प्रशस्ति दी है उससे इनके समय पर काफी प्रकाश पडता है। प्रशस्ति के अनुसार ये हस्तिमल्ल की कोई ११वी पीढी मे हुये हैं। हस्ति-मल्ल का समय १४वी सदी है अत इनका समय १६वी ही नही १७वी शताब्दि भी हो सकता है। समय की दृष्टि से यह प्रतिष्ठा ग्रन्थ बहुत बाद का लिखा हुआ है इसलिये इसमे वे सभी विधि-विधान पाये जा सकते हैं जिन्हे आशाधर के बाद इस विषय मे जुदे-जुदे ग्रन्थकारो ने बढाये हैं।

इस प्रतिष्ठातिलक के ३ रे परिच्छेद मे हवनकुण्ड और उनमे की अग्नियो का विवरण निम्न प्रकार पाया जाता है—

"जैसे प्रतिमा के आश्रय से जिन मन्दिर पूजा जाता है वैसे ही तीर्थंकरो के सम्बन्ध से पूजनीय ऐसी गार्हपत्य अग्नि के आश्रय से जो पूजा के योग्य हुआ है ऐसे चोकोर कुण्ड को हम पूजते हैं ॥२८॥ सर्व गणधरो के सम्बन्ध से पूजनीय ऐसी आहवनीय अग्नि के आश्रय से जो पूजा के योग्य हुआ है ऐसे त्रिकोण कुण्ड को हम पूजते हैं ॥२९॥ केवलियो के निर्वाणोत्सव मे देवेन्द्रो ने जिसकी पूजा रची है ऐसी दक्षिण दिशा की दक्षिणा-ग्नि का स्थान होने से जो द्विजो के पूजने योग्य हुआ है ऐसे उस गोलकुण्ड को मैं जलादि से पूजता हू ॥३०॥

इस विवेचन का फलितार्थ यह हुआ कि—तीर्थंकरो के निर्वाण समय मे उनकी दग्धक्रिया मे जो अग्नि प्रज्वलित हुई उसका नाम गार्हपत्य है और वह चोकोर कुण्ड मे जलाई जानी चाहिये। तथा इसी प्रकार गणधरो की अग्नि का नाम आहवनीय है और वह त्रिकोण कुण्ड मे जलानी चाहिये। एवं सामान्य केवलियो की अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है और वह गोलकुण्ड मे जलानी चाहिये व इसका स्थान तीन अग्नियो मे दक्षिण की ओर रहना चाहिये।

किन्तु ब्र० शीतलप्रसाद जी ने अपने बनाये प्रतिष्ठा ग्रथ मे गोल कुण्ड की जगह अर्द्ध चन्द्राकार कुण्ड का कथन किया है। ऐसा ही कथन इन्होने गृहस्थधर्म और जैन शब्दार्णव पुस्तक मे भी किया है। पता नही ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसाद जी ने ऐसा कथन किस आधार पर किया है इन्होने प्रतिष्ठा ग्रन्थ का निर्माण तो अधिकाश रूप से जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार किया है। परन्तु जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे भी गोल कुण्ड लिखा है न कि अर्द्ध चन्द्राकार।

इसी प्रकार मुद्रित सभी जैन विवाह पद्धतियो मे प्राय: गणधरकुण्ड को गोल और केवलिकुण्ड को त्रिकोण लिखा है। जबकि प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे गणधर कुण्ड को त्रिकोण और केवलिकुण्ड को गोल लिखा है। जैन विवाह पद्धतियो का आधार प० फतहचन्द जी जयपुर निवासी कृत विवाह पद्धति रहा है। प० फतहचन्द जी ने इसे विक्रम स० १६३३ मे लिखी थी। इसकी हस्तलिखित प्रति हमारे पास है उसमे भी गणधर कुण्ड को गोल और केवलिकुण्ड को त्रिकोण लिखा है। सम्भव है यह गलती प्रारम्भ मे किसी लिपिकार के द्वारा भूल से उलट पलट नकल

करने के कारण हो गई हो और फिर उसी गलत नकल की परंपरा चल पडी हो। खेद इस बात का है कि यह गलती अवतक भी की जारही है जो क्रिया काडी विद्वानो की घोर अज्ञता की सूचक है। सच तो यह है कि पिछले कई वर्षों से प्रतिष्ठा का कार्य कुछ ऐसे नामधारी प्रतिष्ठाचार्यों के हाथो आ पडा है जिन्होंने न तो प्रतिष्ठा विधिका ज्ञान किसी प्रामाणिक गुरु परि-पाटी से प्राप्त किया है और न उन्होने स्वय इस विषय के अनेक सस्कृत ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययन कर ही कुछ तथ्य प्राप्त किये है। इन नाम के प्रतिष्ठाचार्यों मे से कुछ तो ऐसे भी थे जिन्हे सस्कृत भाषा का बोध ही नही था। ऐसो ही की कृपा से इदानी प्राय. सदोप प्रतिष्ठा विधि प्रचार मे आ रही है।

हमारा एक प्रतिष्ठा मे जाने का काम पडा वहा हमने प्रतिष्ठाचार्य जी को हवन विधि कराते यह देखा कि "कोई बीसो दपति गठ जोडो मे बधे हुये कितने ही अग्नि कुण्डो मे आहुतियें दे रहे हैं" हवन करने वालोके साथ-साथ उनकी स्त्रियाँ भी हवन करे ऐसा किसी प्रतिष्ठा शास्त्र के अनुसार कहा तक सुसगत है यह विचारणीय है ऊपर उद्धृत आशाधर के श्लोक मे तो हवन के लिये इन्द्रो का ही उल्लेख किया है इन्द्राणियो का नही। हवन करने वालो की बढी हुई सख्या के लिये तीन अग्निकुण्ड पर्याप्त न होने से बहुत से अग्निकुण्ड बनाना यह भी विचारणीय ही है। हा यह तो पढने मे आया है कि कही तीन अग्निकुण्ड की जगह एक चौकोर तीर्थंकर कुण्ड से ही काम किया जा सकता है।

विचार करने से बात दरअसल यह पाई गई कि इस तरह की अनर्गल प्रवृति प्रतिष्ठाचार्यो की लोभवासना से है। ये

लोग इन दपतियो के गठजोडो मे कुछ नकदी रुपये रखा कर उन सबको ले लेते है। फिर इन्ही की देखा देखी निर्लोभी प्रतिष्ठाचार्य भी हवन मे स्त्रियो को बैठाने लग गये। हालाकि उन्हे गठजोडो मे रुपैये रखाने या लेनें से कोई सरोकार नही है। इस तरह यह अशास्त्रीय प्रवृत्ति चल पड़ी है।



३८

मूलाचार का संस्कृत पद्यानुवाद

हमारे यहां मुनियो के आचार विषय का प्राकृत गाथाबद्ध एक मूलाचार नामक प्राचीन ग्रन्थ चला आता है। जो वट्टकेराचार्य का बनाया हुआ है। जिसको आजकल के ऐतिहासिक विद्वान कुन्दकुन्दाचार्यकृत भी बतलाते हैं। इस ग्रन्थ पर सस्कृत मे वसुनन्दिकृत एक बडी अच्छी टीका है। टीका सहित यह ग्रन्थ माणिकचन्द ग्रन्थमाला मे छप चुका है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे यतियो के आचार विषय का प्रतिपादक यह एक ऐसा ग्रंथ है जो प्राचीन और उच्चकोटि का माना जाता है। इस विषय के उपलब्ध ग्रन्थो मे समय की दृष्टि से दूसरा नम्बर सस्कृत आचारसार का है। इसका समय विक्रम की १३ वी शताब्दी का प्रथम चरण अनुमान किया जाता है। किन्तु १३वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे होने वाले प० आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका मे इस आचारसार का एक भी पद्य उद्धृत नही किया है। तीसरा ग्रन्थ प० आशाधर जी का रचा अनगारधर्मामृत है। प० आशाधरजी ने इस ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका मे मूलाचार की गाथाओ का खूब उपयोग किया है। कही २ मूलाचार की उक्त सस्कृत टीका के भी उद्धरण दिये हैं। साथ ही टीका मे सस्कृत के बहुत से ऐसे पद्य भी उद्धृत किये हैं जो ऐसे मालूम पडते हैं जैसे वे मूलाचार की प्राकृत

गाथाओका ही सस्कृत मे भावानुवाद हो। इस लेख मे नीचे हम इसी की चर्चा करेंगे।

मूलाचार की गाथाओ के छाया रूप मे जो सस्कृत पद्य अनगारधर्मामृत की टीका मे उद्धृत हुये हैं। उनमे से कुछ पद्य नमूने के तौर पर हम यहाँ पेश करते है—

पुढवी य बालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य।
अय तब तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥९॥
हरिदाले हिंगुलये मणेसिला सस्सगजण पवाले य।
अब्भपडलब्भवालुय बादरकाया मणिविधीया ॥१०॥
[मूलाचार ५ वां अधिकार]

मृत्तिका बालुका चैव शर्करा चोपल: शिला।
लवणायस्तथा ताम्रं त्रपु सीसकमेव च ॥
रूप्यं सुवर्णं वज्र च हरिताल च हिंगुलम्।
मन. शिला तथा तुत्थ मजन च प्रवालकम् ॥
क्षीरोलकाभ्रक चैव मणिभेदाश्च बादरा।
[अनगारधर्मामृत पृष्ठ १९९]

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणीय।
ते जाण तेउजीवा जाणित्तापरिहरेदव्वा ॥१४॥
[मूलाचार ५ वां अधि०]

ज्वालागारस्तथार्चिश्च मुर्मुर. शुद्ध एव च।
अनलश्चापि ते तेजो जीवा. रक्ष्यास्तथैव च ॥
[अनगारधर्म०, पृ० २००]

रादो दु पमज्जित्ता पण्णसमण पेक्खिदम्मि ओगासे।
आसक विसुद्धीए अपहत्थग फासण कुज्जा ॥१२६॥
[मूलाचार ५ वा अधि०]

रात्रौ च तत्यजेत्स्थाने प्रज्ञाश्रमणवीक्षिते ।
कुर्वन् शकानिरासायापहस्त स्पर्शन मुनि ॥
[अनगारधर्मा० पृ० ३१८]

उग्गम उप्पादण रासण च सजोजण पमाण च ।
ईगाल धूम कारण अट्ठविहा पिंडसुद्धी दु ॥२॥
[मूलाचार अधिकार ६]

उद्गमोत्पादनाहार सयोग सप्रमाणक ।
अगारधूमौ हेतुश्च पिंडशुद्धिर्मताष्टधा ॥
[अनगारधर्मा० पृ० ३३५]

अप्पासुयेणमिस्स पासुयदव्व तु पूदिकम्म त ।
चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगधत्ति पचविह ॥६॥
[मूलाचार अधि० ६]

मिश्रमप्रासुनाप्रासुद्रव्य पूतिकमिष्यते ।
चुल्लिको दूखलं दर्वी पात्र गधौ च पचधा ॥
[अनगारधर्मा० पृ० ३३६]

इत्यादि बहुत से समानार्थक पद्य हैं उन सबका ही यदि यहा उल्लेख किया जावे तो लेख बहुत विस्तृत हो जावेगा अत. नीचे हम उनकी केवल तालिका ही देते हैं—

मूलाचार अधिकार	अनगारधर्मामृत गाथा	पृष्ठ
५	११-१२	·····१९९
”	१६-१७	·····२००
”	१२७	··· ३१८
११	४	·····३२०

११	२-६-७	....३२१
,,	६-१०	.... ३२२
,,	१७-१८	.... ३२३
६	१३-१४	....३४१
,,	१५-१७	.... ३४२
,,	१८	....३४३
,,	१९ से २१	.... ३४४, ३४५
,,	२८ से ३०	....३४७
,,	३१	....३४८
,,	३३-३८	.... ३५०
,,	४०	....३५१
,,	४७	....३५२
,,	४८-५४	....३५४
,,	४ से ५९	....३५५
,,	५३	.... ३५६
,,	५७-७२	....३५७
,,	६६	.... ३७०
,,	६७-६८	....३७१
,,	१४७	....४७५
७	१५४	....४८२
५	१९२ से १९५	.... ५२१
,,	८३ से ८६	....५७४
७	१०१	....५७६
,,	११६	....५७८
,,	१२८	....५८२
,,	१२९ से १३३	.... ५८३
८	१३७-१३८	....५९०
,,		

७	१४०-१४१	... ५६१
,,	१४३ से १४६	... ५६२
,,	१५३	... ५६३
,,	१५६	.... ५६४
,,	१६०-१६१	.. ५६५
,,	१६२ से १६४	. ५६६
,,	१६७	... ५६७
,,	१५८	.... ,,
,,	१६६	.... ५६८
,,	१८७	... ६७५
,,	१६०-१६१	.... ६०६

यहां जो पृष्ठ संख्या दी गई है वह माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला मे छपे अनगारधर्मामृत की है। इस प्रकार मूलाचार की उक्त ८६ गाथायें ऐसी है जिनके अनुवाद रूप से संस्कृत पद्य अनगारधर्मामृत की टीका मे उद्धृत हुये हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि—किसी ग्रन्थकार के द्वारा संस्कृत पद्यो मे सारे ही मूलाचार का भावानुवाद किया गया है। उसी के ये उद्धरण आशाधरजी ने दिये हैं। किन्तु खेद इस बात का है कि आशाधरजी ने इतने उद्धरणो मे कही भी न तो ग्रन्थकार का उल्लेख किया और न ग्रन्थ के नाम का ही। आशाधरजी से पूर्व रचित इस ग्रन्थ का शास्त्र भण्डारो मे पता लगाना चाहिये। यह ग्रन्थ भी एक तरह से मूलाचार की संस्कृत पद्यमय टीका ही है। ग्रन्थ पठनीय और बड़ा उपयोगी जान पड़ता है। जहां तक संभावना है यह ग्रन्थ आचार्य अमितगति का होना चाहिये। अमितगति ने प्राकृत पंचसंग्रह और भगवती आराधना इन दो ग्रंथो की गाथाओ (आर्या छंदो) का संस्कृत अनुष्टुप् श्लोको मे अनुवाद

किया है (जो मुद्रित हो गये हैं) और यह अनुवाद भी मूलाचार की गाथाओं का संस्कृत अनुष्टुप्श्लोकों में एकसी शैली में ही है अत अमितगति कृत ही ज्ञात होता है। इसे एक तरह से "संस्कृत मूलाचार" कहना चाहिये। बहुत सी हस्तलिखित प्रतियों में मूलाचार को यत्याचार नाम से भी लिखा है, अतः इस नाम से भी शास्त्र भण्डारों में इस संस्कृत रूपान्तर ग्रंथ की खोज होनी चाहिये।

आशाधरजी ने जो इनके उद्धरणों में अमितगति का नाम नहीं दिया सो उन्होंने धर्मामृत ग्रंथ की टीका में अमितगति के अनेक ग्रंथों के उद्धरण दिये हैं पर कहीं भी अमितगति का नाम नहीं दिया है अत इन उद्धरणों में भी ऐसा ही किया गया है।



परकाया प्रवेश, एक सत्य घटना

उक्त शीर्षक का लेख, मथुरा से प्रकाशित होने वाली "अखण्ड ज्योति" पत्रिका के मई सन् १९७० के अक मे प्रकट हुआ है। वह यहाँ साभार उद्धत किया जाता है—

"सन् १९३९ की घटना है। एक दिन पश्चिमी कमान के सैनिक कमाण्डेन्ट श्री एल० पी० फैरेल अपने सहायक अधिकारियो के साथ एक युद्ध सम्बन्धी योजना तैयार कर रहे थे। वहाँ उनका कैंप लगा हुआ था। यह स्थान आसाम बर्मा की सीमा पर था। वही पास मे एक नदी बहती थी। एकाएक वहाँ स्थित फैरेल आदि कुछ लोगो का ध्यान नदी की ओर चला गया। वे क्या देखते हैं कि—एक महा जीर्णशीर्ण शरीर का वृद्ध सन्यासी पानी मे घुसा एक शव को बाहर खीच रहा है। कमजोर शरीर होने से शव ढोने मे उसे अडचन हो रही थी। हाँफता जाता था और खीचता भी। बडी कठनाई से शव किनारे आ पाया।

श्री फैरेल यद्यपि अँग्रेज थे पर अपनी बाल्यावस्था से ही आध्यात्मिक विषयो मे रुचि रखते थे। भारतवर्ष मे एक उच्च सैनिक अफसर नियुक्त होने के बाद तो उनके जीवन मे एक नया मोड आया। भारतीय तत्व दर्शन का उन्होने गहरा

अध्ययन ही नही किया बल्कि जिनकी भी जानकारी मिली उन सिद्ध महात्माओके पासजा जाकर अपनी जिज्ञासाओका समाधान भी करते रहे। धीरे २ उनका परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल और आत्मा की अमरता पर विश्वास हो चला था। यह घटना तो उनके जीवन मे अप्रत्याशित ही थी। और उसने उनके उक्त विश्वास को निष्ठा मे बदल दिया।

एक वृद्ध सन्यासी शव को क्यों खीच रहा है ? इस रहस्य को जानने की अभिलाषा रखते हुये सब लोग एक टक देखने लगे कि—वृद्ध सन्यासी इस शव का क्या करता है ?

वह सन्यासी उस शव को खीच कर एक वृक्ष की आड मे ले गया। फिर थोडी देर तक सन्नाटा छाया रहा। कुछ पता नही चला कि वह क्या कर रहा है ? कोई १५-२० मिनट पीछे ही दिखाई दिया कि वह युवक जो अभी शव के रूप मे नदी मे बहता चला आ रहा था उन्ही गीले कपडो को पहिने वृक्ष की आड मे से बाहर निकल आया और कपडे उतारने लगा। सम्भवत वह उन्हे सुखाना चाहता होगा।

मृत व्यक्ति का एकाएक जीवित हो जाना एक महान् आश्चर्य जनक घटना थी और एक बडा भारी रहस्य भी। जो श्री फैरेलके मन मे कौतूहल भी उत्पन्न कर रहा था और आशका भी। फैरेल के आदेश से उसी दम कुछ सशस्त्र सैनिको ने जाकर युवक को पकड लाकर श्री फैरेल के सुपुर्द कर दिया। युवक के वहाँ आते ही श्री फैरेल ने प्रश्न किया—"वह वृद्ध कहाँ है ?" इस पर युवक हँसा जैसे इस गिरफ्तारी आदि का उसके मन पर कोई प्रभाव ही न पडा हो। और फिर बोला "वह वृद्ध मे ही हू।"

लेकिन् अभी कुछ देर पहिले तो तुम शव थे, पानी मे बह रहे थे, एक बुड्ढा तुम्हे पानी मे से खीचकर किनारे पर ले गया था फिर तुम प्रकट हो गये यह रहस्य क्या है ? यदि तुम्ही वह वृद्ध हो तो उस वृद्ध का शरीर कहाँ है ?

युवक ने सन्तोष के साथ बताया कि हम योगी हैं। हमारा स्थूल शरीर वृद्ध हो गया था, काम नही देता था। अभी इस पृथ्वी पर रहने की हमारी आकाक्षा तृप्त नही हुई थी। किसी को मारकर बलात् शरीर मे प्रवेश करना तो पाप होता इसलिये बहुत दिन से इस प्रतीक्षा मे था कि कोई अच्छा शव मिले तो उसमे अपना यह पुराना चोला बदल ले। सौभाग्य से यह इच्छा आज पूरी हुई। मैं ही वह वृद्ध हू। यह शरीर पहिले उस युवक का था अब मेरा है। इस पर फैरेल ने प्रश्न किया तब फिर तुम्हारा पहला शरीर कहाँ है ?

सकेत से उस युवक शरीर मे प्रवेश धारी सन्यासी ने बताया—वह वहां पेड के पीछे अब मृत अवस्था मे पडा है। अब उसकी कोई उपयोगिता नही रही। थोडी देर बाद उसका अग्निसस्कार कर देने का विचार था पर अभी तो इस शरीर के कपडे भी मैं नही सुखा पाया था कि आपके इन सैनिको ने मुझे बन्दी बना लिया।

श्री फैरेल ने इसके बाद उस संन्यासी से बहुत सारी बातें हिंदू-दर्शन के बारे मे पूछी और बहुत प्रभावित हुए। वे यह भी जानना चाहते थे कि—स्थूल शरीर के अणु २ मे व्याप्त प्रकाश शरीर (चैतन्य) के अणुओ को किस प्रकार समेटा जा सकता है ? किस प्रकार शरीर से बाहर निकाला और दूसरे शरीर मे

अर्थ—जिन्होने इस पचमकाल मे गिरनार पर्वत के शिखर पर स्थित पाषाण की बनी सरस्वती देवी को उसके मुँह से बुलवाई, वे कुन्दकुन्दचार्य हमारी रक्षा करें।

इससे ध्वनित होता है कि ऋषि कुन्दकुन्द को भी परकाया प्रवेश की सिद्धि थी। ऐसी सम्भावना की जा सकती है।

आदिपुराण पर्व २१ श्लोक ६५ मे आचार्य जिनसेन ने कहा है कि—

"जिनकी इन्द्रिया वश मे नही हैं ऐसे असमर्थ साधुओ का मन यदि अति तीव्र प्राणायाम से व्याकुल होता है तो उनके लिये ध्यान मे मन्दमन्द उच्छवास लेने का निषेध नही है।"

इससे यही फलितार्थ निकलता है कि जैन साधुओ के लिये अगर प्राणायाम का निषेध है तो वह असमर्थों के लिये है। साधुमात्र के लिये सर्वथा निषेध नही है।

इस लेख के प्रारम्भ मे जो घटना उद्धृत की है उसमे चोला बदलने की- वृद्ध से युवा हो जाने की बात आई है। उस पर से कोई यह न समझले कि ऐसा करते २ तो वह कभी मरेगा ही नही ? यह तो जैन सिद्धान्त के विरुद्ध है। समाधान उसका यह है कि—यौगिक क्रिया से चोला बदलने वाला भी जितनी आयु पूर्व भव से लेकर आया है उससे अधिक जीवित नही रह सकता है। चोला बदलते वक्त जितनी आयु शेष रही है उतने काल तक ही उस बदले हुये शरीरो मे वह रह सकता है अधिक नही।

●

४१

नंदीश्वर द्वीप में ५२ जिनालय

प्रत्येक वर्ष मे तीन बार आष्टाह्निक पर्व आता है। इसको जैन शास्त्रो मे "महापर्व" माना है। और इस अनाद्य-निधन महापर्व का बडा माहात्म्य वर्णन किया है, (आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ३२—आष्टाह्निको मह सार्वजनिको रूढ एव स.। धवला पुस्तक १ पृष्ठ २६ जिन महिम सबद्ध कालोऽपि मगलं यथा—नदीश्वर दिवसादि। तिलोयपण्णत्ती अधिकार १ गाथा २६ जिण महिमा सम्बन्ध णदीसर दीव पहुदीओ।) जैनधर्म की बहुत सी प्राचीन कथाओ मे इस पर्व का उल्लेख मिलता है। कथा ग्रन्थो के अलावा करणानुयोगी ग्रन्थो मे भी कथन आता है कि इस धार्मिक पर्व मे देवगण भी नदीश्वर द्वीप मे जाकर वहा के अकृत्रिम ५२ जिनालयो मे बडी भक्तिभाव से भगवान् अर्हत की आठ दिन तक पूजास्तुति करते हैं।

इन ५२ जिनालयो का स्थान कहा पर किस तरह है? और उनकी ५२ सख्या किस प्रकार होती है? इस विषय मे साधारण जन तो क्या 'पण्डित' कहलाने वाले भी भूल करते दिखाई देते हैं। इसलिये इच्छा हुई कि इस सम्बन्ध मे यथार्थ परिज्ञान कराया जावे।

जबूद्वीप से ८ वे नदीश्वर द्वीप के ठीक बीच मे पूर्व दिशा

मे इद्रनील मणिका एक 'अजन' नामक पर्वत है। यह पर्वत ८४ हजार योजनका ऊचा और इतनाही चौडा गोल है। यानी समवृत्त कहिये नीचे से ऊपर तक बराबर गोल है। जिसकी नीव एक हजार योजन की है। इस पर्वत के ऊपर और तलहटी मे विचित्र वनखड है। इस पर्वत की तलहटी मे पर्वत की चारो दिशाओ मे पर्वत से एक लाख योजन की दूरी पर चार जलपूर्ण वापिकाये है। ये वापिकाये एक लाख योजन की लम्बी चौडी समचौकोर है और एक हजार योजन की ऊची हैं। इनके जल मे जलचर जीव नही हैं। फूले हुये कमलादिको से वहा का जल सुगधित रहता है। प्रत्येक वापिका की पूर्वादिक् चारो दिशाओं मे क्रम से अशोकवन, सप्तच्छदवन, चपकवन और आम्रवन ये चार वन है। ये वन एक-एक लाख योजन के लम्बे आध-आध लाख योजन के चौडे हैं। जिस वन का जो नाम है उसी नाम का उसमे एक-एक चैत्यवृक्ष होता है।

उक्त चारो वापिकाओ मे बीचोबीच दही के समान सफेद रग का एक-एक दधिमुख पर्वत है। ये चारो पर्वत दश २ हजार योजन के ऊचे, इतने ही चौड़े समवृत्त खडे ढोल की तरह के गोल है। इनकी नीव एक-एक हजार योजन की है। इनके ऊपर विविध वन है।

इन्ही वापिकाओ मे प्रत्येक वापी के जो चार कोणे हैं उनमे दो कोणे तो भीतर अजनगिरी की तरफ है। और दो कोणे बाहर की तरफ हैं। बाहर की तरफ के प्रत्येक कोणे के निकट एक-एक रतिकर पर्वत हैं। चारो वापिका सम्बन्धी बाहर के ८ कोणों के निकट ८ रतिकर पर्वत समझने। ये रतिकर सोने के रग के है। प्रत्येक की ऊचाई एक हजार योजन की है, इतनी

ही इनकी चौडाई है। अढाई सौ योजन की नीव है। ये भी सब समवृत्त हैं और इन पर भी वन खड हैं।

इस प्रकार एक अजनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकर इन पर्वतो पर मध्य मे उत्तम एक-एक रत्नमय जिन मन्दिर स्थित है। ये नदीश्वर द्वीप के पूर्वदिशावर्ती १३ जिनालय हुये। इसी तरह तेरह २ जिन मन्दिर नदीश्वरद्वीप मे शेष तीन दिशाओ मे भी हैं। इस प्रकार कुल ५२ अकृत्रिम जिनालय होते हैं। ये जिनालय एक सौ योजन के लम्बे, पचास योजन के चौडे, पचहत्तर योजन के ऊचे है। इनको नीव आध योजन की है। प्रत्येक जिनमन्दिर मे १०८ गर्भगृहो मे १०८ रत्नमयी प्रतिमायें विराजमान हैं। वे प्रतिमाये पाच सौ धनुष, ऊची, (यह ऊचाई बैठी प्रतिमा की है। देखो त्रिलोक प्रज्ञप्ति अधिकार ४ गाथा १८७१ और १८७७। तथा लोक विभाग अध्याय १ श्लोक ७६६।) सिहासन छत्रादि सयुक्त हैं। उनके नीले केश, सफेद दात, मूगे की तरह के लाल होठ व रक्तवर्ण के हस्तपादतल होते है। सब प्रतिमाये दशताल के लक्षणो से युक्त है।

रतिकर पर्वतो की संख्या

त्रिलोक प्रज्ञप्ति के ५ वें अधिकार मे इस विषय का वर्णन करते हुये जिस गाथा मे रतिकर पर्वतो की सख्या का निर्देश किया है वह गाथा यह है—

वावीण बाहिरेसु दोसु कोणेसु दोण्णि पत्तेक्कं।
रतिकरणामा गिरिणो कणयमया दहिमुह सरिच्छा ॥६७॥

इसका अनुवाद श्री प० बालचन्दजी शास्त्री ने इस प्रकार किया है —

"वापियो के दोनो बाह्य कोनो मे से प्रत्येक मे दधिमुखों के सदृश सुवर्णमय रतिकर नामक दो पर्वत हैं।"

श्री प० सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर ने "नदीश्वर दर्शन" ट्रेक्ट लिखा है, उसके पृष्ठ १७ पर इसी अनुवाद का अक्षरशः अनुसरण किया है।

किन्तु यह अनुवाद ठीक नही है। इस अनुवाद के अनुसार एक कौणे मे दो रतिकर होने से दो कौणे मे चार रतिकर एक वापिका सम्बन्धी हुये तो चारो वापियो के १६ रतिकर होंगे। इनमे अजन और दधिमुखो की ५ सख्या मिलाने पर २१ सख्या एक दिशावर्ती नदीश्वर द्वीप के चैत्यालयों की हो जायेगी जो कथमपि योग्य नही है। क्योकि नदीश्वर की एक दिशा मे १३ जिनालय होना आगम प्रसिद्ध है। स्वय ग्रन्थकार ने ही आगे गाथा ७० मे रतिकरो की सख्या आठ ही लिखी है। अनुवाद को ठीक मानने पर ग्रन्थ मे पूर्वापर विरोध उपस्थित होता है। साथ ही अनुवाद मे "रतिकरो को दधिमुखो की तरह सुवर्णमय (पीले रग के) लिखे हैं।" यह अर्थ भी ठीक नही है क्योकि गाथा ६५ मे दधिमुखो को दही के रग के (सफेद) लिखे हैं।

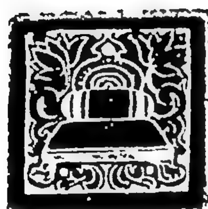
अत उक्त ६७ वी गाथा का सही अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—"वापियो के दोनो बाह्य कोणो मे प्रति कोण मे एक एक के हिसाब से दो रतिकर पर्वत है। वे कनकमय हैं और दधिमुखो के समान वे भी गोल है, उन पर भी विविध वन हैं।"

त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे इसी प्रकरण मे गाथा ६९ मे लोक-विनिश्चयकर्त्ता का मत दिया है। जिसमे प्रत्येक वापी के चार कोणो मे चार रतिकर पर्वत लिखे है। ऐसा कथन तत्वार्थ-राजवार्तिक (अध्याय ३ सूत्र ३५ की टीका) और हरिवंश पुराण (सर्ग ५ श्लोक-६७५) मे भी किया है। किन्तु इन दोनो ही ग्रन्थो मे यह स्पष्ट कर दिया है कि—इन ६४ रतिकरो मे से बाह्यकोणो वाले ३२ रतिकरो पर ही ३२ जिनालय है। अभ्यतर कोणो के ३२ रतिकर तो देवो के क्रीडा स्थान है। इस बात को न समझकर हरिवंशपुराण के पृष्ठ ११६ (ज्ञानपीठ से प्रकाशित) पर अनुवादक ने वहा टिप्पणी देकर इस कथन को भ्राति पूर्ण बता दिया है। जो ठीक नही है।

श्वेताम्बर ग्रन्थ लोक प्रकाश के २४ वे सर्ग मे इस सम्बन्ध मे कुछ विशेष कथन निम्न प्रकार किया है—

देवरमण, नित्योद्योत, स्वय प्रभ, और रमणीयक ये चार अजनगिरियो के नाम है। आकार इनका गोपुच्छ सदृश है। नीचे से ऊपर चौडाई मे कम होते चले गये हैं। ऊंचाई इनकी ८४ हजार योजन की है। पृथ्वी पर चौडाई १० हजार योजन की और मस्तक पर १ हजार की है। वापिका के चारो ओर के वनों की लम्बाई एक लाख योजन की और चौडाई पांचसौ योजनों की है। दधिमुख पर्वतो की ऊंचाई ६४ हजार योजनो की है। वापियो के अन्तराल मे दो-दो रतिकर पर्वत है। नदीश्वर द्वीप की प्रत्येक दिशा मे तेरह २ के हिसाब से कुल ५२ जिनालय चारो दिशाओ मे है। जिनालयो की ऊचाई ७२ योजन की है।

प्रत्येक मन्दिर के देवच्छदक मे प्रत्येक दिशा मे २७-२७ जिन प्रतिमायें रत्नमय सिंहासनों पर पर्यंकासन से विराजमान हैं। एक मन्दिर मे १०८ प्रतिमायें है। ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानन और वारिषेण ये उनके नाम है। अर्थात् एक दिशावर्ती २७ प्रतिमाये ऋषभ नाम की हैं इसी तरह शेप ३ दिशाओ मे स्थित २७-२७ प्रतिमाओ के वर्द्धमान आदि ३ नाम समझ लेना।



तिलोयपण्णत्ती - अनुवाद पर गलत स्पष्टीकरण

हमने 'जैनगजट' २१-८-६७ मे एक लेख-"नंदीश्वर द्वीप मे ५२ जिनालय" शीर्षक से प्रकाशित कराया था, उसमें हमने तिलोयपण्णत्ती अधिकार ५ गाथा ६७ के अनुवाद को गलत बताया था। उस पर श्री अनुवादक जी सा० ने सितम्बर ६७ के 'जैनगजट' मे एक 'स्पष्टीकरण' प्रकाशित कराते हुए यहाँ तक लिखा है कि-'उस अनुवाद मे कुछ भूल नही दिखी।" इसका मतलब यह हुआ कि—हमने जो अनुवाद की भूलें प्रदर्शित की थी वे गलत थी किन्तु ऐसा नही है। अनुवादकजी का स्पष्टीकरण भी उस अनुवाद की भूलो को नही मिटा सका है, हम उसी पर प्रकाश डालते हैं।

उक्त गाथानुवाद इस प्रकार है:—

"वापियो के दोनो बाह्य कोनो मे से प्रत्येक मे दधिमुखों के सदृश सुवर्णमय रतिकर नामक दो पर्वत हैं।"

हमने इस पर यह आपत्ति की थी कि—दोनो बाह्य कोनो मे से प्रत्येक मे दो रतिकर के हिसाब से चार रतिकर हो जायेंगे जब कि होने चाहिए दो ही, अत अनुवाद सदोष है।

इस पर अनुवादकजी ने स्पष्टीकरण किया है कि—"अनुवाद मे 'दो-दो' ऐसी द्विरुक्ति नही है, अत उसका अभिप्राय यही है कि—वापियो के बाह्य दो कोनो मे से प्रत्येक मे रतिकर पर्वत है जो सख्या मे दो होते हैं।"

समीक्षा—यह स्पष्टीकरण भी निरर्थक है क्योकि—दो-दो ऐसी द्विरुक्ति से तो सिर्फ स्पष्टता होती है बिना द्विरुक्ति के भी अर्थ वही होता है जो द्विरुक्ति के होने पर होता है। अगर ऐसा नही मानेगे तो तिलोयपण्णत्ती की निम्नाकित गाथाओ केआपके द्वारा किए अनुवाद भी उलटे गलत हो जायेंगे।

देखो अधिकार ६ गाथा ७१ का अनुवाद—"इस प्रकार ये प्रत्येक इन्द्रो के सात सेनाये होती हैं"।

यहाँ अगर 'सात' सख्या मे द्विरुक्ति नही होने से आपके स्पष्टीकरणानुसार सब इन्द्रो की कुल मिलाकर-सात ही सेनाये माने तो बिलकुल गलत होगा अत 'प्रत्येक' शब्द के साथ मे होने से ७ की सख्या सब इन्द्रो के साथ अलग-अलग लागू होगी। प्रत्येक शब्द ही स्वत द्विरुक्ति को द्योतित कर देता है अत. ऐसे स्थलो मे द्विरुक्ति के होने न होने से कोई अन्तर नहीं पडता।

"प्रत्येक" शब्द के साथ जहाँ संख्यावाची शब्दो मे दिरुक्ति नही की गई है ऐसे आप ही के द्वारा किये गाथानुवाद निम्न प्रकार हैं—

अधिकार ६ गाथा ७४-७५। अ० ८ गाथा २३२-२३३, २६३ से २६५, ३१०-३११-३१८, ३२१-३२२।

इनमे विना द्विरुक्त सख्या के भी अर्थ वही होता है जो द्विरुक्ति के होने पर होता है।

अगर आपके स्पष्टीकरण को ठीक माना जायेगा तो आपके ये सब गाथानुवाद गलत हो जायेंगे। क्योंकि उसके अनुसार दो बाह्य कोनो मे से प्रत्येकमे दो (और आपके स्पष्टीकरण के मुताबिक दो-दो) रति कर के हिसाब से चार रतिकर होते है। इसके सिवाय अन्य अर्थ उस अनुवाद के शब्दो से फलित नही होता इस वास्ते वह अनुवाद गलत ही मानना चाहिए। उसकी शब्द योजना ऐसी होनी चाहिए थी कि जिससे दो ही रतिकर का अर्थ निकलता किन्तु ऐसा है नही।

आपका स्पष्टीकरण विकल, भ्रात होने से गलत है अत. शुद्ध शब्द योजना इस प्रकार होनी चाहिए थी कि– 'वापियो के बाह्य दो कोनो मे से प्रत्येक मे (प्रति कोने मे) एक-एक के हिसाब से दो रतिकर पर्वत हैं।' आगे आप लिखते है —

"दूसरी आपत्ति उनके रग के विषय मे प्रकट की गई है सो यदि "दधिमुखो के सदृश सुवर्ण मय" इन शब्दो मे सुवर्णमय विशेषण को पृथक स्वतत्र ही रखकर जैसा कि रहा भी है–दधिमुखो के सदृश इतना ही पृथक् विशेपण ले तो उसका अभिप्राय ठीक ग्रहण हो सकता है।"

समीक्षा—आपका यह लिखना भी ठीक नही क्योंकि— "दधिमुखो के सदृश" इस वाक्य के आगे कॉमा' अथवा "और" शब्द लगा होता तो यह पृथक् विशेषण हो सकता था किन्तु इनका वहाँ अभाव है अत उक्त अनुवाद का यह कथन भी सदोष है।

आपके स्पष्टीकरण के "जैसा कि रहा भी है" ये वाक्य तो और भी ज्यादा मिथ्या व आपत्तिजनक हैं। आप अपने मन मे चाहे जो अर्थ धारे रहे किन्तु अगर शब्द सयोजन गलत है तो उससे गलत ही अर्थ निकलेगा। शब्द-गठन ऐसा होना चाहिए कि – जिससे कोई दूसरा, विपरीत, भिन्न, व्यर्थ, आपत्तिजनक एव भ्रात अर्थ नही निकल सके तभी वह कथन या लेखन निर्दोष हो सकता है अन्यथा नही।

तिलोयपण्णत्ती के अनुवाद मे किस प्रकार से गलतियाँ की गई है इसका एक नमूना और प्रस्तुत करते है :—

सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण सणक्कुमारजक्खाणं।
रूवाणि मणहराणि रेहति जिणिद पासेसु ॥४८॥
[अधि० ७]

अनुवाद—जिनेन्द्र प्रासादो मे श्रीदेवी श्रुतदेवी और सब सनत्कुमार यक्षो की मनोहर मूर्तिया शोभायमान होती है।

समीक्षा—इस अनुवाद मे–"जिनेन्द्र प्रासादो मे" के स्थान मे 'जिनेन्द्र के दोनो पार्श्वभागो मे तथा "और सब" की जगह "सर्वाण्ह और" ये वाक्य होने चाहिये प्रमाण के लिये देखो

(१) सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण्ह
सणक्कुमार जक्खाणं।
रूवाणि य जिण पासे मगल
मट्ठ विह मवि होदि ॥९८८॥
तिलोयसार [नेमिचद्राचार्य]

(प० टोडरमलजी कृत अनुवाद '—तिन जिन-प्रतिमानि के पार्श्व विषै श्री देवी सरस्वती देवी अर सर्वाण्ह यक्ष अर सनत्कुमार यक्ष इनके प्रतिबिंब हो है)

(२) सनत्कुमार सर्वाण्हयक्षयो प्रतिबिंबके।
श्री देवी श्रुतदेव्योश्च प्रतिबिंबे जिनपार्श्वयो. ॥२९८॥
[विभाग १ लोक विभाग (सिंहसूरषि)]

(अर्थ '—प्रत्येक जिनबिंब के दोनो पार्श्वभागो मे सनत्कुमार और सर्वाण्ह यक्षो के तथा श्री देवी और श्रुतदेवी के प्रतिबिंब होते हैं)।

(३) तिलोयपण्णत्ती अधिकार ४ गाथा १६३६ इसमे भी इसी प्रकार का कथन है इसमे आपने 'सव्वाण' का 'सर्वाण्हयक्ष' ऐसा ठीक अर्थ किया है। किन्तु उसके बाद के अधिकार ७ गाथा ४८ मे गलत अर्थ कर गये हैं जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया है। तिलोयपण्णत्ती के माननीय अनुवादकजी सा० एक बहुश्रुत विद्वान् हैं। उन्होने अनेक उच्चकोटि के जैन ग्रन्थो का हिन्दी अनुवाद सपादनादि अत्यत परिश्रम से करके पाठको का महान् उपकार किया है।

यह लेख लिखने का हमारा शुद्धाशय यही है कि—महान् ग्रन्थो के अनुवादादि में कहीं-कहीं गलतियाँ हो जाना बहुत कुछ सभव है। अत. किसी के द्वारा उन गलतियो के बताये जाने पर अगर वे वास्तविक है तो विद्वान् को कभी नाराज नहीं होना चाहिए और सावधानी के साथ श्रुत सेवा मे सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

शास्त्रो मे उत्तरोत्तर लिपिकार-प्रतिलिपिकार-सपादक-

अनुवादक और मुद्रक☆आदि के प्रमाद व दृष्टिदोषादि से अनेक भूलें हो जाती है, अत ग्रन्थो को शुद्ध रूप से पठन-पाठन करना चाहिए तभी लाभ होगा।

☆ मुद्रण मे कैसी-२ गलतियां होती है इसका १ नमूना प्रस्तुत करते हैं —

भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी से प्रकाशित उत्तर पुराण पर्व ६८ श्लोक ३७८ मे-' सप्नपच" शब्द छपा है और अनुवाद मे इसका अर्थ "विस्तार के साथ" किया गया है किन्तु दोनो का सामजस्य नही बैठता अनुवाद तो सगत मालूम होता है पर छपा हुआ मूल शब्द असगत मालूम होता है। जब इस पर विचार किया गया तो यह निश्चय हुआ कि—यहा 'सप्रपच' शुद्ध शब्द होना चाहिए। क्योकि प्रपंच का अर्थ विस्तार होता है अत सप्रपच का अर्थ विस्तार के साथ' ठीक है।



४३

भगवान् की दिव्यध्वनि ।

अपनी वाक्य रूप अविरल जलधारा से समस्त भूमण्डल के कलंक को धो डालने वाली और जीवो के अज्ञान मुद्रित नेत्रो को ज्ञान की अंजन शलाका से खोल डालने वाली भगवती सरस्वती देवी का आविर्भाव पूज्य अर्हन्तदेव से होता है, जो निर्दोष, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते है, और आप्त कहलाते हैं। ऐसी आप्तता महावीर तीर्थंकर ने तीस वर्ष गृहस्थी के बाद दीक्षा लेकर बारह वर्ष की घोर तपस्या से प्राप्त की थी। भगवान् महावीर को वैशाख शुक्ला १० को सायकाल मे केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। जिसके फल स्वरूप आप्त का महानपद आप को मिल चुका था। आप्त का जो हितोपदेशी गुण है उसके प्रस्फुटित होने मे अभी देरी थी।

जिनसेन कृत हरिवश पुराण मे लिखा है कि—

षट्षष्टि दिवसान् भूयो, मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम् ॥६१॥

[दूसरा सर्ग]

अर्थ केवल ज्ञान के बाद वीर प्रभु ६६ दिन तक मौन से विहार करते हुये जगत् विख्यात राजगृह नगर को आये।

इन्द्रनंदि कृत श्रुतावतार कथा मे भी ऐसा ही लिखा है—

सुर नर मुनि वृंदारक वृंदेष्वपि समुदितेषु तीर्थकृतः।
षट्षष्टिरहानि न निर्जगाम दिव्यध्वनिस्तस्य ।।४२।।

अर्थ—देव-मनुष्य-मुनिगणों के इकट्ठे होते हुये भी उन वीर तीर्थंकर की दिव्यध्वनि ६६ दिन तक नही निकली।

गुण भद्रकृत उत्तर पुराण मे इस सम्बन्ध मे यद्यपि दिनों की कोई सख्या नही लिखी है तथापि उसके निम्न पद्य से वाणी के न खिरने की बात जरूर मिलती है—

अथ दिव्यध्वनेर्हेतु, कोऽसावित्युपयोगवान्।
तृतीयज्ञाननेत्रेण ज्ञात्वा, मां परितुष्टवान् ।।३५६।।
[सर्ग ४]

अर्थ—गौतमगणधर कह रहे हैं कि—केवल ज्ञान के बाद जब वीर जिनकी दिव्यध्वनि नही खिरने लगी। तब इन्द्र ने "दिव्यध्वनि का कारण क्या है ?" इस पर उपयोग लगाया तो अवधिज्ञान से मुझे (गौतम को) जान कर सतुष्ट हुआ।

लेकिन मंडलाचार्य श्री धर्मचन्द्र रचित "गौतम चरित्र" मे सिर्फ एक प्रहर तक वाणी के न खिरने की बात कही है। यथा—

याममात्रे व्यतिक्रांते, सिंहासन प्रसस्थिते।
अथ श्रीवीरनाथस्य, नाभवद् ध्वनिनिर्गमः ।।७२।।

अर्थ—वीरनाथ को प्रहर भर तक सिंहासन पर विराजे होगये (चतुर्थ अधिकार) तथापि ध्वनि नही निकली।

फिर गौतम के आने से भगवान् का उपदेश होना शुरू हुआ था। उपदेश सुनने के लिये भगवान् के सब तरफ गोलाई मे श्रोतागणो के बैठने के अलग-अलग बारह स्थान बने हुये रहते है। जिनमे देव मनुष्य और सज्ञी तिर्यञ्चो की अगणित सख्या रहती है। यह सभास्थान शास्त्रो मे "श्री मडप" के नाम से कहा गया है जो एक योजन लम्बा और एक योजन चौडा गोल होता है। वहा भगवान् बीचोबीच एक ऊचे सिहासन पर उपदेश देने को विराजते है। भगवान् के विराजने का स्थान गधकुटी कहलाता है भगवान् का उपदेश पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न कल और अर्द्ध रात्रि इन चार वक्त छह छह घडी तक नियम से होता रहा है। इन्द्र आदि के प्रश्न से इन से अतिरिक्त काल मे भी उपदेश हो जाता है। जैसा कि शुभचन्द्र रचित 'अग प्रज्ञप्ति' की इन गाथा से प्रकट है—

तित्थयरस्स तिसंञ्झे णाहस्स,
सुमज्झिमाय रत्तीए।
बारह सहासु मज्झे छग्घडिया,
दिव्व झुणि कालो ॥४१॥
होदि गणि चक्किमहवय ण्हादो,
अण्णदावि दिव्व झुणि।

[प्रथम अधिकार]

अर्थ तीर्थंकर नाथ का बारह सभाओ मे दिव्यध्वनि काल तीनो सध्या और अर्द्ध रात्रि मे छह २ घडी का है। तथा गणधर, चक्रवर्ति, इन्द्र, के प्रश्न से अन्य समय मे भी दिव्यध्वनि हो जाती है।

विष्णुसेन रचित समवशरण स्तोत्र के अन्तर्गत उक्त च गाथा और अनागार धर्मामृत पृष्ठ ८ मे भी ऐसा उल्लेख है ।

भगवान् की वाणी मे ऐसा अतिशय पैदा हो जाता है कि उस के उच्चारण मे भगवान् के तालु ओष्ठ आदि नहीं हिलते है। मुख पर कोई विकार (हरकत) नजर नहीं आता है। श्वास का निरोध भी नही होता है। भगवान् की बिना इच्छा के मेघ गर्जना की तरह निरक्षरी ध्वनि निकलती है जो एक योजन तक सबको एकसमान साफ सुनाई देतीहै । सुनाई देते वक्त वह साक्षरी हो कर श्रोताओं की अपनी २ भाषा में परिणत हो जाती है। इत्यादि गुणो के कारण ही वह "दिव्यध्वनि" इस नाम से कही जाती है। इस प्रकार का वर्णन अनेक जैन ग्रथो मे पाया जाता हैं उन मे से कुछ मुख्य २ प्रमाण हम यहा दे देना उचित समझते हैं :—

आचार्य जिनसेन आदि पुराण मे कहते हैं—

अपरिस्पन्द ताल्वा, देरस्पष्ट दशन द्युतें ।
स्वयंभुवो मुखां भोजा, ज्जाता, चित्रं सरस्वती ।।१८४।।
विवक्षया विर्नवास्य दिव्यो,
वाक्प्रसरो ऽभवत् ।।१८५३।।
एक रूपापि तद्भाषा श्रोतृन, प्राप्य पृथग् विधान् ।
भेजे नानात्मतां कुल्या जल, स्तु तिरिवाध्रियपान् ।।१८७।।
[पर्व १]

दिव्य महाध्वनिरस्य मुखाब्जा,
न्मेघरवानुकृति निरगच्छत् ।।६८-१।२।। पर्व २३

अर्थ—तात्वादि न हिले और दातो की क्राति प्रकट न

हुई तथापि आश्चर्य है कि स्वयभू के मुख कमल से सरस्वती पैदा हुई। कहने की इच्छा विना ही उनके दिव्यवाणी प्रकट हुई। वह वाणी एक रूप थी तो भी श्रोताओ को पाकर अलग अलग रूप हो जाती थी। जैसे कि नहर का वहता हुआ जल वृक्षो मे जाकर अनेक रूप हो जाता है। उनके मुख कमल से दिव्यध्वनि मेघ शब्द की तरह निकलती थी।

भाषा भेद स्फुरत्या स्फुरण विरहित,
स्वाधरोद्भाषयाच ॥११७॥
[सर्ग ५६]

सदिव्यध्वनिना विश्व संशयच्छेदिना जिन· ।
दुंदुभिध्वनिधीरेण योजनांतर यायिना ॥६०॥
[सर्ग २ 'हरिवश पुराणे जिन सेन"]

इसमे दिव्य ध्वनि को अनेक भाषा रूप होने वाली, वगैर होठ हिले पैदा हुई। दु दुभि की ध्वनि के समान गम्भीर और एक योजन तक सुनी जाने वाली बताई है।

ओष्ट तालु आदिके हिले बिना अक्षर पैदा नही हो सकते ऊपर के प्रमाणोमे ओष्टताल्वादिका न हिलना भगवान के बताया ही है इसी से उनकी वाणी का निरक्षरीपणा अनायास सिद्ध हो जाता है। तथा उपर्युक्त प्रमाणो मे उनकी ध्वनि को मेघ और दु दभिकी ध्वनि वत् वतलाना भी वैसा सिद्ध करता है। तथापि हम यहां ऐसे प्रमाण भी दे देते है जिनमे स्पष्ट ही निरक्षरी वाणी लिखी है—

गंभीरं मधुर मनोहरतरं, दोषैरपेतं हितं ।
कंठौष्टादिवचो निमित्त, रहित नो वात रोधोद्गतम् ।

स्पष्टं तत्तदभीष्ट वस्तु, कथकं नि. शेषभाषात्मक ।
दूरासन्न समं सम निरूपम जन बच पातु न. ।।२६।।
यत् सर्वात्महित न वर्ण, सहितं न स्पंदितौष्ठद्वयं ।
नो बाछा कलितं न दोष, मलिनं न श्वासरुद्ध क्रमम् ।
"विष्णुसेन कृत समवशरण स्तोत्र"*

यहा वाणी को निरक्षरी बतलाते हुये उक्त पुराण द्वय से इतना और विशेष लिखा है कि वह वाणी दूर और नजदीक एकसी सुनाई देती है और उसके निकलते वक्त भगवान के हवा का रुकना और निकलना नही होता है और न श्वास का रुकना होता है ।

प. आशाधरजीने भी अपने अनगारधर्मामृत प्रथम अध्याय श्लोक २ की व्याख्या मे ध्वनि को निरक्षरी बतलाते हुये प्रमाण मे इसी "समवशरणस्तोत्र" का उक्त श्लोक दिया है ।

'नष्टो वर्णात्मको ध्वनि.' ।।६।।
'आप्तस्वरूप' नामकग्रथ *
'ध्वनिर्ध्वनस्य क्रम वर्ण रूपो' ।।१८।।
वादिराज कृत 'ज्ञान लोचन स्तोत्र'*

इन दोनो ग्रथो मे भी निरक्षरी ध्वनि लिखी है ।

कुछ लोग समझते हैं कि पुराण और स्तोत्र ग्रन्थों मे इस प्रकार की बाते बढा कर लिखी गई हैं। ऐसे लोगो की मनस्तुष्ठि के लिये हम यहा अन्य ग्रन्थों के प्रमाण रख देते है—

---

*ये तीनो ग्रथ 'सिद्धांतसारादि संग्रह' में छप चुके हैं ।

'अनक्षरात्मकस्तु द्विन्द्रियादि तियग्
जीवेषु सर्वज्ञदिव्यध्वनौ च'
[वृहद्द्रव्य सग्रह पृष्ठ ४५]

अर्थ—द्वीन्द्रीयादि तिर्यंच जीवो और सर्वज्ञ की दिव्य-ध्वनि मे अनक्षरात्मक भाषा होती है।

अट्ठरस महाभासा खुल्लय, भासाहि सत्तसय संखा।
अक्खर अणक्खरप्पय सण्णी, जीवाण सयल भासाउ ॥६१॥
रादांसि भाषाणं तालु, वदन्तोट्ठ कंठ वावारं।
परिहरिय एक्क काल, भव्व जणाणं दकर भासो ॥६२॥
[त्रिलोक प्रज्ञप्ति प्रथमोधिकार]

अर्थ—अठारह महा भाषाये और सात सौ क्षुल्लक भाषायें ये सब अक्षर अनक्षरात्मक भाषायें सज्ञा जीवो की होती हैं। ये सब भाषाये तालुदन्त ओष्ठ कण्ठ के व्यापार बिना एक ही काल मे दिव्यध्वनि मे प्रकट होती है।

कुछ लोगो का ऐसा खयाल है कि शास्त्रो मे भगवान् की वाणी को अनेक भाषात्मक लिखा है उसका मतलब यह है कि भगवान् जुदे-२ समय मे जुदी २ भाषाओ मे उपदेश देकर सभी भाषा विज्ञो को अपना वक्तव्य समझा देते है। ऐसे खयाल का त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे "एक्क काल" शब्द देकर खडन कर दिया है। और यह जाहिर किया है कि भगवान की एक ही काल मे प्रकट हुई वाणी अनेक भाषा रूप हो जाती है। आदि पुराण पर्व २५ मे भी 'चित्र वाचा विचित्राणाम क्रम प्रभव प्रभो" ॥३२॥ पद मे प्रभु के विचित्र भाषाओ की उत्पत्ति एक ही साथ होना बताई है।

जयन्ति यस्याऽ वदतोऽपि भारती ।
विभूतय स्तीर्थंकृतोऽप्यनी हितु ॥१३॥
[समाधिशत के पूज्यपाद]

अर्थ—तालु ओष्ठ से हम लोगो के समान न बोलते हुए भी व विना किसी प्रकार की इच्छा रखते हुए भी जिस तीर्थंकर की वाणी रूप विभूतिये जयवन्त हैं।

"सयोग केवलि दिव्यध्वने कथ सत्यानुभयवाग्योगत्व मिति चेत तन्न तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृ श्रोत्रप्रदेशप्राप्ति समय पर्यन्तमनुभय भाषात्वमिद्धे । तदनतरच श्रोतृजनाभि प्रेतार्थेषु संशयादिनिरा करणेन सम्यग्ज्ञान जनकत्वेन, सत्य-वाग्योगत्वसिद्धेश्च तस्यापि तदुभयत्व घटनात् ।"

यह गद्य गोम्मटसार सस्कृत टीका योग मार्गणाधिकार मे पाई जातीहै । इसमे ' सयोग केवली की दिव्यध्वनिके सत्य और अनुभय वाक योग कैसे है ।" इस प्रश्न का उत्तर देते हुये वताया ह कि वह वाणी अनक्षरात्मक उत्पन्न होती है और श्रोताओ के कान तक पहुँचने पर्यन्त अनक्षरात्मक ही रहती है । तब तक वह अनुभय भाषा कहलाती है । फिर श्रोताओ के कान मे जाकर आक्षर हो जाती है जिस से श्रोताजनो के संशयादि दूर होकर सम्यग्ज्ञान पैदा हो जाता है, तव वह सत्य भाषा कहलाती है। इस तरह दिव्यध्वनि के सत्य और अनुभय दोनो वाग्योग घटित होते हैं ।

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते, श्रोत्रहृदयहारि गभीरः ।
ससलिल जलधर पटल ध्वनित, मिव प्रविततान्तरा शावलयम् ॥
[दश भक्ति पाठातर्गत नदीश्वर भक्ति]

इसमे दिव्यध्वनि को एक योजन तक फैलने वाली सजल बादलो की गर्जना के समान बताई है।

जैनधर्म के प्राणस्वरूप श्री समंत भद्राचार्य भी ध्वनि को बगैर इच्छा पैदा होने वाली और सब जीवो की भाषा बन जाने रूप स्वाभाव वाली द्योतित करते हैं —

"काय वाक्य मनसां प्रवृत्तयो,
नाभवस्तव मुनिश्चिकीर्षया" ॥७४॥
"तव वागमृतं श्रीमत्सर्व,
भाषा स्वभावक" ॥८७॥*
[स्वयभूस्तोत्र]

इस प्रकार एक नही सैकडों प्राचीन अर्वाचीन जैन शास्त्रों में दिव्यध्वनि का इसी तरह का वर्णन मिलता है। और तो क्या श्वेताबरों के प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र भी अपने अभिधान चिंतामणि कोश मे ऐसा ही कथन करते है—

इसी कांड मे आगे श्लोक ६५ से ७१ तक भगवान की वाणी के ५ अतिशय बतलाते हुये ३३ वां अतिशय "वर्ण पद वाक्य विविक्तता" नाम का कहा है। उसकी व्याख्या उन्होने "वर्णादीना विच्छिन्नत्व" की है। जिसका साफ अर्थ यह होता

+"दुंदुभिरासन योजन घोषी" शांति पाठ के इस वाक्य मे भी ध्वनिका एक योजन तक जाना कहा है।

* प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्र मे भी कहा है–' दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व भाषा स्वभाव परिणाम गुणं प्रयोज्य ।" "वाणी नृतियंक्सुर लोक भाषा, सवांदिनी योजनगामिनी च" ॥५६॥ ' प्रथम कांड"

है कि भगवान की वाणी मे अक्षरादि नही होते ।

अष्ट सहस्री पृष्ठ ७३ मे पर वादी ने शका की है कि "विना इच्छा के बोलना नही हो सकता" इसका उत्तर देते हुये निम्न कारिका वहा लिखा है—

"ततश्चैतन्य करण पाटव, योरेव साधक तमत्वम् ।"

इस मे वतलाया है कि वोलने मे इच्छा कारण नहीं पडती किन्तु चैतन्य कहिए ज्ञान और करण पाटव कहिये इन्द्रियो की वह योग्यता जिससे ध्वनि पैदा हो सके, ये दो ही वोलने मे कारण हो सकते हैं। (यहा जो करण पाटव वोलने मे कारण वतलाया है उसे लेकर कुछ महाशय कहते हैं कि अष्टसहस्री मे सर्वज्ञ के भी वोलने में सहायक तालु ओष्ठ ही वतलाये हैं इसलिये उनकी वाणी भी साक्षरी ही होती है और वे हमारी तुम्हारी तरह से ही वोलते है। किन्तु उनका कहना ठीक नहीं है।) क्योकि यहा ग्रथकार ने करण पाटव शब्द दिया है जो केवल तालु ओष्ट में ही सीमित नही है किन्तु उनसे शरीर के वे सभी अवयव लिये जा सकते है जिनसे ध्वनि पैदा हो सके। और वे अवयव हिले ही ऐसा भी करण पटव शब्द से सिद्ध नहीं हो सकता। (किसी सातिशय पुरुष के उच्चारण स्थानो के विना हिले ही ध्वनि पैदा हो सके तो वहा भी करण पाटव शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।) क्योकि करण पाटव का अर्थ ही यह है कि शब्द पैदा करने योग्य इन्द्रियें। भगवान की ध्वनि चाहे तालु ओष्टादि के परिस्पद से पैदा नहीं होती है फिर भी वह निकलती शरीर ही से है★। और शरीर भी इन्द्रीय है

★ प० मेधावीकृत सग्रह श्रावकाचार प्रथम परिच्छेद श्लोक ९७

इसलिये उस मे कुछ करण पाटव शब्द बाधा नही देता। अगर विद्या नन्द को करण पाटव शब्द से सर्वज्ञ के तालु ओष्ठादिका प्रयोग ही अभीष्ठ होता तो वे श्लोक बातिक मे ऐसा नही लिखते—

"नहि सवज्ञस्य शब्दोच्चारणे रसन व्यापारोस्ति।
[द्वितीयोध्याय सूत्र १९ की व्याख्या]

इसमे स्पष्ट ही यह लिखा है कि सर्वज्ञ के शब्द उच्चारण करने मे जिह्वा का प्रयोग नही होता है। अकलक देव ने राज बार्तिक मे भी इस स्थान मे ऐसा ही ध्वनित किया है।

बहुत से लोगो की ऐसी धारणा है कि भगवान् की निरक्षरी ध्वनि का अनेक भाषा रूप साक्षरी होना देव कृत है। यह धारणा ठीक नही है। आदि पुराण मे इसका निराकरण करते हुए आचार्य जिनसेन लिखते है कि "भगवान की ध्वनि को देव कृत कहना मिथ्या है। देव कृत मानने से आप्त का कुछ भी गुण नही रहता। और जबकि अनेक भाषा रूप हो जाने का उसका स्वभाव है तो साक्षरी भी वह हो ही जावेगी तब देव कृत मानने की जरूरत ही क्या है? और यदि साक्षरी वह नही मानी जावेगी तो बिना अक्षरो के ससार मे अर्थ का बोध हो भी कैसे सकता है? तथा बिना अर्थ बोध के देव भी

मे दिव्यध्वनि का वर्णन करते हुए उसे भगवान्के सब शरीरसे पैदा होने वाली लिखा है, किन्तु ऊपर दिये हुये आदि पुराण के उद्धरण मे उसका मुख से निकलना बताया है इन दोनो कथनो से यह फलितार्थ निकलता है कि ध्वनि सब शरीर से पैदा होकर मुखमार्ग से बाहर निकलती है।

उसे कैसे साक्षरी बना सकेगे ?" आदि पुराण का यह वक्तव्य उसके इस श्लोक मे है—

देव कृतोध्वनिरित्यसदेतद्देव,
गुणस्य तथा विहृतिः स्यात् ।
साक्षर एवच वर्ण समूहान्नैव,
विनार्थ मतिर्जगति स्यात् ॥७२॥
[पर्व २३]

अब रही यह बात कि देवकृत अतिशयोमे जो 'अर्द्ध मागधी भाषा' का होना अतिशय है वह फिर क्या ? नीचे हम इसी पर विचार करते है।

चौतीस अतिशय और अष्टप्रातिहार्य मे वाणी का प्रसंग तीन दफे आया है। एक जन्म कृत अतिशयो मे, दूसरा देवकृत अतिशयो मे और तीसरा अष्ट प्रातिहार्यों मे। ग्रहस्थावस्था मे प्रिय हित-वचन का बोलना यह जन्म कृत अतिशयों मे है। ऊपर अनेक ग्रन्थ प्रमाणो से जो दिव्य ध्वनि का विवेचन किया गया है वह प्राति हार्य मे समझना चाहिये। देवकृत अतिशयो मे जो 'अर्द्ध मागधी भाषा के 'है' उसका मतलब कुछ और है। और वह यह है कि देव प्रताप से समवशरणवर्ती जीवो की योग्यता मागधी भाषा को बोलने और समझने की हो जाती है। बस यही देवकृत अतिशय है। यह बात जिनसेन कृत आदिपुराण मे निम्न पद्य मे कही है—

अर्द्ध मागधिकाकारभाषा परिणता खिलं ।
त्रिजगज्जनता मैत्री संपादन गुणाद्भुतं ॥२५०॥
[पर्व २५]

अर्थ—सब की भाषा अर्द्ध मागधी रूप होना और तीन जगत् की जनता मे मित्रता का होना। (इस प्रकार इस श्लोक मे ये दो देवकृत अतिशय बतलाये है)

दश भक्ति पाठ मे नदीश्वर भक्ति के श्लोक "सार्वार्द्ध मागधीया..." की सस्कृत टीका मे प्रभाचन्द्र भी कुछ ऐसा ही लिखते है।यथा—

"सर्वेभ्यो हिता सार्वा सा चासौ अर्धं मागधीया च। अर्द्धं भगवद्भा षाया मगध देश भाषात्मक अर्द्धं च सर्व भाषात्मक। कथमेव देवोपनीतत्व तदतिशयस्येति चेत् मागध देव सन्निधाने तथा परिणतया भाषया सकल जनाना भाषण सामर्थ्य सभवात्। अथवा समवसरण भूमौ योजन मात्र मेत्र भगवद्भाषयो व्याप्त, परतो मगध देवै स्तद्भाषाया अर्द्धं मागध भाषया सस्कृत भाषया च प्रवर्त्यते। न केवल भाषा मैत्री च प्रीतिश्च, कथभूता सर्व जनता विषया सर्वजनाना समूह सर्व जनता सा विषयो यस्या सा तादृशी भाषा मैत्र च भवति। सर्वे हि जनाना समूहा मागध प्रीतिकर देवातिशयव शान्मागध भाषया भाषतेऽन्योन्य मित्रतया च वर्तते इति द्वावतिशयौ।"

अर्थ—सब जीवो की हितकारी, भगवान् की दिव्य ध्वनि का आधा भाग मगध देश की भाषा रूप होना और आधा भाग सब भाषा रूप होना यह "सर्वार्द्ध मागधी भाषा" का अक्षरार्थ हुआ। इस पर प्रश्न कि यह अतिशय देवोपनीत कैसे ? उत्तर-मागध देव की निकटता से उस प्रकार परिणत हुई मागध भाषा मे सब जनो के बोलने की सामर्थ्य हो जाती है जिससे वह देवोपनीत कहलाती है। अथवा समवसरण भूमि मे भगवान की भाषा एक योजन मात्र ही रहती है। आगे मगध देव उस भाषा

के अर्द्ध भाग को मगध भाषा और संस्कृत भाषा (?) मे प्रवर्ता देते हैं। न केवल भाषा ही बल्कि प्रीति भी वे सर्वजन समूह मे पैदा कर देते है। अर्थात सब जनता मागध देव के प्रताप से मागध भाषा मे बोलते है और प्रीतिकर देव के प्रताप से आपस मे मित्रता से रहते है। ये तो देव कृत अतिशय हुये।

इन उद्धरणो से यह प्रकट है कि भगवान की ध्वनि का सर्व भाषा रूप होना देवकृत नहीहै किन्तु दिव्यध्वनिका वह खास स्वभाव है। जिसे समंतभद्र जैसे प्रभावशाली आचार्य भी स्वीकार करते है। जिसका उल्लेख इस लेख मे ऊपर किया जा चुका है।

जैसे हम लोगो की अपेक्षा अर्हंत की ज्ञान आदि आंतरिक शक्तिया अलौकिक होती हैं। तैसे ही उनकी वाह्य अवस्था मे भी हम से विशेषता होजाती है। भीतरी शक्तिया परिपूर्ण प्रकट होजाने के कारण अर्हंत का प्रभाव इतना लोकोत्तर बन जाता है कि उसे देखकर साधारण लोग आश्चर्य करने लग जाते हैं। गहन बात को समझने के लिये बुद्धि भी गहन चाहिये। यही कारण है जो समंतभद्रादि जैसे विशाल प्रतिभाधारी आचार्य अतिशयो को अक्षरश: मानते हैं किन्तु आज कल के ज्ञान लवदुर्विदग्ध पुरुष उनके मानने मे हिचकिचाहट करते हैं। उन्हे समझना चाहिये कि योग की अचित्य महिमा है। फिर अर्हंत तो परम योगी हैं उनकी लोकोत्तर विभूति मे तो संदेह को कोई स्थान ही नही रहता। आदि पुराण मे भी कहा है कि—

महीयसामचिंत्या हि योगजाः शक्ति संपद. ।।८४।।
[पर्व २४]

अर्थ - महा पुरुषो की योग से उत्पन्न शक्ति सपदाये अचित्य होती है।

स० नोट—कटारियाजी के लेख विद्वत्ता पूर्ण एव नई खोज को लिए हुये होते हैं। यह लेख भी बहुत ही परिश्रम के साथ लिखा गया है। पाठको को इसमे कुछ नवीनता मालूम होगी। फिर भी अभी यह विषय विशेप स्पष्ट होना चाहिये, जिससे श्रद्धा के सिवाय सर्व साधारण विद्वानो की बुद्धि मे भी यह बात आसके। विद्वान लेखक ने आदि पुराण पर्व २३ का ७३ वा श्लोक देकर जो शका समाधान किया है वह बहुत अस्पप्ट प्रतीत होता है। आशा है कि कटारियाजी इस विषय को और भी अधिक विस्तार से लिखकर स्पष्ट करेंगे।



४४

जैन कर्म सिद्धांत

एक मुमुक्षु प्राणी के सामने ४ प्रश्न उपस्थित होते हैं— १ ससार क्या है? २. ससारके कारण क्या हैं? ३. मोक्ष क्या है? ४. मोक्ष के क्या कारण है? इन्ही चारो प्रश्नो के समाधान में ७ तत्व छिपे हुए हैं और उन्ही के साथ कर्म सिद्धांत भी। चेतन-अचेतन पदार्थों से भरा हुआ जो स्थान है वह ससार है। इस प्रथम प्रश्न के उत्तर मे २ तत्व आते हैं—जीव और अजीव। चतुर्गतिरूप दु खमय ससार मे यह जीव कर्मों के फल से परिभ्रमण किया करता है और जब तक कर्म आ-आकार जीव के बधते रहते हैं तब तक जीवका ससारसे छूटना नही हो सकता है। इस दूसरे प्रश्न के उत्तर मे आस्रव और बध ये दो तत्व आ जाते है। सब कर्मों के बन्धन से छूट जाना इसका नाम मोक्ष है। इस तीसरे प्रश्न के उत्तर मे मोक्षतत्व आ जाता है। नवीन कर्मो का बन्ध नही होने देना और पुराने बधे कर्मों को खिपा देना ये दो बाते मोक्ष की कारण है, इस चौथे प्रश्न के उत्तर मे सवर और निर्जरा ये दो तत्व आ जाते हैं। इस प्रकार चारों प्रश्नो के समाधान मे जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्वो की उपलब्धि होती है। इन्ही सत्यार्थ ७ तत्वो के श्रद्धान करने को जैनधर्म मे सम्यग्दर्शन(यथार्थ दृष्टि) कहा है। यही मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है।

अनन्त जीवो से व्याप्त यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है और आगे अनन्तकाल तक चलता रहेगा। इस ससार मे रहने वाले जीवो मे कोई सुखी है, कोई दु खी है, कोई नर है, कोई मादा है, कोई सवल है, कोई निर्बल है, कोई बुद्धिमान है, कोई मूर्ख है, कोई कुरूप है, कोई सुरूप है इत्यादि जीवो की नाना प्रकारकी अवस्थाये जो देखी जाती हैं उनका कारण जीव के किए हुए शुभाशुभ कर्मोंके सिवाय और कुछ नहीहै। जब यहप्राणी अपने मन वचन काय से अच्छे-बुरे काम करता है तव आत्मा मे कुछ हरकत पैदा होती है उस हरकत से सूक्ष्म पुद्गल के अश आत्मा से सम्बन्ध कर लेते हैं इनको ही जैनधर्म मे कर्म बताया है। इन्ही शुभाशुभ कर्मों के फल से जीव की अच्छी-बुरी अनेक दशायें होती हैं। कुछ लोग इनका कारण ईश्वर को ठहराते हैं। पर यह ठीक नही है। अव्वल तो ईश्वर को सृष्टि रचने की जरूरत ही क्यो हुई ? न रचने पर उसकी कौन सी हानि हुई थी ? और रची भी तो किसी को सुखी, किसी को दुखी आदि क्यो वनाया ? यदि कहो कि जीव जो अच्छे बुरे काम करता है उनका वैसा ही अच्छा-बुरा फल ईश्वर देता है। उसी से जीवो को ये विविध प्रकार की अवस्थाये देखने मे आती हैं— तो ऐसा कहना भी ठीक नही है। क्योकि जब ईश्वर स्वय बुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है तो जीवो को पहिले पापकर्म करने ही क्यो देता है। जिससे आगे चलकर उसे उन पापियो को फल देने की नौबत आवे। हाकिम के सामने अपराध करे तब तो उसे हाकिम मना करे नही और अपराध हो चुकने के वाद उसे दण्ड देवे, हाकिम का ऐसा करना योग्य नही है। इसके अलावा हम पूछते हैं कि— ईश्वर समस्त सृष्टि मे व्यापक है तो व्यापक मे क्रिया नही हो सकती है। देश से देशान्तर होने को क्रिया कहते

है। व्यापक मे यह क्रिया असम्भव है। क्योंकि व्यापक सर्वक्षेत्र मे व्याप्त है इसमे कोई भी क्षेत्र अवशेष नही रहता है जिसमे क्रिया हो सके। क्रिया के बिना सृष्टि की रचना नहीं हो सकती है। अव्यापक माने तो सर्वक्षेत्र की क्रियायें नही हो सकेगी। जो ईश्वर को अशरीरी माने तो अमूर्तिक से मूर्तिमान कार्य नही हो सकते हैं वर्ना अमूर्त आकाश से मूर्त पदार्थ उत्पन्न होने लगेंगे। तब असत् से सत् पदार्थ की उत्पत्ति हो जायेगी। जो ईश्वर को शरीर सहित मान लिया जाये तो ईश्वर सब को दिखना चाहिए और उसे निरन्जन नही कहना चाहिए। जो ईश्वर को सर्वशक्तिमान माने तो सबको सुखी व सुन्दर बनाना चाहिए। यदि कहोकि बुरे काम करने वालोको बुरा बनाये तो कर्म बलवान हुए, ईश्वर को सर्व शक्तिमान मानना नही हो सकेगा। सर्व-शक्तिमान नही मानने से समस्त सृष्टि की रचना उससे नहीं हो सकती है और सब काम उसी के लिये होते है तो वेश्या चोर उसने क्यो बनाये जिससे पापाचरण करना पडे? सृष्टि बनाने के प्रथम संसार मे कुछ पदार्थ थे या नहीं? जो पदार्थ थे तो ईश्वर ने क्या बनाया? जो पदार्थ नहीं थे तो बिना पदार्थों के सृष्टि कैसे बनाई? बिना बनाये कुछ नही होता तो ईश्वर को स्वय बना हुआ मानें तो सृष्टि को भी स्वय बनी हुई क्यो न मानें? सभी काम ईश्वरकृत मानें तो प्रत्यक्ष का लोप होगा क्योकि प्रत्यक्ष मे घटपट गृहादिक मनुष्यकृत देखे जाते हैं। सभी काम ईश्वरकृत मानने से जीवो के पुण्यपाप सब निरर्थक हो जायेंगे। न तो किसी को हिंसा आदि पाप कार्यों का फल मिलेगा और न किसी को जप, तप, दया आदि पुण्य कार्यों का फल मिलेगा। क्योंकि ये तो जीवो ने किये ही नहीं, यदि ईश्वर ने किये हैं तो इनका फल जीवो को मिलना क्यो चाहिए? तब

निशक हो प्राणी पाप करेंगे और पुण्य कार्यो से विमुख रहेंगे।

इस पकार ईश्वर को कर्ता मानने मे इस तरह के अन्य भी अनेक विवाद खडे होते है। किसी कर्म का फल हमे तुरन्त मिल जाता है किसी का कुछ माह बाद मिलता है किसी का कुछ वर्ष बाद मिलता है और किसी का जन्मातर मे मिलता है। इसका क्या कारण है ? कर्मों के फल के भोगने मे समय की यह विषमता क्यो देखी जाती है ? ईश्वरवादियो की ओर से इसका ईश्वरेच्छा के सिवाय कोई सन्तोषकारक समाधान नही मिलता। किन्तु कर्मो मे ही फलदान की शक्ति मानने वाला कर्मवादी जैनसिद्धात उक्त प्रश्नो का बुद्धिगम्य समाधान करता है।

जैन शास्त्रो का कहना है कि बाईस भेद स्कन्ध के और एक भेद अणु का इस प्रकार पुद्गल के कुल २३ भेद होते है। इन्ही को २३ वर्गणाये कहते हैं। इनमे से १८ वर्गणाओ का जीव से कुछ सम्बन्ध नही है और ५ वर्गणाओ को जीव ग्रहण करता है। उनके नामआहार वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा है। आहारवर्गणा से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक ये तीन शरीर और श्वासोच्छवास बनते है। तैजस वर्गणा से तैजस शरीर बनता है। भाषावर्गणा से शब्द बनते है मनोवर्गणा से द्रव्य मन बनता है जिसके द्वारा यह जीव हित-अहित का विचार करता है और कार्मणवर्गणा से ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्म बनते हैं। जिन कर्मो के निमित्त से यह जीव चतुर्गतिरूप ससार मे भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के दु ख उठाता है और जिनके क्षय होने से यह जीव ससार से छूटकर मोक्षपद को पाता है। इन ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों के पिंड को ही कार्मण शरीर कहते है। इस प्रकार

इस जीव के औदारिक (मनुष्य तिर्यंचो का शरीर) वैक्रियिक (देव नारकियो का शरीर) आहारक तैजस (मृतक और जीवित शरीर मे जो काति का भेद है वह तैजस शरीरकृत है। मृत्यु होने पर तैजस शरीर जीव के साथ चला जाता है।) और कार्मण ये ५ शरीर हैं। इनमे से कार्मण शरीर को कम और शेष शरीरों को नो कर्म कहते हैं। जीव और कर्मो के वन्ध को कर्मवन्ध कहते हैं तथा जीव और अन्य-शरीरो के वन्ध को नोकर्मवन्ध कहते है। भवातर मे जाने वाला जीव पूर्व शरीर को छोडे वाद जव तक नया शरीर ग्रहण नही करता है तव तक के अन्तराल मे उसके तैजस और कार्मण ये दो सूक्ष्म शरीर साथ मे रहते हैं। इस अन्तराल का काल जैनागम मे वहुत ही थोडा तीन समय मात्र अधिक से अधिक वताया है। अन्तराल मे यह कार्मण शरीरही उसे किसी नियत स्थान पर ले जाकर नया शरीर ग्रहण कराता है। उक्त तैजस और कार्मण शरीर ससार दशा मे सदा इस जीव के साथ रहते हैं। जव यह जीव भवातर मे जाकर नया शरीर ग्रहण करता है। तव सदा साथ रहने वाले दो शरीर और एक नया प्राप्त शरीर इस प्रकार जीव के कुल तीन शरीर हो जाते है। जिस प्रकार दूध मे जल, मिश्री आदि घुल मिल जाते है। उसी प्रकार इन तीनो शरीरो का आत्मा के साथ मिश्रण हो जाता है। सदा साथ रहने वाले तैजस और कार्मण ये दो शरीर इतने सूक्ष्म है कि वे हमारे कभी इन्द्रियगोचर नही हो सकते है।

प्रश्नः "अनन्तगुणे परे" इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार उमास्वामी ने औदारिकादि शरीरो से कार्मण शरीर के परमाणु अनन्तगुणे अधिक लिखे हैं। इससे तो कार्मण शरीर अन्य सव शरीरो से वडा होना चाहिये।

उत्तर उन्ही आचार्य उमास्वामी ने "पर पर सूक्ष्म" इस सूत्र द्वारा कार्मण शरीर को अन्य सब शरीरो से सूक्ष्म भी लिखा है। इस प्रकार आचार्य श्री ने दोनो कथन करके यह अभिप्राय प्रकट किया है कि कार्मण शरीर का गठन ऐसा ठोस है कि उसकी प्रदेश सख्या अन्य शरीरो से अनन्तगुणी होते भी वह अन्य शरीरो जैसा स्थूल नही है। जैसे रुई का ढेर और लोहे का गोला। लेकिन इसका अर्थ यह भी नही है कि कार्मण शरीर जब इतना ठोस है तो उसकी गति अन्य पौद्गलिक पदार्थो से रुक जाती होगी ? उसकी बनावट ही कुछ ऐसी जाति के परमाणुओ से होती है जिससे वह वज्रपटलादि मे भी प्रवेश कर जाता है। जैसे अग्नि लोहे मे प्रवेश कर जाती है।

इन सभी शरीरो मे से एक कार्मण शरीर ही ऐसा है जिसके सहयोग से यह जीव अनेक योनियो मे जन्म ले-लेकर नाना प्रकार की चेष्टाये करता रहता है। यही वह कर्म पिण्ड है जो इस जीव के लिए ससार का बीज भूत है और विविध अनर्थ परम्पराओ का कारण बना हुआ है। जैसे रेशम का कीट अपने ही मुँह से रेशम के तार निकाल-निकाल कर आप ही उनसे लिपटता रहता है। इसी तरह यह जीव स्वय ही राग-द्वेषादि कलुषित भाव कर-करके आप ही इन दुखदायी कर्मो से बन्धता रहता है। कर्मो का बध इस जीव के किस तरह हो जाता है। इसके लिये शास्त्र वाक्य ऐसा है—

जीवकृतं परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमतेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥

अर्थ जीव के किये हुए परिणामो को निमित्त बना कर

पुद्गल की वर्गणाये स्वय ही कर्मरूप से परिणम जाती हैं।

मतलब यह है कि कार्मण वर्गणा यह एक पुद्गल स्कन्ध की जाति विशेष है जो सारे लोक मे व्याप्त है जहा भी जीव के राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ मोहादिभाव पैदा हुए कि वह कर्मरूप बनकर आत्मा के प्रदेशो के साथ मिल जाती है। इसे ही जैनधर्म मे कर्मबन्ध होना बताया है। वे ही बधे हुए कर्म अपने उदयकाल मे इस जीव को अच्छा-बुरा फल देते हैं और इसे ससार मे रुलाते है। जैसे अग्नि से तप्त लोहे का गोला पानी मे डालने से पानी को अपनी तरफ खीचता है। उसी तरह कषाय भावो से ग्रसित आत्मा कर्म वर्गणाओ को अपनी ओर खीचकर उनसे आप चिपट जाताहै। जैसे पी हुई मदिरा कुछदेर बाद अपना असर पैदा करके पीने वाले को बावला बना देतीहै। उसी तरह बाधे हुए कर्म कालातर मे जब अपना फल देते हैं तो उनसे जीव सुखी, दुखी, रोगी, निरोगी, सबल, निर्बल, धनी, निर्धन आदि अनेक अवस्थाओ को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जैनधर्म मे जीवो की विचित्रता के कारण उनके अपने बाँधे हुए कर्म माने गये है। जैसे बीज के बिना धान्य नही होते, वैसे ही कर्मो के बिना जीवो की नाना प्रकार की अवस्थाये नही हो सकती है। कर्मो के अस्तित्व की सिद्धि के लिये यह एक हेतु है। अन्यथा कर्म इतने सूक्ष्म हैं कि हम छद्मस्थ उनका कदापि प्रत्यक्ष नही कर सकते है। जिस प्रकार पुद्गल के परमाणु हमारे इन्द्रियगोचर नही हैं परन्तु उनसे बने स्कन्ध को देखकर हमे परमाणु का अस्तित्व मानना पडता है। उसी तरह कर्मों के शुभाशुभ फल को प्रत्यक्ष देखकर परोक्षभूत कर्मो का अस्तित्व भी मानना होगा।

प्रश्न पुष्पमाला, चन्दन, स्त्री आदि प्रत्यक्ष सुख के

कारण है और सर्प, कटक, विषादि प्रत्यक्ष दु ख के कारण है। इन प्रत्यक्ष हेतुओ को छोड़कर सुख-दु ख के परोक्ष कारण कर्मों को क्यों माना जावे।

उत्तर पुष्पमाला आदि एकातत सभी जीवो को सुख के कारण नही होते है। शोकाकुलित जीवो को ये ही चीजे दु ख की कारण भी देखी जाती हैं। इसी तरह विषादि भी सभी को दु ख का कारण नही होते हैं। किन्ही-किन्ही रोगियो को विष का सेवन आरोग्यप्रद होकर सुख का कारण भी हो जाता है। खादी का बना मोटा चादर गरीब के वास्ते हर्ष का कारण होता है वही शालदुशाला ओढने वाले राजपुत्र के लिये विषाद का कारण बन जाता है। इस प्रकार समान सामग्री हो तो भी सबको समान सुख-दु ख नही होते है। इस तरतमता को देखने से यही निश्चय होता है कि सुख-दु ख के होने मे पुष्पकटकादि से भिन्न कोई अन्य ही अदृष्ट कारण है और वे अदृष्ट कारण कर्म ही हो सकते है।

प्रश्न कोई आदमी बुरा काम करता है उसका फल राजा देता है। इस प्रत्यक्ष फलदान को छोड कर उसका फल परोक्ष कर्मो के द्वारा दिया जाना क्यो माना जावे ?

उत्तर राजा अगर दण्ड देगा तो प्रगट पापो का देगा। गुप्त पापो का जिन्हे राजा जानता ही नही उनका फल कौन देगा ? और मानसिक पाप तो सदा ही अप्रगट है उनका फल भी जीव को कैसे मिलेगा ? तथा दया, दान, ध्यान आदि उत्तम कार्यो का फल भी जीव को कौन देगा ? एक मनुष्य अनेक हत्या करे तो राजा उसे प्राणदण्ड देता है, किन्तु इससे तो हत्या

करने वाले को एक ही हत्या का दण्ड मिलता है बाकी हत्याओं का दण्ड कैसे मिलेगा ? अतः मानना पड़ेगा कि बाकी का दण्ड नरकगति के रूप में कर्मों से ही मिलता है।

कर्मों की सिद्धि के लिये दूसरा हेतु यह है कि जैसे चेतन की की हुई कृषि आदि क्रियाओं का फल धान्यादि की प्राप्ति है। जो भी चेतन की की हुई क्रिया होगी उसका कोई-न-कोई फल जरूर होगा। इसी तरह चेतन द्वारा की हुई हिंसा आदि पाप क्रियाओं या दया, दान आदि क्रियाओं का फल भी जरूर होना चाहिये वह फल शुभाशुभ कर्मों का जीव के बन्ध मानने पर ही बन सकेगा।

प्रश्न जैसे कृषि क्रिया का प्रत्यक्ष फल धान्य प्राप्ति है। उसी तरह हिंसा असत्य आदि का प्रत्यक्ष फल शत्रुता अविश्वास आदि है और दया, दान आदि का प्रत्यक्ष फल मन प्रसन्नता यश प्राप्ति आदि है। इस प्रकार क्रियाओं का फल हम भी मानते हैं। इन दृष्टफलों को छोड़कर अदृष्टफल कर्म बन्ध क्यों माना जावे ?

उत्तर जीवकृत सभी क्रियाओं के दृष्टफल और अदृष्टफल दोनों फल होते हैं। कृषि आदि सावद्य क्रियाओं का धान्यादि यह दृष्टफल है और पापकर्म का बन्ध होना यह अदृष्टफल है। इसी तरह दानादि का यश प्राप्ति आदि दृष्टफल है और पुण्यकर्म का बन्ध होना अदृष्टफल है। यदि कृषि आदि सावद्य क्रियाओं का धान्य प्राप्ति आदि दृष्टफल ही माना जावे, अदृष्टफल पाप बन्ध नहीं माना जावे तो सावद्य आरम्भ करने वाले सभी जीवों को मोक्ष हो जायेगा और यह संसार जीवों से शून्य हो जायेगा।

प्रश्न · कृषि आदि क्रियाये धान्यादि प्राप्ति की इच्छा से की जाती हैं। करने वाला पाप कमाने के अभिप्राय से उन्हे नही करता है। तव कर्ता को पाप का वन्ध भी क्यो माना जावे ?

उत्तर . जैसे किसान गेहू का वीज वोता है। उनके साथ भूल से कोदू का कोई बीज वोने में आ जाये तो उस कोदू के वीज से कोदू ही पैदा होगी। नही चाहने से उससे गेहू पैदा नही हो सकते हैं। उसी तरह कृषि आदि क्रियाओ का अदृष्टफल पाप कर्मों का वध नही चाहते भी पाप वध होगा ही। जगत मे दु खी जीव वहुत है और सुखी जीव थोडे है। इसका भी कारण यही है कि–जगत मे पाप कार्यो के करने वाले वहुत जीव हैं और पुण्य कार्यो के करने वाले थोडे जीव हैं अगर कृषि आदि सावद्यारभ का अदृष्ट-फल पाप वध नही होता तो जगत मे प्रचुर मात्रा मे दु खी जीव दिखाई नही देते। दूसरी वात यह है कि—समान साधनो के होते हुए भी कृषि व्यापार आदि करने वालो मे समान फल की प्राप्ति नही देखी जाती है। इसका कारण भी जीवो का अदृष्टफल पुण्य-पाप ही माना जावेगा। कारण के विना कार्य नही होता है, यह नियम है। जैसे परमाणुओ से घट वनता है। यहाँ घट कार्य है, परमाणु कारण है। उसी तरह दृष्टफल मे तरतमता देखी जाती है वह भी कार्य है उस का कारण भी पुण्य-पाप ही मानना पडेगा।

कर्मों की सिद्धि के लिये तीसरा हेतु यह है कि ससारी जीवो की गमनादि क्रियाये बिना शरीर के नही हो सकती है। जव कोई ससारी जीव पूर्व पर्याय को छोडकर अगली पर्याय मे जावेगा तव पहिले का स्थूल शरीर तो छूट जायेगा और अगला

स्थूल शरीर अभी प्राप्त नही हुआ। अन्तराल मे (विग्रह गति मे) उस जीव के अगर सूक्ष्म कार्मण शरीर भी नही माना जावेगा तो उसके गमन का अन्य क्या कारण होगा ? विग्रहगति मे यदि आत्मा को बिल्कुल अशरीरी मान लिया जावे और अशरीरी होकर भी किसी नये शरीर मे जन्म लेना मान लिया जावे तब तो मुक्त जीवो का भी पुन शरीर ग्रहण करने का प्रसग आ उपस्थित होगा।

कर्मों की सिद्धि के लिए चौथा हेतु यह है कि—जीवो के जो राग द्वेषादि भाव पैदा होते है वे भाव आत्मा के निज भाव तो हैं नही क्योंकि उन्हे निज भाव मानने पर सिद्धो के भी उन्हे मानने पडेगे। परन्तु सिद्धो के वे है नही और यदि इन भावो को जीव के न मानकर कर्मों के माने तो कर्म पुद्गल है। अचेतन के द्वारा द्वेषादि भावो का होना सम्भव नही है। जैसे उत्पन्न हुई सतान न अकेली माता की है और न अकेले पिता की किन्तु दोनो ही के सयोग से उत्पन्न हुई मानी जानी चाहिए। जीव की इस वैभाविक परिणति से भी जीव के साथ होने वाला कर्म बध होता है। जैसे हल्दी और चूने के मेल से एक तीसरा ही विलक्षण लाल रग पैदा होना है। इस लाल रग मे न हल्दी का पता लगता है और न चूने का। किसी ने कहा है—

हरदी ने जरदी तजी चूना तज्यो सफेद।
दोऊ मिल एकहि भये रह्यो न काहू भेद॥

उसी तरह अरूपी जीव के साथ रूपी कर्म पुद्गलो का मेल होकर एक ऐसी तीसरी विलक्षण दशा पैदा हो जाती हैं जिसे हम जीव की वैभाविक अवस्था के नाम से पुकारते है।

इस अवस्था मे न तो जीव के असली रूप का पता पडता है और न पुद्गल के असली रूप का।

कर्म और आत्मा का मेल कुछ ऐसे ढग का समझना चाहिए कि—दोनो एक दूसरे मे मिलकर एकस्थानीय बन जाते हैं। फिर भी दोनो का अपना-अपना स्वरूप अलग-अलग रहता है। न तो चेतन आत्मा पौद्गलिक कर्मो के मेल से अचेतन बनता है और न अचेतन कर्म चेतन बनता है। जैसे सुवर्ण और चाँदी को मिला देने से दोनो एकमेक हो जाते है। तथापि दोनो धातुओ का अपना-अपना गुण अपने ही साथ रहता है—गुण एक दूसरे मे नही मिलते है। इसीलिए जब न्यारगर से उनका शोधन कराया जाता है तो वे दोनो धातुयें अलग-अलग हो जाती है। उसी तरह आत्मा का भी जब तपस्या के द्वारा शोधन होता है तब आत्मा और कर्म दोनो अलग-अलग हो जाते हैं। फर्क इतना ही है कि शोधे हुए सोने मे कोई चाहे तो फिर भी चाँदी का मेल किया जा सकता है। किन्तु शुद्ध आत्मा मे पुन कर्मों का मेल नही हो सकता है। इस फर्क का भी कारण यह है कि—आत्मा के साथ कर्मों का मेल किसी वक्त मे किया हुआ नही है वह अनादि से चला आ रहा है इसलिए वह मेल एक बार पूर्णतया पृथक् हो जाने पर पुन. उनका मेल बनता नही है। यदि सुवर्ण और चाँदी का मेल भी इसी तरह अनादि का होता तो उस मेल के भी पूरे तौर पर फट जाने पर पुन. उनका मेल भी नही हो सकता था। दो विजातीय द्रव्य जब अनादि से मिले हुए चले आते है तो उनके पृथक हो जाने पर पुन. वे नही मिलते है। जैसे खान मे से निकला हुआ सोना विजातीय द्रव्य से मिला हुआ रहता है। एक बार सोने मे से उस विजातीय द्रव्य के पूर्णतया अलग हो जाने पर फिर सोना उस विजातीय

द्रव्य से नही मिल सकता है जैसे "तिल्ली मे तेल" इत्यादि और भी उदाहरण दिए जा सकते है।

इसी दृष्टान्त के जरिए यह भी समझ लेना चाहिए कि अगर दस तोले सोने मे एक तोला चाँदी मिलाई जावे तो इस मेल से सोना आसानी से पहिचानने मे आ जाता है। किन्तु वीस तोले चाँदी मे एक तोला सोना मिलाया जावे तो इस मेल मे सोने की पहिचान बडी मुश्किल से होती है। तथापि उस मेल मे भी सोना अपने गुण धर्म को नही छोडकर अपने आपकी अलग सत्ता रखता है। उसी प्रकार जब आत्मा हल्के कर्मोदय से मनुष्य योनि मे जाता है तो वहाँ आत्मा की पहिचान आसानी से हो जाती है। किन्तु जब घोर कर्मोदय से वह निगोद मे पहुँच जाता है तो वहाँ उसको अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ज्ञान रहता है। वहाँ उसकी ऐसी दशा हो जाती है कि—यह जीव है कि नहीं यह पहिचानना भी कठिन हो जाता है। इतने पर भी आत्मा अपने गुण धर्म को नही छोड़कर वहाँ की अपनी अलग सत्ता बनाये रखता है।

जीव के होने वाले कर्म संयोग की चर्चा से जैन शास्त्रों का बहुतसा भाग भरा पडा है। जैनधर्म मे जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व माने हैं। तत्वो के ये भेद भी इसी विषय को लेकर हुए हैं। तमाम जैन शास्त्र प्रथमानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगो मे बटे हुए है। इन अनुयोगो का भी मुख्य आधार यही विषय है। प्रथमानुयोग मे जो कथायें लिखी मिलती हैं उनका उद्देश्य ही यह बतलाता है कि उनमे से किन-किन ने क्या-क्या अच्छे-बुरे काम किये जिनसे कर्मबन्ध होकर उनको भवांतर मे

क्या-क्या अच्छा या बुरा फल मिला। चरणानुयोग मे जीवो के लिए वे आचार-विचार बताये गये है जिससे जीव कर्मो से छुटकारा पा सके। करणानुयोग मे कर्मों के अनेक भेद-प्रभेद और उनके स्वरूप का विस्तार से वर्णन है। द्रव्यानुयोग मे जीवादि द्रव्यो का वर्णन है। इस प्रकार यह कर्मसिद्धात का विषय जैन साहित्य मे सर्वत्र गर्भित है। यह नही तो जैनधर्म ही नही है और तो क्या मोक्ष मार्ग ही इसी विषय पर आधारित है।

प्रश्न : आत्मा के साथ बधे हुए कर्मो को भी जैन शास्त्रो मे कार्मण शरीर माना है और यह भी कहा है कि वह सदा संसारी जीवो के साथ रहता है। तो फिर अन्य औदारिकादि शरीरो के धारण करने की जीव को क्या आवश्यकता है? एक कार्मण शरीर ही काफी है।

उत्तर : सूत्रकार उमास्वामी आचार्य ने "निरुपभोग-मत्य" इस सूत्र के द्वारा बताया है कि कार्मण शरीर उपभोग रहित है और बाधे हुए कर्मों का फल इस जीव को शरीर ग्रहण किये बिना नही मिल सकता है। क्योकि इन्द्रियो के इष्ट-अनिष्ट विषयो की प्राप्ति से ससारी जीवो को सुख-दु ख का अनुभव होता है और इन्द्रियों का आधार शरीर है, इससे यह प्रकट होता है कि शरीर होने पर ही जीव को कर्मों का फल मिल सकता है। माना कि कार्मण भी शरीर है परन्तु उसके अन्य शरीरो की तरह द्रव्येन्द्रियें नही हैं। इसलिये यह जीव उसके द्वारा इन्द्रिय विषय को ग्रहण नही कर सकता है। ऐसी हालत मे आत्मा उस कार्मण शरीर के द्वारा तो कर्मों का फल भोग नही सकता है इसलिये आत्मा को चार गति के योग्य

अलग-अलग शरीर ग्रहण करके कर्मों का फल भोगना पडता है।

जैसे सीढियो के बिना मकान के ऊपर की छत का उपभोग नही किया जा सकता उसी प्रकार कार्मण शरीर के द्रव्येन्द्रियाँ न होने से अकेले उसके द्वारा भी जीव उपभोग नही कर सकता।

प्रश्न अगर ऐसी बात है तो कार्मण को जीव का शरीर ही क्यो माना जावे ?

उत्तर · उपभोग होना यह हेतु शरीर की सिद्धि के लिये नही है। अन्यथा तैजस भी शरीर नही रहेगा क्योकि वह भी निरुपभोग है। बल्कि तैजस तो कार्मण की तरह आत्म परिस्पदनरूप योग का निमित्त भी नही है तब भी वह शरीर, माना गया है। इससे यही फलितार्थ निकलता है कि—जो विजातीय द्रव्य आत्मा मे मिलकर एकमेक (एक क्षेत्रावगाही) हो जाता है उसी की गणना यहाँ काय मे की गई है। इस अपेक्षा कार्मण को भी जीव का काय कहा जा सकता है।

प्रश्न जैन शास्त्रो मे कर्म वर्गणाओ को पौद्गलिक माना है। उसी से कार्मण शरीर बनता है। इस मूर्त शरीर के साथ आत्मा का बन्ध नही हो सकता है।

उत्तर : स्थूल औदारिक शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध प्रयत्क्ष दिख रहा है तो सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ होना क्यों नहीं माना जावे ? और आत्मा का ज्ञानगुण अमूर्त है वह भी मदिरापान से विकृत हो जाता हैं। तथा ब्राह्मी आदि के सेवन से ज्ञानगुण का विकास होता है। इस तरह अमूर्त ज्ञान

पर मूर्त पदार्थों का असर होना भी प्रत्यक्ष है। जब अमूर्त का मूर्त के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष हमारे सामने है तब परोक्ष सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध भी क्यो नही माना जा सकता है ? माना कि जीव और कर्म दोनो विजातीय हैं एक अमूर्त और चेतन है तो दूमरा मूर्त और अचेतन है। इस विजातीय सम्बन्ध से ही तो जीव की अशुद्ध दशा हुई है। ऐसी दशा जीव की कभी किसी की हुई नही है, वह अनादिकाल से चली आ रही है। जो दशा अनादि से चली आ रही है। उसमे तर्क नही किया जा सकता कि ऐसा विजातीय सम्बन्ध कैसे हुआ। जैसे पाषाण के साथ सुवर्ण का सयोग जिसे कनकोपल कहते है। सयोग भी तो विजातीय ही है। कहाँ सुवर्ण और कहाँ पाषाण ? पर क्या किया जावे खान मे से निकलते वक्त अनादि से दोनो का ऐसा ही सयोग है। अगर जैन धर्म ऐसा कहता होता कि—पहले आत्मा कर्म सयोग से रहित था बाद मे उसके कर्मों का बध हुआ है तब तो ऐसा तर्क करना भी वाजिब हो सकता है कि—अमूर्त का मूर्त के साथ बन्ध कैसे हुआ ? परन्तु जैनधर्म तो जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि कहता है। वस्तु की जो व्यवस्था बिना किसी के की हुई अनादि से चली आ रही है। उसमे तर्क की कोई गु जाइश ही नही है। जैसे अनादि से चले आ रहे सुवर्ण और पाषाण के मेल मे कोई तर्क करे कि यह विजातीय सम्बन्ध क्यो हुआ ? कैसे हुआ ? ऐसा तर्क नि सार है। उसी तरह जीव और कर्म के सम्बन्ध मे तर्क करना नि:सार है।

मूर्तिक औदारिकादि शरीरो का सम्बन्ध भी आत्मा के इसी कारण से होता है कि—मूर्त कार्मण शरीर का सम्बन्ध आत्मा के पहिले ही से हो रहा है। अगर कार्मण से सम्बन्धित

आत्मा पहले से न होता तो औदारिकादि शरीरो का सम्वन्ध भी आत्मा के नही हो सकता था। मतलव कि मूर्त कार्मण शरीर का सूक्ष्म मिश्रण आत्मा के साथ पहले ही से हो रहा था इसी से मूर्त औदारिकादि शरीरो का स्थूल मिश्रण भी उस मिश्रण मे मिल जाता है। अगर पहले से सूक्ष्म मिश्रण न हुआ होता तो वाद मे स्थूल मिश्रण भी नही हो सकता था। यह स्थूल मिश्रण भी सूक्ष्म कार्मण शरीर की सिद्धि मे एक हेतु हो सकता है। पूर्व मे विना कार्मण शरीर के सम्वन्ध के अन्य औदारिक शरीरो का सम्वन्ध होना मानने पर मुक्त जीवो के भी पुन शरीर ग्रहण करने का प्रसग आवेगा। इत्यादि कथन आचार्य विद्यानदि ने तत्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के "सर्वस्य" सूत्र की व्याख्या करते हुए श्लोकवार्तिक मे निम्न शब्दो मे प्रकट किया है—

सर्वस्यानादिसंवंधे चोक्ते तैजसकार्मणे।
शरीरांतरसंवंधस्यान्यथानुपपत्तितः ॥

तैजसकार्मणभ्यामन्यच्छरीरमौदारिकादि, तत्सवधोऽस्मदादीना तावत् सुप्रसिद्ध एव स च तैजसकार्मणाभ्यां सवधोऽनादि सवधमतरेण नोपपद्यते मुक्तस्यापि तत्सवधप्रयोगात्।'

अर्थ—सभी जीवो के तैजसकार्मण शरीर अनादिकाल से सम्वन्ध रखनेवाले कहे गये है। यदि ऐसा न माना जायेगा तो अमूर्त जीव के अन्य मूर्त और औदारिकादि शरीरो के सम्वन्ध की सगति ही नही वन सकेगी। तैजस और कार्मण शरीर से जुदे औदारिकादि शरीर है। उनका सम्वन्ध हम ससारी जीवो के हो रहा है, यह प्रसिद्ध ही है। वह सम्वन्ध तैजसकार्मण के

साथ अनादि सबध माने बिना नही बन सकता है। अन्यथा मुक्त जीव के भी उन शरीरो का सम्बन्ध प्रयोग होने लग जावेगा।

भावार्थ—अमूर्त आत्मा का मूर्त तैजसकार्मण शरीरो के साथ अनादि से सम्बन्ध चला आ रहा है। इसी से तो हमारी आत्मा के साथ औदारिक शरीर का सम्बन्ध प्रत्यक्ष दिख रहा है। अन्यथा अमूर्त का मूर्त के साथ सम्बन्ध नही हो सकता था। यह ससारी जीव औदारिकादि स्थूल शरीरो के साथ बहुत काल तक रहता है। अकेले सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ तो बहुत ही कम रहता है। वह भी हर विग्रहगति मे अधिक-से-अधिक तीन समय मात्र ही।

जीव और कर्मोका सम्बन्ध जो अनादिकाल का कहा जाता है वह प्रवाह की अपेक्षा समझना चाहिये। जैसे मनुष्य लोक में मनुष्य जन्मते और मरते हैं परन्तु लोक कभी मनुष्यो से शून्य नही रहा है। यह प्रवाह सदा से चलता आ रहा है। उसी तरह आत्मा मे पुराने कर्म झडते और नये कर्म बधते रहते हैं। आत्मा कभी कर्म शून्य नही रहा है। यह प्रवाह अनादि से चला आ रहा है। जैसे बीजो से वृक्ष पैदा होते है और वृक्षो से बीज पैदा होते हैं यह परम्परा अनादि मे चली आ रही है। न पहले बीज हुआ और न पहिले वृक्ष हुआ। बीज को पहले माने तो वह बिना वृक्ष के कहा से आया और वृक्ष को पहले माने तो वह भी बीज के बिना कैसे पैदा हुआ? इसलिये दोनो को अनादि मानने से ही वस्तु व्यवस्था बन सकती है। उसी तरह कर्मों के निमित्त से जीव के रागद्वेष भाव पैदा होते है और रागद्वेष से पुन: कर्मों का बन्ध होता है यह सिलसिला भी अनादि से चला आ रहा है। जीव के न पहले रागद्वेषादि भाव हुए और न

पहले कर्म हुए। रागद्वेष को पहले मानें तो विना कर्मोदय के कैसे हुए ? और कर्मों को पहले माने तो वे भी रागद्वेष के विना जीव के कैसे बन्ध गये ? इसलिए यहा भी दोनो ही को अनादि मानने से वस्तु व्यवस्था बन सकेगी। पचास्तिकाय ग्रन्थ मे कहा है कि—

जो पुण संसारत्थो जीवो
तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्म कम्मादो
होदि गदिसु गदी ॥१२८॥

गदिमधिगदस्स देहो देहादो
इन्दियाणी जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहण तत्तो
रागो य दोसो वा ॥१२९॥

जायदि जीवस्सेयं भावो
ससारचक्कवालम्मि।
इति-जिणवरेहिं भणिदो अणादि-
णिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥

अर्थ—जो जीव ससार मे स्थित है उसके रागद्वेष रूप परिणाम होते है। उन परिणामो से नये कर्म बधते हैं। कर्मों से गतियो मे जन्म लेना पडता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर मे इन्द्रियाँ होती है। इन्द्रियो से यह जीव विषयो को ग्रहण करता है। विषयो के ग्रहण करने से इष्ट विषयो मे राग-भाव व अनिष्ट विषयो मे द्वेषभाव पैदा होता है। इस प्रकार ससार चक्र मे पड़े हुए जीव के भावो से कर्मबन्ध और कर्मबन्ध

से रागद्वेप रूप भाव होते रहते है। यह चक्र अभव्य जीवो की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीवो की अपेक्षा से अनादि शात है।

यह जीव स्थूल शरीरो को अनन्तवार ग्रहण कर-कर के छोडता आया है। परन्तु तव भी यह संसार से नही छूट सका है। जव तक इसके सूक्ष्म कार्मण शरीर लगा हुआ है तव तक यह ससार से नही छूट सकता है। जैसे जव तक चावल पर से छिलका दूर नही हो जाता तव तक उसमे अकुरोत्पत्ति वनी ही रहेगी। उसी प्रकार जव तक कर्मरूप छिलका आत्मा पर वना हुआ है तव तक ससाररूप अकुर भी वना ही रहेगा। भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होता रहता है। पूर्वकर्मों के उदयकाल मे होने वाले रागद्वेप भावो को भावकर्म कहते है और रागद्वेप से होने वाला कर्मवन्ध द्रव्यकर्म कहलाता है।

प्रश्न पूर्व सचित कर्मों के उदय से रागद्वेप भाव होते हैं और रागद्वेष से नये कर्म वधते है यह क्रम वीज वृक्ष की तरह अगर अनादि से चला आ रहा है तो इसका उच्छेद तो कभी होने का नही है।

उत्तर : आगम वाक्य ऐसा है—

दग्धे वीजे यथात्यय प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्म वीजे तथा दग्धे न रोहति भवाकुरः॥

अर्थ जैसे जले हुए बीज मे बिल्कुल भी अकुर पैदा नहीं होता है। उसी प्रकार कर्मरूपी वीज के जला देने पर उससे भी भवाकुर उत्पन्न नही होता है। तात्पर्य इसका यह हुआ कि—

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] रामादि [illegible] लिखे हैं तो [illegible]

का स्वभाव पडेगा। इसे ही प्रदेशबंध और प्रकृतिबध कहते है। योग से सिर्फ इतना ही काम होता है। कर्मों का आत्मा के साथ अमुक काल तक टिके रहना और अपना फल आत्मा को पहुँचाना जिसे कि स्थिति वन्ध और अनुभाग वन्ध कहते है यह काम अकेले योग का नही है, योग के साथ होने वाली कषायो का है। कषायो के बिना कर्म परमाणु आत्मा मे टिकते नही हैं। जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते है। जैसे एक स्तम्भ पर यदि सच्चिकण वस्तु तैलादि लिपटे हुए हो तो वायु से उडकर आई धूलि स्तम्भ पर चिपट जाती है। वरना चिपटती नही है— स्तम्भ का स्पर्शमात्र होकर वह गिर पडती है। स्तम्भ पर जितना हलका-गहरा चेप लगा होगा उसी माफक धूलि हलकी-गहरी चिपक सकेगी। उसी तरह यदि कपाय तीव्र होगी तो कर्म जीव के साथ वहुत समय तक वन्धे रहेंगे और फल भी तीव्र देंगे। यदि कषाय हल्की होगी तो कर्म कम समय तक वन्धे रहेगे और फल भी कम देगे।

कर्मों के स्वभाव आठ प्रकार के हैं, इस कारण उन-उन स्वभाव के रखने वाले कर्मों के नाम भी वैसे ही रख दिये गये हैं। वे नाम इस प्रकार हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतराय।

(१) ज्ञानावरण कर्म—जीव के ज्ञानगुण को पूर्णत प्रगट नही होने देता है। इसी की वजह से अलग-अलग जीवो मे ज्ञान की हीनाधिकता पाई जाती है।

(२) दर्शनावरण कर्म—जीव के दर्शनगुण को ढाकता है।

(३) वेदनीय कर्म—जीव को सुख-दु ख का अनुभवन कराता है।

(४) मोहनीय कर्म—मोहित कर देता है—मूढ बनाता है। इसके दो भेद है एक वह जो जीव को सच्चे मार्ग का भान नहीं होने देता, इसका नाम दर्शन-मोहनीय है। दूसरा वह जो सच्चे मार्ग का भान हो जाने पर भी उस पर चलने नही देता। इसे चारित्र मोहनीय कहते हैं।

(५) आयु कर्म—यह किसी अमुक समय तक जीव को किसी एक शरीर मे रोके रखता है। इसके छिद जाने पर जीव की मृत्यु कही जाती है।

(६) नाम कर्म—इसकी वजह से शरीर और उसके अगोपाग आदि की रचना होती है। चौरासी लाख योनियो मे जो जीव की अनन्त आकृतियाँ है उनका निर्माता यही कर्म है।

(७) गोत्र कर्म—इसके कारण जीव ऊँच-नीच कुल का कहा जाता है।

(८) अन्तराय कर्म—इसकी वजह से इच्छित वस्तु की प्राप्ति मे रुकावट पैदा होती है।

जैन सिद्धांत मे कर्मों की १० मुख्य अवस्थायें या कर्मों में होने वाली दस मुख्य क्रियाये बतलाई है जिन्हे करण कहते हैं। उनके नाम-बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, सक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना है।

बंध—कर्म पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होने को बन्ध कहते है। यह सबसे पहली दशा है। इसके बिना अन्य कोई अवस्था नहीं हो सकती। इसके चार भेद है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश बन्ध। जब जीव के साथ कर्म पुद्गलो का बन्ध होता है तो उनमे जीव के योग और

कषाय के निमित्त से चार बाते होती हैं। प्रथम तुरन्त ही उनमे ज्ञानादिक के आवरण करने वगैरह का स्वभाव पड जाता है। दूसरे उनमे स्थिति पड जाती है कि—ये अमुक समय तक जीव के साथ बन्धे रहेगे। तीसरे उनमे तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति पड जाती है। चौथे वे नियत तादाद मे ही जीव से सम्बद्ध होते हैं।

उत्कर्षण- स्थिति और अनुभाग के वढने को उत्कर्षण कहते हैं।

अपकर्षण—स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते है।

बन्ध के बाद बन्धे हुए कर्मों मे ये दोनो उत्कर्षण-अपकर्षण होते है। बुरे कर्मों का बन्ध करने के बाद यदि जीव अच्छे कर्म करता है तो उसके पहिले बाधे हुए बुरे कर्मो की स्थिति और फलदान शक्ति अच्छे भावो के प्रभाव से घट जाती है। इसे ही अपकर्षण कहते हैं और अगर बुरे कर्मों का बन्ध करके उसके भाव और भी अधिक कलुषित हो जाते है जिससे वह और भी अधिक बुरे काम करने पर उतारू हो जाता है तो बुरे भावो का असर पाकर पूर्व मे बाधे हुए कर्मों की स्थिति और फलदान शक्ति और भी अधिक बढ जाती है, इसे ही उत्कर्षण कहते है। इन दोनो के कारण ही कोई कर्म जल्दी फल देता है और कोई देर मे। तथा किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द।

सत्ता—बधने के बाद तुरन्त ही कर्म अपना फल नहीं देता है। कुछ समय बाद उसका फल मिलना शुरू होता है। तब तक वह सत्ता मे रहता है। जैसे शराब पीते ही तुरन्त

अपना असर नही देती किन्तु कुछ समय बाद अपना असर दिखलाती है। वैसे ही कर्म भी बधने के बाद तुरन्त अपना फल न देकर कुछ समय तक सत्ता मे रहते है। इस काल को जैन परिभाषा मे अबाधा काल कहते है।

उदय—कर्मों के फल देने को उदय कहते है। यह उदय दो तरह का होता है। फलोदय और प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाता है तो वह फलोदय कहा जाता है और जब कर्म बिना फल दिये ही अलग हो जाता है तो उसे प्रदेशोदय कहते है।

उदीरणा—जैसे आमो को पाल मे देने से वे डाल की अपेक्षा जल्दी पक जाते है। उसी तरह कभी-कभी कर्मों का अपना स्थितिकाल पूरा किये बिना ही फल भुगता देना उदीरणा कहलाती है। उदीरणा के लिये पहिले अपकर्षणकरण के द्वारा कर्म की स्थिति को कम करना पडता है। जब कोई असमय मे भी मर जाता है तो उसकी अकाल मृत्यु कही जाती है। इसका कारण आयु कर्म की उदीरणा ही है। स्थिति का घात हुए बिना उदीरणा नहीं होती।

सक्रमण—एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जाने को सक्रमणकरण कहते हैं। यह सक्रमण कर्मों के मूल भेदो मे नही होता है न ज्ञानावरण दर्शनावरण रूप होता और न दर्शनावरण ज्ञानावरण रूप ही। किन्तु अपने ही अवातर भेदो मे होता है जैसे वेदनीय कर्म के दो भेदो से साता वेदनीय असाता वेदनीय रूप हो सकता है और असाता वेदनीय साता वेदनीय रूप हो सकता है। किन्तु कर्म के लिये अपवाद है। आयु कर्म के चार भेदो मे परस्पर सक्रमण नही होता है। जिस गति की

आयु बाधी है नियमतः उसी गति मे जाना पड़ता है। उसमें रद्दोबदल नही हो सकता।

उपशम—कर्म को उदय मे आ सकने के अयोग्य कर देना उपशमकरण कहलाता है।

निधत्ति—जिस कर्म की उदीरणा हो सकती हो किन्तु उदय और संक्रमण न हो सके उसको निधत्ति कहते हैं।

निकाचना—जिस कर्म की उदीरणा, सक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारो ही अवस्थायें न हो सकें उसे निकाचना-करण कहते है।

और भी कर्म सिद्धांत की बहुत सी बाते हैं जो जैन कर्म साहित्य से जानी जा सकती हैं। यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखा जाता।

शंका—कर्म जड (ज्ञान शून्य) होते है। उन्हे ऐसा बोध ही नही होता कि—अमुक जीवो को अमुक समय पर उनकी अमुक-अमुक करणी का अमुक-अमुक फल देना है, ऐसी सूरत में जैनो का कर्म सिद्धात निरर्थक सा प्रतीत होता है।

समाधान—जड पदार्थ भी अपनी शक्ति और स्वभाव के अनुसार ठीक समय पर व्यवस्थित्त काम करते देखे जाते है। समुचित मात्रा मे सर्दी गर्मी के मिलने पर बर्फ गिरना, बरसात होना, ठडक-गर्मी का पडना, बादलो के आपस मे टकराने पर बिजली उत्पन्न होना, भूचाल-तूफान आना, ऋतुओ का पलटना आदि प्राय सभी काम जड़ पदार्थों के अपने-अपने स्वभावानुसार ठीक समय पर अपने आप हो जाया करते है। कोई भी ज्ञान-धारी वहा कुछ करने धरने नहीं पहुचता है। हम भोजन करते

है। हमारा काम सिर्फ आहार को पेट मे पहुँचा देना होता है। आगे वह उदरस्थ आहार बगैर हमारे प्रयत्न के अपने आप अनेक क्रियायें करता है। यथायोग्य जठराग्नि के द्वारा यथायोग्य रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, वीर्यादि बन जाते है। यह सब काम जड़ ही करता है कि यह प्रत्यक्ष है। यह बात निम्न गाथा मे कही है –

जह पुरिसेणाहारो गहियो।
परिणमइ सो अणेयविहं।
मसवसा रुहिरादी भावे।
उयरग्गिसंजुत्तो ॥१७९॥
[समयप्राभृत]

अर्थ—जिस प्रकार पुरुष के द्वारा खाया गया भोजन जठराग्नि के निमित्त से मास, चरबी, रुधिरादि रूप परिणत हो जाता है उसी प्रकार यह जीव अपने भावों के द्वारा जिस कर्म पुंज को ग्रहण करता है। उसका तीव्र, मंद मध्यम कषाय के अनुसार विविध रूप परिणमन होकर वह अनेक प्रकार से फल देता है।

आये दिन अखबारो मे पूर्व जन्म की घटनायें छपती रहती हैं जिनमे कर्मों की फल प्राप्ति का भी जिकर आ जाया करता है। ऐसी ही एक घटना का हाल हम यहाँ लिख देते है—

आयरलैंड मे एक चार वर्ष के बालक ने अपनी पूर्व जन्म की कथा लोगों के सामने अपने माता-पिता को बार-बार सुनाई। प्रथम तो माता-पिता का उस कथा को सुनकर विश्वास ही नहीं हुआ और यह समझा कि बालक के मस्तक से बिगाड़

हो गया है या माइड मे गर्मी बढ गई दिखती है, इसलिये इसका अच्छा इलाज कराना चाहिये। अनेक अच्छे-अच्छे डाक्टरो ने उस बालक के मस्तिष्क की जाच करके कहा कि इसका मस्तिष्क पूर्णत शुद्ध और निर्विकार है। जैसा उत्तम मस्तिष्क इसका है वैसा अन्य बालको मे मिलना कठिन है। तब लाचार होकर माता-पिता ने उस बालक के कथनानुसार उसके जन्मातर के माता-पिता की खोज कराई। बालक ने जंन्मातर के अपने माता पिता का निवास काठियावाड मे राजकोट के पास एक ग्राम में बताया था। भारत सरकार द्वारा शोध की गई तो उसके माता-पिता आदि के नाम, उस बालक की पूर्व जन्म मे मरने की तारीख, उसके बताये घर के काम सब ज्यों के त्यो मिल गये। मरण के ८॥ मास बाद उस बालक ने आयरलेंड मे जन्म लिया था। पूर्व जन्म मे उस बालक के जीव ने एक पडोसी बुढिया की रुग्णावस्था मे सेवा की थी और गरीब लोगो को वस्त्र दान मे बाटे थे। जिन वस्त्रो को वह दान मे देता था, एक दिन उनमे सर्प छिपकर बैठ गया और बालक के पूर्वभव के जीव को काट खाया उससे मरकर वह आयरलेंड मे एक करोडपति के यहाँ पैदा हुआ।

इस प्रकार कर्म सिद्धांतके विपयो में जितनी युक्तियुक्त और सूक्ष्म विवेचना जैनधर्म मे की गई है वैसी अन्य धर्म मे नही है। अनेकातवाद, अहिंसावाद की तरह कर्मवाद भी जैनधर्म का एक खास सिद्धांत है। कर्म क्या है? क्यो बन्धते हैं? बन्धने के क्या-क्या कारण है? जीव के साथ वे कब तक रहते हैं? क्या-क्या फल देते हैं? उनसे छुटकारा कैसे हो सकता है? इत्यादि बातों का खुलासा केवल जैन-धर्म मे ही मिलता है और बिल्कुल वैज्ञानिक ढग से मिलता है।

४५

क्या कभी जैनी भाई भी विद्वानों का आदर करना सीखेंगे ?

"वीरवाणी" के हाल ही के अंक में बम्बई में इन बीस वर्षों में किसी जैन विद्वान् का स्थायी निवास न होने पर चिंता व्यक्त की गई है। अभी हुआ ही क्या है ? आगे २ देखना होता है क्या ? जैन विद्वानों के प्रति जैसा रवैय्या दि० जैन समाज अपना रही है, यदि यही हाल रहा तो थोड़ेही वर्षों में बम्बई ही नहीं अन्य शहरों के लिये भी यह चिंता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायेगी। हम देखते है कि जिस दि० जैन समाज मे विद्वत्ता की प्राप्ति से न तो जीविका की समस्या हल होती है और न ही उसका विद्वता के लिहाज से सन्मान ही होता है। उस समाज मे भला विद्वान् बनने की किसको इच्छा होगी ? यहाँ तो सब धान २२ पसेरी है, यह तो वणिक् समाज है। इस समाज मे विद्वानो की कदर नही है। धनाढ्यो की कदर है। यहाँ विद्या से अधिक धन को महत्व दिया जाता है। एक विद्वान् शास्त्रोक्त बात कहे तो पंचायत मे उसकी कोई नही सुनेगा। वहाँ श्रीमतो का ही बोलबाला देखा जाता है उन्होंने जो कुछ कह दिया तो उनकी हाँ मे हाँ सब मिला देंगे। ऐसा इस समाज का हाल है। "धनवान् बलवान् लोके धनाद्‌भवति पंडितः" की

उक्ति यहाँ चरितार्थ हो रही है। "विद्वान् सर्वत्र पूज्यते" का जमाना अब नही रहा। वह पुराना जमाना था जब राजा भोज जैसे विद्याप्रेमी नरपुगव इस धरातल पर बसते थे। उनके लिये कहा जाता है कि एक महाविद्वान् ने जिस दम यह सुना कि राजाभोज का स्वर्गवास होगया तो उसके मुँह से एकदम निकल पडा कि—

अद्य धारा निराधारा निरालबा सरस्वती।
पंडिता खडिताः सर्वे भोजराजे दिवगते॥

अर्थ—राजा भोज के स्वर्ग सिधारने पर आज धारा नगरी निराधार होगई। सरस्वती को अब आश्रय देने वाला कोई नही रहा। पडित सब खडित होगये—उनका मान सन्मान करने वाला उठ गया।

राजा भोज की यह घोपणा थी कि मेरी नगरी मे सस्कृत का पाठी यदि कुम्हार भी है तो वह खुशी से रहो। पर यदि ब्राह्मण भी है और वह सस्कृत विद्या से हीन है तो वह मेरी नगरी मे नही रह सकता है। कहते है कि उसकी इस नीति के फलस्वरूप उसकी पालकी को ढोने वाले कहार तक सस्कृत के ज्ञाता थे।

प० आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत की टीका मे प्राचीन पद्य इस प्रकार उद्धृत किया है—

जैनश्रुततदाधारौ तीर्थं द्वावेव तत्वत।
संसारस्तीर्यते ताभ्यां तत्सेवी तीर्थसेवकः॥

[सस्कृत सस्करण पृ० १४०]

अर्थ—जिनवाणी और जिनवाणी के ज्ञाता पंडित ये दो ही वास्तव में तीर्थ हैं। क्योंकि ये दोनो ही इस जीवको संसार से तिरानेवाले है। जो उनको सेवा करते हैं वे ही सच्चे तीर्थ सेवक कहलाते है।

मानाकि हमारे प्रतिभाशाली आचार्यो ने हमारे कल्याण के वास्ते उच्चकोटि के शास्त्र रच कर भगवान की वाणी को हमारे तक पहुँचाई। किन्तु उन शास्त्रो को जानने पढने वाले ये पंडित लोग ही जब नही रहेंगे तो उनका व्याख्यान कौन करेगा? शास्त्र ही सब बेकार हो जायेंगे। इसलिये उक्त प्राचीन पद्य मे शास्त्र ही नहीं शास्त्रो के ज्ञाताओ को भी तीर्थतुल्य बताया है वह यथार्थ है। उसमे कुछ भी अत्युक्ति नही है। मुमुक्षुओ के लिये तो एक तरह से वे जैन पंडित ही चलते फिरते जंगमतीर्थ हैं। उसमे कोई शक नही है। किन्तु ये बातें तो उन युग की थी, जब प्राणियो की वांछा संसार सागर से तिरने की रहा करती थी। उनके लिये तो सचमुच ही जैन पंडित तीर्थ-तुल्य ही थे। किन्तु वर्तमान का युग तो अर्थ युग है। इस युग के मनुष्य संसार से तिरना ही नही चाहते हैं उन्होंने तो अपना सबसे बडा कल्याण धन के संग्रह करने मे समझ रक्खा है। जिस परिग्रह को जैनाचार्योंने पाप बता कर उसे त्यागने का उपदेश दिया—उसी परिग्रह के संचय मे इन्होंने अपना उद्धार मान लिया है और कुछ तो धनमद से ऐसे उद्धत होगये है कि—ये जैन पंडितो को तीर्थतुल्य तो क्या मानेंगे उन्हे तृणतुल्य भी नहीं मानते। ऐसी स्थिति मे इनसे यह आशा कभी नही की जा सकती कि ये जैन पंडितों को तीर्थतुल्य मानेंगे।

आचार्य श्री वीरनन्दि ने चंद्रप्रभ काव्य मे लिखा है कि—

"न हारयष्टि. परमेव दुर्लभा
समतभद्रादिभवा च भारती ।"

वहुमूल्य हार की लडी इतनी दुर्लभ नही है जितनी कि समतभद्रादि ऋषियो की वाणी दुर्लभ है ।

यह प्रतिष्ठा की वात है कि आज के कुछ जैनधन कुवेर साहित्य की ओर आकर्षित हुये है । वे किसी विशिष्ट साहित्यिक रचना पर प्रति वर्ष लाख २ रुपयो का पुरस्कार देने मे भी सकोच् नही करते हैं । ये पुरस्कार अभी तक जैनेतरो को ही मिल पाये है । क्योकि उसका कार्यक्षेत्र सार्वजनिक है । उसका उद्देश्य प्रधानत जिनवाणी के ज्ञाता विद्वानो के प्रोत्साहन के लिये नही है । जिस जिनवाणी को कि हमारे आचार्यों ने अपार मूल्य की वताई है । पं० आशाधरजी ने कहा है—

"वरमेकोऽप्युपकृतो जंनो नान्ये सहस्रश ।"

"एक भी जैन का उपकार करना जितना श्रेष्ठ है उतना अन्य हजारो का उपकार करना नही है ।" इस मर्म को समझने की जरूरत है ।

जैन साहित्य और उसके ज्ञाताओं के विना त्रिकाल में भी जैनधर्म का प्रकाश नही हो सकता है यह अटल सत्य है । एक कवि ने भी कहा है कि—

अंधकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नही है ।
है वह मुर्दा देश, जहाँ साहित्य नहीं है ।।

आज के श्रीमानो को जैन पडितो की जरूरत भी क्या है ? इनके विना उनका कौनसा काम विगड रहा है ? कभी २ उनको पूजा प्रतिष्ठा या जैन विवाहादि के अवसर मे जैन

पडितो की जरूरत पड जाती है तो थोडी बहुत उनकी खुशामदी करके अपना काम निकाल ही लेते है। काम निकले बाद कभी उनको फूटी आँख से भी वे नही देखते है। अहसान मानना तो दूर रहा। यही नही जैन लेखक जब समय लगा कर बडे परिश्रम से लेख लिखकर अपना ही गाठ का डाक खर्च लगाकर उन्हें दि० जैन पत्रो मे प्रकाशनार्थ भेजते हैं तो पत्रकार उन्हे किसी तरह छाप तो देते हैं। परन्तु जिस अक मे वह छापा जाता है वह अक भी उन लेखको को फ्री नही भेजा जाता है। इस अनुदारता का भी कोई ठिकाना है। ऐसी नीति जैनमित्र आदि कुछेक पत्रो को छोडकर बाकी सब ही की है। श्वेताम्बर जैन पत्रकार तो अंक ही नही दि० जैन लेखको को पुरस्कार तक भी देते हैं। गीता प्रेस गोरखपुर का विख्यात पत्र 'कल्याण" मे भी किसी का लेख छपता है तो लेखक को साधारण अक ही नहीं उसका बहुमूल्य विशेषाक भी भेट मे मिलता हैं। परन्तु दि० जनपत्रो का अजब हाल है। उन्हे लेखको की परवाह नही है। जिस समाज मे पंडितो के प्रति ऐसा रूखा व्यवहार है उस समाज मे पडित नजर आरहे हैं यहो आश्चर्य है। समाज की जैसी मनोवृत्ति है वैसी ही दशा उसकी होकर रहेगी। वह समय दूर नही जब सैकडो कोसो पर कोई विरला ही जैन पडित सुनने को मिलेगा और तब पडितों के लिये समाज तरसेगी। आये साल जैन पडितो की कमी होती जा रही है। इस वर्ष ही तीन प्रसिद्ध पडित—अजितकुमार जी, जुगलकिशोरजी और चैनसुखदासजी चल बसे। इसी तरह दस बीस वर्षों मे पुराने पडित सब दिवगत हो जायेंगे। और समाज को पडितो के प्रति वर्तमान मे जो उपेक्षावृत्ति है उसे देखते हुये नये पडित भी कोई क्यों बनेगे ?

हमने भूमिका ही कुछ ऐसी बनादी है जिससे पण्डित होना एक अभिशापही समझा जावेगा (जैन पण्डितो की दो स्थानो के लिये माग होती है—एक जैन विद्यालयो में अध्यापक के लिये और दूसरी शास्त्र सभा के लिये। सो शास्त्र सभा के लिये तो ऐसी कोई जरूरी नही है, पण्डित आसानी से मिल जाये तो ठीक हैं, नही तो न सही। क्योकि धार्मिक रुचि लोगो मे घटती जा रही है। रही अध्यापकी की बात सो जैन विद्यालय तो तेजी से उठते जा रहे हैं। क्योकि आज के जैनी भाई प्राय अपने लडको को सरकारी स्कूलो मे ही पढाना ही अच्छा समझते है। कारण कि वहाँ की पढाई से अच्छी तनखा पर सरकारी नौकरी मिल जाती है ऐसी उनकी धारणा है। जैन विद्यालय की पढाई से तो न समाज मे पूछ है और न कोई नौकरी है। और जैन विद्यालयो मे नौकरी भी कही मिल जाये तो वहुत कम वेतन पर, जिससे उसका गुजारा भी मुश्किल से चले। अत उनका कहना हैं कि—इस पढाई को पढाना एक तरह से लडको का जीवन विगाडना है इस प्रकार जिन कामो के लिये जैन पण्डितो की जरूरत पडती थी वे काम ही अब नही रह रहे हैं तो नये जैन पण्डित होने की आशा ही अब क्या की जावे ?) इतना सवकुछ होते हुए भी समाज जैन पण्डितो का वहु सन्मान करती होती, उनको अपनी पलको पर वैठाती होती तवभी कुछ गनीमत थी, इससे यह क्रम किसी तरह चलता रहता, किन्तु आज तो स्थिति बडी भयकर है। समाज हितैषी नेताओ का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे इस समस्या पर दूरदर्शिता से अविलम्व विचार करे।

विद्वानो के प्रति ही नही, अधिकांश श्रीमतो की अभिरुचि तो जैन साहित्य के प्रति भी नही है। प्राय. सभी जैन

मन्दिरों के प्रबंधक ये ही लोग होते है और जैन मन्दिरो मे रुपये की कभी प्राय होती नहीं उस रुपैये को ये लोग मन्दिर के अन्य कामो मे तो अनाप-सनाप खर्च कर देते है, पर जब यह कहा जाता है कि—जो जैन शास्त्र नये प्रकाशित होते हैं उनकी एक २ प्रति जैन मन्दिर मे अवश्य मगानी चाहिए-तो उत्तर मिलता हैं "यह तो फिजूल खर्च है, कौन पढने वाला है।" इन श्रीमतो के लिये जिनवाणी आकर्षण की चीज नही हैं। क्योंकि ये लक्ष्मी के दास उसके स्वाद को नहीं जानते है।

किसी कवि के कहा है—

"यथा किराती करिकुम्भ जातां,
मुक्तां परित्यज्य बिभर्तिगुञ्जां।"

जैसे भीलणी के सामने गजमोती और चिरमिये रक्खी जायें तो वह चिरमियो को ग्रहण करेगी, गजमोतियों को नही। क्योंकि वह गजमोतियों के महत्व को नहीं जानती है। यही हालत समाज की प्रायः शास्त्र और शास्त्रज्ञो के साथ है, वह इनका कुछ भी महत्व नही समझती यह स्थिति बडी भयंकर हैं धर्म का मूल ही संकट मे हैं।

(कुछ भी हो यदि धर्म की गाडी चलानी है तो वह सुचारु रूप से सरस्वती और लक्ष्मी इन दो पहियो से ही चल सकेगी, अकेली एक एक लक्ष्मी से नही।)

अन्तमे समाज से मेरा निवेदन है कि मैंने जो यह कटु-सत्य लिखा है उसके लिए मुझे क्षमा करेंगे और इस गम्भीर समस्या पर दूरदर्शिता से विचार कर समुचित समाधान सामने लायेंगे।



वास्तुदेव

श्री प० आशाधरजी ने अपने बनाये प्रतिष्ठा पाठ पत्र ४१ मे और अभिषेक पाठ के श्लोक ४४ मे वास्तुदेव का उल्लेख निम्न शब्दो मे किया है—

श्री वास्तुदेव वास्तूनामधिष्ठातृतयानिशम् ।
कुर्वन्ननुग्रहं कस्य मान्यो नासीति मान्यसे ।।४४।।
ओ ह्रीं वास्तुदेवाय इदमर्घं पाद्यं · ....

अर्थ—हे श्री वास्तुदेव (गृह देव) तुम गृहो के अधिष्ठाताप ने से निरन्तर उपकार करते हुये किसके मान्य नही हो ? सभी के मान्य हो इसी से मैं भी आपको मानता हू ।

ऐसा कह कर वास्तुदेव के लिये अर्घ देवे ।

श्रुतसागर ने वास्तुदेव की व्याख्या ऐसी की है—"वास्तुरेव देवो वास्तुदेव ।" घर ही को देव मानना वास्तुदेव है। जैसे लौकिक मे अन्नदेव, जलदेव, अग्निदेव आदि माने जाते हैं। इससे मालूम होता है कि श्रुतसागर की दृष्टि मे वह कोई देवगति का देव नही है। करणानुयोगी-लोकानुयोगी ग्रन्थों मे भी वास्तु नाम के किसी देव का उल्लेख पढने मे नही आया है। आशाधर ने इस देव का नाम क्या है यह भी नही लिखा है। यहां तक कि इसका स्वरूप भी नही लिखा है।

प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र के सामने भी आशाधर का उक्त श्लोक था। जिसके भावको लेकर उन्होंने जो श्लोक रचा है वह प्रतिष्ठातिलक के पृष्ठ ३८७ पर इस प्रकार है—

सर्वेषु वास्तुषु सदा निवसत मेनं
श्री वास्तुदेवमखिलस्य कृतोपकारं ।
प्रागेव वास्तुविधि कल्पितयज्ञभागमी-
शानकोणदिशि पूजनया धिनोमि ॥

अर्थ—सब घरों में सदा निवास करने वाले और सबका जिसने उपकार किया है तथा पहिले से ही जिसका ईशान कोण की दिशा में वास्तुविधि से यज्ञ भाग कल्पित है ऐसे इस वास्तु-देव को पूजता हूं।

अभिषेक पाठ संग्रहके अन्य पाठों में वास्तुदेव का उल्लेख नहीं है। हां अगर जिनगृहदेव को वास्तुदेव मान लिया जाये तो कदाचित् जैनधर्म से इसकी संगति बैठाई जा सकती है। क्योंकि जैनागम में जिन मन्दिर की नवदेवों में गणना की है। पता नहीं आशाधर और नेमिचन्द्र का वास्तुदेव के विषय में यही अभिप्राय रहा है या और कोई? फिरभी यह तो स्पष्ट ही है कि जैन कहे जाने वाले अन्य कितने ही क्रियाकांडी ग्रन्थों में वास्तुदेव को जिनगृहदेव के अर्थ में नहीं लिया है।

जैसे कि नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के परिशिष्ट में वास्तु बलि विधान नामक एक प्रकरण छपा है वह न मालूम नेमिचन्द्र कृत है या अन्य कृत? उसमें वास्तुदेवों के नाम इस प्रकार लिखे हैं—

"आर्य, विवस्वत्, मित्र, भूधर, सविंद्र, साविंद्र, इन्द्रराज, रुद्र, रुद्रराज, आप, आपवत्स, पर्जन्य, जयंत, भास्कर, सत्यक, भृशुदेव,अतरिक्ष, पूषा, वितथ, राक्षस, गधर्व, भृंगराज, मृषदेव, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदत, असुर, शोष, रोग, नाग, मुख्य, भल्लाट, मृग, आदिति, उदिति, विचारि, पूतना, पापराक्षसी और चरकी ये ४० नाम हैं।"

वास्तुदेवो के इसी तरह के नाम जैनेतर ग्रन्थो मे लिखे मिलते है (देखो सर्वदेव प्रतिष्ठा प्रकाश व वास्तु विद्या के अजैन ग्रन्थ) वही से हमारे यहाँ आये है। वे भी आशाधर के बाद के क्रिया-कांडी ग्रन्थो मे–पुन्याहवाचन पाठो मे। यह बलि विधान इसी रूप मे आशाधर पूजा-पाठ नाम की पुस्तक मे भी छपा है। वहाँ दस दिग्पालो को भी वास्तुदेवोमे गिना है। जैनेतर ग्रन्थो मे ऐसा नही है।

एक सधि जिन सहिता मे भी वास्तुदेव बलि विधान नामक २४ वा परिच्छेद है जिसमे भी उक्त ४० नामो के साथ दश दिग्पालो के नाम है, ऐसा मालूम होता है कि—वास्तुदेवो को बलि देने के पहिले दिग्पालो का बलिविधान लिखा हो और लगते ही वास्तुदेवो को बलि देने का कथन किया है इस तरह से भी वास्तुदेवो मे दिग्पाल देव सामिल हो सकते है। अन्य मत मे वास्तुदेवो को बलि देने की सामग्री मे मधु-मास आदि है। जैन मत मे मांस को सामग्री मे नही लिया है तथापि मधु को तो लिया ही है।

एक संधि सहिता के उक्त परिच्छेद के १७ वे श्लोक मे मजेदार बात यह लिखी है–बलि देते वक्त बलि द्रव्यो को लिये

हुए आभूषणो से भूषित कोई कन्या या वेश्या अथवा कोई मदमाती स्त्री होनी चाहिये । यथा—

बलिप्रदानकाले तु योग्या स्याद् बलिधारणे।
भूषिता कन्यका वा स्याद् वेश्या वा मत्तकामिनी ॥१७॥
[परिच्छेद २४]

ऐसा कथन नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा पाठ मे छपे इस प्रकरण के पृष्ठ ४ के श्लोक ११ से भी प्रतिभासित होता है।

जिन शास्त्रोमे साफ तौर पर अन्यमतके माने हुए देवोंकी आराधना का कथन किया है और उनको आराधना विधि मे ऐसी वाहियात बाते वेश्या आदि की लिखी है। उन शास्त्रो को हम केवल यह देखकर जिनवाणी मानते रहे कि वे सस्कृत प्राकृत मे लिखे है और किन्ही जैन नामधारी बड़े विद्वान् के रचे हुये है जब तक हमारे मे यह आगममूढता बनी रहेगी तब तक हम जैन धर्म का उज्ज्वल रूप नही पा सकेंगे। इन मिथ्या देवो का ऐसा कुछ जाल छाया हुआ है कि पडित लोग भी इनके दुर्मोह मे ग्रसित है। शुद्धाम्नायी प० शिवजीरामजी राची वालो का लिखा एक प्रतिष्ठा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसमे इन सभी वास्तुदेवो की उपासना का वर्णन किया है। बलिहारी है उनके शुद्धाम्नाय की।

वास्तुदेवो के जो नाम जैन ग्रन्थों मे लिखे मिलते हैं उनकी अन्यमत के नामो से कही २ भिन्नता भी है। जैसे अन्य-मत के नामअर्यमा, सविितृ सावित्र, शेष, दिति विदारि। इनके स्थान मे जैनमत के नाम क्रम से ये है—आर्य, सविद्र, साविद्र, शोष, उदिति और विचारि। इन नामो मे थोड़ासा ही अक्षर

भेद है। यह भेद लिखने-पढने की गलती से भी हो सकता है। कुछ नामभेद शायद इस कारण से भी किये हो कि उनमे स्पष्टत अजैनत्व झलकता है। जैसे अर्यमा का आर्य, शेप का शोष दिति का उदिति बनाया गया है। क्योकि अन्यमत मे आर्यमा का अर्थ पितरो का राजा, शेप का अर्थ शेप-नाग, दिति का अर्थ दैत्यो की माता होता ह। सविद्र और सावित्र शब्दो का कुछ अर्थ समझ नही पडता है, जरूर ये शुद्ध शब्द सवितृ और सावित्र का विगडा रूप है। इसी तरह शुद्ध शब्द विदारि का गल्ती से विचारि लिखा पढा गया है।

वास्तुदेवो के नामो मे रुद्र, जयत (यह नाम इन्द्र के पुत्र का है) और अदिति (यह देवो की माता का नाम है) ये नाम दोनो ही मतो के नामो मे हैं। परन्तु मूल मे ये नाम साफ और पर ब्राह्मणमत के मालूम देते हैं। जैन मान्यता के अनुसार इन्द्र का पुत्र और देवो की माता का कथन बनता नही है। जैनमत मे देवो के माता पिता होते ही नही हैं, न रुद्र ही कोई उपास्य देव माना गया है।

भगवान् महावीर ने ब्राह्मणमत की फैली हुई जिन मिथ्या रूढियो का जबरदस्त भडाफोड किया था खेद है उनके शासन मे ही आगे चलकर वे रूढिये प्रवेश कर गई है।



श्री सीमंधर स्वामी का समय

जिस क्षेत्र के बीच मे मेरु पर्वत होता है उसको विदेह क्षेत्र बोलते है। इस क्षेत्र मे देवकुरु-उत्तरकुरु को छोड कर शेष मे सदा चतुर्थ काल रहता है। जहाँ कभी मोक्षमार्ग बंद नहीं होता है। और सदा ही जहाँ के मनुष्यो की काय प्रायः पाचसौ धनुष की ऊँची व आयु अधिक से अधिक एक करोड पूर्व वर्ष की होती है। मेरु से पूर्व दिशा की तरफ का भाग पूर्व विदेह और पश्चिम का भाग पश्चिम विदेह कहलाता है। अढाई द्वीप मे पाच मेरु पर्वत होने के कारण पाँच विदेह क्षेत्र होते हैं। सभी विदेहो मे उक्तप्रकार से पूर्व-पश्चिम भाग होते है। पूर्व-पश्चिम भागो मे सोलह २ महादेश होते है। पाँच विदेहो के दश भागो मे कुल महादेशो की संख्या १६० होती है। कभी २ एक ही समय मे इन १६० देशो मे १६० तीर्थंकरो का सद्भाव रहता है। कहते है श्री अजीत नाथ स्वामी के समय मे पांचो विदेहो मे १६० तीर्थंकर विद्यमान थे। निश्चयत प्रत्येक विदेह के पूर्व-पश्चिम भाग मे कम से कम दो-दो तीर्थंकर तो हमेशा विद्यमान रहते ही है। तदनुसार पाँचो विदेहो मे कम से कम २० तीर्थंकर नित्य पाये जाते हैं। इस वक्त भी पाँचो विदेहो मे सीमंधरादि २० तीर्थंकर मौजूद हैं। जिस जंबूद्वीप मे हम रहते हैं उसके विदेह क्षेत्र मे भी पूर्व भागमे दो और पश्चिम भाग मे दो कुल ४

तीर्थंकर इस वक्त मौजूद है। सीमधर, युग्मधर वाहु और सुबाहु ये उनके नाम हैं। उनमे से सीमधर स्वामी की नगरी पूर्व विदेहस्थ पुष्कलावती देश की पुडरीकिणी है। युग्मधर की नगरी पश्चिम विदेहस्थ व प्रदेश की 'विजया' है। वाहु भगवान् की नगरी पूर्वविदेहस्थ वत्म की 'सुसीमा' है और सुबाहु की नगरी पश्चिमविदेहस्थ सरित् देश की 'वीतशोका' है। सीमधरादि बीस तीर्थंकरो का चरित्र ग्रन्थ तो हमारे देखने मे नही आया है। अलवत्ता बीस बिहरमान पूजापाठो मे उनके माता-पिता चिह्न आदिको के नाम जरूर पढे है।

अब हमे यह देखना है कि ये बीस तीर्थंकर जो इस समय विदेहो मे विद्यमान हैं। इनका प्रादुर्भाव कब हुआ है ? भरतक्षेत्र के किस २ तीर्थंकर के तीर्थकाल मे ये हुए हैं। शास्त्रो मे इस विषय मे सिर्फ एक सीमधर स्वामी के वारे मे कुछ जानकारी मिलती है। अन्य तीर्थंकरो के बाबत कथन हमारे देखने मे नही आया है।

रविषेण कृत पद्मपुराण पर्व २३ श्लो०-७ आदि मे लिखा है कि—एकबार नारदजी राजा दशरथ से मिलने गये। दशरथ ने उनसे देशातरो का हाल पूछा। उस प्रसग मे उत्तर देते हुए नारदजी ने कहा कि—

"मैं पूर्व विदेह मे गया था, वहाँ पुडरीकिणी नगरी मे सीमधरस्वामी का दीक्षाकल्याणक का महोत्सव मैंने अपनी आँखो से देखा है। उनके उस उत्सव मे इन्द्रादि देव भी विमानो पर चढकर आये थे। मैंने वहाँ यह भी सुना कि इनके जन्म समय मे भी इन्द्रादिको ने आकर इनका जन्माभिषेक मेरु पर्वत

पर किया था। जैसा कल्याणकों का उत्सव यहां भरत क्षेत्र में मुनिसुव्रतभगवान का हुआ है, वैसा ही विदेह में सीमंधर स्वामी का हुआ है।"

इस वृत्तान्त से जाना जाता है कि—सीमंधर स्वामी का अस्तित्व मुनिसुव्रत और नमि तीर्थंकर के अंतराल समय में था।

जिनसेन कृत हरिवंश पुराण पर्व ४३ श्लो० ६० में लिखा है कि—प्रद्युम्न के हरे जाने के बाद उसका पता लगाने को नारदजी पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश की पुंडरीकिणी नगरी में गये। वहाँ समवशरण में पहुंचकर भगवान सीमंधर से प्रद्युम्न का हाल मालूम किया।

पद्मपुराण के कथनानुसार तो सीमंधर ने मुनिसुव्रत और नमि के अंतराल समय में दीक्षा ली थी और हरिवंशपुराण के अनुसार नेमिनाथ के समय में वे केवल ज्ञानी हो गये थे यह तो स्पष्ट ही है कि—पद्मपुराणकार ने पउमचरिय नामक प्राकृत भाषा के पुराण का [illegible] करके अनुसरण किया है। इसी तरह सीमंधर स्वामी का उक्त दीक्षा वृत्तान्त जैसा पउमचरिय में लिखा था वैसा ही पद्मपुराण में लिखा गया है। ऐसा ही कथन हेमचन्द्र कृत जैनरामायण श्वेतांबर ग्रन्थ में भी है।

हरिवंशपुराणकार जिनसेन के समक्ष रविषेण का पद्मपुराण मौजूद था ही अतः जिनसेन ने भी रविषेण के कथन की संगति बैठाते हुये नेमिनाथ के समय में सीमंधर स्वामी को केवल ज्ञानी प्रगट किया और नारद जी ने उनसे प्रद्युम्न का हाल जाना ऐसा लिखा।

इन दोनों ग्रन्थों की इन कथाओं के आधार पर बहुत से

जैनी भाई यह समझे बैठे है कि—मुनिसुव्रत स्वामी के तीर्थकाल से ही सीमधर भगवान् का अस्तित्व चला आ रहा है। महसेन-कृत—प्रद्यु म्नचरित (११ वी शती) पृष्ठ ५२-५३ मे भी प्रद्यु म्न का हाल सीमधर स्वामी से ही जानना लिखा है।

किन्तु आचार्य श्री गुणभद्र प्रणीत उत्तर पुराण मे इससे भिन्न कुछ और ही कथन मिलता है। विदेहक्षेत्र मे जाकर नारद जी ने जिन तीर्थंकर केवली से प्रद्यु म्न का पता लगाया था। वह कथन उत्तर पुराण मे इस प्रकार है—

नारदस्तत्समाकर्ण्य श्रृणु पूर्व विदेहजे।
नगरे पु डरीकिण्यां मया तीर्थकृतो गिरा ॥६८॥
स्वयं प्रभस्य ज्ञातानि वार्ता बालस्य पृच्छता।
भवातराणि तद्वृद्धिस्थानं लाभो महानपि ॥६९॥
[पर्व ७२]

अर्थ—श्रीकृष्णकी वात सुनकर नारद कहने लगा–सुनो! पूर्व विदेह की पु डरीकिणी नगरी मे मैंने स्वयप्रभ तीर्थंकर को वालक प्रद्यु म्न की बात पूछी थी। उनकी वाणी से मैंने प्रद्यु म्न के भवातर जान लिये है। और वह इस वक्त किस स्थान मे वढ रहा है तथा उसको क्या-२ महान् लाभ होने वाला है यह भी मैंने उन्ही भगवान् की वाणी से जान लिया है।

उत्तर पुराण के इस उल्लेख से प्रगट होता है कि—नारद ने प्रद्यु म्न का हाल विदेह क्षेत्र मे स्वयप्रभ तीर्थंकर से जाना था। न कि सीमधर स्वामी से। वहाँ उस वक्त सीमधर थे ही नही, वल्कि वे तो उस समय पैदा भी नही हुए थे। क्योंकि एक नगरी मे ही नही विदेह के किसी एक महादेश मे भी एक काल

मे दो तीर्थंकरो का सद्भाव नही हो सकता है।

यहाँ यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि—ये स्वयंप्रभ तीर्थंकर वे नही है जिनका नाम बीस सीमधरादि मे ६ वे नम्बर पर आता है। वे तो धातकी खण्ड के विदेहक्षेत्र मे हुए हैं। इसलिये उत्तर पुराण मे लिखे उक्त तीर्थंकर पुडरीकिणी नगरी मे उस वक्त कोई जुदे ही स्वयप्रभ नाम के तीर्थंकर थे, जिनके पास मे जाकर नारदजी ने प्रद्युम्न का हाल पूछा था। अगर उस वक्त वहाँ सीमधर होते तो आचार्य गुणभद्र स्वयप्रभ का नाम नही लिखते।

पुष्पदत कवि का बनाया हुआ अपभ्र श भाषा मे एक महापुराण है जिसमे गुणभद्र कृत उत्तरपुराण की कथाओ का अनुसरण किया गया है। उसके तीसरे खण्ड के पृ० १६० पर भी यह कथन उत्तरपुराण के अनुसार ही लिखा है। अर्थात् वहाँ भी प्रद्युम्न का हाल स्वयप्रभ तीर्थंकर ने बताया लिखा है।

इस प्रकार उत्तरपुराण जो कि मूलसघ की परम्परा का ग्रन्थ माना जाता है उसके अनुसार तो नारद जी विदेह मे प्रद्युम्न का हाल पूछने गये तब तक तो सीमधर स्वामी वहाँ विद्यमान ही नही थे इसलिये यही मानना पडता है कि वे बाद मे ही कभी हुए हैं।

जबकि उत्तर पुराण से डेढ सौ वर्ष करीव पहिले पद्मपुराण बन चुका था और हरिवश पुराण भी उत्तर पुराण से पहिले का है फिर भी गुणभद्र ने उनके कथन को अपनाया नही, इससे यही फलितार्थ निकलता है कि रविषेण और जिनसेन (हरिवश पुराणकार) की आम्नाय अलग थी एव गुणभद्र की

अलग थी। भिन्न आम्नाय होने से ही यही नही अन्य भी कितना ही कथन आपस मे मिलता नही है। यह समस्या श्रुतसागर सूरि के सामने भी आई दिखती है卐इसी से उन्होने इसका समाधान करते हुए षट् प्राभृत की सस्कृत टीका के अन्त (पृष्ठ ३७६) में इस प्रकार लिखा है —

"पूर्व विदेह पुण्डरीकिणी नगर वदित सीमंधरा पर नाम स्वयं-प्रभ जिनेन ...."

अर्थ : पूर्व विदेह की पुण्डरीकिणी नगरी के जो सीमंधर हैं उन्ही का दूसरा नाम स्वयप्रभ है।)

यह समाधान कहाँ तक समुचित है इस पर विशेषज्ञ विद्वान् विचार करें। वृहज्जैन शब्दार्णव प्रथम भागमे, मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रारम्भ मे, पुण्याह वाचन मे, द्यानतराय जी जोहरीलाल जी थानसिह जी कृत बीस विहरमान पूजाओ मे, सस्कृत विद्यमान विशति जिन पूजा आदि मे बीस तीर्थंकरो के नाम इस प्रकार है :—

१ सीमधर २ युग्मधर ३ बाहु ४ सुबाहु
५ सजातक ६ स्वयंप्रभ ७ ऋषभानन ८. अनतवीर्य

卐 विदेह मे सीमधर नाम के तीर्थकर तो हमेशा ही रहते है कभी उनका अभाव नही होता। एक के बाद दूसरे इसी नाम से निरन्तर होते रहते हैं ऐसी ही मान्यता है (जैसे हिन्दुओ मे शकराचार्य और जैन भट्टारको मे चारु कीर्ति स्वामी आजतक होते आरहे हैं कभी भी इस नाम से पट्ट खाली नही रहता)—इसीसे श्रुतसागर सूरि ने ऐसा समाधान किया है इसके सिवा और कोई तरीका ही नही था।

९. सूर्यप्रभ १० विशाल कीर्ति ११ वज्रधर १२ चन्द्रानन १३ चन्द्रवाहु (भद्र-वाहु) १४ भुजगम १५ ईश्वर १६ नेमप्रभु १७ वीरसेन १८ महासेन १९ देवयश (यशोधर) २० अजितवीर्य ।

उपरोक्त कुछ ग्रन्थो मे क्रमश चार तीर्थंकरों को जवूद्वीप विदेह मे आठ को धात की खड मे और आठ को पुष्करार्ध द्वीप मे वताया है तदनुसार यह वात इस लेख के शूरू मे भी व्यक्त की गई है किन्तु प्राचीन महापुराण (भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली से प्रकाशित) पुण्याश्रव कथा कोश (जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर से प्रकाशित) मे इससे विपरीत कथन पाया जाता है जिनका विवरण मयपृष्ठ के इस प्रकार है :—

सीमधर=धातकी खण्ड द्वीप पूर्व विदेह—आदिपुराण (जिनसेन कृत) प्रथम भाग पृष्ठ १४५ तथा पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ २४८ ।

युगधर=पुष्करार्ध दीप पूर्व विदेह—आदिपुराण प्रथम भाग पृष्ठ १४६ तथा उत्तरपुराण (गुणभद्र कृत) पृष्ठ ८७ एव पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ २४५ व २४८ ।

स्वयप्रभ=जम्बूद्वीप पूर्व विदेह—आदिपुराण प्रथम भाग पृष्ठ १९९ उत्तर पुराण पृष्ठ १४, १६६, १७३, ३४१, ४११ ।

स्वयप्रभ—धातकी खण्ड द्वीप—उत्तर पुराण पृष्ठ ५०-५१ ।

इस विषय मे एक विशेप वात और ज्ञातव्य है समाधि भक्ति के अन्तर्गत एक गाथा पाई जाती है :—

पंच अरिजयणामे पंच य मदिसायरे जिणे बंदे ।
पंच जसोयरणामे पच य सीमंदरे बदे ।।८।।

इसमे बताया है कि—प्रत्येक विदेह क्षेत्र मे अरिजय, मतिसागर, जसोधर, और सीमधर ये चार-चार तीर्थंकर विशेष जुदा ही होते हैं।

इस सब से यह फलित होता है कि—कही एक रूपता एक नियम नही है एक सीमधर स्वामी भी पांचो मेरु सम्बन्धी पांचो विदेहो मे एक ही समय मे पाये जाते है यह नाम सर्वत्र शाश्वत रूप है। इस विषय मे और भी कोई मथितार्थ हो या कोई सशोधन की स्थिति हो तो विद्वानो से निवेदन है कि—वे उसे अवश्य प्रकट करे। शास्त्र समुद्र अथाह है।

विशेष ज्ञातव्य

विदेह मे २-३-५ कल्याणको के धारी तीर्थंकर होते हैं।

भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्य वत्तैरावत वर्षा क्षेत्राणि ।।१०।। (तत्वार्थसूत्र, अध्याप ३) जम्बूद्वीप के दक्षिणात मे भरतक्षेत्र और उत्तरान्त मे ऐरावतक्षेत्र है (दक्षिण से उत्तर) भरतक्षेत्र के बाद हिमवत, हरि वर्ष है फिर मेरु पर्वत है उसके आसपास विदेह क्षेत्र है वह दो विभाग मे है मेरु से पूर्व मे पूर्व विदेह और पश्चिम मे पश्चिम विदेह है। विदेह के पीछे मेरु के उत्तर मे रम्यक वर्ष फिर हिरण्यवत और अन्त मे ऐरावत्त क्षेत्र है।

मेरु के दक्षिण और उत्तर मे महाविदेह है जो देवकुरु और उत्तरकुरु के नाम से प्रसिद्ध है जहाँ सदा भोग-भूमि रहती है। अत. यहाँ सदा पहला (६ठा) आरा वर्त्तता है। किन्तु अन्यत्र सर्वत्र विदेह मे सदा कर्म-भूमि रहने से अवसर्पिणी का चौथा आरा और उत्सर्पिणी का तीसरा आरा क्रमश. होता रहता है।

सारा भरतक्षेत्र दक्षिण में होने से तथा प्रायः सब दि० आचार्य ठेठ दक्षिण में हुए अतः दक्षिण से उत्तर दिशा का ग्रहण मानकर वर्णन किया है इसी से लिखा है "उत्तरा दक्षिणतुल्याः" ('तत्त्वार्थसूत्र' अ० ३, २६) और इसी से उत्तरा प्रतिपत्ति के बजाय दक्षिणा प्रतिपत्ति को श्रेष्ठ बताया है। (देखो धवलाटीका)

आधुनिक बिहार और बंगाल (उड़ीसा) का समीपवर्ती प्रदेश है। मिथिला या जनकपुरी इसी देश में है।

भारतीय भूगोल और आधुनिक भूगोल का समीकरण होने की आवश्यकता है।



तत्वार्थ श्लोकवार्तिक की हिन्दी टीका का अवलोकन

श्री मदुमास्वामी विरचित तत्वार्थ सूत्र पर संस्कृत मे रचे अनेक भाष्य और टीकायें है। उनमे से आचार्य श्री विद्यानदिस्वामी विरचित श्लोकवार्तिक का भी एक विशिष्ट स्थानहै। इसी तत्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक भाष्य भी बडे महत्वके हैं। और वे श्लोकवार्तिक से भी पहिले के रचे हुये है। उनकी हिंदी टीकायें तो न केवल आधुनिक विद्वानो द्वारा किन्तु पुराने विद्वानो द्वारा पहिले ही बन चुकी थी। लेकिन जहाँ तक मेरा ख्याल है श्लोकवार्तिक की हिंदी टीका का निर्माण अभी तक किसी भी विद्वान् ने नहीं किया था। इस कमी का हम बराबर अनुभव करते आ रहे थे। हर्ष की बात है कि वह कमी भी अब पूरी होगई है। इस ग्रन्थ की हिंदी टीका विद्वद्वर्य, न्यायाचार्य श्री पंडित माणिकचन्द्रजी कौंदेय ने की है। जैसा यह महत्वशाली ग्रन्थ है सौभाग्य से इसके हिन्दी टीकाकार भी तदनुरूप ही मिले है। इन न्यायाचार्यजी का विद्वद्मंडली मे उच्चकोटि का स्थान है। दि० जैन समाज मे आप एक आदरणीय, प्रतिभा सम्पन्न, प्रतिष्ठित विद्वान् माने जाते हैं। ऐसे ग्रन्थ की हिंदी टीका आप जैसे अधिकारी विद्वान् ही बना

सकते हैं। इस टीका में मूल ग्रन्थ का अर्थ तो स्पष्ट किया ही है किन्तु साथ-साथ आपने अपनी तरफ से भी विषय को समझाने के लिये यत्रतत्र काफी विवेचन किया है जिससे आपका प्रखर शास्त्र ज्ञान झलकता है और उसे पढ़कर पाठक आसानी से विषयको हृदयगम कर लेते हैं। इस विशालकाय टीका के बनाने मे काफी श्रम करके आपने वास्तव में ही जैन समाज का बड़ा उपकार किया है जो किसी तरह भुलाया नही जा सकता।

उक्त हिंदी टीका सहित यह श्लोकवार्तिक ग्रंथ आचार्य कुंथुसागर ग्रथमाला सोलापुर से प्रगट हुआ है। इसके अब तक पांच खण्ड प्रकाशित हो गये हैं। इन खण्डो मे तत्वार्थसूत्र के चौथे अध्याय तक का वर्णन आया है। शेष अध्याय अगले खण्डो मे प्रकाशित होगे।

इस ग्रथ की हिंदी टीका के स्वाध्याय करने से इसमे दो स्थल हमारी नजर मे ऐसे आये हैं जो चितनीय हैं। पहिला स्थल है दूसरे अध्याय का ४४ वा सूत्र—"निरुपभोगमत्य"। उसकी व्याख्या हिंदी टीका मे न्यायाचार्यजी ने जैसी की है वह उन्ही के शब्दो मे देखिये—"पूर्ववर्ती चारो शरीरो की अपेक्षा करके अंत मे कहा गया पांचवा कार्मण शरीर अन्त्य है। वह इन्द्रियो द्वारा उपभोग करने योग्य नही है। अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी, अथवा केवलज्ञानी महाराज यद्यपि कार्मण शरीर के रूप रस शब्द आदिको का विशद प्रत्यक्ष कर लेते हैं, किन्तु वे भी वहिरग इन्द्रियो द्वारा कार्मण शरीर के रूप रस आदि का साव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान नही कर पाते हैं। शृगार-रस मे डूब रहा पुरुष स्त्री के औदारिक या वैक्रियिक शरीर मे पाये जा रहे गध स्पर्श रूप आदि का उपभोग कर सकता है,

दिनरात भोगो मे लीन हो रहा देवेन्द्र भी देवियो के कार्मण शरीर का इन्द्रियो द्वारा परिभोग नही कर सकता है। अतः अत का शरीर इन्द्रियो द्वारा उपभोग्य नही है।")

(आपके इस लिखने का मतलब होता है कि—कार्मण-शरीर चक्षु आदि सभी इन्द्रियो के विषयभूत नही होने के कारण वह निरुपभोग है) (किन्तु मूलग्रथकार विद्यानंदो का ऐसा अभिप्राय उनके वाक्यो से निकलता नही है।) इस सम्बन्ध मे उनके वाक्य निम्न प्रकार हैं—

"कर्मादानसुखानुभवहेतुत्वात्सोपभोग कार्मणमिति चेन्न, विवक्षितापरिज्ञानात्। इद्रयनिमित्ता हि शव्दाद्यु पलब्धिरुपभोग-स्तस्मा न्निष्क्रातनिरुपभोगमिति विवक्षित।" इसमे बताया है कि—शकाकार ने शका की है कि—"जब कार्मण शरीरसे जीवो के कर्मों का ग्रहण और सुखो का अनुभव होता है तो वह जीवो के उपभोगमे यानी काममे आता ही है। फिर सूत्रकारने उसको निरुपभोग क्यो कहा है?" इसका उत्तर आचार्य ने यह दिया है कि—उपभोग शव्द का जो अर्थ यहाँ विवक्षित है उसका परिज्ञान शंकाकार को नही है। उपभोग शव्द का यहाँ ऐसा अर्थ माना है कि—कर्ण आदि इद्रियो के निमित्त से जो शब्दादि की उपलब्धि होती है उसे यहाँ उपभोग माना है। उस उपभोग से जो रहित है वह निरुपभोग है ऐसा अर्थ यहाँ विवक्षित है। शव्द का कर्णमे टकराना इसे कहते है शव्द की उपलब्धि। इसी तरह अन्य इन्द्रियो मे उनके अपने २ विषयो की उपलब्धि समझ लेना। इस उपलब्धि को ही उपभोग कहते है। ऐसा उपभोग कार्मणशरीर के नहीं है, क्योकि कार्मण शरीर के इन्द्रिये नही होती हैं। मतलब यह है कि—जैसे औदारिकादि शरीरो मे

द्रव्येन्द्रियो के होने से इन्द्रियो के विषय भूतपदार्थो का उन इन्द्रियो के साथ सपर्क (उपलब्धि) होता है। वैसी बात कार्मण शरीर के सम्बध मे नही है। क्योकि कार्मण शरीर के द्रव्येन्द्रिय नही होती है। इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थो का सम्पर्क भी वहाँ नही होता है। इसे सम्पर्क कहो या शब्दादि को उपलब्धि कहो इसी का नाम उपभोग है। ऐसे उपभोग का कार्मण शरीर के अभाव होने से उसे शास्त्रो मे निरुपभोग बताया है।

ऐसी ही पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मे और अकलक ने राजवार्तिक मे प्रतिपादन किया है। यथा—

"इन्द्रियप्रणालिकथा शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोग, तदभावान्निरुपभोगम्। विग्रहगतौ सत्यामपि इन्द्रियलब्धौ द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्यभावा च्छाब्दाद्युपभोगाभाव इति।" अर्थ—इन्द्रियद्वार मे शब्दादि की उपलब्धि होना उपभोग कहलाता है। उसके अभाव को निरुपभोग कहते हैं। विग्रहगति मे जीव के लब्धिरूप भावेन्द्रियके होने पर भी कार्मणशरीर के द्रव्येन्द्रियो की रचना का अभाव होने से उसके शब्दादिको की उपलब्धि का अभाव है।

भावार्थ—(औदारिकादि शरीरो मे द्रव्येन्द्रियो की रचना होने के कारण शब्दादि की उपलब्धि होती है उससे वे शरीर सोपभोग माने जाते हैं। किन्तु विग्रहगतिमे कार्मण शरीर के साथ रहने वाले जीव के लब्धिरूप भावेन्द्रिय के होते भी कार्मण शरीर निरुपभोग ही है। क्योंकि उसके द्रव्येन्द्रियो की रचना न होने से वहाँ शब्दादि की उपलब्धिका अभाव है। सीधीसी बात है कि—कार्मणशरीर के जब कर्णआदि इन्द्रियों का सद्भाव ही नही है तो शब्दादि विषय किसमे प्राप्त हो? विषयो का प्राप्त न होना ही कार्मण शरीर के लिये निरुपभोग कहा जाता है।

इसी सूत्र की व्याख्या भास्कर नंदी ने निम्न शब्दों मे की है—

"इन्द्रियद्वारेण शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोग । उपभोगान्निष्क्रात निरुपभोग कार्मण शरीरमुच्यते। तत् विग्रहगताविन्द्रिय लब्धौ सत्यामपि द्रव्येन्द्रितय निष्पत्यभावा च्छब्दाद्युपलभनिमित्त न भवति।"

अर्थ—इन्द्रियद्वार से शब्दादिको की प्राप्ति उपभोग कहलाता है। उपभोग से रहित कार्मणशरीर निरुपभोग कहा जाता है। वह कार्मण शरीर विग्रहगति मे जीव के लब्धिरूप भावेन्द्रिय के होते हुए भी द्रव्येन्द्रियो की रचन का अभाव होने से शब्दादिकी प्राप्ति मे निमित्तभूत नही है।

इस प्रकार भाष्यकारो के इन उद्धरणो मे जो कहा गया है उससे आपके कथन की सगति नही बैठती है। "कार्मणशरीर किसी की भी इन्द्रियो का विषयभूत न होने से वह निरुपभोग है।" ऐसा जो अर्थ आपने प्रगट किया है वैसा अर्थ यदि भष्यकारो को इष्ट होता तो वे यह नही लिखते कि द्रव्येन्द्रियो की रचना का अभाव होने से शब्दादि का उपभोग नही है। आपके द्वारा किया हुआ अर्थ तो तब ठीक होता जब सूत्र मे 'निरुपभोग्य शब्द होता किन्तु सूत्रकार ने 'निरुपभोग, शब्द रखा है जिसका अर्थ होता है "न उपभोगो विद्यते यस्य तत्" अर्थात् जिसके उपभोग क्रिया नही होती यानी जो स्वय उपभोग नही करता, यही विवेचन सभी भाष्यकारो और टीकाकारो ने किया है।आशा है आप इस विषय पर पुन विचार करेंगे।

दूसरा स्थल है इष्वाकार पर्वतो का स्थान बताते हुये

श्लोकवार्तिक के ५ वे खड के पृष्ठ ३६४ पर अतिम पंक्तियो में आपने ऐसा लिखा है—

"धातकीखड मे पूर्वमेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिम मेरु सम्बन्धी ऐरावत अथवा पूर्वमेरु सम्बन्धी ऐरावत और पश्चिम मेरु सम्बन्धी भरत का विभाग करने वाले इष्वाकार पर्वत पडे हुये हैं।"

आपका ऐसा लिखना भी हमारी तुच्छ बुद्धि मे ठीक प्रतीत नही होता। धातकीखड मे भरत और एरावत क्षेत्र की स्थिति धनुषाकार रूप मे है। जैसे धनुष के बीच मे वाण होता है वैसे ही दोनो ओर दो इष्वाकार पर्वतो के बीच मे पड जाने से दोनो ओर के भरत और ऐरावत के दो-दो विभाग हो गये है। दक्षिण की ओर जो भरतक्षेत्र धनुषाकार था उसके बीच मे इष्वाकार पर्वत के पडने से उसी के दो भाग होकर पूर्वभाग पूर्वमेरु सम्बन्धी धातकी खड का कहलाता है और पश्चिम भाग पश्चिममेरु सम्बन्धी धातकीखड का कहलाता है। उसी तरह धातकीखंड मे उत्तर की तरफ के ऐरावत क्षेत्र के बाबत समझ लेना चाहिये। अत धातकीखड मे पूर्वमेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिममेरु सम्बन्धी ऐरावत के बीच मे जो आप इष्वाकार-पर्वत बताते हैं वह ठीक नही है। किन्तु पूर्वमेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिममेरु सम्बन्धी भरत इन दोनो के बीच इष्वाकार-पर्वत स्थित है। इसी तरह पूर्व पश्चिम मेरु सम्बन्धी ऐरावत क्षेत्र के वीच मे इष्वाकार पर्वत स्थित है।

आपकी मान्यतानुसार पश्चिम धातकी खड में दक्षिणकी तरफ ऐरावत क्षेत्र और उत्तर की तरफ भरतक्षेत्र का होना व्यक्त होता है, वह उचित नही है।

इस प्रकार आपकी श्लोकवार्तिक की हिंदी टीका के दो स्थनों पर हमने जिज्ञासाभाव से अपनें विचार आपके सामने रक्खे हैं। आशा है उन पर आप ध्यान देंगे और इसमे अगर हमारी ही भूल हो तो हमे समझाने की कृपा करेंगे, ऐसी हमारी आपसे सविनय विनती है। आप प्रतिभाशाली बहुश्रुती विद्वान् है आपसे चूक होना कम सम्भव है।

स० नोट—तत्वार्थ राजवार्तिक मे 'भरतै रावत विभाजिनाविष्वाकारगिरी वार्तिक है। इसका अर्थ स्वय अकलंकदेव ने 'उत्तरदक्षिण भरत ऐरावत का विभाग करने वाले इष्वाकार पर्वत हैं, ऐसा किया है तत्वार्थ श्लोकवार्तिक मे आचार्य विद्यानन्द ने भी भरतैरावत विभाजिनौ' लिखकर इष्वाकारगिरि को भरत और ऐरावत का विभाजक कहा है। इससे पाठक को ऐसा बोध होता है कि भरत और ऐरावत क बीच मे इष्वाकार पर्वत है। किन्तु यथार्थ ऐसा नही है। बल्कि भरत और ऐरावत क्षेत्रो का विभाग करने वाले अर्थात् भरत क्षेत्र के और ऐरावत क्षेत्र के बीच मे इष्वाकार पर्वत हैं जिससे एक ओर इष्वाकार पर्वत के दोनो ओर भरत क्षेत्र है और दूसरी ओर इष्वाकार पर्वत के दोनो ओर ऐरावत क्षेत्र है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति की गाथा २५५२ से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है—

दोपासेसु दक्खिणइसुगार गिरिस्स दो भारखेत्ता।
उत्तर इसुगारस्स य भवंति ऐरावदा दोण्णि॥

दक्षिण इष्वाकार पर्वत के दोनो पार्श्व भागो मे दो भरत क्षेत्र हैं और उत्तर इष्वाकार पर्वत के दोनो पार्श्वभागो मे दो ऐरावत क्षेत्र हैं।

४६

श्रावक की ११वीं प्रतिमा

जैनसन्देश के अभी हाल ही के (१३, २० मार्च ६६ के) अकों मे उसके आदरणीय संपादक प० कैलाशचन्द जी शास्त्री ने स्वर्गीय प० जुगलकिशोरजी मुख्तार के लेखानुसार (मुख्तार-सा० का यह लेख सन् २१ की जैन हितैषी भाग १५ मे ही प्रकाशित नही हुआ है, किन्तु परिवर्द्धित-सशोधित रूप से अनेकान्त वर्ष १० की अन्तिम किरण (जून ५०) मे भी प्रकाशित हुआ है) ग्यारहवी प्रतिमाधारी क्षुल्लक का स्वरूप लिखा है। उस सम्बन्धमे विद्वज्जनो के विचारणार्थ मैं भी यहाँ कुछ लिखने का उपक्रम करता हू।

कुन्दकुन्द के सूत्र प्राभृत की २१वी गाथा मे इसका स्वरूप सक्षेप से इस प्रकार लिखा है—

> दुइयं च वुत्तलिगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
> भिक्खं भमइ सपत्तो समिदोभासेण मोणेण ॥२१॥

इसमे लिखा है कि मुनि के बाद दूसरा लिंग गृहत्यागी उत्कृष्ट श्रावको का है यानी ११वीं प्रतिमाधारी का है। वह पात्र को हाथ मे लेकर भाषा समिति (धर्मलाभ शब्द) से या मौन से भिक्षा के लिये भ्रमण करता है।

स्वामी समन्त भद्र ने भी रत्नकरण्डश्रावकाचार मे

"गृहतो मुनिवनमित्वा" पद्य मे इसका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार लिखा है—

"घरको छोड मुनियो के आश्रम मे जाकर गुरु के निकट व्रतो को ग्रहण करके जो तपस्या करता हुआ भिक्षा भोजन करता है और खण्डवस्त्र रखता है वह उत्कृष्ट श्रावक है।"

दिन मे एक वार भोजन करना यह यहाँ के "तपस्यन्" शब्द से ध्वनित होता है। इसकी सस्कृत टीका मे प्रभाचन्द्र ने इस उत्कृष्ट श्रावक को आर्य लिंग का धारी लिखा है और श्लोक मे प्रयुक्त "भैक्ष्याशन" वाक्य की व्याख्या भिक्षा समूह को खाने वाला किया है। जिसका मतलव होता है अनेक घरो से पात्र मे भिक्षा लाकर किसी एक जगह वैठकर खाने वाला।

चारित्रसार मे चामुण्डराय ने इसका स्वरूप ऐसा लिखा है—

"उद्दिष्टविनिवृत्त स्वोद्दिष्टपिंडोपधिशयनवरास*नादे विरत सन् एकशाटकधरो भिक्षाशन पाणिपात्रपुटेनोपविश्यभोजी रात्रि प्रतिमादितप समुद्यत आतापनादियोगरहितो भवति।" इसमे बताया है कि जो अपने निमित्त तैयार किये हुये भोजन, उपधि शय्या और उत्तम आसनादिक से विरक्त रहता है। एक धोती रखता है—नीचे से ऊपर तक उसी को ओढ-पहिन लेता है, भिक्षा से भोजन लाकर करपात्रमे बैठकर जीमता है और

*मुद्रित चारित्रसार मे 'वसनादे' पाठ है। किन्तु कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका मे यहाँ का उद्धरण दिया है उसमे 'वरासना दे' पाठ है। शायद यही पाठ आशाधर के सामने भी था। उन्होने भी शयनासनादि लिखा है। वसन नही लिखा है।

आतापनादि योगों को छोडकर रात्रि प्रतिमादि तपश्चरण में उद्यमी रहताहै वह उद्दिष्टविनिवृत्त नामका श्रावक कहलाता है।

भगवज्जिनसेन ने आदिपुराण मे क्षुल्लक को एक शाटक का धारी लिखा है। तदनुसारही यहाँ कहाहै। तथा यहा उसके लिये उद्दिष्ट आहारादि का त्याग बताया है। उससे वह किसी के घर आमन्त्रित होकर जीमने नही जा सकता है क्योंकि उमसे उद्दिष्ट भोजन का ग्रहण होता है। अत वह भिक्षा से भोजन करता है। यह बात उद्दिष्टत्याग के लिखने से ही प्रगट हो जाती है। फिर भी चामुण्डराय ने उसके लिये एक और विशेषण 'भिक्षाशन' का प्रयोग किया है। उसका अभिप्राय उनका कुन्दकुन्द और समन्तभद्र के मतानुसार अनेक घरो से भिक्षा मगाने का मालूम पडता है। अथवा सही पाठ "भैक्षाशन" हो। इस प्रतिमा का उद्दिष्टविरत यह नाम चारित्रपाहुड की गाथा १ मे भी लिखा है और जो यहा इस प्रतिमाधारी के लिये बैठ कर पात्र मे आहार लेने को कहा है सो बैठकर भोजन कराने की मान्यता तो समतभद्र की भी हो सकती है क्योंकि ११वी प्रतिमा मे जो विशेष आचरण थे वे उन्होने रत्नकरड श्रावकाचारमे लिख दिये। बाकी आचरण बैठकर जीमना आदि नीचे की प्रतिमाओ जैसे ही इस प्रतिमामे समझ लिये जावें। हाँ चामुण्डराय ने यहा इस प्रतिमा वाले के लिये हाथ मे आहार करने की बात जरूर कुछ विशेष लिखी है। सम्भव है उस वक्त उनके सामने ऐसी ही प्रवृत्ति चल रही हो। या उसका प्रतिपादक आगम उन्हे उपलब्ध हो। किन्तु यहाँ पाणिपात्र मे आहार करने का अर्थ मुनि की तरह अजुली जोडकर करने का नही है। इसका निषेध सूत्र पाहुड मे २ जगह किया है—

खेडे वि ण कायव्व पाणिप्पत्त सचेलस्स ।
निच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहि ॥१०॥
वालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूण ।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्ण इक्क ठाणम्मि ॥१७॥

यहाँ यह कहा है कि—वस्त्रधारी को खेल मे भी पाणिपात्र मे आहार नही करना चाहिये। परम जिनेद्रो ने निर्वस्त्रो—नग्नसाधुओ के लिये ही हाथ मे भोजन करने का उपदेश दिया है। साधुओ के वाल की अणीमात्र भी परिग्रह नही होना चाहिये। तदर्थ वे भोजन भी पात्रमे नही करते—हाथ मे ही करते हैं। वह भी एक स्थान मे और दूसरो का दिया हुआ।

इसलिये ११वी प्रतिमाधारी के वास्ते जो यहा पाणिपात्र मे आहार करना लिखा है। उसका मतलब यही हो सकता है कि—वह पात्र मे से भोजन को अपने एक हाथ मे लेकर उसे थोडा २ दूसरे हाथ मे जीमे। जैसा कि भूधरदासजी ने पार्श्व-पुराण मे लिखा है—

एक हाथ पै ग्रास धरि एक हाथ सो लेय।
श्रावक के घर आयके ऐलक असन करेय ॥
[२०० अधि० ९]

किन्तु दुग्ध, तक्र, खीर, रसादि तरल खाद्य के साथ चूरकर रोटी आदि खाने के विशेष अवसर पर वह पात्रका भी उपयोग कर सकता है ऐसा अभिप्राय चामुण्डरायका ज्ञात होता है। क्योंकि उन्होंने 'पाणिपात्रपुटेन भोजी' लिखा है। जिससे उसका अर्थ हाथ और पात्र दोनो मे भोजन करना हो सकता है।

इन चामुण्डराय के ही वक्त मे होने वाले अमितिगति ने इस प्रतिमाधारी के लिये सुभाषित रत्नसदोह के श्लो० ८४३ मे और उपासकाचार के परि० ७ के श्लोक ७७ मे नवकोटिसे विशुद्ध आहार लेने का विधान करते हुये इस प्रतिमा का विशेष स्वरूप उपासकाचार के ८वें परिच्छेद मे इस प्रकार किया है–

वराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनम् ।
उत्कृष्ट. कारयत्येष मुंडनं तुंडमुंडयोः ॥७३॥
केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ ।
एकस्थान्नपानीयो निदागर्हापरायण ॥७४॥
स धर्मलाभशब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमाम् ।
सपात्रो याचते भिक्षां जरामरण सूदनीम् ॥७५॥

अर्थ—यह उत्कृष्ट श्रावक वैराग्य की परम भूमि और सयमका स्थान ऐसा दाढी मूँछ-शिरके बालोका मुण्डन(हजामत) कराता है। वह केवल लगोट या वस्त्र (चादर) सहित लगोट रखता है। अपनी निदागर्हामे तत्पर रहता हुआ एक स्थान पर अन्न पानी जीमता है। यानी भिन्न २ घरों से पात्र मे भोजन लाकर एक स्थान पर जीमता है। वह पात्र लेकर घर २ प्रति धर्मलाभ शब्द बोलता हुआ अमृततुल्य जरामरण नाशिनी भिक्षा को मागता है।

कुन्दकुन्द ने भिक्षा के लिये भाषा समिति सहित सपात्र घूमने की कही है। व समन्तभद्र ने चेलखड धारण करने की कही है। उसी का अमितगति ने यहाँ खुलासा किया है। ऊपर जिनसेन और चामुण्डराय ने एक वस्त्र धोतीमात्र रखने का आदेश दिया है। यहा अमितगति ने केवल कोपीन या कभी

कोपीन के साथ चादर ओढ़ने का भी उल्लेख करके दो वस्त्र रखने का विधान किया है। इससे कुछ मतभिन्नता जाहिर होती है। परन्तु अल्पवस्त्र रखने के उद्देश्य मे कोई फर्क नही आया है। ओढ़ने पहनने को धोती लम्बी रखनी पडती है। लगोट और चादर दो सख्या होकर भी वस्त्र का विस्तार (माप) यहाँ धोती से अधिक न हो कर कुछ कम ही हुआ है।

कुन्दकुन्द समन्तभद्र और चामुण्डराय ने ऊपर यह कही नही बताया कि इस प्रतिमावाला बालो का लौच करे या क्षौर करावे ? किन्तु उनका कुछ नही लिखना ही यह बताता है कि उनको इसके लिये क्षौर कराना ही इष्ट था। क्योकि जो नीचे की प्रतिमाओ मे होता आ रहा है वही यहा भी है। इसी अभिप्राय से उन्होने इस सम्बन्ध मे कुछ नही लिखा है। इस तरह अमितगति ने केशो के मु डन की बात भी अपनी ओर स नही लिखी है। जो पूर्वाचार्यों का अभिप्राय था उसे ही स्पष्ट किया है।

यहाँ अमितगति ने भिक्षा को अमृतवत् जरामरणनाशिनी लिखा है। वह खास ध्यान देने योग्य है। ऐसा इसलिये लिखा है कि—कोई यह न समझ ले कि एक उत्कृष्ट श्रावक भिक्षा के लिये पात्र हाथ मे लेकर घर २ फिरता फिरे यह तो उसके पद के गौरव को घटाने वाला काम है। उसके समाधान के लिये उन्होंने उक्त कथन करके यह बताया है कि—वह भिक्षा नही वह तो अमृत है। जैसे अमृत के पीने से जरामरण का नाश होता है। उसी तरह उस भिक्षा को खाकर वह श्रावक भी देशव्रतो को पूर्णतया पालन करता हुआ आगे मुनि हो उस मोक्षस्थान को प्राप्त होगा जहाँ जानेवाला अजर-अमर हो जाता है।

इन अमितगति के कुछ थोडे समय पूर्व ही अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त हुए हैं। उन्होंने यशोधर चरित के पृ० ८५ मे क्षुल्लक का स्वरूप इस प्रकार लिखा है—

ता अम्हहिं लइयउ खुल्लयत्तु,
चत्तउ परिहणु आहरणु वित्तु।
पंगुत्तउ पंडुरचीरखंडु,
मणुमुंडिवि पुणु मुंडियउ मुंडु।
कोवीण कमण्डलु भिक्खपत्तु,
लइयउवउ भवजलजाणवत्तु।

इसमें क्षुल्लक के श्वेत रंग का वस्त्रखड, मुण्डन, कोपीन, कमण्डलु और भिक्षापात्र लिखा है।

उपर्युक्त ग्रन्थकारो ने इस ११वी प्रतिमाधारी का नाम उद्दिष्ट विरत, उत्कृष्ट श्रावक और क्षुल्लक लिखा है मेधावी ने धर्मसंग्रह श्रावकाचार मे—अपवाद लिंगी और वानप्रस्थ भी लिखा है—

उत्कृष्ट श्रावको यः प्राक्क्षुल्लकोऽत्रैव सूचितः।
स चापवादलिंगी च वानप्रस्थोऽपिनामत.॥
[२८० अधि० ८]

प्रभाचन्द्र ने रत्नकरण्ड की टीका मे इसका नाम आर्य भी लिखा है। तदनुसार आशाधर आदि ने भी आर्य नाम लिखा है। स्त्री जाति मे उत्कृष्ट संयम की धारिका आर्यका होती है, उसी की तुलना मे पुरुष जाति मे श्रावक दशा मे संयम के धारक के लिये आर्य संज्ञा दी गई प्रतीत होती है। यहाँ के

क्षुल्लक नाम में क्षुल्लक का अर्थ है निम्न श्रेणी मे रहने वाला। अर्थात् यहाँ से ऊपर एक ही श्रेणी है, वह है मुनिपद उससे नीचे की श्रेणी मे होने के कारण वह क्षुल्लक कहलाता है। ११वी प्रतिमा के भेद करके पहिले भेद वाले को क्षुल्लक कहना यहाँ अभीष्ट नही है। उपर्युक्त ग्रन्थो मे दो भेद किये ही नही हैं। वहाँ तो सारी ही ११वी प्रतिमाधारी को क्षुल्लक कहा है।

उपर्युक्त ग्रथकारो के मत से इस प्रतिमा का धारी न लोच कर सकता है न अजुली जोड कर आहार कर सकता है। मयूरपिच्छी का भी उसके लिये विधान नही है। किन्तु सोमदेव ने यशस्तिलक के प्रथम आश्वास मे (हिंदी अनुवाद पृ० ७१) क्षुल्लक के मयूरपिच्छी लिखी है। वीरनन्दि ने भी चन्द्रप्रभ काव्य के सर्ग ६ श्लो० ७१ मे क्षुल्लक के यति चिह्न लिखा है। वहाँ यति चिह्न का मतलब मयूरपिच्छी ही जान पड़ता है।

ऊपर लिखित ग्रन्थकारो के बाद विक्रम की १२वी शताब्दीमे वसुनन्दि हुये जिन्होने स्वरचित श्रावकाचारकी गाथा ३०१ से ३११ तक मे जो ग्यारहवी प्रतिमा का स्वरूप लिखा है उसका हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार है—

११वी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक के २ भेद है प्रथमभेद एक वस्त्र (शाटक) रखने वाला। दूसरा केवल कोपीन का धारी। प्रथम भेदवाला कैंची या उस्तरे से बाल कटवाता है। मृदुउपकरण कोमल-वस्त्रादि से स्थानादिको के प्रतिलेखन करने मे प्रयत्नशील रहता है। बैठकर स्वय हाथ से या पात्र मे भोजन करता है। (स्वय कहने से वह खुद ही पात्र मे या अपने हाथ मे आहार करता है। मुनि की तरह बार २ दाता इसके हाथ मे आहार रखता जाये और यह उसे खाता रहे ऐसी विधि इसकी नही है।)

[चारो पर्वो मे चतुर्विध आहार का त्यागरूप उपवास नियम से करता है। भिक्षा प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है-प्रथम ही पात्रको धोकर चर्या के लिये श्रावकके घर मे प्रवेश करता है और उसके आगन मे ठहर कर धर्मलाभ कह कर स्वय ही (दूसरो को भेज कर भिक्षा नही मगवाता) भिक्षा मागता है। भिक्षा नही मिलने पर बिना दीनमुख हुए वहा से शीघ्र निकल दूसरे घर मे जाता है। वहाँ भी (धर्म लाभ कह कर) अथवा मौन से काय को दिखाकर भिक्षा मागता है। कही बीच मे ही यदि कोई श्रावक कह दे कि यहाँ ही भोजन करिये तो पूर्व घरो से प्राप्त अपनी भिक्षा को पहिले खाकर शेप अन्न उसके यहाँ का खाता है। यदि ऐसा कोई न कहे तो घूम फिर कर अपने उदर भरने तक की भिक्षा अनेक घरों से प्राप्त कर पीछे किसी एक घरमे प्रासुकजल मागकर जो कुछभी रस नीरस भिक्षा मिली है उसे यत्न से शोध कर खाता है। फिर पात्र को धोकर गुरु के समीप जाता है। यदि कोई अनेक घरो से भिक्षा लेने के इस कार्य को नहीं कर सकता हो तो वह चर्या के लिये मुनिचर्या के बाद श्रावक के किसी एक घर मे ही आहार कर लेता है। एक घर आहार न मिलने पर उस दिन वह नियम से उपवास रखता है। फिर गुरु के समीप जा कर विधि के साथ चार प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करके गोचरी का सब वृत्तात यत्न के साथ गुरु के आगे निवेदन कर देता है।

यह चर्या प्रथमोत्कृष्ट श्रावक की बताई है। वही चर्या द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक की होती है। दोनो मे फर्क इतना ही है कि-द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक नियम से लौंच करता है और हाथ मे भोजन जीमता है। यह कौपीन मात्र वस्त्र का धारी होता है। (गाथा ३०१)

वसुनन्दि के इस कथन मे देखेगे कि—पूर्वग्रन्थो मे इस प्रतिमाधारी के लिए जिस भिक्षा भोजन का कथन किया गया था उसका इन्होने अच्छा स्पष्टीकरण किया है और इस प्रतिमा के २ भेद करके पूर्व ग्रथो मे जो चर्या समस्त ११वी प्रतिमा की प्रतिपादन की थी उस सब का कौपीन के अतिरिक्त इन्होंने प्रथम भेद मे समावेश कर दिया है। और दूसरे भेद की एक नई कल्पना करके उसके लिये लोंच करने और मुनि की तरह हाथ मे भोजन जीमने जैसे विधान कर दिये हैं, जिनका उल्लेख पूर्वग्रन्थो मे कही नही है। बल्कि कुन्दकुन्द ने तो वस्त्र धारी को हाथ से भोजन करने का सख्त निषेध किया है जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं। करपात्र मे आहार होने के दो तरीके होते है। पहिला तरीका तो यह कि भोजन को अपने एक हाथ मे रखकर उसमे से थोडा-थोडा लेकर दूसरे हाथ से खाते रहना और असुविधा होने पर कभी-कभी पात्र का भी उपयोग कर लेना। ऐसा विधान तो वसुनन्दि ने प्रथमोत्कृष्ट के लिए किया है। और दूसरा तरीका मुनि की तरह आहार लेना अर्थात् दोनो हाथो की जुडी हुई अजुली मे दाता आहार रखता जाये और साधु उसे अगुलियो से उठा-उठा कर खाता रहे। यह विधान वसुनन्दि ने द्वितीयोत्कृष्ट के लिए विशेष चर्या बताकर किया है। वही आशय आशाधर ने सागार धर्मामृत अध्याय ७ के श्लोक ४६ मे 'अन्येन योजित' वाक्य लिखकर प्रगट किया है। और वसुनन्दि ने प्रथमोत्कृष्ट का दूसरा विकल्प एक घर भिक्षा-वालालिखकर यह बतायाहै कि उसको चर्याके लिए भिक्षापात्रको लेकर निकलने की भी जरूरत नही है उसे एक घरमे तो आहार लेना है अत वह दाता के घर के पात्रमे ही जीम लेवे। वसुनदि का यह विधान नया है। पूर्व ग्रन्थोसे उसका समर्थन नही होता।

वसुनन्दि ने इस प्रतिमा वालो के लिये पर्व मे चार प्रकार के आहार का त्याग रूप उपवास रखने का भी नियम लिखा है जो पूर्व ग्रन्थो मे नही है। ऐसा पूर्व ग्रन्थो मे क्यो नही ? और इन्होने क्यो लिखा ? इसका भी एक कारण है और वह यह है कि—पूर्व ग्रन्थकारो ने तो वैसा उपवास का विधान चौथी प्रोपधप्रतिमा मे ही कर दिया था। अत उनको इस ११वी प्रतिमामे पुन: कहने की जरूरत ही नही थी। किन्तु वसुनन्दि ने चौथी प्रतिमा मे प्रोपध का उत्तम मध्यमादि भेद करके पर्व मे एकाशन तप करने को प्रोपध वता दिया है ग्रन्थांतरो मे ऐसा विधान प्रोपध शिक्षाव्रत मे लिखा है। इसलिये वसुनन्दि को इस ११वी प्रतिमा मे पर्व के दिन नियम से उपवास करने को लिखना पडा है। वसुनन्दि ने चौथी प्रतिमा मे प्रोषध का जो स्वरूप वतलाया है वह भी समतभद्रादि पूर्व ग्रन्थकारो के मत से भिन्न ही लिखा है।

इस प्रकार वसुनन्दि ने लौच करना (यह मुनियों का मूल गुण है) आदि जो मुनि की क्रियायें थी उन्ही का श्रावक दशा मे विधान करके उसका नाम द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक रख दिया है। इस प्रकार का विधान वसुनन्दि से पूर्व के किसी ग्रथकार के द्वारा किया हुआ जब तक उपलब्ध न हो जाये तब तक यही कहा जायेगा कि—ऐसी प्ररूपणा सबसे प्रथम वसुनन्दि ने ही की है। इस विधान मे सवस्त्र भट्टारको का रूप छिपा हुआ है। आगे चल कर तो यह मार्ग इतना विगड गया है कि—आजकल तो ११वी प्रतिमा मे पछेवडी रखने वाले तक आमतौर पर लौच करते दिखाई देते है। उनके अन्धभक्त श्रावक उनके केशलुचन का उच्छव करतेहैं। वे रेलमे सफर करते है। गुरु के

साथ नही रहते, न गुरु के आदेश का ही पालन करते है। अकेले स्वच्छन्द विचरते है। शास्त्राज्ञा को ताक मे रखकर अपने भक्तो के बल पर मन आवे सो करते है। कहने को वे क्षुल्लक है पर लौंचादि करके एक तरह से वे वस्त्रधारी मुनि बन गये है। और उनके भक्तजन उनको मुनि की तरह ही मानते पूजते हैं। भिक्षा के लिये पात्र रखना तो आजकल कतई उठ ही गया है। इस प्रकार आज के ११वी प्रतिमाधारी क्षुल्लक पूर्वाचार्यो के आदेश तो दूर रहे वसुनन्दी के मत की भी अवहेलना करते दिखाई दे रहे हैं।

इन सब अनर्थो की जड आज के अविवेकी श्रावक हैं और वे काफी सख्या मे है। तथा इस काम मे स्वार्थी, खुशामदी, मानबडाई के भूखे कुछ पण्डित भी साथ हो जाते है जिनकी वजह से प्राय त्यागियो की चर्या दिनोदिन विगडती जा रही है और ताम पर भी समाज मे उनका काफी बोलबाला है। और इसी मे वे अपने सुधार का कोई प्रयत्न नही करते हैं।

जैसे किसी को भूत लग जाता है तो वह बावला होकर अपनी सब सुधबुध खो बैठता है। वही हालत प्राय आज के श्रावकोकी नजर आती है। उनके सामने भी कोई कैसा भी मुनि या क्षुल्लक,ऐलक का वेष नजर आताहै तो उसके शिर पर ऐसा भूत सवार हो जाता है कि—उस समय न ये शास्त्र की सुनते है और न किसी विद्वान् की। एक तरह से स्वच्छन्द निरकुश होकर मनमानी करने लगते हैं और झगडने लगते हैं।

ऐसी ही स्थिति को परिलक्षित कर यशस्तिलक मे सोमदेव ने कहा है—

प्राय: सम्प्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम् ।
निर्लून नासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ।।

अर्थात्—इस कलिकाल मे सन्मार्ग का उपदेश देना भी प्राय खतरे से खाली नही है लोग उल्टे कुपित हो जाते हैं। किन्तु जब ये अपना स्वभाव नही छोडते तो धर्म-सेवक भी अपने कर्त्तव्य (हितैपिता) से क्यो च्युत हो।

वसुनन्दि ने ११वीं प्रतिमा के जो दोभेद कियेहैं उन दोनो ही भेदो की सज्ञा गुरुदास कृत प्रायश्चित ग्रन्थ मे क्षुल्लक बताते हुए वहाँ उसके लिये लोच करनेका भी उल्लेख कियाहै। पर यह ग्रथ वसुनदि से पूर्व काल का है या उत्तर काल का है ऐसा कोई पूर्ण निश्चय नही है। इस ग्रन्थ का चूलिका भाग नन्दीगुरु की टीका सहित माणिकचन्द ग्रन्थमाला से प्रायश्चित्त सग्रह मे प्रकाशित हुआ है। किन्तु इसकी चूलिका सहित शेष अश मय हिन्दी टीका के अन्यत्र से भी छपा है। उसको पढने पर यह ग्रन्थ प्रामाणिक मालूम नहीं पडता है। जैसे इसके पृष्ठ ५५ मे लिखा है कि—'व्याधि आदि कारणो के बिना मुनि वस्त्र ओढ ले तो वह प्रायश्चित का भागी है।" इसका अर्थ हुआ रोगी मुनि वस्त्र ओढ़ सकता है। पृ० ५६ मे लिखा है—"व्याधि के वश से मुनि जूता पहिन ले तो दोष नही है।" इत्यादि। महावीर अतिशय क्षेत्र कमेटी से प्रकाशित आमेर शास्त्र भण्डार की सूची के पृ० १६४ मे इसे श्वेताबर ग्रन्थ वताया है। इसकी नन्दी गुरु कृत टीका है। इसके श्लो० १६१ की टीका में उक्तञ्च गाथा है वह इन्द्रनन्दि कृत छेदपिंड की है। इन्द्रनन्दी का समय विक्रम की १४वी शताब्दि है। अत नन्दीगुरु वि० १४वी शताब्दि के बाद के सिद्ध होते हैं।

स्वामिकुमार कृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ मे भी जो कि प्राचीन माना जाता है सिर्फ एक गाथा मे इस विषय का मामूली सा वर्णन है। परन्तु उसका रचनाकाल आशाधर से पहिले का होने मे भी सन्देह है। क्योकि उसकी एक भी गाथा आशाधर की रचनाओ मे कही उद्धृत नही है। जबकि आशाधर ने अन्य अनेक प्राचीन ग्रथो के उद्धरण दिये हैं तब यह हो नही सकता कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा का वे एक भी उद्धरण नही देते। कम से कम सागारधर्मामृत मे तो इसका उद्धरण देते ही, जबकि कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे श्रावक धर्म का ८८ गाथाओ मे विवेचन पाया जाता है। अन्य प्राचीन ग्रन्थकारो के ग्रथो मे भी कही इसका उद्धरण नही देखा जाता है। न इसके कर्ता स्वामिकुमार का ही किसी प्राचीन आचार्य ने कही स्मरण किया है। इसकी टीका भी बहुत बाद की १६वी शताब्दी मे बनी है। कुन्दकुन्द समन्तभद्रादि सभी शास्त्र कारो ने जहाँ श्रावक की प्रतिमाओ के ११ भेद लिखे हैं वहाँ इस ग्रन्थकी गाथा ३०४-३०५ मे १२ भेद लिखे हैं। अगर यह ग्रन्थ अधिक प्राचीन होता तो अन्य ग्रथकार इसका अनुसरण करके प्रतिमाओ के १२ भेद लिखते परन्तु १२ भेद किसी ने भी नही लिखे हैं। यह बात खास सोचने की है।

वसुनन्दि के बाद तो प्राय सभी ग्रन्थकारो ने ११ वी प्रतिमा का स्वरूप वसुनन्दि के अनुसार ही लिखा है। आशाधर ने भी इनका काफी अनुसरण किया है कुछ कथन आशाधर ने ऐसा भी लिखा है जो वसुनन्दी के द्वारा लिखने मे रह गया है। जैसे इस प्रतिमाधारी के वस्त्र सफेद रंग के होना चाहिए। ऐसा ही पुष्पदन्त ने यशोधर चरित मे लिखा है। वह है भी

ठीक, क्योकि जब महिला वर्ग जो कि अधिकतर रगीन-वस्त्र पहनती है उस वर्ग की आर्यिका के लिए ही जब सफेद साडी का विधान है तो पुरुषवर्ग के उत्कृष्ट श्रावक के वस्त्र का रग सफेद होना योग्य ही दे। यह कहना कि—मेधावी ने रक्त-कौपीन सग्राही' लिखकर उत्कृष्ट श्रावक की लगोट लाल रग की बताई है। किन्तु यह पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'रिक्त कौपीन सग्राही' होना चाहिए। जिसका अर्थ होता है बिना चादर के खाली (केवल मात्र) लगोट का धारी। वास्तव मे यही पाठ मेधावी ने लिखा है। क्योकि इन्होने इस प्रतिमा का सारा वर्णन आशाधर के अनुसार किया है तब वे लंगोट के रग के विषय मे ही भिन्न कथन कैसे कर सकते है। इन मेधावी ने प्रथमोत्कृष्ट की चादर लगोट भी तो सफेद रग की लिखी है तब वे द्वितीयोत्कृष्ट के लिए लालरग की लगोट कैसे लिख सकते है?

आशाधर ने प्रथमोत्कृष्ट श्रावक (आज के क्षुल्लक) के लिए कौपीन और उत्तरीय वस्त्र ऐसे दो वस्त्रो का विधान किया है जबकि वसुनन्दि ने प्रथमोत्कृष्ट के लिए सिर्फ एक वस्त्र (शाटक) का ही विधान किया है।

जब उत्कृष्ट श्रावक अनेक घरो से भिक्षा प्राप्त करता है तो उसको नवधा भक्ति की जाने का तो सवाल ही नही रहता है। फिर आशाधर जी ने तो ११ वी प्रतिमा के स्वरूप के वणन मे ही इस बात का खुलासा कर दिया कि सभी श्रावक परस्पर मे इच्छाकार करे। देखो सागारधर्मामृत के अ० ७ का श्लोक ४९ वा। यही नही आ० श्री कुन्दकुन्द ने भी सूत्र-

पाहुड की गाथा १३ मे लिखा है कि जो वस्त्रधारी क्षुल्लकादि श्रावक है वे सब इच्छाकार के योग्य हैं। यहाँ आचार्य का यह आशय है कि जो वस्त्र रखते है वे नवधा भक्ति के योग्य नही है।

प० भावदेव नही, वामदेव का बनाया हुआ सस्कृत में एक भाव सग्रह नामक ग्रन्थ है जो छप चुका है। उसमे भी ११ वी प्रतिमा का वर्णन है। वह वर्णन प्राय वसुनन्दी की तरह का ही है। उसमे जो 'पञ्चभिक्षाशन भुक्ते' पाठ लिखा है वह हमे अशुद्ध मालूम पडता है। उसके स्थान में शुद्ध पाठ 'पात्रे भिक्षाशन भुक्ते' होना चाहिए। जिसका अर्थ होता है प्रथम भेदका धारी भिक्षा भोजनको पात्रमे जीमता है। इन प० वामदेव का बनाया एक त्रैलोक्य दीपक ग्रन्थ भी है, जिसकी वि० स० १४३६ की लिपि की हुई प्रति मिलती है। इससे इनका समय वि० स० १४३६ से पूर्व का सिद्ध होता है।

लाटीसहिता मे क्षुल्लक के लिए पाँच घरो से भिक्षा लाने की लिखी है वह काष्ठासघी ग्रन्थ है। अन्य ग्रन्थो मे गृह-सख्या का उल्लेख नही है।

प० मेधावी ने धर्मसग्रह श्रावकाचार की प्रशस्ति मे एक 'दीपद' नाम के श्रावक को आशीर्वाद देते हुए जो उसका स्वरूप लिखा है वह ११ वी प्रतिमा वाले द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के स्वरूप से मिलता हुआ है उसको मेधावी ने क्षुल्लक नही लिखा है किन्तु 'सत्क्षुल्लक' (उत्कृष्ट क्षुल्लक) और 'आर्य' लिखा है। तथा उनके लघु पिच्छी बताई है धत्ते च पिच्छ लघु'। (मुनि की तरह वडी पिच्छी नही)।

चारित्रसार मे ५ प्रकार के ब्रह्मचारी बताये हैं उनमे दूसरा भेद अवलम्ब ब्रह्मचारी है उसका स्वरूप इस प्रकार लिखा है अवलंब ब्रह्म चारिण क्षुल्लकरूपेणागममभ्यस्य परिगृहीत गृहावासाभवति अर्थात् अवलंब ब्रह्मचारी वे है जो क्षुल्लक का वेष धरकर आगम का अभ्यास करते हैं फिर गृहस्थ हो जाते है। यही कथन सागारधर्मामृत अ० ७ श्लोक १६ की टीका मे तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा की शुभचन्द्र कृत टीका पृ २८६ मे उद्धृत है। धर्म सग्रह श्रावकाचार अ. ६ श्लोक २१ मे तथा लाटी सहिता सर्ग ७ श्लोक ७३ मे भी यही वर्णन है। ऐसे क्षुल्लको की कथा हरिषेण कथाकोष न० ६४ मे है।

द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक की 'ऐलक' सज्ञा लाटी सहिताकार पं० रायमल जी द्वारा बताना सही नहीं है, क्योंकि लाटी सहिता सर्ग ७ श्लोक ६५ मे 'तत्रैलकः' पद है वह गलत प्रतीत होता है कारण कि वही श्लोक ५५ 'क्षुल्लकश्चैलकस्तथा' और श्लोक ५८ 'विद्यते चैलकस्यास्य' मे स्पष्टतया 'चैलक' पाठ दिया है अत श्लोक ५६ मे भी 'तत्रैलक' की जगह 'तच्चैलक' शुद्ध पाठ होना चाहिए। इस तरह लाटी सहिताकार ने 'चैलक' नाम द्वितीयोत्कृष्ट के लिए दिया है। सस्कृत भाषा की दृष्टि से भी 'चैलक' पाठ शुद्ध सार्थक है, 'ऐलक' नही। चैलक सज्ञा लाटी संहिताकार की निजी कल्पना नही है किन्तु इसके रूप पूर्व साहित्य मे सन्निहित पाये जाते हैं। रत्नकरण्ड मे 'चैल खडधर' पद इसी अर्थ मे प्रयुक्त है। पउम चरिय (विमलसूरि कृत) प्राकृत ग्रन्थ के सर्ग ६७ वे मे 'चेल्लअ' और 'चेल्लसामी' (चेल—स्वामी शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त है। दशवैकालिक की हरिभद्र सूरि कृत टीका मे भी 'चेल्लय रूव काऊण' वाक्य मे

चेन्लय (चेलक) शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे दिया है卐 चेल और चैल द्विरूप है इसीसे चेलक और चैलक बने हैं। देशी भापा मे चेला (शिष्य) शब्द भी इससे निष्पन्न हुआ है क्योकि क्षुल्लकादि, साधुओ के शिष्य होते हैं। साधु अचेलक कहलाते है क्योकि वे निर्ग्रंथ नग्न होते है अत उनसे नीचे दर्जे के क्षुल्लक (११ वी प्रतिमाधारी) चेलक कहलाने ही चाहिये क्योकि ये वस्त्रधारी होते हैं। इसी चैलक (चेला) शब्द के आदि अक्षर 'च' का लोप होकर देशी भाषा मे ऐलक (एलक) शब्द का प्रचार हुआ है। जैसे बच्चे के अर्थ मे सस्कृत 'वाल' शब्द है और उसीके 'क' प्रत्यय लगाकर उसी अर्थ मे 'वालक' शब्द वना है उसी तरह चेल और चेलक समझना चाहिए।

अर्श आदि गण (आकृतिगण) के अनुसार मत्वर्थीय (मत्=वाला) 'अ' प्रत्यय लगने पर चेल (चैल) का अर्थ चेल वाला=वस्त्रधारी भी हो जाता है जैसे शुक्ल का अर्थ शुक्लवर्ण वाला भी होता है ('गुणे शुक्लादय पुसि गुणि लिगास्तु तद्वति'–इत्यमर)। अत चैल और चैलक का 'वस्त्रधारी'के अर्थ मे प्रयोग समुचित है इसी चैलक से देशी भाषा मे ऐलक शब्द प्रचलित हुआ है। प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ को 'लाटी सहिता' का यह प्रकरण हस्तलिखित प्रति मे देखकर लिखने को एक बार हमने निवेदन किया था उत्तर मे उन्होने लिखा था कि—'चैलक' की जगह 'चैलिक' पाठ भी पाया जाता है सस्कृत कोशो मे 'चैलिक' का अर्थ खडवस्त्र दिया हुआ है इससे इस

卐 आहार क्षेत्र के प्राचीन शिलालेखो मे "चेल्लिका रत्नश्री" का उल्लेख है। स्थानीय मुनिसुव्रतनाथ भगवान् की १२२५ स० की १ मूर्ति पर चेल्लिका गणधरश्री का उल्लेख है। परमात्मप्रकाश....

पाठ की भी सगति बैठती है। दौलतरामजी ने अपने क्रिया कोष मे ऐसे ही किसी आधार से द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के लिए जगह-जगह 'ऐलि' शब्द का प्रयोग किया है जो चैलि (चैलिक) का ही अपभ्रष्ट ज्ञात होता है।

यह ऐलक शब्द का सुसगत इतिहास है। किन्तु मुख्तार सा० और प० हीरालाल जी सिद्धात शास्त्री ने (वसुनन्दि श्रावकाचार की प्रस्तावना के अन्त मे) 'अचेलक' शब्द से ऐलक शब्द की निष्पत्ति बताई है जो सगत मालूम नही पडती क्योकि किसी भी ग्रन्थकार ने द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के लिए 'अचेलक' शब्द का प्रयोग नही किया है अचेलक शब्द का प्रयोग श्रमण-निर्ग्रन्थ साधुओ के लिए ही एक मात्र प्रयुक्त पाया जाता है उत्कृष्ट श्रावकों के लिए नही। दोनो के लिये इसे प्रयुक्त बताना एक तरह से गुड गोबर एक करना है।

गवेषक विद्वानो से प्रार्थना है कि वे इस विषय पर विचार कर अपनी सम्मति प्रकट करने की कृपा करें।

अन्त मे १३ मार्च ६९ के जैनसन्देश मे जो माननीय ब्रह्मचारी हीरालाल खूशालचन्द जी दोशी ने क्षुल्लकचर्या पर ८ प्रश्न विद्वानो से पूछे है क्रमश उनका सक्षिप्त उत्तर नीचे प्रस्तुत करते हैं —

(१) वसुनन्दि श्रावकाचार मे प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (क्षुल्लक) के लिए जो एक वस्त्र का विधान है तथा सागार धर्मामृत मे जो प्रथमोत्कृष्ट के लिए उत्तरीय और कौपीन ऐसे दो वस्त्रो का विधान है इन दोनों मे वसुनन्दिका कथन पूर्वाचार्यानु समत और उपादेय है।

आपने लिखा —"एक वस्त्र धारण करने का मतलब यह दिखता है कि एक बार उपयोग मे लाने के लिए एक ही वस्त्र लेना दूसरा नही परन्तु दूसरे दिन बदलने के लिए दूसरा वस्त्र पास मे रखने का निषेध नही है दो वस्त्र एक साथ धारण करने मे निषेध (दोष) है।"

समीक्षा – प्राचीन साहित्यकारो ने जो क्षुल्लक के लिए एक ही वस्त्र धारण करना बताया है उसका तात्पर्य ही यह है कि दूसरा वस्त्र न तो अपने पास रखे और न धारण ही करे। परिग्रह की दृष्टि से पास रखने और धारण करने मे कोई अन्तर नही है क्योंकि लखपति करोडपतिकी जेबमे लाख करोड रुपये पडे नही रहते फिर भी वे उन रुपयो के मालिक अधिकारी होने से लखपति करोडपति कहलाते हैं। अत दूसरे वस्त्र का पास मे रखना एक तरह से उस दूसरे वस्त्र का धारी-परिग्रही होता ही है। अगर ऐसा नही माना जायेगा तो कोई भी एक वस्त्रधारी अपने पास अनेक वस्त्र भी रख सकेगा ऐसी हालत मे गृहस्थी मे और इसमे कोई विशेष और नही बन सकेगा।

परिग्रह का सम्बन्ध किसी वस्तु के धारण करने या पास मे रखने से ही नही किन्तु उसके ममत्वभाव से है इसीलिए सूत्रकार ने परिग्रह का लक्षण "मूर्च्छा परिग्रह" बताया है।

विहार के वक्त इस दूसरे वस्त्र को हाथ आदि मे रखना लेना ही पडेगा। तब दूसरे वस्त्र का धारण करना हो जायेगा तथा इस दूसरे वस्त्र की सार सभाल की चिन्ता रखने से स्वतन्त्रता निराकुलता मे भी काफी बाधा उत्पन्न होगी अत दूसरा वस्त्र पास मे रखना किसी तरह विधेय नही है। यह तो

स्पष्ट परिग्रह पक मे फँसना है जिस परिग्रह पक का ९वी प्रतिमा मे ही सर्वथा त्याग कर चुके पुन उसका ग्रहण करना पीछे लौटना या नीचे गिरना है।

(२) सर्वप्रथम वसुनन्दि ने दो भेद ११वी प्रतिमा के किये है किन्तु उन्होने दो और एक वस्त्र की दृष्टि से ये भेद नही किये है। उन्होने प्रथमोत्कृष्ट के लिए भी एक वस्त्र (शाटक=धोती रूप) ही बताया है और द्वितीयोत्कृष्ट के लिए भी एक कोपीन मात्र ही।

पूर्व शास्त्रों मे जो ११वी प्रतिमा मे एक शाटक व कोपीन दोनो प्रकार के विकल्प चलते थे उसी के वसुनन्दि ने पृथक्-पृथक् रूप मे दो स्वतन्त्र भेद कर किये हैं। पर बाद मे तो अनेक ग्रन्थकारो ने एक प्रथमोत्कृष्ट के ही दो वस्त्र का विधान कर इस मार्ग को जघन्य कर दिया है।

(३) पद्मपुराण पर्व १०० श्लोक ३६–'अशुकेनोपवीतेन सितेन प्रचलात्मना" मे क्षुल्लक के सफेद वस्त्र ही बताया है ऐसा ही पुष्पदन्त कृत यशोधर चरित और आशाधर कृत सागार धर्मामृत मे है। किसी भी दि० ग्रन्थ मे क्षुल्लक के लिए रगीन वस्त्र नही बताया है। श्वे० जैनो के साधु साध्वी के भी सफेद वस्त्र ही हैं। इस तरह समग्र जैनसाधु समाज मे श्वेत वस्त्र ही प्रचलित है। श्वेत रग वैराग्य का द्योतक है जबकि अन्य सब रग राग भाव के द्योतक और हिंसा जन्य हैं। अत-दि० क्षुल्लको को श्वेत परिधान ही ग्रहण करने चाहिए।

(बहुत से क्षुल्लकादि अपने कमण्डलु के गोपाल वारनिस या रगीन पेंट लगे हुए रखते है किन्तु ये वारनिस-पेन्ट नितात

अशुद्ध वस्तुओ से निर्मित होते हैं अत ऐसे कमण्डलु ग्रहण नही करने चाहिये। लकडी के स्वाभाविक वा उन पर तेल लगे हुए हीं ग्रहण करना योग्य है। (मुनियो के भी वारनिशपेन्ट के कमण्डलु ठीक नही)

(४) प्राचीनसमय मे तो क्षुल्लक (समग्र ११वी प्रतिमा) के लिए पात्र मे ही आहार करना विहित था किन्तु बाद मे किसी-किसी ग्रन्थकार ने कर मे भी आहार करने को लिख दी फिरभी मुनि की तरह अजुलि जोडकर नही इस सबका विस्तृत विवेचन पूर्व मे कर चुके हैं।

कर पात्र अर्थ—कर रूपी पात्र (कर ही) तथा कर मे रखा हुआ पात्र दोनो बन सकते है। व्याकरण शास्त्र के अनुसार प्रथम अर्थ वहुव्रीहि समास से तथा दूसरा अर्थ सप्तमी तत्पुरुप समास से निष्पन्न होता है। जैसे—'लोकनाथ' शब्द के लोक ही है नाथ जिसका अर्थात् दीन अनाथ मनुष्य तथा लोक का नाथ अर्थात् राजा दोनो बनते है।

फिर भी आशाधर ने प्रथम अर्थ के लिए पाणिपात्र शब्द का प्रयोग किया है और दूसरे अर्थ के लिए पात्र-पाणि शब्द का देखो सागार धर्मामृत अ७ श्लोक ४० "पात्र पाणिस्तदगणे।"

(५) पूर्वाचार्यों ने तो ११वीं प्रतिमा में पिच्छी रखना बताया ही नही है बाद मे किसी-किसी ने बताया है तो द्वितीयोत्कृष्ट जिसे आज ऐलक कहते हैं उसी के लिये बताया है। प्रथमोत्कृष्ट क्षुल्लक के लिए तो वस्त्र का मृदूपकरण रखना बताया है।

दो वस्त्र रखने वाले आजकल के क्षुल्लक के लिए तो प्राचीन अर्वाचीन किसी भी आचार्य ने पिच्छी रखना नहीं बताया है।

(६) इसी तरह आजकल के (दो वस्त्रधारी) क्षुल्लक के लिए किसी भी शास्त्र मे लोंच करने का विधान नही है फिर गुप्तस्थान या जाहिर मे करने का तो प्रश्न ही नही उठता।

आजकल के जो कोई क्षुल्लक दाढी-मूँछ के बालो को तो रेजर या बाल-सफा लोशनो से साफ कर डालते हैं और शिर के बालो के लिए केशलोच महोत्सव कराते हैं या परचे छपवाते हैं वह सब ढोंग और महान् विडम्बना है धर्म का अपवाद है—कदाचार है।

क्रियाकलाप के अन्त मे (पृ० ३३८ पर) क्षुल्लक दीक्षा विधि संग्रहीत है जो न जाने किसकी बनाई हुई है उसमे गोबर आदि को क्षुल्लक के मस्तक पर रखने का भी कथन है और दीक्षा के वक्त क्षुल्लक का लोच करना बताया है इससे कोई कोई आज के क्षुल्लक के लिए लोच करना विधेयक बताते है किन्तु वह ठीक नही क्योकि पूर्वकाल मे क्षुल्लक एक वस्त्रधारी की ही सज्ञा थी (जो आज ऐलक कहलाते है) अत दो वस्त्रधारी आजकल के क्षुल्लको के लिए इस दीक्षा विधि से भी केशलोच का विधान सिद्ध नही होता। क्षुल्लक शब्द से भ्रम मे नही पडना चाहिये। इस दीक्षा विधि मे क्षुल्लक शब्द के आगे ब्रेकेट मे 'आर्य-ऐलक" ऐसा स्पष्ट लिखा है इससे यह ऐलको की ही दीक्षा विधि सिद्ध है आज के दो वस्त्र धारी क्षुल्लको से उसका कोई सम्बन्ध नही।

[बहुत से क्षुल्लक महाराज कहते हैं कि अगर हम केश लौंच की उच्च क्रिया करते हैं तो इसमे क्या हानि है ? यह तो अच्छी ही बात है इसका उत्तर यह है कि—फिर तो मुनियो की तरह खडे-खडे आहार भी कर लिया जाय इसमे भी क्या हानि है ? यह भी उच्चक्रिया ही है। किन्तु क्षुल्लको के लिए यह सब शास्त्र विरुद्ध है शास्त्र मे जिस पद के लिए जो मर्यादा कायम की है तदनुसार ही आचरण करना चाहिये अगर ऐसा नही किया जायेगा तो फिर ब्रह्मचारी भी कहने लगेंगे कि—हम भी यह केशलौच की उच्च क्रिया करेंगे (परचे छपवाकर महोत्सव करेंगे) तब उन्हे कैसे रोका जायगा ? इस तरह सारा ही मार्ग बिगड जायगा]। अगर क्षुल्लको को उच्च क्रिया का ही शौक है तो पछेवडी आदि वस्त्रो का मोह छोडिये और फिर खूब केश-लौच करिये कोई रोकने टोकने वाला नही। किन्तु उच्चक्रिया का तो क्षुल्लको के बहाना मात्र है अन्तरग मे तो महोत्सव, भोज परचे छपवाना, जय-जयकार आदि के रूप मे अपनी नामवरी की भूख है जो वैरागी के लिए कोई शोभा की चीज नही। प्रस्तुत उसे हीन मार्ग की ओर ले जाने वाली है।

(७)(८) जो क्षुल्लक कपडे की पगरखी, छतरी, दतौन-टूथब्रुश, साबुन, घडी, फाउन्टेन पेन, पखा, चश्मा, बिजली, तेल, खसखस की टाटी हीटर, रेल मोटर, आदि सवारी वगैरह का उपयोग करते है वे पदविरुद्ध क्रिया करते है क्योकि इन सब वस्तुओ का तो ९वी परिग्रहत्याग प्रतिमा मे ही सर्व प्रकारेण त्याग हो जाता है पुन उसका ग्रहण करना उच्छिष्ट-सेवी बनना है यह तो आगे की कक्षा में आकर पीछे का पाठ भूलने के समान है गृहत्यागी वैरागीके लिये ये सब आरम्भ परिग्रह किसी तरह शोभास्पद नही ये तो उसकी स्वतन्त्रता निराकुलता का

हनन करने वाले और धर्म की निंदा स्वरूप हैं ये महान दोष-अनाचार हैं क्षुल्लको को इनसे बचना चाहिये।

रेल मोटरादि की सवारी मे ईर्या समिति का पालन भी पालन-भी नही है टिकिट के लिए भी याचना करनी पडती है अत क्षुल्लक को तीर्थयात्रा के निमित्त भी सवारी का उपयोग मन मे नही लाना चाहिये।

जो कोई क्षुल्लक-क्षुल्लिका शीतकाल मे ओढ़ने के लिए विशेष चद्दर या रजाई आदि का उपयोग करते हैं वह भी शास्त्र विरुद्ध और अनाचार है। उन्हे अपने पद का ध्यान रखकर शीत परिषह को सहना चाहिये—किसी भी प्रकार के शिथिलाचार को प्रश्रय नही देना चाहिये।

आजकल के क्षुल्लको के लिये एक बात की तरफ हम और सकेत करना चाहते हैं—

बहुत से क्षुल्लक आहारचर्या पर जाते वक्त अपनी पछेवडी (चद्दर) अपने आवास परही रख जातेहै यह दोषास्पद है क्योकि इस तरह आहारदाता गृहस्थको यह पहचानने मे नही आता कि ये क्षुल्लक हैं या ऐलक वे भ्रममे पड जातेहैं इसके सिवा आवास पर चद्दर रखकर आने से उस चद्दर के चोरी चले जाने या किसी प्रकार से उसकी बरबादी-हानि भी सभव है अत क्षुल्लकों को आहारचर्या के वक्त अपनी पछेवडी अपने साथ ही रखना चाहिये।

श्रावक, त्यागी सभी का कर्तव्य है कि वे सदा जिनेन्द्र के पवित्र मार्ग को अक्षुण्ण बनाने रखने मे प्रयत्नशील रहे—किसी भी तरह मार्ग को भ्रष्ट-पतित नही होने दे। यही सच्ची जिनभक्ति है।



साधुओं को आहारचर्या का समय

जो भिक्षा प्रासुक हो, यथाकाल प्राप्त की हो और जिसके सम्पादन मे साधु का कृत-कारित-अनुमोदना का कुछ भी संपर्क न हो, ऐसी भिक्षा आगम मे साधु के लिए ग्रहण योग्य मानी है। इस प्रकार की भिक्षाचर्या को साधु के मूल गुणो और उत्तर-गुणो मे प्रधान व्रत कहा है। ऐसी भिक्षाशुद्धि को त्यागकर जो साधुजन अन्य योगउपवास व आतापनादि त्रिकालयोगो को करते है, तो उनके किये वे अन्य योग सब चारित्रहीनो के किए जैसे है। उन्होने परमार्थ को नही जाना है। भिक्षाशुद्धि के साथ यदि थोडा भी तप किया जाय तो वह शोभनीय व सराहने योग्य है।

ऊपर का सब कथन मूलाचार के समयसाराधिकार में बताया है। यथा—

जोगेसु मूलजोग भिक्खाचरियं च वाण्णियं सुत्ते।
अण्णं च पुणो जोगा विण्णाणविहीणएहिं कया।४६।

टीका—सर्वेषु मूलगुणेषूत्तरगुणेषु मध्ये प्रधानव्रतं भिक्षा-चर्या। कृतकारितानुमतिरहित प्रासुक काले प्राप्तं वर्णिता प्रवचने। तस्मात्तां भिक्षाशुद्धि परित्यज्य अन्यान् योगान् उपवास-त्रिकाल योगादिकान् ये कुर्वंति, तैस्तेऽन्ये योगा विज्ञानविरहि-

तैश्चाग्त्रिहीनै पुन कृता । न परमार्थं जानद्भिरिति। चर्याशुद्धया स्तोकमपि क्रियते यत्तपस्तच्छोभनमिति ।

फिर इसके आगे की गाथा मे लिखा है कि—

कल्ल कल्ल पि वरं आहारो परिमिदो पसत्थो य ।
ण य खमण पारणाओ बहवो बहुसो बहुविहो य ॥४९॥

अर्थ—भिक्षाशुद्धि के बिना जो बहुत से बहुत प्रकार के बहुत बार उपवास पारणे करता है वह अच्छा नही है। इससे तो वह अच्छा है जो रोज-रोज आहार करता है किन्तु परिमित और अध कर्मादिदोष रहित आहार लेता है।

ऊपर भिक्षाशुद्धि का कथन करते हुए भिक्षा काल मे भोजन लेना भी भिक्षा-शुद्धि मे शुमार किया है। आगम मे साधुओ के भिक्षा लेने का समय कौनसा बताया है ? इस लेख मे नीचे हम इसी की चर्चा करते हैं।

मुनियो का आचारविषयक प्रधान ग्रथ मूलाचार है। उसके पचाचाराधिकार की गाथा १२१ की वसुनन्दिकृत सस्कृत टीका मे यह कथन इस प्रकार लिखा है—

"सवितुरुदये देववदना कृत्वा घटिकाद्वयेऽतिक्राते श्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वक स्वाध्याय गृहीत्वा ' घटिकाद्वयम प्राप्तमध्याह्नादरात् स्वाध्याय श्रुतभक्तिपूर्वकमुपसहृत्या-वसथाद्दूरतो मूत्रपुरीषादीन् कृत्वा पूर्वापरकाय विभागमवलोक्य हस्तपादादि प्रक्षालन विधाय कुण्डिका पिच्छिका गृहीत्वा मध्याह्नदेववन्दना कृत्वा पूर्णोदरबालकान् भिक्षाहारान् काकादिबलीनन्यानपि लिंगिनो भिक्षावेलाया ज्ञात्वा प्रशाते धूममुशलादिशब्दे गोचर प्रविशेन् मुनि ।"

अर्थ—सूर्योदय मे देववन्दना करके, २ घडी दिन चढने पर श्रुतभक्ति व गुरुभक्ति का पाठ पढकर स्वाध्याय का प्रारम्भ करे और मध्याह्न के होने मे जव दो घडी का समय वाकी रहे तव ही यानी मध्याह्न के समीप काल मे श्रुतिभक्ति के पाठ पूर्वक स्वाध्याय का विसर्जन करदे। फिर वसतिका से दूर जाकर मलमूत्र करके (यहां ऐसा कुछ आभास होता है कि आम तौर पर मुनियो के मलोत्सर्ग का भी यही समय है, न कि प्रभात काल)। अपने शरीर के अगले पिछले भाग की प्रतिलेखना कर, हाथ पैर धोकर कमण्डलु पीछी लेकर मध्याह्न की देववन्दना किये वाद यह देखे कि वालको ने पेटभर भोजन कर लिया है, भिखारी भीख मागते फिर रहे है, काकादिको को खाना डाला जा रहा है, (इस आर्यावर्त देश की यह प्राचीन प्रथा थी कि मध्याह्न के वक्त काक, श्वान आदि को खाना डाला जाता था) और अन्य मत के साधु भी भिक्षाथ विचर रहे हैं। इत्यादि लक्षणो से भिक्षा लेने का समय जानकर जिस वक्त कि रसोई का धुआं और मुशलादि का शब्द भी न हो रहा हो, जैनमुनि गोचरी के लिए निकले।★

भिक्षावेला का यह विवरण जिस क्रम के साथ यहाँ दिया गया है उससे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि—जैनमुनि के भोजन का काल दिन के मध्याह्न मे है। मध्याह्न से दो घडी

★ श्वे० विशेषावश्यक ग्रथ मे भी ऐसा ही लिखा है देखिये—
निद्धमग च गाम महिला थूभ च सुण्णय देढ्ढ। नीय च कागा बोलें ति जाया भिक्खस्स हरद्दरा।।२०६४।। ७२७-१८६ (अर्थात्—धूम्ररहित गाव और स्त्रियो रहित पनघट को लक्षितकर और कौवो को नीचे आते देख कर भिक्षाकाल का निश्चय करना चाहिये)

पहिले स्वाध्याय को समाप्त करना और मल मूत्रादि क्रिया से निवृत्त हो मध्याह्न की देववन्दना किये बाद गोचरी पर उतरना इत्यादि उल्लेखो से मध्याह्न के समय मे फेरफार होने की तनिक भी गुंजाइश नही है। अन्यमत के सन्यासियो के भोजन के बाबत जो टीकाकर ने लिखा है सो मनुस्मृति मे इस विषय मे निम्न कथन मिलता है—

एककालं चरेद्भैक्ष्य न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥५५॥
विधूमे सन्नमुशले व्यंगारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥५६॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ॥अ०६॥

अर्थ—सन्यासी दिन मे एकबार भिक्षा करे। अधिक बार न खावे। क्योंकि अधिक बार खाने से कामादि विषयो मे मन जाता है। रसोई का धुवा निकल गया हो, मुशल के कूटने का शब्द बन्द हो चुका हो। आग बुझ गई हो, सब भोजन कर चुके हो, झूंठी पत्तले मिट्टी के सकोरे आदि फेंक दिये हों ऐसे समय मे सदा यति को भिक्षा के लिये जाना चाहिये। भिक्षा न मिलने पर खेद और मिलने पर हर्ष न करे। *

मनुस्मृति के इस कथन से ऐसा ध्वनित होता है कि—गृहस्थी के सब लोग भोजन कर चुकने के बाद अगर भोजन बच जाये तो वह सन्यासियो के लेने योग्य होता है।

---

* यही बात कण्व (वैदिक ऋषि) ने लिखी है —

विधूमे सन्नमुशले, व्यगारे भुक्तवज्जने।
कालेऽपराण्हे भूयिष्ठे भिक्षाटन मया चरेत् ॥

(इसमे स्पष्ट तया अपरान्ह काल लगने पर भिक्षाटन बताया है।)

अब हमे यह देखना है कि—मूलाचार की टीका मे जो मुनियो का भिक्षा का काल मध्याह्न मे बताया है उसका समर्थन अन्य जैन ग्रन्थो से भी होता है या नही। सबसे प्रथम हम सोमदेव कृत यशस्तिलक चपू का प्रमाण पेश करते हैं। उसके प्रथम आश्वास के पृष्ठ १३४ (तुकारामजावजी द्वारा प्रकाशित) पर लिखा है कि—

'तमुपसद्य निषद्य च निर्वर्तितमार्गमध्याह्नक्रिय समाकलय्य च परिणतकालमहर्दलमखिल श्रमणसघ लोचन-गोचरारामेषु ग्रामेषु विश्वाणार्थमादिदेश।"

उस पर्वत पर सुदत्ताचार्य सघ सहित जाकर स्थित हुये। उन्होने ईर्यापथशुद्धि और माध्याह्निकक्रिया-देववन्दनादि से निवृत्त हो, अहर्दल कहिये दिन के अर्द्ध भाग को मुनियो का भोजन काल ज्ञात करके सब मुनिसघ को आहार के लिये आसपास के ग्रामो मे जहां के कि बगीचे दिखाई दे रहे थे, जाने का आदेश दिया।

यहां भी दिन का अर्द्ध भाग और मध्याह्न की देववदना के बाद का समय लिखकर सोमदेव ने इस विषय को अच्छा स्पष्ट कर दिया है।

पद्मपुराण पर्व ४ मे लिखा है कि—

अन्यदा हास्तिनपुरं विहरन् स समागत।
अविशच्च दिनस्यार्द्धे गते मेरुरिव श्रिया ॥६॥

अर्थ—जो शोभा से मेरुपर्वत के समान जान पड़ते थे ऐसे भगवान् श्री ऋषभदेव विचरते हुए किसी दिन आहार के अर्थ मध्याह्न के समय हस्तिनापुर मे आये। यहा भी दिनार्द्ध का

समय लिखा है। □

हरिवंश पुराण सर्ग ९ मे लिखा है कि—श्री ऋषभदेव भगवान के दर्शन प्रजा को उस वक्त होते थे जब वे मध्याह्न के समय आहार के अर्थ पुरो व ग्रामो मे आते थे। यथा—

मध्यान्हेषु पुरग्रामगृहपंक्तिषु दर्शनम् ।
प्रशस्ताषु प्रजाभ्योऽदाच्चाद्रौचर्यां चरन क्षितौ ॥१४४॥

यहा भी मध्याह्न का समय लिखा है। 卐

सकलकीर्तिकृत प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के २४वे सर्ग मे ११वी प्रतिमा का स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है कि—

योग्यकाले तदादाय मुहूर्ते सप्त संगते ।
दिने परिग्रहे योग्ये भिक्षार्थं सभ्रमेत् व्रती ॥४५।

अर्थ—उस पात्र को लेकर सात मुहूर्त दिन के चढ जाने पर जो कि भिक्षा का योग्य काल है, उसमे योग्य दिन मे क्षुल्लक व्रती को भिक्षा के लिए घूमना चाहिए।

□ पर्व ६२ श्लोक १५-१६ मे लिखा है — नभोमध्य गते भानावहरदा ते महाशमा (वे मुनीश्वर आकाश के मध्य मे सूर्य के आने पर अर्थात् ठीक मध्यान्ह मे भिक्षार्थ नगर मे आये)

卐 हरिवंशपुराण के सर्ग ९ श्लोक १६६ से भी मध्यान्ह—ही भिक्षाकाल प्रकट होता है—तावदध्मान माध्यान्ह शखनाद समुच्छिन्न ।

यहा सूर्योदय से ७ मुहूर्त बाद भिक्षा लेने को जाना लिखा है। ७ मुहूर्त के ५।। घण्टे होते हैं। अत यह समय भी लगभग मध्याह्न का ही पडता है।

इत्यादि आगम प्रमाणो से जैनमुनियो का भिक्षा काल मध्याह्न समय का सिद्ध होता है। [शास्त्रकारो ने जो भिक्षा का समय मध्याह्न काल बताया है उससे मुनि को आहार उद्दिष्टादि दोषो से रहित प्राप्त होता है यह ज्ञातव्य है।]

इस पर जैन गजट के सम्पादक प अजित कुमार जी शास्त्री और ब्र० चांदमल जी चूडीवाल के विचार जैनगजट के ता० ९-२३-३० मई सन् ६८ के अक मे प्रकाशित हुए है। उन्हे मैं समीचीन नही समझता। उनकी समीक्षा के साथ नीचे इस विषय पर और भी काफी प्रकाश डाला जाता है ताकि पाठक इस विषय को और भी स्पष्टतया हृदयगम कर सके —

मूलाचार के बाद मुनियो के आचार को लेकर प आशाधर जी ने भी अनगारधर्मामृत नाम का एक बडा ग्रथ स्वोपज्ञ सस्कृत टीका सहित रचा है। जिसमे मुनिधर्म का विस्तार से खुलासा किया है। इस ग्रन्थ मे भी मुनि के भिक्षाकाल के विषय मे लिखा है। उसे भी देखिये—

प्रवृत्यँन दिनादौ द्वे नाडयौ यावद्यथाबलम्।
नाडीद्वयोनमध्यान्ह यावत्स्वाध्यायमावहेत् ।।३५।।
[अध्याय ९]

(नोट — श्रावक धर्म सग्रह पृ २२५-२२६ मे सोधियाजी ने इस ७ मुहूर्त को ७ घडी बना दिया है जो गलत है इससे आधा ही होगया है क्योकि १ मुहूर्त मे २ घडी होती है)

अर्थ– इस प्रकार दिन की आदि (प्रभात) मे दो घडी तक देववन्दनादि किये बाद साधुओ को स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय का समय सूर्योदय से २ घडी बाद से लेकर मध्यान्ह से २ घडी पहिले तक का है। इस समय के भीतर साधुओ को स्वाध्याय करनी चाहिये।

मध्याह्न से पूर्वोत्तर की दो दो घडी स्वाध्याय के लिये वर्जित है। इन चार घडियो के अस्वाध्यायकाल मे मुनि क्या करे ? इसके लिये आगे लिखा है कि जिसने स्वाध्याय समाप्त किया है ऐसा वह मुनि यदि उपवास रखना चाहता हो तो उसे क्या करना चाहिए यह बताते हैं —

ततो देवगुरू स्तुत्वा ध्यान वाराधनादि वा।
शास्त्रं जपं वाऽस्वाध्यायकालेऽभ्यसेदु पोषित ॥३५॥
[अध्याय ६]

अर्थ उपवास युक्त साधु को पूर्वान्हिकाल का स्वाध्याय समाप्त होने पर मध्यान्ह की आगे पीछे की दो-दो घड़ियो मे जो कि अस्वाध्याय काला है उनमे अरहन्त और गुरु धर्माचार्य की स्तुति वन्दना करके ध्यान करना चाहिए अथवा आराधनादि शास्त्रो का अभ्यास करना चाहिए, यद्वा पञ्चनमस्कारादि का जप करना चाहिए।

"अप्रतिपन्नोपवासस्य भिक्षोर्मध्याह्नकृत्य माह।" अर्थ– आगे उपवास न रखने वाले साधु को मध्यान्ह मे क्या करना चाहिए सो बताते है—

प्राणयात्राचिकीर्षायां प्रत्याख्यानमुपोषितम्।
न वा निष्ठाप्य विधिवद् भुक्त्वा भुयः प्रतिष्ठयेत् ॥३६॥
[अ० ६]

अर्थ—यदि मुनि को उस दिन भोजन करना हो तो पूर्व दिन जो प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण किया था, उसका विधिपूर्वक निष्ठापन कर देना चाहिए और निष्ठापन के अनन्तर मध्यान्ह मे शास्त्रोक्त विधि के अनुसार भोजन करके अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान अथवा उपवास की प्रतिष्ठापना करनी चाहिए। उसके बाद क्या करना चाहिए सो बताते है—

प्रतिक्रम्याथ गोचारदोषं नाडीद्वयाधिके ।
मध्याह्ने प्राह्णवत् वृत्ते स्वाध्यायं विधिवद्भजेत् ॥३९॥
[अ० ९]

अर्थ—प्रत्याख्यानादि को अपने मे स्थापित करने के बाद साधुओ को गोचरी सम्बन्धी दोषो का प्रतिक्रमण करना चाहिए। तदनन्तर पूर्वान्ह की तरह अपरान्हकाल मे भी मध्याह्न से २ घडी अधिक समय व्यतीत होने पर विधिपूर्वक स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिए।

इस प्रकार मूलाचार और अनगार धर्मामृत इन दोनो ही ग्रन्थो मे स्पष्टतौर पर मध्याह्न से दो घडी पूर्व स्वाध्याय की समाप्ति किये बाद गोचरी का समय लिखा है। जो लोग दस बजे करीब गोचरी का जनरल टाइम मानते हैं उन्हे जानना चाहिये कि आशाधर जी ने साफ लिखा है कि मध्यान्ह से दो घडी पहिले जिस मुनि को उपवास रखना है वह अमुक काम करे और जिसे भोजन करना है वह गोचरी पर जावे। इससे साफ प्रगट होता है कि दो घडी कम मध्यान्ह से पहिले मुनि की गोचरी का कोई टाइम नही है। मध्यान्ह से २ घडी पहिले का अर्थ होता है दिन के १२ बजे से ४८ मि० पहिले अर्थात् ११। बजे। इसका तात्पर्य यही हुआ कि मुनिका कोई भी भिक्षाकाल दिनके सवाग्यारह बजे से पहिले नही है, बाद मे है।

मूलाचार के ऊपर लिखे उद्धरण मे लिखा है कि रसोई मे से धुआँ निकलना बद होने आदि कारणो से मध्याह्नका समय जानकर मुनि गोचरी पर उतरे। इसका मतलब यह है कि १०-१०॥ बजे तक तो वहुत से गृहस्थो के रसोई बनती रहती है, अत वह समय गोचरी का नही हो सकता है। मध्याह्न मे रसोई से सब निमट जाते है, अत धुआँ निकलने का भी तब अवसर नही रहता है।

आशाधर जी ने अन्य प्रसङ्गो पर भी मुनि का भिक्षाकाल मध्याह्न मे लिखा है। जैसे सागार धर्मामृत अ० ५ श्लोक १५ मे लिखा है कि–"श्रावक माध्याह्निक देवपूजा किये बाद अतिथि को आहारदान देने के लिए प्रतिक्षा करे।"

इसी तरह सागार धर्मामृत के ६ वें अ० मे श्रावक की दिनचर्या बताते हुए आशाधर जी लिखते है कि–

प्रथम ही ब्राह्ममुहूर्त मे उठकर णमोकार मत्र पढे। फिर शौचादि से निवृत्त हो घरके चैत्यालय मे पूजा करे व कृतिकर्म करे फिर कुछ नियम विशेष धारण कर पूजा की सामग्री लेकर गांव के मन्दिर मे जावे। वहाँ भगवान की पूजा किये बाद आचार्य के पास जाकर जो पहिले घरके चैत्यालय मे नियम विशेष ग्रहण किये थे, उन्हे उनको सुनादे। फिर स्वाध्याय करे। इस प्रकार प्रात·काल सम्बन्धी धार्मिक कृत्यो को करके वह श्रावक अर्थोपार्जन के लिए दूकान आदि स्थानो पर जाकर व्यवसाय करे। फिर भोजन के अर्थ घर पर आवे। उस वक्त मध्याह्न मे मुनि की गोचरी का समय समीप जानकर (श्लोक २१) स्नान कर अपने घरके चैत्यालय मे ही माध्याह्निक देवपूजा करे। तदनन्तर अतिथि को आहार देकर भोजन करे।"

यह वर्णन सागारधर्मामृत के ६ वें अ० मे श्लोक १ से २४ तक किया है। (लाटी स हिता अ० ६ श्लोक १८०-१८१ आदि मे भी लगभग ऐसा ही कथन है।)

अनगार धर्मामृत अ० ८ श्लोक ६६ मे प्रत्याख्यान के अनागत आदि १० भेदो मे से कोटियुत नामक प्रत्याख्यान का स्वरूप इस प्रकार लिखा है—

"कलको दिन की स्वाध्याय का समय बीत जाने पर यदि शक्ति होगी तो उपवास करू गा, वर्ना नही करू गा, ऐसा सङ्कल्प करके प्रत्याख्यान करने को कोटियुत प्रत्याख्यान कहते है।"

मध्याह्न से २ घडी पहिले तक का स्वाध्यायकाल माना जाता है जैसा कि ऊपर बताया गया है। इसके आगे मुनियो का भिक्षाकाल आ जाता है। इस बात को लेकर यहाँ कहा है कि उस वक्त शक्ति होगी तो उपवास करू गा नही तो नही करूंगा, ऐसे सङ्कल्प से पूर्व दिन मे नियम लेना। ऐसा ही कथन मूलाचार अ० ७ गाथा १४० मे किया है तथा मूलाचार अ० ४ गाथा १८० की टीका मे भिक्षा की व्याख्या ऐसी की है—

'मध्याह्नकाले भिक्षार्थं पर्यटन भिक्षा।" अर्थ—मध्याह्न मे मुनि का भिक्षा के लिए घूमना भिक्षा कही जाती है।

तथा इसी मूलाचार के अ० ७ श्लोक ८४ मे लिखा है कि—

"मध्याह्नकाल मे आये साधु का बहुमान करना लोकानुवृत्ति विनय है।"

आमतौर पर मुनियो का भिक्षाकाल मध्याह्न नियत होने से ही इस प्रकार के उल्लेख किये गये है।

आशाधर और मूलाचार के इन सब उल्लेखो से मुनियो का भिक्षाकाल का दिनार्द्ध का आसपास का समय सिद्ध होता है। जिसे शास्त्रो मे मध्याह्न नाम से लिखा है। ★

इस विषय मे और भी ग्रन्थोके प्रमाण देखिये-प० मेधावीकृत श्रावकाचार मे लिखा है कि -

गृही देवार्चनं कृत्वा मध्याह्ने साधुभाजन. ।
पात्रावलोकनं द्वास्थः कुर्याद्भक्त्या सुधौतभ्रृत् ॥८५॥

अर्थ—स्नानादि से पवित्र हो गृहस्थ, देवपूजा किये बाद मध्याह्न मे जलपात्र हाथ मे लेकर अपने घरके द्वार पर स्थित होकर भक्तिपूर्वक पात्र की प्रतीक्षा करे।

इसी ७ वें अधिकार के श्लोक ६१ मे भी प्रोषधोपवास का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"सप्तमी और त्रयोदशी को दिन के मध्याह्न मे अतिथियो को आहार देना चाहिये।"

कातिकेयानुप्रेक्षा मे लिखा है कि—

सत्तमि तेरस दिवसे अवरण्हे जाइऊण जिणभवणे ।
किच्चा किरिया कम्म-उववासं चउविह गहियं ॥३७३॥

★ आशाधर ने सागार धर्मामृत अ० ४ श्लोक २८ मे लिखा है—उत्तमपुरुष (मुनि आदि) एक बार भोजन करते हैं और वह भोजन दिन के मध्य मे करते हैं। इससे भी साधु के आहार का समय मध्याह्न ही सिद्ध होता है।

टीका—"स प्रोषधोपवासी भवति य सप्तम्यास्त्रयोदश्याश्च दिवसे अतिथि जनाय भोजन दत्वा पश्चात् स्वय भुक्त्वा ततः अपराह्ने जिनभवने गत्वा तत्र कृतिकर्म-देववन्दना कृत्वा उपवास गृह्लाति।"

अर्थ—सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अतिथि को भोजन जिमाकर और पीछे स्वय भोजन जीमकर फिर अपरान्हकाल मे जिन मन्दिर मे जाकर वहाँ सामायिक आदि क्रियाकर्म करके उपवास ग्रहण करे।

मध्याह्न मे मुनि को जिमाने और बाद मे खुद के जीमकर निमटने से अपराह्न काल आ जाता है। इसीसे यहाँ अपराह्न मे सामायिक करने व उपवास ग्रहण करने को कहा है। अपराह्न का उल्लेख खास गाथा मे भी किया है।

सोमसेन त्रिवर्णाचार मे लिखा है—

यथालब्धं तु मध्याह्ने प्रासुकं निर्मलं परम्।
भोक्तव्य भोजन देहधारणाय न भुक्तये ॥६७॥
मध्याह्नसमये योगे कृत्वा सामायिकमुद्रा।
पूर्वस्यां तु जिनं नत्वा ह्याहारार्थं व्रजेच्छनैः ॥६८॥
पिच्छं कमडलुं वाम हस्ते स्कन्धे तु दक्षिणम्।
हस्तं निधाय सद्दृष्टया स व्रजेच्छ्रावकालयम् ॥७०॥
[अध्याय १२]

अर्थ—मुनि को मध्याह्न के समय यथाप्राप्त प्रासुक और निर्दोष भोजन देहस्थिति के लिये जीमना चाहिये, स्वाद के लिये नही।

मध्याह्न समय की सामायिक करके आहार के लिये मन्द गतिसे गमन करना चाहिए, उस वक्त वाम हाथमे पीछी कमण्डलु और दक्षिण हाथ कन्धे पर रहना चाहिये। इस तरह से ईर्यापथशुद्धिपूर्वक श्रावक के घर पर जावे।

आजकल जिस मुद्रा मे मुनिलोग गोचरी पर फिरते है वह मुद्रा यहाँ लिखी है। शायद इसीके आधार पर यह मुद्रा चली हो। मूलाचार, अनगार धर्मामृत, आचारसार, भगवती आराधना मे ऐसी मुद्रा का उल्लेख देखने मे ही नही आया।

लाटी सहिता मे अतिथि सविभाग व्रत के व्याख्यान मे ऐसा कहा है—

ईषन्न्यूने च मध्याह्ने कुर्याद् द्वारावलोकनम्।
दातुकाम सुपात्राय दानोयाय महात्मने ॥२२१॥
[अ० ६]

अर्थ—सुपात्र को दान देने की इच्छा रखने वाला श्रावक किञ्चित् न्यून मध्याह्न मे द्वाराप्रेक्षण करे। यहाँ किञ्चित् न्यून मध्याह्न का अर्थ है १२ बजे से कुछ पहिले का समय ११॥ बजे करीब।

इन्द्रनन्दि कृत नीतिसार के श्लोक ४१ मे भी मध्याह्न लिखा है।

प भूधरमिश्र कृत चर्चा समाधान मे चर्चा ५३ वी मे मुनि की आहारचर्या सम्बन्धी चर्चा का समाधान इस प्रकार किया है—

"प्रथम सूर्योदयविषै साधु प्रात काल की सामायिक

समाप्त करै तिस पीछे दोय घडी दिन चढे श्रुतभक्ति-गुरुभक्ति पूर्वक स्वाध्याय ग्रहैसिद्धात सम्बन्धी वाचना पृच्छनादि करै। मध्याह्नविषै दोय घडी बाकी रहै तब श्रुतभक्ति पूर्वक स्वाध्याय समाप्त करै। यथावसर मलमूत्र का त्याग करि आवै। शुद्ध होय मध्याह्न की देव वन्दना करै। आहार के निमित्त नगरादिविषै च्यारि हाथ धरती शोधता गमन करै।"

इस प्रकार शास्त्र मे जहाँ भी गोचरी का वर्णन आया है वहाँ मध्याह्नका ही समय लिखा है, किसी भी शास्त्र मे पूर्वाह्न नही लिखा है। इसके विरुद्ध श्री चूडीवालजी ने आदिपुराण का श्लोक देकर गोचार वेला का अर्थ प्रात काल बताया वह मिथ्या है, उसका प्रात काल अर्थ होता ही नही है। यथा—

सती गोचार वेलेयं दानयोग्या मुनीशिनाम्।
तेन भर्त्रे ददे दानमिति निश्चित्य पुण्यधी ॥७॥
[पर्व २०]

इसका सही अर्थ ऐसा होता है—

"यह दान देने योग्य मुनियो की गोचरी का उत्तम समय है। ऐसा निश्चय कर पवित्र बुद्धि वाले श्रेयास कुमार ने भगवान को दान दिया।"

इस श्लोक मे आये गोचारबेला का अर्थ हिन्दी अनुवादक प० पन्नालालजी साहित्याचार्य ने प्रात काल किया है। आपके अनुकूल होने से ही शायद आपने भी उस अर्थ को मान लिया है। परन्तु गोचार का प्रात काल अर्थ करना गलत है। टिप्पणीकार ने अशनबेला अर्थ किया है वह ठीक है। आपको

मालूम होना चाहिये कि साधुओं की भिक्षावृत्ति के भ्रामरी, गर्तपूरण आदि नामो मे एक नाम गोचरवृति (गाय के समान आहारचर्या) भी आता है । इसे ही गोचरी नाम से भी बोलते है । गोचरी का अर्थ है साधु की भिक्षा । यह अर्थ आम जनता मे भी प्रसिद्ध है । आदिपुराणकार ने भी यहाँ इसी अर्थ मे गोचर शब्द का प्रयोग किया है । अनगार धर्मामृत सस्कृत के पृष्ठ ५३६,४०६,६५०,५७६ मे भी गोचार शब्द भिक्षा अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । गोचार शब्द का प्रयोग प्रभात अर्थ मे कही भी किसीने नही किया है । शायद अनुवादक पं० पन्नालाल जी ने प्रभात मे जङ्गल मे चरने को गाये उछेरी जाती है इस अभिप्राय से गोचार का प्रभात अर्थ किया हो तो इसके लिए गोसर्ग शब्द आता है, न कि गोचार । और गाये उछेरने के समय तो गृहस्थ के यहाँ रसोई भी तैयार नही होती है । वह समय तो श्रावको के पूजापाठ दर्शनादि का होता है एव मुनियो के भी वन्दनादि कृतिकर्म का होता है । उस वक्त मुनि की आहारचर्या कैसी ? इसलिए आदिपुराण के उक्त श्लोक मे प्रयुक्त गोचार शब्द का प्रभात अर्थ करना बिल्कुल गलत है । प० लालारामजी ने भी गोचार का भिक्षा अर्थ किया है । वचनिकाकार प० दौलतराम जी ने भी इसका प्रभात अर्थ नही किया है ।

मूलाचार पिण्डशुद्धि अधिकार मे एक गाथा निम्न प्रकार से लिखी मिलती है—

सूरुदयत्थमणादो णालीतियवज्जिदे असणकाले ।
तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिम्म मुक्कस्से ।।७३।।

अर्थ—सूर्योदय बाद से ३ घडी तक का और सूर्यास्त से

३ घडी पहिले का काल छोडकर मध्य काल भोजनकाल माना जाता है। उसमे तीन, दो और एक मुहूर्त का काल क्रमश जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट है卐

इन सब मे समुच्चय सामान्य कथन किया है। मुनि श्रावक का भेद न करके जो भी रात्रि भोजन के त्यागी है उन सबके लिए कहा है कि उनका भोजनकाल सूर्य के उदयास्त की तीन-तीन घडी छोडकर मध्य मे है। इस सामान्य कथन से यह पता नही पडता कि मुनि का खास भिक्षा समय कौनसा है ? तदर्थ ग्रन्थकार ने खास मुनियो के लिये अलग से कथन किया कि उनकी भिक्षा-वेला मध्याह्न मे है, जैसा कि पहिले मूलाचार का प्रमाण देकर बताया गया है □अगर उदयास्त की तीन-तीन घडी के अलावा शेप सारा ही दिन मुनियो के भिक्षाकाल का शास्त्रकारो को अभीष्ट होता तो उनको विशेष या अलग कथन

卐 यही कथन और भी स्पष्टता के साथ मूलाचार अ० १ गाथा ३५ मे बताया है, देखो "उदयत्थमणे काले णालीतिय वज्जियम्हि मज्झम्हि" ॥ इसी के अनुसार अनगार धर्मामृत अ० ६ श्लोक ९२ मे लिखा है।

□ अथवा एक समाधान यह भी है कि—यहाँ "मज्झम्हि" (मध्ये) पद का अर्थ दिन का मध्य=दोपहर (मध्याह्न) लेना चाहिये। संस्कृत टीकाकार ने भी सर्वत्र 'मध्य' पद देकर दिन के मध्य (मध्याह्न) को ही सूचित किया है। दिन के आदि अन्त की तीन-तीन घडी छोडना यह सामान्य कथन है तथा शेषकाल का मध्य यानि दोपहर यह विशेप कथन है। सामान्य से विशेप कथन बलवान् होता है (सदा सामान्यतो नून विशेषो बलवान् भवेत्) अतः

करके भिक्षाकाल का मध्याह्न समय बताने की जरूरत ही नही थी। और यह भी सोचने की बात है कि सूर्योदय से ३ घडी बाद यानी सवा घण्टे बाद तो श्रावक लोग जिनदर्शन पूजा स्वाध्यायादि से निपटते ही नही तो उस वक्त मुनि का आहार के लिए उतरना कैसे माना जा सकता है। कुछ श्रावक तो प्रभात मे सामायिक भी करते है तदनन्तर पूजा स्वाध्यायादि करते है उनके लिये तो और भी मुश्किल पडती है। इसलिए सूर्योदय के तीन घडी बाद मे मुनि का आहार समय मानना योग्य नही है।

यदि कहो कि "मुनियो का भिक्षाकाल जो मध्याह्न बताया गया है वह तो दूसरी दफे का काल है। इसके पहिले प्रथम दफे का काल एक और है। क्योकि भोजन वेला एक दिन मे दो बार मानी है।"

ऐसा कहना भी ठीक नही है। हम पूछते है कि मुनियो की उस प्रथम वेला का समय कौनसा है? यदि कहो कि दिनके १० बजे करीब, तो वह दूसरी वेला दो घण्टे बाद ही कैसे आ गई? कम से कम दोनो वेलाओ मे ६ घण्टो का तो अन्तर होना चाहिए। भिक्षाकाल बजाय मध्याह्न के अपराह्न लिखा होता तो दूसरी वेला की भी सभावना की जा सकती थी, सो तो लिखा नही है। तथा मूलाचार और अनगार धर्मामृत मे सूर्योदय से दो घडी बाद से लेकर मध्याह्न से दो घडी पहिले तक के समय मे किये जाने वाले कार्यक्रम की जो तफसील दी है उसमे भी प्रथम आहारवेला का कही जिकर नही है। एव आशाधर ने भी सागारधर्मामृत मे श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए सूर्योदय से लेकर मध्याह्न के समय तक व आगे भी सूर्यास्त

तक अतिथि दान को एक दिन मे दो बार देने का कही उल्लेख नही किया है। इससे सिद्ध होता है कि मुनि की गोचरी का टाइम एक दिन मे दो बार मानना शास्त्र सम्मत नही है। लोगो ने मनघढन्त मार्ग निकाल लिया है। एक दिन मे दो भोजन वेला कहना यह लौकिक जन साधारण की दृष्टि से है न कि मुनियो की अपेक्षा। क्योकि मूलाचार प्रथम अधिकार गाथा ३५ मे जहाँ यह वर्णन किया है वहाँ टीकाकार ने लिखा है कि "अहोरात्रमध्ये द्वे भक्तवेले तत्र एकस्या भक्त वेलाया आहारग्रहणमेकभक्तमिति।" यहाँ टीकाकार ने दिन-रात मे दो भोजन बेला बताई हैं। मुनि दो बार आहार लेते नही। अतः टीकाकार ने यहाँ आम जनता को लक्ष्य कर (न कि मुनियो को लक्ष्य कर) दो भोजन बेला वताई हैं। तात्पर्य यह है कि आमतौर पर लोग दिन रात मे दो बार भोजन करते हैं। उनमे से मध्याह्न मे एक बार भोजन करना एक भक्त कहलाता है। ऐसा करने से एक अहोरात्र मे दो बार की जगह एक बार ही भोजन होता है और एक बार का त्याग हो जाता है। इसेही एक वेला का यानी एक टाइम का त्याग कहते है। इसी दृष्टि से मुनियो का एक उपवास चतुर्थ नाम से कहा जाता है। उसमे चार बार के भोजनो का त्याग हो जाता है। वह ऐसे कि—धारणे पारणे के दिन का एक-एक बार और उपवास के दिन का दो वार इस प्रकार कुल चार वार का भोजन छूट जाता है। और वेला मे ६ बार का, तेला मे ८ बार का भोजन छूट जाता है जिससे वे षष्टोपवास, अष्टोपवास कहलाते हैं। प अजित कुमार जी और ब्र० चूडीवालजी का यह लिखना कि—"मध्याह्न से पहिले भिक्षाकाल न मानने पर मुनियो के वेला-तेला की षष्ठोपवास अष्टोपवास सज्ञा ही नही बन सकतीहै।" इन लोगो

का ऐसा भाव मालूम होता है कि— साधु की भी २ भोजन वेला मानने से ही एक दिन की २ भोजन वेला के त्याग के हिसाब से चतुर्थ ६३ षष्ठअनु बनेगा अन्यथा नही। किन्तु यह ठीक नही। क्योकि गृहस्थको तो दोनो बेलाका उपवासके रोज त्याग तथा आदि क्षेत्र में १-१ बेला का त्याग नया ही करना पडता है किन्तु साधु के तो प्रतिदिन १ बेला का तो त्याग आजन्म ही है फिर भी उसे गिनना पडता है और इस तरह चतुर्थ षष्ठ अष्टम भी सभी उनके भी सुसगत हो जाती है। ऐसा लिखना गलत और व्यर्थ है। हमने वहाँ विधि बताई है, उससे बराबर सझाए बनती है। न मालूम आप लोगों ने इसको कैसे समझ रक्खा है ? शायद आप लोगो की ऐसी समझ हो कि 'एक बार भोजन किये बाद आगे चार टाइम तक भोजन न करना 'चतुर्थभुक्ति त्याग' कहलाता है।" तो यह समझ भी ठीक नही है। ऐसा तो दस बजे भोजन करने से भी नही बनता है। जैसे आपकी दृष्टि से किसीने धारणा के दिन प्रथम टाइम १० बजे भोजन किया तो उसके दिन की एक दूसरी भोजन बेला छूटी, आगे उपवास के दिन की दो बेला छूटी और पारणा के दिन प्रथम बेला मे ही आहार कर लिया तो तीन बेलाओ का ही त्याग हुआ, चार बेलाओ का त्याग कहाँ हुआ ? अत जो रीति हम ऊपर बता आये हैं वही समीचीन और शास्त्रोक्त है।

शास्त्रो मे एकाशन (व्रत) और प्रोषधोपवासादि के धारणे-पारणे का एकाशन सब मध्याह्न (दो पहर) मे ही करना बताया है और प्राय प्रचार मे भी ऐसा ही है सभी श्रावक एकाशन दोपहर मे ही करते हैं तब मुनि जिन्होने इस एकाशन को सदा के लिए अपना मूलगुण बना लिया है उन्हे तो आहार मध्याह्न मे करना ही लाजिमी है और इसी लिए सभी शास्त्रो

में मुनि का भोजनकाल एक स्वर से मध्याह्न ही लिखा है। श्रावक को १० वी अनुमति त्याग प्रतिमा और ११ वी उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा दोनो मे भी आहार का समय मध्याह्न ही शास्त्रो मे बताया है। देखो सागार धर्मामृत और धर्मसग्रह श्रावकाचार लाटी संहिता आदि। ऐसी हालत मे मुनि का आहार समय मध्याह्न बाजिब ही है इसमे विवाद और शका की कोई जरूरत ही नही卐

इस विषय मे मध्याह्न का समय कहाँ से कहाँ तक का माना जाये, यह एक समझने की चीज है। ऊपर हमने अनगार धर्मामृत के उदाहरण दिये हैं उनमे मध्य दिन से दो घडी पूर्व

卐 प्रायश्चितसग्रह मे छेदपिण्ड (इन्द्रनन्दि सहिता का चौथा अध्याय) गाथा ७४ मे बताया है कि दिन के आदि अत की तीन-तीन घडी के बीच और पूर्वाह्न व अपराह्न मे अगर निर्ग्रन्थ साधु आहार करे तो उसका प्रायश्चित पचक(५ उपवास)है देखो—नाली तिगस्स मज्झे जदि भु जदि सजदो अणाचिण्ण। पुव्वण्हे अवरण्हे व तस्स पणत्र हवे छेदो॥ इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पूर्वाण्ह और अपराण्ह का समय साधु के आहार का नही है। इसीसे सभी ग्रन्थो मे साधु का आहार समय एकमात्र मध्यान्ह ही बताया है। नीतिसार समुच्चय मे भी इन्द्रनन्दि ने मध्यान्ह ही भिक्षाकाल बताया है देखो श्लोक ४१। इसके साथ ही आगे श्लोक ५२ व ५३ मे इन्द्रनन्दि ने लिखा है कि भोजनादि क्रियाओ मे पूर्वाचार्यों का मत ही प्रमाण होता है जो कोई सेउ उल्लघन करता है वह मिथ्यादृष्टि है और अवन्दनीय है। यथा—"भोजन गमनेऽन्यत्र कार्ये वा यत्रकुत्रचित्। पूर्वाचार्यमत नून प्रमाण जिनशासने ॥५२॥ पूर्वाचार्यमतिक्रम्य य. कुर्यात् किंचिदप्यसौ। मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञेयो, न वदयश्च महात्मभि ॥५३॥

स्वाध्याय समाप्त किये बाद मुनिको भोजन करने की लिखी है और मध्य दिन से २ घडी बाद गोचरी सम्बन्ध दोषो का प्रतिक्रमण कर आपराह्णिक स्वाध्याय प्रारम्भ करने की लिखी है। आशाधर जी के इस कथन से ऐसा ही प्रतिभासित होता है कि उन्होने इन चार घडियो को ही प्राय मुनियो का भिक्षाकाल माना है। और इन चार घडियो के काल को ही उन्होने प्राय. मध्याह्न काल गिना है मूलाचार मे देववन्दना करके गोचरी पर जाने को लिखा है। अत यह देव वन्दना भी उक्त ४ घडियो के अन्दर ही की जाती है। इन चार घडियो का भिक्षाकाल ही उत्सर्ग मार्ग समझना चाहिये। किसी कारणवश यदि अधिक समय लग जाये तो वह कादाचित्क है उसे अपवादमार्ग कहना चाहिए। इस प्रकार यह मध्याह्नकाल दिन के ११। बजे से पौण बजे तक का समझना चाहिए।

यहाँ एक सवाल पैदा होता है कि सामायिक का काल छह घडी का है और वह मध्याह्न मे भी की जाती है तब मध्याह्न की ४ घडियो मे भिक्षाकाल कैसे माना जा सकता है ? एक काल मे दो काम कैसे बनेगे ? जो समय भिक्षा का है वही सामायिक का है तो दोनो मे से एकही कार्य हो सकेगा।

इसका उत्तर नीचे दिया जाता है, वह गम्भीरता से समझने का है—

मूलाचार के प्रथम अधिकार मे मूलगुणो का वर्णन करते हुए छह आवश्यको का विवेचन किया है, परन्तु वहाँ सामायिक के काल का परिमाण नही बताया है। फिर उसी मूलाचारमे आवश्यक निर्युक्ति नाम के अधिकार मे नाम स्थापना आदि छह निक्षेपो के द्वारा आवश्यको का विस्तार से वर्णन किया है

वहाँ भी सामायिक के काल का परिमाण नही बताया है। मूलाचार मे अन्यत्र भी कहीं सामायिक के काल परिमाण का कथन नही है। इस तरह मूलाचार तो इस विषय मे मौन है। हाँ उसके प्रकारातर के कथन से हम सामायिक का काल लाना चाहे तो इस तरह ला सकते हैं कि मूलाचार की पञ्चाचाराधिकार की गाथा ७३ मे तीनो सध्याओ की आगे-पीछे की २-२ घडियो को अस्वाध्याय काल माना है। इन अस्वाध्याय कालों मे ही सामायिक की जा सकती है, सामायिक के अलावा वह मुनियो के आहार-नीहार का भी ये ही तीनो काल है। इनमे से प्रात' साय इन दो कालो मे तो आहार का निषेध किया है। अत. मध्याह्नकी आगे-पीछे की २-२ घडियोका कालही भिक्षाकाल रह जाता है उसीमे देववन्दना का भी कुछ काल शामिल है। शास्त्रो मे देववन्दना, कृतिकर्म और सामायिक शब्द प्रायः एक ही अर्थ मे भी प्रयुक्त किये हैं। क्योकि सामायिक शब्द व्यापक होने से उसमे साम्य भाव के साथ व्यवहार दृष्टि से देव वन्दना, पूजा, कृतिकर्म भी शामिल कर लिये है। देखो— सागार धर्मामृत अ० ५ श्लोक २८, ३१ (स्वोपज्ञ टी० सयुक्त) अमितगति श्रावकाचार परि० ६ श्लोक ८७। धर्मसग्रह श्रावकाचार अ० ६ श्लोक २६। अ० ७ श्लोक ४३, ५७। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा ३७३-७५। वसुनन्दि श्रावकाचारे—

जिणवयणधम्म चेइय परमेट्ठि जिणालयाण णिच्चपि।
जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु ॥२७५॥

इन चार घड़ियो के कथन से सामायिक का छह घडी का काल तो वैसे ही मूलाचार के मत से बनता नही है। इस प्रकार मूलाचार मे देववन्दना का कोई निश्चित काल परिमाण नहीं

लिखनेसे यही फलितार्थ निकलता है कि त्रिकाल मे उक्त चार घडियो के अन्दर २ जहाँ जैसा भी सुभीता दीखे उतना ही टाइम देव वन्दना मे लगाया जावे। इसलिये मध्याह्न मे आहार लेने वाले मुनि को भी माध्याह्निक देव वन्दना मे उतना ही टाइम लगाना चाहिए, जिस से ऊपर बताये भिक्षाकाल का उल्लङ्घन न होने पावे।

मूलाचार की तरह आशाधर ने भी अनगार धर्मामृत के ८वें अ० मे छह निक्षेपोके द्वारा छह आवश्यकोका वर्णन विस्तार से किया है। फिर बाद मे श्लोक ७८ मे वन्दना का उत्कृष्ट काल ६ घडी का लिखा है। किन्तु उन्होने जघन्य काल का कोई परिमाण नही लिखा है। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि मुनि को जैसा भी अवसर दीखे उसी माफक वह छह घडी के नीचे वन्दना मे कितना भी काल लगा सकता है। जिस मुनि को आहार करना है और शास्त्रोक्त भिक्षाकाल का उल्लङ्घन भी नही करना है ऐसे अवसर मे वह बहुत थोडा समय ही देव वन्दना मे लगाकर इस काम से फारिग हो सकता है। मतलब यह है कि देववन्दना मे कम से कम इतना समय तो निश्चित लगावेही ऐसा न तो मूलाचार मे लिखा है और न अनगार-धर्मामृत मे। आशाधर ने इतना ही लिखा है कि छह घडी से अधिक न लगावे। कम से कम कितना काल लगावे यह नहीं लिखा। बल्कि पूर्व लिखे उद्धरण मे तो आशाधरजी ने आहार करने वाले साधु के लिए माध्याह्निक क्रियाकर्म का उल्लेख ही नही किया है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लोक १४९ मे अमृतचन्द्राचार्य ने तो स्पष्ट से प्रातः साय दो वक्त ही सामायिक आवश्यक बताई है।

मध्याह्न मे आवश्यक नही बताई । सागार धर्मामृत अ० ५ श्लोक २६ मे भी यही कथन है ।

और देखिये, अमितगति श्रावकाचार के ८ वे अध्याय मे लिखा है कि—

घटिकानां मतं षट्कं संध्यानां त्रितये जिनैः ।
कार्यस्यापेक्षया काल. पुनरन्यो निगद्यते ॥५१॥

अर्थ –जिन देव ने आवश्यको का काल तीनो सन्ध्याओं मे छह घडी का माना है । किन्तु कार्य की अपेक्षा से अन्य काल भी होता है ।

अमित गति के इस कथन से बहुत छूट मिलती है卐

आचार्य समतभद्र ने भी रत्नकरण्डश्रावकाचार मे सामायिक का काल किन्ही निश्चित घडियो मे नही बताकर "मूर्धरुहमुष्टिबासोबध" कहकर चोटी या वस्त्र मे गाठ रहेगी तब तक का सामायिक का काल बताया है। और इससे यह आशय प्रगट किया है कि वह अपने सुभीते के अनुसार जितना

卐 इन्द्रनन्दि कृत नीतिसार समुच्चय मे मध्याह्न सामायिक [वन्दना] का काल मात्र दो घडी बताया है देखो —घटी चतुष्टय रात्रे कुर्यात्पूर्वाह्न वदना मध्याह्न वदना कालो नाडीद्वयमुदाहृत ॥१०६॥ अपराह्ने तु नाडीना चतुष्टय समर्गहत नक्षत्रदर्शनान्मु चेत्सामायिक परिग्रह ॥१०७॥ यही बात प्रायश्चितसग्रह मे छेदशास्त्र गाथा ४७ की टीका मे इस प्रकार दी है–पूर्वाह्ने देववदनात्रीणि घटिकायावान् युक्त । अपराह्ने घटिका चत्वारियावान् वदना । मध्याह्ने घटिकाद्वय वदना । [चर्चासमाधान चर्चा ने ११४ मे भी प० भूधरदासजी ने यही लिखा है।]

चाहे उतने समय तक सामायिक करे। प्राचीन ग्रन्थो मे सामायिक का कोई एक निश्चितकाल का परिमाण लिखा ही नही है। वैसे मुनियो के तो हमेशा ही साम्यभाव के होने से सामायिक है। इसी से उनके सामायिक चारित्र माना है।

शास्त्रो मे कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल १ वर्ष और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त लिखा है उसी के आधार से सामायिक का जघन्यकाल भी अन्तर्मुहूर्त हो सकता है। कोई कुतर्क और दुराग्रह करे कि—हम तो उत्कृष्ट काल को ही ग्रहण करेंगे तो उन्हे चाहिये कि—पहिले कायोत्सर्ग के उत्कृष्ट काल १ वर्ष को अपनावे अगर यह सम्भव नही है तो फिर वदना—सामायिक के उत्कृष्ट काल पर ही जोर क्यो दिया जाता है। जिस प्रकार दूसरी कियाओ मे कोई बाधा नही पहुचे उस तरह सामजस्य करना चाहिए यही शास्त्र-विवेक है। इन कथनो से मध्याह्न की भिक्षा मे जो आपत्ति सामायिक के न बनने की उठाई जाती है वह दूर हो जाती है।

चूडीवालजी कहते हैं कि—"मुनियो का गोचरी पर उतरने का काल दिन मे २ बार है। एक तो मध्याह्न की सामायिक करने के पहिले दस बजे करीब का और दूसरा मध्याह्न की सामायिक के बाद चार बजे करीब का।" मगर ऐसा कहना शास्त्रानुकूल नही है। मूलाचार मे जिसका कि उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है। उसमे सूर्योदय से लेकर मध्याह्न से दो घडी पहिले तक यानी ११। बजे तक का मुनियो का कार्यक्रम लिखा है उस कार्यक्रम मे तो कही भी मुनियो के गोचरी पर उतरने का जिक्र नही है। अत १० बजे के करीब गोचरी पर उतरने का प्रथम समय मूलाचार से कतई सिद्ध नही

होता है। और अनगार धर्मामृत मे मुनियो की पूरे एक दिन की दिनचर्या बताते हुये (अध्या० ९ श्लोक ३४ से ३९ तक उनमे के ३ श्लोक ऊपर उद्धृत है) सूर्योदय से सूर्यास्त तक का जो कार्यक्रम दिया गया है उसमे भी सिर्फ मध्याह्न की (१२ बजे की) आगे पीछे की दो-दो घडी कुल ४ घडियो मे ही भिक्षा लेने का कथन किया है। दिन के शेष समयो मे भिक्षा लेने का कही जिक्र ही नही है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मुनियो को न तो दिन मे २ बार गोचरी के लिये उतरने की शास्त्राज्ञा है। और न लगभग मध्याह्न काल के अतिरिक्त अन्य काल मे भिक्षा लेने की शास्त्राज्ञा है। यह कथन इतना स्पष्ट लिखा हुआ है कि उसमे तर्क वितर्क करने की कोई गुंजाइश हो नही है। नही मानने वालो का तो कोई इलाज नही।

जैसे अनगार धर्मामृत मे मध्याह्न की पूर्वोत्तर की दो-दो घडियो मे भिक्षा लेने का कथन है, वैसा ही मूलाचार मे भी है। जैसा कि ऊपर उद्धरण दिया गया है। वहा लिखा है कि—मध्याह्न की देव-वदना करके मुनि गोचरी पर उतरे। इसका मतलब चूडीवालजी यह निकालते है कि "मध्याह्न की देव-वन्दना किये बाद ४ बजे गोचरी पर उतरे। यह गोचरी का दूसरा टाइम है।"

इस सम्बन्ध मे हम आपसे पूछते है कि—मूलाचार के टीकाकार का अगर यही अभिप्राय होता तो वे मध्याह्न से आगे ४ बजे तक का कार्यक्रम बतलाते सो उन्होने बतलाया नही। इससे तो यही प्रगट होता है कि टीकाकार का आशय यहा देव वन्दना करने के अनन्तर लगते ही गोचरी पर गमन कराने का है। और आपने इसे गोचरी का दूसरा टाइम बताया सो इस

बावत भी हम आपसे पूछते है कि— यहां जो सूर्योदय से लेकर मध्याह्न से दो घडी पूर्व तक का कार्यक्रम टीकाकार ने लिखा है उसमे कही भी गोचरी का प्रथम टाइम का उल्लेख नही है तो यह कैसे माना जावे कि यह गोचरी का दूसरा टाइम है। यहा यह भी समझना कि—टीकाकार ने यहा मध्याह्न तक का ही कार्यक्रम क्यो लिखा ? आगे का क्यो नही लिखा ? इस का कारण यह है कि यह प्रकरण एषणासमिति के वर्णन का है। मुनि का भिक्षा काल मध्याह्न होने से यहां तक का कार्यक्रम बताना ही उन्होने आवश्यक समझा इसलिये आगे का कार्यक्रम उन्होने नहीं लिखा। अगर चार बजे भोजन का टाइम होता तो वे वहा तक का कार्यक्रम लिखते।

मुनिधर्म प्रदीप (कुन्थुसागर कृत) की संस्कृत भावार्थ मे पृ० १२० पर वर्धमान-शास्त्री ने लिखा है "मुनियो के आहार का समय प्रात काल नौ बजे से ११ बजे तक है तथा दोपहर के अनन्तर डेढ बजे से साढे तीन बजे या चार बजे तक है इनमे से किसी एक समय मे मुनि को आहार लेना चाहिए।"

जैनधर्म मीमासा भाग ३ पृ० २३४ पर सत्यभक्त ने लिखा है– ११-१२ बजे साधु के सामायिक का समय होने से भिक्षाकाल पोरसी बताया है यह १० बजे के पूर्व ही और गर्मी मे ६ बजे करीब होता है। (श्वे० मतानुसार ही पौरुषी = एक प्रहर दिन= यानि ३ घण्टा दिन चढ़े जबकि शरीर की छाया अपने शरीर के बराबर हो)

चूडीवाल जी की कुछ ऐसी विलक्षण प्रतिभा है जिसके बल से वे शास्त्रो के आशय को उलट-पलट कर देने में बड़े ही

सिद्धहस्त मालूम पडते है। जिसका एक उदाहरण तो यह मूलाचार का प्रमाण हम बता चुके है। दूसरा और बताते हैं। हमने जैन-गजट मे प्रकाशित पूर्वलेख मे प्रश्नोत्तर श्रावकाचार का प्रमाण देकर यह बताया था कि इसमे भी सूर्योदय से ७ मुहूर्त बाद क्षुल्लक का भिक्षाकाल लिखा है जो करीब मध्याह्न का समय पडता है। इस प्रमाण का आशय आपने यह निकाला है कि—क्षुल्लक के पहिले मुनि आहार लेते हैं, अत इससे मुनि का भिक्षाकाल मध्याह्न से पूर्व सिद्ध होता है।" उत्तर मे निवेदन है कि सामान्यतया जो भिक्षाकाल मुनियो का होता है वही क्षुल्लको का होता है। शिष्टाचार के नाते साथ मे मुनि हो तो क्षुल्लक गोचरी के लिए मुनि से कुछ बाद मे उतरते है। दोनो के उतरने मे समय का कोई विशेष अन्तर नहीं होता है।

इस सम्बन्ध मे वसुनन्दि श्रावकाचार गाथा ३०९ मे "गोहणम्मि" शब्द आया है। (यह शब्द टिप्पणी मे लिखा है) जिसका अर्थ होता है समीप मे-निकट मे। यानी मुनि के गोचरी पर उतरने के निकट ही तदनन्तर क्षुल्लक का गोचरी का काल हैं। यह इसका मतलब हुआ। अगर दोनो के गोचरी काल के बीच समय का ज्यादा अन्तर माना जायेगा तो "गोहणम्मि" शब्द का प्रयोग निरर्थक होगा।

आप जो मुनिका भिक्षाकाल मानते है उसमे और मध्याह्न मे तो २ घण्टे का अन्तर पडता है। इतना अन्तर आपके इस लिखने से दूर नही हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि—यह जो क्षुल्लक को गोचरी पर उतरने का कथन है वह भी वसुनन्दि श्रावकाचार आदि ग्रन्थो

मे एक भिक्षा नियम वाले क्षुल्लक के लिए है, सभी क्षुल्लको के लिए नही है। अत कहना होगा कि यहाँ भी आपने अपनी विलक्षण प्रतिभा का ही चमत्कार दिखाया है।

मूलाचार के ऊपर लिखे प्रमाण मे बताया है कि– "मध्याह्न मे खाना खाकर पेट भरे बालको के दिखाई देने आदि से भिक्षा वेला जानकर मुनि गोचरी पर उतरे।" इस कथन को लेकर आप लिखते है कि—"बालक ८-६ बजे पहिले ही भोजन कर लेते है, अत मूलाचार के इस कथन से मध्याह्न अर्थ निकालना असङ्गत है।" इसका उत्तर यह है कि जब स्वय टीकाकार उस समय को मध्याह्न का बता रहे है तो उसमे तर्क का अवसर ही कहाँ है? और उसे असङ्गत भी नही कह सकते। क्योकि बालक दोपहरी को भी भोजन करते है। उसीको लेकर टीकाकार ने पेटभरे बालक की बात लिखी है। इससे तो वह मध्याह्नका ही समय है यह अच्छी तरह पुष्ट होता है।

आपने अपने मन्तव्य की पुष्टि मे सागार धर्मामृत अ० ५ के श्लोक ३६, ३७, ३८ पेश किये हैं। किन्तु वे श्लोक तो उल्टे हमारे पक्ष का समर्थन करते है, जिसका आपको ध्यान नही है। उनमे लिखा है कि—

"प्रोपधोपवास करने वाला श्रावक पर्व दिन के पूर्व दिन मे यानी सप्तमी, त्रयोदशी को दिन के अर्द्ध भाग मे या उसके थोडे आगे-पीछे के समय मे अतिथिको भोजन जिमाये बाद आप भोजन करे। तदनन्तर दिनका शेष भाग और रात्रिकाल कुल ६ पहर बिताये बाद पर्व दिनका अहोरात्र और पारणे का आधा दिन कुल १० पहर बीतने पर अतिथि को आहार देकर आप भोजन करे।"

यहाँ आशाधर जी ने धारणे-पारणे के दिन दिनार्द्ध यानी दिन के ठीक मध्य भाग मे या उसके थोडे आगे-पीछे के समय मे अतिथि को दान देवे और उसके बाद प्रोषधोपवासी को आहार करने का आदेश दिया है। 'पर्व दिन के प्रभात से लेकर आगे १० पहर बाद प्रोपधोपवासी अतिथि को दान देवे और तदनन्तर आप भोजन करे।" ऐसा लिखकर तो आशाधरजी ने इस मामले को बहुत ही खुलासा कर दिया है कि अतिथि का भोजनकाल मध्याह्न है और उसके बाद आहार-दाता का भोजन काल है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—"आशाधरजी ने धारणे की रात्रि के अन्त तक प्रोषधोपवास का काल ६ पहर का लिखा है। जब वह धारणे के दिन मे दिनार्द्ध के बाद भोजन करेगा तो उक्त ६ पहर की सख्या कैसे बनेगी ?" इसका समाधान आशाधरजी ने दिनार्द्ध शब्द की व्याख्या देकर किया है। व्याख्या इस प्रकार है—'दिनार्द्ध दिवसस्य अर्धे प्रहरद्वये वा किञ्चिन्न्यूनेऽधिकेऽपि वा।' अर्थ—दिन का अध भाग यानी २ पहर का काल दिनार्ध कहलाता है। दिनार्थ से कुछ कम या कुछ अधिक काल भी दिनार्ध कहलाता है। इस व्याख्या से यही सिद्ध होता है कि धारणा के दिन की रात्रि के अन्त तक जो छह पहर लिखे है वे पूरे पूरे न होकर हीन भी हो सकते है और उसके आगे के १० पहर पारणा दिनार्द्ध से उत्तरकाल मे भी पहुँच सकते हैं। हाँ, इतना खयाल आवश्यक है कि आगे-पीछे होकर भी निराहार रहने का समय १६ पहर से कम नही होना चाहिए।

यहाँ अगर चूडीवाल जी यह कहे कि—"यहाँ आशाधर

जी ने जो मध्याह्न या उसके कुछ आगे-पीछे का समय लिखा है वह प्रोपधोपवासी के आहार का लिखा है, अतिथि के आहार का नही लिखा है।" तो इसका उत्तर जरा तटस्थ होकर यह समझिये कि आप मुनि का भोजनकाल दस बजे करीब का मानते है, उसमे और मध्याह्न काल मे दो घण्टे का अन्तर पडता है और प्रोषधोपवासी का धारणे-पारणे के दिन भोजन काल मध्याह्न का है, इसमे तो किसीको विवाद नही है। अब जरा सोचने की वात है कि मुनि का १० वजे का भोजनकाल शास्त्रकारो को मान्य होता तो वे प्रोषधोपवासी के भोजन के अवसर मे अतिथि दानका कथन ही नही करते। क्योकि दो घण्टा पहिले के कार्य को यहाँ बताने की आवश्यकता ही क्या है ? इससे भली-भाँति यही सिद्ध होता है कि प्रोषधोपवासी और मुनि दोनो का भोजन काल मध्याह्न होने से ही यह लिखा जाता है कि—प्रोपधोपवासी अतिथि को दान देकर फिर आप भोजन करे।

आपका प्रश्न—मध्याह्न मे आहार देने का मतलब है मुनि को बचाखुचा आहार देना। इससे यही समझा जावेगा कि दाता की पात्र मे भक्ति नही है।

उत्तर—जैन मुनि भोजन के लिए चाहे जब बुलाये आते होते और दाता उन्हे मध्याह्न मे बुलाकर जिमाता तब तो वैसा समझा जा सकता था। परन्तु जब शास्त्राज्ञा के अनुसार उनका भोजनकाल ही मध्याह्न है तो इसमे दाता का क्या वश है ? कभी आप तो ऐसे भी कहने लग जावो कि - दाता आप तो बैठकर आराम से भोजन करे और मुनिको खडा रखकर आहार देवे, इससे दाता की पात्र मे भक्ति नही है। यह सब आपकी

विलक्षण प्रतिभाके नमूने है। जब दाता इतने वक्त तक आप खुद भूखा रहकर मुनि को जिमाता है और फिर आप जीमता है तो क्या यह आपके दिमाग मे भक्ति नही है। उत्तम भक्ति वह कहलाती है जो कष्ट सहकर भी की जावे। आराम की भक्ति तो कोई भी कर सकता है। और दाता जब अपने खुद के अर्थ बने आहार मे से अच्छा से अच्छा प्रासुक आहार पात्र को दिये बाद आप भोजन करता है तो ऐसी हालात मे यह सवाल ही पैदा नही होता कि बचाखुचा आहार मुनिको दिया जाता है। बचेखुचे को तो खुद दाता जीमता है।

आपने लिखा कि—"मध्याह्न तो आराम करने का समय है। उस समय की प्रचड गर्मी मे तो सभी छाया ढूंढते है, वह वक्त भिक्षा का कैसा ?

उत्तर मे निवेदन है कि जैनमुनि होकर भी आराम और छाया ढूढने का प्रयत्न करते हैं, तो होचुकी मुनिवृत्ति ? छाया ढूढना तो दूर किनारे रहा जैनमुनि तो दोपहरी की प्रचण्ड गर्मी मे आतापन योग धारणा करते हैं। उनकी सिंहवृत्ति होती है, अधिक से अधिक कष्ट सहने मे सिंह की तरह शूरवीर रहते है कभी कायरता नही लाते। (देखो आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक १६० वां)

पूर्व लेख मे मैंने मनुस्मृति का प्रमाण दिया था। उसपर चूडीवाल जी पूछते हैं कि—"यहां मनुस्मृति के प्रमाण देने की क्यो आवश्यकता हुई ?" इसका कारण वही पर बता दिया था। फिर भी यहां बताता हू कि मूलाचार टीका मे लिखा (यह उद्धरण ऊपर दिया हुआ है) है कि—

"अन्यमत के साधु भिक्षार्थ विचर रहे हैं यह देखकर और यह जानकर कि यह साधुओं की भिक्षा का काल है उस समय जैनमुनि गोचरी पर जावे।" इसलिए मैंने मनुस्मृति का प्रमाण देकर यह बताया था कि—(अ० ६ श्लोक ५५ आदि) देखो। मनुस्मृति में भी ऐसा लिखा है कि—"जब रसोई का धुंआं निकल गया हो, मूसलके कूटने का शब्द बन्द होगया हो, आग बुझ गई हो, घर वाले भोजन कर चुके हो, जूठी पत्तलें फेंक दी हो, ऐसे समय मे सदा यति को भिक्षा के लिए जाना चाहिए।"

यहां मनुस्मृतिकार ने साधु-भिक्षा का यह समय बताया है कि जब गृहस्थ लोग चौके-चूल्हे से निपट जाय। अनुमानत. यह समय मध्याह्न के आस-पास का ही हो सकता है।

हमने मनुस्मृति का प्रमाण "अन्य मत के साधु" इस टीकोक्त बात पर दिया था और इस दृष्टि से दिया था कि—अन्य मत के साधुओ की भी ऐसी चर्या है तो हमारे साधुओं की तो उनसे ऊंची ही होनी चाहिए, उनसे नीची कैसे हो सकती है। आशाधर जी ने भी अपनी टीकाओं मे अनेक जगह मनुस्मृति के प्रमाण दिये है। अत मनुस्मृति के प्रमाण पर आपत्ति करना गलत है।

प्रश्न—लोकग्रन्थों मे दिनमान के ३ भागो मे बीच का १ भाग अथवा ५ भागों मे बीच का १ भाग मध्याह्नकाल माना है। कुतप शब्द से दिनमान के १५ भागों मे बीच का १ भाग भी मध्याह्न माना है। इनमे से जैनमुनिकी भिक्षा का मध्याह्न काल कौनसा लिया जाय ? उत्तर :-दिन के ३ भाग करो चाहे ५ या

१५ सव का मध्यभाग मध्याह्न हो जायेगा यह स्पष्ट है अतः इसके लिए कोशग्रथ के आधार की जरूरत नही है। क्योकि मूलाचार और अनगार धर्मामृत मे मुनि की दिनचर्या का विवरण देते हुए साफतौर पर दिनके मध्यभाग से आगे-पीछे की दो-दो घडिये भिक्षाकलाल की बताई हैं। (इस काल मे माध्याह्निक देववन्दना का काल भी शामिल है) मूलाचार, यशस्तिलकचम्पू और सोमसेन त्रिवर्णाचार मे लिखा हैं कि मध्याह्नकी देववन्दना करके गोचरी पर उतरे * इससे यह विषय और भी स्पष्ट हो जाता हैं। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार मे ७ मुहूर्त यानी १४ घडी दिन चढने पर गोचरीकाल लिखा है। अर्थात् १५ घडी का आधा दिन होता है, उससे १ घडी पूर्व मे गोचरीकाल है। यहाँ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के कर्ता सकलकीर्ति ने मध्याह्न से पूर्व की २ घडी मे शायद १ घडी देववन्दना की काटकर १ घडी पूर्व का गोचरी काल लिखा है। यहाँ यह ध्यान मे रहे कि समरात्रि दिनका अहोरात्र मानकर यहाँ ७ मुहूर्त दिन चढना समझना ।

इस विषय मे हमको और भी शास्त्र प्रमाण मिले है जो

---

* साधु नगर मे आहारार्थ जावे न जाने किस सकट मे—उपसर्ग मे पड जावे और मध्याह्न की सामायिक से वंचित रह जावे अतः मध्याह्न की सामायिक किये बाद आहार पर उतरना बताया है—ऐसा ज्ञात होता है। प० पन्नालालजी सोनी ने भी "क्रियाकलाप" की प्रस्तावना पृष्ठ ८ पर लिखा है—वर्तमान के साधु आगम विपरीत देव वन्दना करते हुए देखे जाते है। जैसे—मध्याह्न वन्दना भी आहारोपरात करते हैं।

नीचे दिये जाते हैं। इनमे मुनिका भोजनकाल मध्याह्न लिखा हुआ है—

(१) अशगकवि कृत महावीर-चरित्र सर्ग १७ श्लोक ११९ वाँ।

(२) हरिषेण कथाकोश संस्कृत के पृष्ठ २१७ श्लोक ११४ वाँ, पृष्ठ २७३ श्लोक १८७ वाँ, पृष्ठ ३०७ श्लोक ५५ वाँ, पृष्ठ ३५४ श्लोक १३४ वाँ (अथ मध्याह्न वेलाया भिक्षार्थं त महामुनि)

(३) मूलाचार अधिकार ४ गाथा १८० की टीका। अधिकार ६ गाथा ३२ की टीका।

(४) प० मेधावी कृत श्रावकाचार अधिकार ५ श्लोक ९३ वाँ। अधिकार ८ श्लोक ५१ / अ० ६ श्लोक ३१ (मध्याह्ने ऋषि पुंगवै.)

(५) ब्र० नेमिदत्त कृत कथाकोश मे उद्दायन राजा की कथा

(६) सूत्र प्राभृत की गाथा २२ की श्रुतसागरी टीका। दिवसमध्यै एक वार।

(७) लाटी संहिता अ० ६, अ० ६ श्लोक २३१।

(८) प० आशाधर विरचित अभिषेक पाठ के श्लोक १९ की श्रुतसागरी टीका।

(९) जम्बू स्वामी चरित (प० रायमल्ल कृत) परिच्छेद ४ श्लोक १०१

(१०) जम्बू सामिचरिउ (वीर कवि कृत) पृ० ४६ मज्झण्ण हो चरियाए पई सइ ।

(११) पउमचरिय (गाथा ११ पर्व ८६) अह अन्नया कमाई साहू मज्झण्ह देसयालम्मि । पउमचरिय (गाथा ३ पर्व ४) मज्झण्ह देसयाले गोयर चारेयणअभिगओनयर। घर पतिण्भमता दिट्ठो लोगेण तित्थयरो।

(१२) "पुण्याश्रवकथाकोप" (पृ० २६६) मध्याह्ने चर्यार्थं पुण्याश्रवकथाकोप (पृ० १२) यामद्वय तथा प्रवृत्य। पउमचरिय (गाथा १ पर्व २२) मज्झण्ह देसयाले नयर पविसरइ भिक्खट्ठ।

(१३) पद्म चरित पर्व ६२ नभोमध्यगते भातावन्यदाते महाशया १५ शुद्धभिक्षं पणाश्रुला प्रसयितमहायुज्ञा' १६।

(१४) वसुविन्दु प्रतिष्ठापाठ श्लोक ८१८-१६-त्रिदध्युरुर्ध्वे विधिनाहि मध्य-दिने जिनाग्रे चरु पूजनानि।

(१५) रामचरित (भट्टारक सोमसेन पृ० ७६ मुनिसुव्रत भगवान् पारणे के लिए मध्याह्न मे राजग्रह नगरमे पहुँचे।

(१६) धन्यकुमार चरित्र (भ० सकलकीर्तिकृत) अधिकार ४—मध्याह्न होते-होते अकृतपुण्य घर आया इतने मे ही वहाँ सुव्रत मुनिराज आहारार्थ आये ।

इस प्रकार ऊहापोह और प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्रीय प्रमाणो के द्वारा एक स्वर से यही सिद्ध होता है कि जैन मुनियो का भिक्षाटन दिन मे एक ही वार होता है और वह मध्याह्न मे ही इससे अलावा किसी भी ग्रन्थ मे पूर्वाह्न या अपराह्न मुनि का भिक्षाकाल नही वताया है। इसके विरुद्ध जब तक कोई सवल

प्रमाण सामने न आजाये तब तक यही कहा जायगा कि वर्तमान मे जो दिनके १० बजे करीब मुनि लोग गोचरी पर उतरते है वह शास्त्रीय मार्ग नही है, स्वेच्छाचार है। इसी तरह जो कभी परिस्थितिवश कोई साधु (पूर्वाह्न के बजाय) चार बजे करीब, अपराह्न मे गोचरी पर उतरते है वह भी शास्त्र सम्मत नही हैं।

सामान्यत किसीभी गृहस्थके यहाँ दूसरीवेला का भोजन ४ बजे तक तैयार भी नही होता है, किसी के निमित्त स्पेशल बनाने पर ही ऐसा सम्भव हो सकता हैं, ऐसी हालत मे ४ बजे मुनिका गोचरी पर उतरना शास्त्र विरुद्ध तो है ही, किन्तु स्पष्टतः उद्दिष्ट दोप को लिये हुए भी है।

इसतरह केवल किन्ही के सुभीते और अपने आराम के लिए शास्त्र विरुद्ध प्रवृत्ति करना कम से कम महाव्रतियो के लिये योग्य नही है।

(१७) सकलकीर्ति आ० कृत-सुकुमार चरित्र सर्ग ७—

मध्याह्नेऽभ्यर्च्य तीर्थेश मूर्त्ती सौधे जिनालये।
पात्रदानाय पश्यंति गृह द्वार मुहुर्बुधा. ॥३०॥

(१८) आ० सकलकीर्ति कृत-सुदर्शन चरित्र सर्ग १—

मध्याह्ने जिन मूर्त्तीश्च प्रपूज्य जिन भाक्तिकाः।
पश्यति स्वगृह द्वारं पात्रदानाय दानिनः ॥३६॥

(१९) सोमदेवकृत यशस्तिलक चम्पू (कल्प ३६ अ०६)

प्रात विधिस्तव पदाम्बुज पूजनेन,
मध्याह्न सान्निधिरमं मुनि मातनेन ॥५६२॥

(मध्याह्न काल मुनियो के आतिथ्य सत्कार मे बीते)

(२०) इन्द्र वामदेव रचित पचसग्रह दीपक (अनेकातवर्ष २३ पृ० १४८)

प्रात श्रीजिनपूजनेन विधिना मध्याह्न कालेऽप्यय ।
दानेनाद्भुत कीर्तिनो मुनिजनाशीर्वाद''' '''' ॥२२३॥

(२१) प्राचीन काल मे सभी लोग प्राय मध्याह्न मे भोजन करते थे यही समय मुनियो के आहार का है क्योकि श्रावक द्वारापेक्षण करके ही भोजन करते थे। श्रावको के मध्याह्न भोजन के प्रमाण निम्नाकित है

(अ) आदिपुराण पर्व ४१

ततो मध्यदिनेऽभ्यर्णे कृत मज्जन सं विधि' ।
तनुस्थितिं स निर्वर्त्य निर विक्षत् प्रसाधन ॥१२८॥

अर्थ—तत्पश्चात् दोपहर का समय निकट आनेपर स्नान आदि करके भोजन करते उससे निवृत्त होकर अलकार धारण करते थे।

(ब) जम्बू सामि चरिउ (वीर कविकृत) ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित पृ० १६० से १६२ मे बताया है कि—जम्बू ने विवाह के वक्त मध्याह्न मे भोजन किया।

(स) सागार धर्मामृत अ० ६ श्लोक २१ तथा इससे पूर्व एव पश्चात् ।

(२२) सकलकीर्तिकृत—श्रीपाल चरित परिच्छेद १—

मध्याह्ने स्वगृहे चैत्यालयेषु च जिनार्चन ।
कृत्वा दानाय वै गेह द्वार पश्यति दानिन. ॥३२॥

(इसमे श्रावक को भी देववन्दना (सामायिक) करके ही आहारदान और भोजन बताया है)

(२३) मूलाचार अ० 1 गाथा ३५—

उदयत्थमणे काले णालीतिय व जिजयम्हि मज्झम्हि ।
एकम्हि दुअ तिएवा मुहुत्त कालेयमत्तं तु ॥

मूलाचार प्रदीपक मे—

विज्ञेयोऽशन कालोऽत्र सत्यज्य घटिकात्रयं ।
मध्ये च योगिना भानूदयास्तमन कालयो: ॥

तस्यैवा शनकालस्य मध्ये प्रोत्कृष्टतो जिनैः ।
भिक्षाकाले मतो योग्यो मुर्होक प्रमाणक ॥३७॥

योगिनां द्वि मुहूर्त्त प्रमाणो मध्यमो वचः ।
जघन्यस्त्रि मुहूर्त्तनमो भिक्षाकाल उदाहृत. ॥

अर्थ सूर्योदय और सूर्यास्त की तीन-तीन घडी छोडकर मध्य=दोपहर मे जो एक या दो या तीन मुहूर्त तक एक यजु है वह भिक्षाकाल है। इसका तात्पर्य यह है कि तीन-तीन घडी छोडने का काल सामान्य रूप से गृहस्थादि सभी के लिए है यह अशनकाल है इसी मे भोजनादि निर्माण का सभी आरम्भ होता है इस अशनकाल के ठीक मध्य मे=दोपहर मे योगियो का भिक्षा काल है यही एक भक्त काल है इस भिक्षाकाल मे एक मुहूर्त लगाली उत्कृष्ट भिक्षाकाल, दोमुहूर्त मध्यम, तीन मुहूर्त जघन्य भिक्षाकाल है इसमे गमनागमन भोजन सभी आगया है।

इनका चर्चा सागर पृ० ५८-५९ मे गलत अर्थ किया है नालिका=घडी का अर्थ मूहूर्त किया है और भी गलतियाँ है।

(२४) प्रवचनसार की हिन्दी टीका मे आ० ज्ञानसागर जी ने पृ० १४१ पर लिखा है—दिगम्बर शास्त्रो के अतिरिक्त श्वे० मान्य उत्तराध्ययन के २६ वे अध्याय मे लिखा हुआ है,

पढमं पोर सिसमज्झायं वीयं झाणं झियायई ।
तइयाये भिक्खायरिं यं पुणो चउत्थी ये सज्झायं ।।

अर्थात्– ज्ञानीमुनी दिन के चार भाग करके पहिले भाग को स्वाध्याय करने मे दूसरे को ध्यान करने मे तीसरे को भिक्षा वृति मे और चौथे भाग को फिर स्वाध्याय करने मे व्यतीत करे।

दिन-रात के आठ पहरो मे मुनिके लिए केवल दिन का तीसरा पहर भिक्षा के लिए बताया है उसी मे वह शहर मे भ्रमण करके एक पहर काल के समाप्त होने से पहिले भोजन कर चुके और पुनः आकर अपने स्वाध्याय करने लग जावे। अर्थात् मध्याह्न (दोपहर) बीतने पर फिर आहार बताया है।

(२५) ब्र० गुणदासकृत—श्रेणिक चरित्र (मराठी) पृ० १७ अ० १ (वि० स० १५०८ की रचना) (सकलकीर्ति के शिष्य ब्रह्म जिनदास उनके शिष्य ब्र० गुणदास थे)

आइ कोति निधने जाले द्वार पेरवणी ऊझे ढाले ।
मगवाट पाहति भले । सत्यस्वाचि ।।१३८।।
चौदा घड़ियां अनंतरी ।मुनीश्वर येति मांवरी ।
भव्य श्रावकाच्या घरी । अतिथें देखा ।।१३९।।

इसमे भी सूर्योदय से १४ घडी के बाद (यानि १२ बजे मध्याह्न) मुनीश्वर आहारचर्या-भ्रामरी करने का कथन किया है।

(२६) तिलोयपण्णत्ती अ० ४ गाथा १५२४-२५

सचिवा चवन्ति सामिय सयल अहिंसा वदाण आधारो
संतो विमुक्क संगो तणुट्ठाण कारणेण मुणी ।

पर घर दुवाररासु मज्झण्हे कामदरिसणं किच्चा।
पासुपमसण भुंजदि पाणिपुडे विग्घ परिहीणं ॥

मत्री वोले—स्वामी! सकल अहिंसा व्रतो के आधार होते हुए परिग्रह रहित मुनि आहार के कारण दूसरो के घर द्वार पर अपना शरीर दिखाकर मध्याह्न मे प्रासुक भोजन आरामरहित हाथ मे खाते है। २ १

(२७) मेधावीकृत धर्मसग्रह श्रावकाचार अ० ७—

गृही देवार्चन कृत्वा मध्याह्ने साधुभाजन.।
पात्रावलोकनं द्वास्थः कुर्याद् भक्त्या सुधीतभ्रृत ॥८५॥

इसी का श्लोक ६१-६२ भी देखिये।

(२८) लाटी सहिता—सर्ग ६ श्लोक २२१ और २३१ मे भी "मध्याह्न" ही आहार चर्या वताई है।

(२९) सोमसेन कृत त्रिवर्णाचार पृ० ३५४

(३०) कार्तिकेयानुप्रेक्षा (शुभचन्द्रकृतटीका) पृ०२७५-२७६

(३१) वाक्यजाल (व्र० मूलशकरजी देशाई) पृ० १९८, २९९ पर गलत निरूपण।

(३२) भोजने गमनेऽन्यत्र कार्ये वा यत्र कुत्र चित्।
पूर्वाचार्य मत नून प्रमाण जिन शासने ॥५२॥
पूर्वाचार्य मति क्रम्य. य कुर्याद् किंचिदप्यसौ।
मिथ्यादृष्टि रीति ज्ञेयो, न वंदयश्च महात्मभि.।५३।

(आहार विहारादि कोई भी कार्य हो सर्वत्र पूर्वाचार्यों का मत ही प्रमाण है। उसका कुछ भी उल्लङ्घन करने वाला मिथ्यात्वी है। ज्ञानियो द्वारा वह मान्य नही है।)

५१

दयामय जैन धर्म और उसकी देव पूजा

"अहिसा परमो धर्म" ऐसा सब कहते हैं मगर इस तत्व की जितनी गहनता, जितनी महत्वता और जितनी विशालता जैन धर्म मे है उतनी अन्य जगह नही मिलेगी। लोक मे जैनियो की दया वडी मशहूर है। और तो क्या भारत के अजैन विद्वान् भी मुक्त कठ से कहते है कि अन्य धर्मो मे अहिसा का जो भी रूप नजर आता है यह श्रेय जैन धर्म को ही है जैन धर्म की अहिसा की सृष्टि बिलकुल लोकहित की दृष्टि से है, उसमे स्वार्थपरता का दोष ढू ढने से भी नही मिलता। जबकि अन्य धर्मों मे कही मनुष्यो तक कही पशुओ तक और अधिक गये तो कही-कही दृष्टि गोचर जीवो तक अहिसा पहुचाई है, किन्तु जैन धर्म की अहिसा का क्षेत्र तो इतना लम्बा चौडा विराट है कि उसमे नजर मे भी न आने वाले सर्वज्ञगम्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवो से लेकर महाकायधारी वडे से वडे सम्पूर्ण जीव चले आते है। देवता, मत्र, धर्म औषधादि किसी निमित्त से भी हिसा क्यो न हो, जैन धर्म की दृष्टि मे उसे धर्म कोटि मे कोई स्थान नही दिया जा सकता, जैसा कि निम्न लिखित श्लोक से प्रगट है—

देवतातिथि मत्रौषध पित्रादि निमित्ततोऽपि सपन्ना।
हिसा धत्ते नरके कि पुनरिह नान्यथा विहिता ॥२६॥

["अमितगति"]

देखिये अहिंसा के विषय मे जैनाचार्यों की क्या आज्ञा है-

जीवत्राणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निरस्यंति ।
चंद्रेण विना नक्षत्रैर्हन्यन्ते तिमिर जालानि ।

["अमितगति"]

धर्ममहिंसा रूपं सशृण्वंतोऽपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसा तेऽपि मुंचतु ॥
सूक्ष्मं भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।
इतिधर्ममुग्धहृदयैर्न जातु मृत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥

[अमृतचन्द्राचार्य]

अर्थ—जीवरक्षा के विना व्रतधारण कर्मों को नष्ट नही कर सकते जैसे चन्द्रमा के विना नक्षत्र अधकार को दूर नही कर सकते । अहिंसा रूप धर्म को सुनकर भी जो स्थावर हिंसा को त्यागने के लिए असमर्थ हैं वे भी त्रस हिंसा को तो छोडें । भगवान् का धर्म बडा सूक्ष्म है, धर्म के अर्थ हिंसा होने मे कोई दोष नही है इस प्रकार धर्म मे मुग्ध चित्त वालो को आचार्य कहते है कि धर्म के अर्थ भी प्राणी नही मारने चाहिये ।

इन सब विवेचनो से आप ही सिद्ध हो जाता है कि हमारी तमाम क्रियायें क्या जप, क्या तप, क्या व्रत सब यदि अहिंसा की उन्नति करने मे सहायक हो तो उपादेय हैं नहीं तो व्यर्थ है ।

आज हम यदि जैनियो की कृति देखते है तो बिल्कुल इससे उल्टी पाते हैं । यद्यपि जैनियो को अपने व्यापारादि कार्य या भोगोपभोगो के जुटाने मे भी अहिंसा का कुछ न कुछ ख्याल जरूर रखना चाहिये मगर इससे भी ज्यादा धार्मिक कार्यों में

तो उसे कोई ऐसा काम कदापि न करना चाहिये जो (विशेष)-हिंसाजनक हो। हमारे कई दिगम्बरी भाई जिनपूजा मे हरित पुष्प काम मे लाते हैं। क्या उन्हे मालूम नही है कि भगवान् ने एक पुष्प मे भी अनत निगोद जीव बतलाये हैं इसके अलावा पुष्पो मे त्रस जीव चलते-फिरते नजर आते हैं वे तो सर्वसाधारण के प्रगट ही है ये सब देखते हुए भी वे इस प्रथा को छोडते क्यो नही हैं ? उनके इस महाहिंसा मे इतना मोह क्यो है ? जैनाचार्य तो साफ कहते हैं। देखिये वसुनन्दि आचार्य क्या फरमाते हैं—'सम्मत्तस्सपहाणो अणुकवा वण्णिऊ जह्या' सम्यक्त्व का प्रधान कारण अनुकम्पा है। फिर देखिये—

उबरवडपीपलपि य पायर संधाग तरु पसूणाइ ।
णिच्चं तस ससिद्धाइ ताइ परिवज्जिय व्वाइम् ॥५८॥
[वसुनन्दि श्रावकाचार]

अर्थ – गूलर, वड, पीपल, पीलखन और अन्जीर ये पाच फल तथा सधाणा और वृक्षो के फूल इन सबमे त्रस जीवो की निरन्तर उत्पत्ति होती है इस वास्ते ये सब त्यागने योग्य हैं। देखा पाठक फूलो मे स्थावर ही नही किन्तु त्रस जीवो की निरन्तर उत्पत्ति आचार्य बतलाते है। समवशरण मे भगवान् की अहिंसा रूप दिव्य शक्ति से और वनो मे अहिंसा मूर्ति मुनीश्वरो के माहात्म्य से जाति विरोधी जीव भी अपनी हिंसक प्रकृति को छोडकर शाति से परस्पर प्रेम से विचरने लगते हैं उन्ही परमपूज्य महात्माओ की प्रतिमा के सामने आज हम पूजा के रूप मे अनत निगोद जीवो अनेक त्रस जीवो की विराधना करते नही हिचकिचाते। इस जगह शायद कोई कहे कि—तो फिर पुष्प चढ़ाने की आज्ञा आचार्यों ने दी ही क्यो ? उत्तर मे

हमारा कहना अव्वल तो यह है कि उन्होने अचित प्राशुक द्रव्यो से पूजा करनी भी तो लिखी है। उन्होने ऐसा तो कही नही कहा की प्राशुक द्रव्यो से पूजा नही करना चाहिये। देखिये-मूलाचार की टीका मे चतुर्विंशति स्तवन स्वरूप की गाथा मे 'अच्चिदूणय' पद की व्याख्या मे संस्कृत टीकाकार क्या कहते है—"अर्चित्वा च गधपुष्पधूपदीपादिभि प्रासुकैरानीतैर्द्रव्यरूपं भावरूपैश्च" यहाँ साफ लिखा है कि प्राशुक लाये गध पुष्पादि द्रव्यो से और भावो से पूजकर"-यदि कहा जाय कि मूलाचार मे तो मुनीश्वरो के लिए विधान है सो ठीक है मगर इस स्थान मे चतुर्विंशति स्तवन का स्वरूप कहने का प्रकरण है इसलिए मुनि और श्रावक दोनो के लिए यह कथन लागू हो जाता है, फिर यहाँ तो गध पुष्प धूपादि से द्रव्यपूजा करना लिखा है सो क्या मुनीश्वर भी द्रव्यपूजा करते है अत यह विधान श्रावक के लिए ही उपयुक्त जान पडता है। दूसरी बात यह भी है कि यदि सचित्त पूजा का विधान कतई उठा दिया होता तो बहुत से प्राणी जिनपूजा से वचित रहकर श्रावक कोटि मे ही गिने नही जाते क्योकि जिनपूजा का करना सब कालो और सब स्थिति के जीवधारियो के लिए अपनी-अपनी शक्ति अनुसार मुख्य बताया गया है जैसाकि स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य के 'दाण पूजा मुक्ख सावय धम्मो ण सावगो तेण विणा" अर्थात् दान देना और पूजन करना यह श्रावक का मुख्य धर्म है इसके बिना कोई श्रावक नही कहला सकता" इस कथन से स्पष्ट है। इससे यही सिद्ध होता है कि क्या देव, क्या पशु, और क्या मनुष्य, सब ही को पूजा करना चाहिये अब आप ही सोचें कि अगर अचित्त द्रव्यो से ही पूजा करने की आज्ञा देते तो जिन प्राणियो को अचित्त द्रव्य प्राप्त करने की परिस्थिति न होती तो वे पूजा

कैसे करते, क्योकि ग्रथो मे जिनेन्द्र भक्तिसे प्रेरित होकर पशुओ तक ने भी तो पूजा की है जिममे मेढक सूवा और हाथी की पूजा की कथा तो प्राय बहुतो ने मुनी होगी, सूवे ने तुम्हे आनि के फल आम चढाया, मेढक ले चला फूल कमल भक्ति का भाया ॥२२॥ इन सबका जब शाति के साथ गहरा विचार किया जाता है तो यही ध्यान मे आता है। कई भाई ऐसा भी कहते हैं कि अचित्त पूजा सचित त्याग प्रतिमा वाले को करनी चाहिये यह भी बात विचार करने पर ठीक नही बैठती, क्योकि ऊपर मूलाचार की कारिका मे ऐसा कोई विधान नही पाया जाता कि जो कोई खास व्यक्ति के ही लिए नियत हो। दूसरे ग्रन्थो मे भी नही पाया जाता कि पाचवी प्रतिमा से नीचे वालो को अचित्त पूजा करने का विरोध किया हो। इस तरह जब सचित्त-अचित्त दोनो पूजाओ की स्पष्ट आज्ञा है।

तो फिर इससे यही फलितार्थ निकलेगा कि जिसको जैसा सुभीता हो, देश काल के अनुसार जैसा ठीक बैठता हो, साथ ही हिमा का भी बचाव बिना किसी कठिनता के हो जाता हो उसी विधि से हठ छोडकर जिनपूजा मे प्रवर्त्तना चाहिये। दोनो पूजाओ की उपयोगिता मे जब हम विचार करते हैं तो हमारी बुद्धि मे बनिस्पत सचित्त पूजा के अचित्त पूजा ही इस समय सर्वश्रेष्ठ जचती है पूजा से सम्बन्ध रखने वाले पूज्य,पूजक पूजा और पूजाफल पर यदि विचार किया जाये तो सर्व प्रकारेण इस समय अचित्त पूजा ही उत्तम है। (सचित्त पूजा तो पशु-पक्षी मूर्खो के लिए है—मनुष्यो के लिए नही)।

(१) पूज्य का विचार करे तो वे तो रागद्वेष रहित है उन्हे हमारे सचित्त अचित द्रव्यो से कोई सरोकार ही नही,

जैसा कि श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा है–

'न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निंदया नाथ विवात वैरे' जब हमारे वीतराग भगवान् जीवो के पुज रूप पुष्पो से खुश नही और प्राशुक केसर रजित चावल रूप सकल्पित पुष्पो से नाराज नही तो क्यो महान् पातक किया जाये" रस से काम चले तो विष क्यो दे"। पवित्र प्रभु को प्रासुक वस्तु ही चढाई जा सकती है अप्रासुक नही। धम स्थान मे तो इसका खास ख्याल रखना चाहिये।

(२) पूजक पर विचार करते है तो हमारे जैनी भाइयो मे ऐसा कोई नही होगा जो अहिंसा से हिंसा को श्रेष्ठ समझता हो। हिंसा के बचाव के लिए कोई रात्रि मे भोजन नही करते, कोई रात्रि मे जल नही पीते, विलायती मैदा जो लटो का पुज है नही खाते, अशुद्ध विदेशी खाड नही खाते, कईयो के हरियो का त्याग है या प्रमाण है इत्यादि रूप नियम अपने अहिंसा धर्म के पालन के लिए करते है तो कैसे कहा जाये कि उनके हिंसा का पक्ष है। सागार धर्मामृत की टीका मे लिखा है कि— यतिधर्मानुराग रहितानामगारिणा देश विरतेरप्य सम्यक्त्व-रूपत्वात्। 'सर्व विरतिलालस खलु देशविरति परिणाम' अर्थात् यति धर्म मे अनुराग रहित गृहस्थियो का देशव्रत भी मिथ्या है। 'सकल विरति मे जिसकी लालसा है वही देशविरतिके परिणाम का धारकहो सकताहै' इससे क्या यह नही सिद्ध होताहै कि हमारा उद्देश्य कितना ऊचा रहता है। हम उस उच्च कार्य को धारण करने के लिए असमर्थ हो तो भी उसकी भावना हृदय से चली नही जाती, हर क्रियायो से हम उस तक पहुँचने का अभ्यास करेंगे अन्यथा हमारे नियम व्रतादि सब ही मिथ्या हो जाते हैं।

क्या यह उचित है कि—हम जब अपने खानपान, देनलेन, व्यापार आदि घर के कामो मे हिंसा अहिंसा का इतना खयाल रक्खे और धार्मिक पूजादि कार्यों मे उसे बिल्कुल स्थान न दे ? ऐसा कभी उचित नही।

(३) पूजा पर विचार करते है तो अष्टद्रव्यो की आवश्यकता ही हमारे परिणामो को स्थिर करने के लिये होती है जैसा कि नित्य पूजन मे श्लोक है—

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगतु काम ।
आलंबनानि विविधान्यवलव्य वल्गन्
भूतार्थं यज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम् ॥

अर्थात् यथानुकूल द्रव्य की शुद्धि प्राप्तकर भावो की अधिक शुद्धि को प्राप्त करने की इच्छावाला मैं नाना प्रकार आलबन को आश्रय करके सत्यार्थ पूज्य पुरुष का पूजन करता हूँ।

मतलब इसका यही है कि हमारे परिणाम सराग रूप हैं, अनेक भोगोपभोग वस्तुओ में फसे रहते हैं, चिरतन का अभ्यास छूट नही सकता इसलिये यदि द्रव्यो का अवलबन न ले तो परिणाम भगवत्पूजा मे स्थिर नही रहते, लीन नहीं होते। इस प्रकार जब द्रव्यालबन ही मात्र परिणामो के स्थिर करने के उद्देश्य से ग्रहण किया जाता है तो उसके लिए "सचित्त ही द्रव्य चढाये जाये" ऐसा आग्रह क्यो किया जा रहा है। सचित्त अचित्त दोनो मे से जो ज्यादा सुगम, पवित्र, सुलभ और अहिंसक हो वे ही बेखटके लेने योग्य है। यही विवेक है।

सूक्ष्म बुद्धया सदा ज्ञेयो धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः। अन्यथा धर्मबुद्धयैव तद्विघात प्रसज्यते। (कल्याणार्थी को सदा सूक्ष्म-बुद्धि से ही धर्म का अनुशीलन करना चाहिये। अन्यथा धर्म बुद्धि से ही धर्म और धर्मी दोनो का बिगाड़ हो सकता है।

(४) अब चौथा भेद पूजाफल रहा, इस पर भी ऊहापोह करने से सचित्त पूजा जरूरी नही समझी जा सकती सो ऐसे-आज प्राय हम लोग जिनेंद्र की पूजा करते हैं सो केवल एक रस्म पूरी करते हैं। परिणामो की स्वच्छता, भावो की वीतरागता व भक्ति की वास्तविकता के अश कितने होते है सो सब जानते हैं। ऐसी हालत मे जितना पुण्य जिनपूजा से उपार्जन किया जायेगा उससे ज्यादा पाप सचित्त पुष्पो की हिंसा से रहेगा तो लाभ के स्थान मे हमारी हानि ही विशेष रहेगी, सौ रुपैयो के लाभ के वास्ते पानसौ रुपैयो का नुकसान उठाना तो किसी तरह योग्य नही है।

इस प्रकार इस विषय मे हम जब किसी भी पहलू से शाति के साथ गहरा अनुशीलन करते है तो किसी रीति से भी सचित्त पुष्पो से जिनपूजा करना कम से कम इस समय मनुष्यो के लिये तो उचित नही बैठता। हम कहते हैं कि अगर अचित्त द्रव्यों से पूजा किया करे तो इसमे कौनसा अनर्थ हो जाता है और जैन धर्म के किस सिद्धात का विघात होता है ? शास्त्राज्ञा भी तो नहीं रोकती और जब जैनधर्म का उद्देश्य ही ऊचा उठाने का-अहिंसा की ओर ले जाने का-है तो फिर ऐसा करने मे उलझन है ही क्या। धर्म का स्वरूप बाह्य मे जीव दया व अतरग मे रागद्वेष का अभाव ही है या और है, इसमे अचित्त जा करने से कोई हानि नही दीखती तो फिर क्यो नही यह

प्रवृत्ति स्वीकार की जाती और जहा सौभाग्य से ऐसी पवित्र अहिंसक प्रवृत्ति चली आरही हो वहा कोई दुराग्रही इसे छोडना चाहे या कोई छुडाना चाहे तो इससे बढकर अफसोस और विवेक शून्यता क्या होगी ?

इस लेख मे सचित्त द्रव्य से मतलब लेखक का विशेपकर हरितपुष्पादि से ही है क्योकि अन्य सचित्त द्रव्य न इतने महा-हिंसाजनक हैं और न उनका विशेप आग्रह ही किया जाता है। विस्तार भय से बहुत सी बातो का हम उल्लेख नही कर पाये अगर पाठको को मेरा यह प्रयास समयानुकूल हितावह रुचिकर जचा तो फिर सेवा मे उपस्थित हो सकू गा। अन्त मे एक बात और ध्यान देने योग्य है कि सचित्त पुष्पादि का चढाना ही आपत्तिजनक नही है बल्कि उन्हे प्रतिमा के अक मे रखना और भी ज्यादा गलत है। यह सब श्वेताबरीयता है दिगबरीयता नही। कोई अपने कपड़े कुल्हाडी से ही कूट कर धोये इसके लिए वह स्वतन्त्र है चाहे फिर वे कटें-फटें किन्तु रुचिके नाम पर जैसे यह मूर्खता है वैसे ही प्रत्यक्ष हिंसा लक्षित कर भी जो सचित्त पूजा का पक्ष करते है वे जैन धर्म को नही समझते है। अहिंसादि की दृष्टि से ही आचार्यों ने यहाँ स्थापना निक्षेप रखा है फिर भी हम उसे न समझें यह अविवेक है। आशाधरादि सभी ने केशर चदन रगे अक्षतो की पुष्प सज्ञा दी है। इसी दृष्टि से हिंसाजन्य असली चमर की जगह हम गोटे आदि के नकली चमर ही ढोरते है जो सही है। यस्य नास्ति विवेकस्तु केवल यो बहुश्रुत.। न स जानाति शास्त्रार्थान् दर्वीपाकरसानिव ॥ (जिसके विवेक नही केवल बहुश्रुती है वह शास्त्रो के अर्थ को नही जानता जैसे चम्मच भोजन के स्वाद को नही जानता।) 卐

★

卐 जिन–पूजा मे पूजक (इन्द्र) पूज्य (जिनेन्द्र) और पूजाद्रव्य (८) सब मे स्थापना निक्षेप का प्रयोग किया जाता है ताकि सरलता विशेपता प्राशुकता अहिंसकता पविश्रता अपरिग्रहता निरारभता रहे।

"घेवर गिदोडा वरफी जु पेडा" बोलकर भी एक चिटक मात्र चढाना इसी का रूप है। जैन सस्कृति की यही शालीनता सूक्ष्मता है।

बोलते हम–'द्रौपदी का चीर बढाया, सीता प्रति कमल रचाया" जैसी ईश्वर कर्तृत्व रूपी वाणी किन्तु मानते कभी ऐसा नही अर्थात् जिनेन्द्र को अन्य धर्मियो के ईश्वर की तरह कर्त्ता नही मानते। यह विसगति या झूठ नही है यह खूबी है भक्ति पूजा मे यही जैनो की विशेपता है।

अजैर्यष्टव्य (अज से यज्ञ=पूजा करना चाहिये) मे 'अज' का अर्थ न तो वकरा है और न तीन वर्ष पुराना धान्य किन्तु जैन संस्कृति मे जो नहीं उगता ऐसा तुष=गरडी रहित चावल लिया गया है जो इसकी प्रांजलता सूक्ष्मता मौलिकता का द्योतक है। इसी तरह पूजा मे असली द्रव्य बोलते भी– नकली चढाते हैं। असली सुबोधता की दृष्टि से बोलते हैं और नकली अहिंसकतादि की दृष्टि से चढाते हैं। जैसे— रामलीला मे रावण-वध के दृश्य मे रावण-राक्षसादि पात्रो को साक्षात् (असल) नही मारते हैं क्योकि ऐसा करना महान् हिंसा जनक है। इसी तरह राक्षसो का मद्य मास सेवन, लकादहन आदि भी साक्षात् (असली) नही बनाये जाते क्योकि ऐसा करना भी महान् आपत्तिजनक है। यहाँ नकली काम तो श्रेयस्कर होता है और असली अनुचित। भक्ति की परिभाषायें ही जुदी होती हैं अत बोलना क्या मानना क्या और करना क्या इसमे असामजस्य या असत्य ढूढना ही स्वय में असत्य है।

जिनपूजा भी एक तरह की तीर्थंकर लीला है इसमे पचकल्याणक के रूप मे सारा तीर्थंकर-जीवन प्रतिदिन स्मरण कराया जाता है। अष्ट

द्रव्यो के माध्यम से बिना पढा-लिखा भी यह सब हृदयगम कर सकता है। इसी से पूजा के प्रारम्भ मे पचकल्याणको का सर्वप्रथम अर्घ चढाया जाता है। २४ तीर्थंकर पूजा मे भी प्रत्येक तीर्थंकर की पाचो कल्याणको की तिथियो का अलग-अलग अर्घ चढाया जाता है। प्रत्येक जिनपूजा में भी अष्ट द्रव्यो द्वारा पचकल्याणक को ही प्रदर्शित किया जाता है।

देखो—गर्भ कल्याणक—अत्र अवतर-अवतर सवौषट् आह्वाननेम् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ स्थापनम्

जन्मकल्याणक—अत्र मम सन्निहितो भव, सन्निधि करण जल, चदन, अक्षत, पुष्प

दीक्षा कल्याणक—नैवेद्य (आहार दान का प्रतीक)

ज्ञान कल्याणक—दीप (केवल ज्ञान का प्रतीक)

मोक्ष कल्याणक—धूप, फल (अष्ट कर्म नष्टकर मोक्षफल प्राप्ति)

इसतरह इन्द्रिय विषय कषायो से रहित वीतराग भगवान् के साथ अष्ट द्रव्यो की सगति सार्थकता बैठ जाती है और व्यास माली के पारिश्रमिक रूप मे अष्टद्रव्यो की उपयोगिता भी बन जाती है।

इन ८ द्रव्यो को चढाते वक्त पूजक को सदा ऊपर लिखे अनुसार पचकल्याणक रूप में तीर्थंकर लीला [जिन-जीवन चरित] को अच्छी तरह हृदय मे बिठा लेना चाहिये।

यही अष्टद्रव्य-पूजन रहस्य है। अष्टद्रव्यो को जिनेन्द्र के आगे ही चढाना किसी भी द्रव्य को जिनेन्द्र के ऊपर नही क्योकि वे वीतराग हैं [देखो—मोक्षमार्गप्रकाशक पृ०] यही शालीनता और विवेक है।

❍❍❍

क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द्र

अद्यावधि माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। उनमे से एक त्रिलोकसार ग्रन्थ की सस्कृत टीका है जो छप चुकी है। और दूसरा सस्कृत मे बना क्षपणासार ग्रन्थ है जो अभी तक छपा नही है। उक्त त्रिलोकसार ग्रन्थ प्राकृत मे गाथा-बद्ध आचार्य नेमिचन्द्र का बनाया हुआ है। उसी की सस्कृत टीका माधवचन्द्र ने लिखी है। इस टीका की प्रशस्ति मे माधवचन्द्र ने इतना ही लिखा है कि—"मेरे गुरु नेमिचन्द्र सिद्धातचक्री के अभिप्रायानुसार इसमे कुछ गाथाएँ कही-कही मेरी रची हुई हैं वे भी आचार्यों द्वारा अनुसरणीय है।" इसके सिवा माधवचन्द्र ने यहाँ अपने विषय मे और कुछ अपना विशेष परिचय नही दिया है किन्तु क्षपणासार की प्रशस्ति मे उन्होंने अपना परिचय कुछ विशेष तौर पर दिया है। वह प्रशस्ति वीर सेवामन्दिर देहली से प्रकाशित "जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह" के प्रथम भाग के पृ० १६६ पर छपी है। इस प्रशस्ति मे प्रथम से लेकर पाचवें पद्य तक क्रमश यति वृषभ, वीरसेन, जिनसेन, मुनि चन्द्रसूरि, नेमिचन्द्र और सकलचन्द्र भट्टारक को नमस्कार करने के बाद दो पद्य निम्न प्रकार हैं—

तपोनिधि महायशस्सकलचन्द्र भट्टारक—
प्रसारित तपोबलाद् विपुलबोधसच्चक्रतः ।

श्रुतांबुनिधि नेमिचन्द्र मुनिपप्रसादा गतात्,
प्रसाधितमविघ्नतः सपदि येन षट्खंडकम् ॥
अमुना माधवचन्द्र दिव्यगणिना त्रैविद्यचक्रेशिना,
क्षपणासारमकारि बाहुबलिसन्मन्त्रीशसंज्ञप्तये ।
शककाले शरसूर्यचन्द्रगणिते जाते पुरे क्षुल्लके,
शुभदे दुन्दुभिवत्सरे विजयतामाचन्द्रतारं भुवि ॥

इन पद्यो मे कहा है कि— जिसने तपोनिधि, महायशस्वी सकलचन्द्र भट्टारक से दीक्षा लेकर तपस्या की उसके बल से तथा श्रुतसमुद्र पारगामी नेमिचन्द्र मुनि के प्रसाद से जिसे विशाल ज्ञानरूपी उत्तम चक्र मिला, उस चक्र से जिसने षट्खण्डमय सिद्धात को जल्दी ही निर्विघ्नता से साध लिया ऐसे त्रैविद्य,दिव्यगणि और सिद्धातचक्री इस माधवचन्द्र ने क्षुल्लकपुर मे शक स० ११२५ मे दुन्दुभि नाम के शुभ सवत्सर मे बाहुबलि मन्त्री की ज्ञप्ति के लिए यह क्षपणासार ग्रन्थ बनाया है वह पृथ्वी मे चन्द्र तारे रहें तब तक जयवन्त रहे।

इस प्रशस्ति के साथ यही पर क्षपणासार का आद्य भाग मगलाचरण का मय टीका के एक श्लोक भी छपा है। उसमे भी नेमिचन्द्र और चन्द्र (सकलचन्द्र) का उल्लेख करते हुए उन्हें माधवचन्द्र और भोजराज के मन्त्री बाहुबलि द्वारा स्तुत बताए गये हैं।

इन उल्लेखो से पता लगता है कि ये माधवचन्द्र त्रिलोकसार की टीका की तरह क्षपणासार मे भी अपने को त्रैविद्य और नेमिचन्द्र का शिष्य लिखते है अत दोनो अभिन्न हैं। हाँ, क्षपणासार मे उन्होने सकलचन्द्र को भी अपना गुरु लिखते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि सकलचन्द्र उनके दीक्षा-

गुरु थे और नेमिचन्द्र उनके विद्या-गुरु थे। किन्तु इसमे बडी बाधा यह आती है कि उक्त प्रशस्ति मे क्षपणासार का रचना काल शक स० ११२५ दिया है जिसमे १३५ जोडने से विक्रम स० १२६० होता है। समय की यह सगति त्रिलोकसार के कर्ता नेमिचन्द्र के समय के साथ नही बैठती है। नेमिचन्द्र का समय विक्रम सवत् १०५० के लगभग माना जा रहा है। इसीलिए प्रेमीजी आदि इतिहासज्ञ विद्वानो ने उक्त क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द्र को त्रिलोकसार की टीका कर्ता माधवचन्द्र से भिन्न प्रतिपादन किया है।

किन्तु हमारी समझ इस विषय मे कुछ और है। हम दोनो माधवचन्द्र को अभिन्न समझते हैं और दोनो के समय की सगति इस तरह बैठाते है कि क्षपणासार का जो समय शक स० ११२५ दिया है उसे शालिवाहन सवत् न मानकर विक्रम स० ११२५ मानना चाहिए। चूंकि माधवचन्द्र ने त्रिलोकसार गाथा ८५० की टीका मे शकराज का अर्थ विक्रम किया है। इसलिए उनके मत के अनुसार क्षपणासार मे दिये गए शक सवत् को भी विक्रम सवत् ही मानना चाहिए। सही भी यही है कि किसी भी ग्रथकार के कथन को उसी के मत के अनुसार माना जावे। इस तरह मानने से दोनो समय मे जो भारी अन्तर पडता है वह हलका-सा रह जाता है। इस हलके अन्तर को तो हम किसी तरह बैठा सकते है। इसके लिए हमे नेमिचन्द्र और चामुण्डराय के समय को कुछ आगे की ओर लाना पडेगा अर्थात् ये दोनो विक्रम की ११वी शताब्दी के चौथे चरण मे भी मौजूद थे ऐसा समझना होगा। वह इस तरह कि बाहुबलि चरित्र मे गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा का समय कल्कि स० ६०० लिखा है।

प्रोफेसर प० हीरालाल जी ने जैन-शिलालेख संग्रह भाग १ की प्रस्तावना मे इस कल्कि सवत् को विक्रम स० १०८६ सिद्ध किया है। यह तो निश्चित ही है कि बाहुवलि मूर्ति की स्थापना चामुण्डराय ने की थी। इसके अलावा चामुण्डराय कृत चारित्र-सार खुले पत्र पृ० २२ मे "उपेत्याक्षाणि सर्वाणि....." यह श्लोक उक्त च रूप से उद्धृत हुआ है। यह श्लोक अमितगति श्रावकाचार परिच्छेद १२ का ११९वाँ है। इसमे उपवास का लक्षण बताया गया है। अमितगति का समय विक्रम की ११वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध तक है। इत्यादि हेतुओ से चामुण्डराय का समय सभवत विक्रम की ११वी शताब्दी के चौथे चरण तक पहुँच जाता है। और नेमिचन्द्र भी श्री बाहुवलि स्वामी की प्रतिष्ठा के वक्त मौजूद होगे ही। इसके अतिरिक्त नेमिचन्द्र कृत द्रव्य सग्रह की ब्रह्मदेव कृत टीका के प्रारम्भ मे लिखा है कि "यह ग्रन्थ पहिले नेमिचन्द्र ने राजा भोज से सम्बन्धित श्रीपाल मण्डलेश्वर के राजसेठ सोम के निमित्त २६ गाथा प्रमाण लघु द्रव्यसग्रह बनाया था। फिर विशेष तत्वज्ञान के लिए बडा द्रव्यसग्रह बनाया।" इस कथन से भी सिद्ध होता है कि राजा भोज के समय श्री नेमिचन्द्र हुए हैं। राजा भोज का समय विक्रम की ११वी सदी का चौथा चरण इतिहास से सिद्ध है। जो प्रमाण द्रव्य-सग्रह और गोम्मटसार के कर्ता को भिन्न सिद्ध करने के लिए दिए जाते हैं वे भी कुछ विशेष दृढ नही हैं जैसे कि "गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र तो सिद्धात चक्रवर्ति थे और द्रव्यसग्रह के खासतौर से कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धातदेव थे।" यह हेतु ऐसा कोई भिन्नता का द्योतक नही है। क्योकि त्रिलोकसार की टीका मे स्वय माधवचन्द्र ने ग्रथ के प्रारम्भ और अन्त मे अपने गुरु नेमिचन्द्र का 'सैद्धातदेव' नाम से उल्लेख किया है।

और दूसरा हेतु भिन्नता के लिए यह दिया जाता है कि "द्रव्य सग्रह मे आश्रव के भेदो मे प्रमाद को गिना है। जब कि गोम्मटसार मे प्रमाद को नही लिया है।" यह हेतु भी जोरदार नही है। क्योकि इस विषय मे शास्त्रकारो की दो विवक्षा रही है। तत्वार्थ सूत्र और उनके भाष्यकार आदिको ने आश्रव के भेदो मे प्रमाद को लिया है, मूलाचार आदि मे प्रमाद को नही लिया है। ये दोनो ही विवक्षाएँ नेमिचन्द्र के सामने थी और दोनो ही उन्हे मान्य भी थी इसीलिए उन्होने जहाँ बृह० द्रव्य सग्रह मे आश्रव-भेदो मे प्रमाद को लिया है वहाँ लघु द्रव्यसग्रह की १६वी गाथा मे प्रमाद को नही भी लिया है। (देखो अनेकांत वर्ष १२ किरण ५)

अलावा इसके उन्होने द्रव्यसग्रह को समाप्त करते हुए जिस ढग से अपनी लघुता प्रदर्शित की है। वही ढग उन्होने त्रिलोकसार की समाप्ति के समय मे भी अपनाया है। दोनो के वाक्यो को देखिए—

इदि णेमिचन्द मुणिणा अप्पसुदेणाभयणदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमतु तं बहुसुदाइरिया॥
[त्रिलोकसारे]

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा, दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंद मुणिणा भणियं जं॥
[द्रव्यसग्रह]

इनमे अप्पसुद-तणुसुत्तधर, सुदपुण्णा-बहुसुदा ये वाक्य अर्थ-साम्य को लिए हुए हैं। इससे दोनो को अभिन्न मानने की ओर हमारा मन जाता है। इस प्रकार जबकि नेमिचन्द्र का समय विक्रम की

११वी शताब्दी के तीसरे चरण तक पहुँच जाता है तो उनके शिष्य माधवचन्द्र का भी विक्रम स० ११२५ मे जीवित रहना सभव हो सकता है। माधवचन्द्र ने त्रिलोकसार की टीका गोम्मटसार की रचना के बाद बनाई है। क्योकि त्रिलोकसार गाथा २५० की टीका मे एक गाथा "तिण्णसय जोयणाण··" उद्घृत हुई है वह गोम्मटसार जीवकाड की है।

त्रिलोकसार टीका और क्षपणासार की शैली एव तत्व विवेचन का तुलनात्मक अध्ययन करने पर भी दोनो के एक कर्तृत्व का निश्चय किया जा सकता है इस ओर साहित्यिक विद्वानो को ध्यान देना चाहिए।

क्षपणासार को प्रशस्ति मे माधवचन्द्र ने अपना दीक्षागुरु सकलचन्द्र को वताया है। इस पर विचार उठता है कि उनके विद्यागुरु नेमिचन्द्र के होते हुए उन्होने सकलचन्द्र से दीक्षा क्यो ली ? ऐमा लगता है कि दीक्षा के वक्त शायद नेमिचन्द्र दिवगत हो गए हो। इसी से उनको सकलचन्द्र के पास से दीक्षा लेनी पडी हो। साथ ही ऐमा भी मालूम पडता है कि त्रिलोकसार की टीका की समाप्ति के समय तक वे दीक्षित ही नही हुए थे। क्योकि टीका की प्रशस्ति या टीका मे यत्र-तत्र ऐसा कोई उल्लेख नही पाया जाता है जिससे उनका मुनि होना प्रगट होता हो। क्षपणासार मे तो शुरू मे ही वे अपने को मुनि लिखते हैं। इन सब बातो से यही निष्कर्ष निकलता है कि नेमिचन्द्र स्वामी की जब वृद्धावस्था थी तब उनके शिष्य माधवचन्द्र युवा थे और इससे माधवचन्द्र का अस्तित्व वि० स० ११२५ मे माना जा सकता है। इस समय के साथ एक बाधा अगर यह उपस्थित की जावे कि क्षपणासार की प्रशस्ति मे

इस की रचना राजा भोज के मन्त्री बाहुबलि के निमित्त बताई है और इतिहास में राजा भोज का समय वि० सं० ११२५ से पहिले का है। इसका समाधान यह हो सकता है कि क्षपणासार की समाप्ति के समय तक राजा भोज नहीं भी रहे हों तब भी बाहुबलि भूतपूर्व की अपेक्षा मन्त्री तो उसी का कहला सकता है।

इस लेख में मैंने जो विचार प्रकट किए हैं वे कहाँ तक ठीक हैं ? इसका निर्णय मैं इतिहास के खोजी विद्वानों पर छोड़ते हुए उनसे निवेदन करता हूँ कि उन्होंने इस सम्बन्ध में अब तक जो निर्णय दिया है उस पर वे पुनः विचार करने की कृपा करें।

इस लेख में मैंने कुछ दलीलों से क्षपणासार के कर्ता और त्रिलोकसार की टीका के कर्ता माधवचन्द्र के अभिन्न होने की सम्भावना व्यक्त की थी। और उन ऐतिहासिक विद्वानों से जिन्होंने कि दोनों को भिन्न-भिन्न मान रक्खे हैं इस सम्बन्ध में पुनः विचार करने की प्रेरणा की थी। क्षपणासार की प्रशस्ति में उसकी समाप्ति का समय शक सं० ११२५ दिया है। इसे हमने ग्रन्थकार के मतानुसार विक्रम सं० मानकर इसी आधार पर हमने वह लेख लिखा था।

इसपर भाई परमानन्दजी ने अनेकांत के इसी अंक में दोनों माधवचन्द्र को भिन्न-भिन्न बतलाने का प्रयास किया है। उनके मन्तव्य की पुष्टि के लिये उनके लेख से ४ दलीलें सामने आई है। नीचे हम उन्हीं पर विचार करते हैं—

(१) प्रथम दलील उनकी यह है कि—"नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्री का समय विक्रम की ११वीं सदी के पूर्वार्द्ध के बाद का नहीं हो सकता है। क्योंकि नेमिचन्द्र और चामुण्डराय समकाल

के हैं और चामुण्डराय राचमल्ल के मत्री रहे है। राचमल्ल का समय वि० स० १०४१ तक का है। अतः इन नेमिचन्द्र के शिष्य माधवचन्द्र का समय वि० स० ११२५ मानना असगत है।"

इस सबधमे हमारा कहना यह है कि—बाहुबलि चरित्रमे गोम्मटेश की स्थापना का समय कल्कि स० ६०० लिखा है। जिसे प्रो० प० हीरालाल जी ने जैनशिलालेख सग्रह प्र० भाग की प्रस्तावना मे विक्रम स० १०८६ माना है। और गोम्मटेश्वर की स्थापना के समय चामुण्डराय और नेमिचन्द्राचार्य दोनो मौजूद थे ही। तथा द्रव्यसग्रह की टीका मे ब्रह्मदेव ने नेमिचन्द्र को धाराधीश राजा भोज के समय का लिखा है। यह राजाभोज विक्रम की ११वी सदी के चौथे चरण मे मौजूद थे ऐसा इतिहास से सिद्ध है। एव चामुण्डराय ने स्वरचित चारित्रसार मे अमितगति का पद्य उद्धृत किया है। इत्यादि हेतुओ से चामुण्डराय और नेमिचन्द्र का अस्तित्व विक्रम की ११वी सदी का चौथा चरण तक पाया जा सकता है। रही राचमल्ल की बात सो इस विषय मे प्रो० हीरालालजी ने उक्त शिलालेखसग्रह की प्रस्तावना मे जो लिखा है वह उन्ही के शब्दो मे पढियेगा—

"गोम्मटेश की प्रतिष्ठा राजा राचमल्ल के समय मे ही हुई ऐसा कोई शिलालेखीय प्रमाण नही है। केवल भुजबलिशतक मे ही ऐसा कथन है किन्तु उसका रचना समय ईसा की सोलहवी शताब्दी अनुमान किया जाता है। जिन अन्यग्रन्थो मे गोम्मटेश की प्रतिष्ठा का कथन है उनमे यह कही नही कहा गया कि यह कार्य राचमल्ल के जीते ही हुआ था। सन् १०२८ से पहिले के किसी भी शिलालेख मे इस प्रतिष्ठा का समाचार नही पाया जाता है।"

(२) दूसरी दलील आप की यह है कि—"शिलाहारवश के राजाभोज और सकलचन्द्र-मुनिचन्द्र शक स० ११२५ (विक्रम स० १२६०) के लगभग हुये है अतः यही समय माधवचन्द्र कृत क्षपणासार की समाप्ति का हो सकता है।"

इसका उत्तर यह है कि-एक सकलचन्द्र विक्रमस० ११२५ के करीब भी हुए है देखो शिलालेख न० ५० (जैनशिलालेखसग्रह प्र० भाग पृ० ७४) इसी तरह एक मुनिचन्द्र भी विक्रम स० ११२५ मे हुये हैं। देखो शिलालेख न० २०४ (जैनशिलालेखसग्रह द्वि० भाग पृ० २४६) सम्भव है क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द्र के द्वारा स्मृत सकलचन्द्र-मुनिचन्द्र भी ये ही हो। यह सभावना इसलिये भी ज्यादह ठीक प्रतीत होती है कि- माधवचन्द्र ने क्षपणासार की प्रशस्ति मे सकलचन्द्र के साथ नेमिचन्द्र सिद्धात चक्रवर्ती का भी स्मरण किया है। और नेमिचन्द्र के समय की सगति भी इन्ही सकलचन्द्र-मुनिचन्द्र के साथ बैठती है। आपके कथनानुसार विक्रम स० १२६० मे होने वाले सकलचन्द्र-मुनिचन्द्र के वक्त तो कोई नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती हुये ही नही। जैन इतिहास मे गोम्मटसार के कर्ता के अलावा उनके बाद अन्य भी कोई नेमिचन्द्र सिद्धातचक्री हुये हो ऐसा कोई उल्लेख देखने मे आया नही है। यह भी सोचने की चीज है कि—विक्रम स० १२६० के लगभग प० आशाधरजी हुये है तो क्या उनके वक्त नेमिचन्द्र-माधवचन्द्र आदि सिद्धात चक्रियो का अस्तित्व था ? एव शब्दार्णव-चन्द्रिका वृत्ति की प्रशस्ति मे सोमदेव ने भोजदेव का उल्लेख करते हुये शिलाहारवशी लिखकर यह व्यक्त किया है कि वह परमारवशी प्रसिद्ध राजा भोज से भिन्न है। उस तरह माधवचन्द्र ने क्षपणासार मे भोजराजा को शिलाहार

वशी नही लिखा है इससे यही अनुमान करना पडता है कि— इन माधवचन्द्र के वक्त तक शिलाहारवशी कोई राजा भोज हुआ ही न था। हुआ होता तो ये भी उसे शिलाहारवशी लिखे बिना नही रहते।

(३) तीसरी दलील आपकी यह है कि— "शक स० को विक्रम स० मानने से इतिहास मे वडी गडवडी पैदा होती है।" इसका उत्तर यह है कि गडवडी तो उस हालत मे पैदा हो सकतीहै जवकि किसी उल्लेखमे शकस० का प्रयोग विक्रम सवत् मे हुआ हो उसे हम शालिवाहन सवत् मानकर चलें। माधवचन्द्र ने त्रिलोकसार गाथा ८५० की टीकामे शकराज का अर्थ विक्रम किया है। इस लिये उनके मत के अनुसार क्षपणासार मे दिये हुये शक स को हमे विक्रम स० मानना चाहिये। ऐसा न मानने से ही इनके इतिहास मे गडबडी पडती है और इतिहास की कडी बैठाने को ऊटपटाग कल्पना करनी पडती है। अगर हस्तलिखित प्रतियो मे उक्त गाथा ८५० की टीका का प्रचलित पाठ सही रूप मे है और निश्चियत. वह माधवचन्द्र की कलम से लिखे अनुसार ही है तो उस समय मे होने वाले अभयनन्दि-वीरनन्दि-इद्रनन्दि-कनकनन्दि-नेमिचन्द्र आदि उद्भट आचार्यों का भी यही मत रहा होगा क्योकि अकेले माधवचन्द्र इन मान्य आचार्यो के मत से भिन्न कथन नही कर सक्ते हैं। और श्री माधवचन्द्रने कई गाथायें रचकर अपने गुरु नेमिचद्रकी सम्मति से त्रिलोकसार मे सामिल की है तो त्रिलोकसार की गाथा ८५० की टीका मे शक का अर्थ विक्रम भी माधवचद्र ने अपने गुरु की सम्मति या उनकी आम्नाय के अनुसार ही किया होगा। साथ ही माधवचद्र भी तो स्वय सिद्धातचक्रवर्ती थे। ऐसी अवस्था मे

सवत् की समस्या बहुत गम्भीर बन जाती है। इस सम्बन्ध मे और भी बाते विचारने की हैं। जैसे कि विक्रम सवत् का प्रारभ चैत्रशुक्ला एकम् को हुआ वही मिती शक सवत् के प्रारम्भ की कैसे हुई ? तथा धवलादि प्राचीन ग्रथो मे वीरनिर्वाण की काल गणना शक सवत् तक क्यो बताई ? उससे भी १३५ वर्ष पूर्व से चल रहे विक्रम सवत् तक क्यो नही बताई ? इत्यादि बातो को देखते हुये यही आभास होता है कि कही प्राचीन आचार्यो की दृष्टि मे शक सवत् ही विक्रम सवत् तो नही था ? क्या बाहुबली ही चामुण्डराय मत्री नही थे ?

(४) चौथी दलील आपकी यह है कि—"परमारवशी राजा भोज उत्तरप्रात मे हुआ है और गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्राचार्य दक्षिणप्रात मे। इसलिये इन नेमिचद्र के शिष्य माधवचद्र की सगति परमारवशी राजा भोज के साथ नही बैठाई जा सकती।" इसका उत्तर यह है कि—दक्षिणप्रात के मुनि उत्तरप्रातमे और उत्तरप्रातके मुनि दक्षिणप्रातमे पहिले भी आते जाते रहे है और अब भी आते जाते हैं। दक्षिणप्रात के मुनि श्री शातिसागर जी महाराज तो अभी २ बहुत अरसे तक उत्तरप्रात मे रहे है यह सर्वविदित है। और ऐसा कोई आचारशास्त्र का नियम भी नही है जिससे किसी एक प्रात के मुनि दूसरे प्रात मे न जा सके।

मैं आशा करता हू कि मेरे भाई प० परमानन्दजी साहब तटस्थ होकर इसपर पुन. गम्भीरता से विचार करने की कृपा करेंगे।

५३

उद्दिष्ट दोष मीमांसा

आज से करीब ६ मास पहिले मेरा एक लेख "साधुओ की आहारचर्या का समय" शीर्षक से जैनगजट के गत पर्यूं षणाक मे निकला था। उसे मैंने "आगमानुसार मुनियो का भोजन काल क्या होना चाहिये ?" इस ध्येय को लेकर लिखा था। और विद्वानो के विचारार्थ उसे जैन गजट मे प्रकाशित कराया था। मैं प्रतीक्षा मे था कि—कोई विद्वान् उस विषय मे लिखे। जैनगजटके ता० ६ और १६ मई के अङ्कमे ब्र०चादमलजीचूडीवाल ने "कटारियाजी का एक लेख" इस शीर्षक से लेख छपाया है। उसमे उन्होने इस विषय की चर्चा करने के पूर्व उद्दिष्ट दोष की विवेचना की है। इसका कारण यह है कि—हमने अपने लेख की आदि मे उत्थानिका के तौर पर मूलाचार का प्रमाण देकर यह दर्शाने का उद्यम किया था कि मुनियो की भिक्षा शुद्धि मे अन्य २ विधियो के साथ एक विधि यह भी है कि—भिक्षा यथाकाल प्राप्त की जावे। मूलाचार का जो प्रमाण हमने दिया था उसमे भिक्षा यथाकाल लेने के साथ २ अन्य वातें भी लिखी थी जैसे "भिक्षा प्रासुक हो। जिसके सम्पादन मे साधु का मन, वचन, काय और इन सम्बन्धी कृत-कारित-अनुमोदना का कुछ भी सम्पर्क न हो आदि। हमारे इस लिखने का चूडीवालजी ने यह फलितार्थ निकाला कि– मैंने (मिलापचन्दने) ऐसा लिखकर

यह अभिप्राय प्रगट किया है कि "वर्तमान के साधु सब उद्दिष्टादि दोषो से युक्त आहार ग्रहण करते है अत. उन्हे चेतावनी दी है अथवा जैनसमाज को यह चेतावनी दीहै कि–जो साधु उद्दिष्टादि दोप युक्त आहार ग्रहण करते है उन्हे साधु नही मानना चाहिये।"

यद्यपि उस वक्त उद्दिष्ट के विपय मे लिखने का मेरा रच मात्र भी विचार नही था। क्योकि वर्तमान के कतिपय जैनसाधुओ की आहारचर्या और उनको दिये जानेवाले आहारके तैयार करने मे होने वाले गृहस्थो के कारनामे प्राय सभी विचारवानो को खटकने जैसे है। अव आपने जो उद्दिष्ट के विषय मे अपने विचार प्रगट किये है वे भी मुझे आगमानुकूल नजर नही आते हैं। आपने जितना भी लिखा उसे देखने पर हमको यही आभास हुआ कि वर्तमान मे मुनियो की जैसी कुछ प्रवृत्ति चल रही है उसे ही श्रेष्ठ और शास्त्रोक्त सिद्ध करना। यही आप का ध्येय है। किन्तु आप इसमे पद-पद पर स्खलित होते चले गये है। यो तो आपने अनर्गल ढग से बहुत सारा लिखा है। नीचे हम उसका सारांश देते हुये समीक्षा लिखतेहैं–

(१) आपने लिखा उद्दिष्टादि दोष सूक्ष्म दोष है। प्रायश्चित्त के योग्य नही हैं।

समीक्षा

आपने आदि शब्द देकर उद्दिष्ट ही नहीं अन्य उद्‌गमादि सभी दोषों को सूक्ष्म दोष बता दिया है। और ये प्रायश्चित्त के योग्य नही ऐसा लिखकर तो बडा ही गजब किया है। इसके लिये आपने मूलाचार का प्रमाण दिया परन्तु ग्रथकार का

आशय सूक्ष्म दोष बताने का क्या हैं ? इसके समझने मे आपने भूल की है। मूलाचार मे अध कर्म नामक महादोष जिससे मुनित्व ही नही रहता उसका वर्णन करने के बाद उद्दिष्ट दोष का वर्णन करते हुये टीकाकार ने उसे सूक्ष्म दोष बताया है सूक्ष्म दोष बतानेका कारण स्वय टीकाकारने यह लिखाहै कि–"अध-कर्म. पार्श्वात् औद्देशिक सूक्ष्म दोषपरिहर्त्तुं कामः प्राह"

अर्थात् अध कर्म नामक महादोप के पास मे औद्देशिक दोष सूक्ष्म है ? यानी अध कर्म जैसे महादोष के सामने यह दोष हलका है ऐमा इसका तात्पर्य है। इसका मतलब यह नही है कि वह मुनियो के लिये उपेक्षणीय समझकर प्रायश्चित्त के अयोग्य ही मान लिया जाय। आशीविष सर्प से अन्य सर्प कम विषैले होते है ऐसा कहने का यह मतलब नही है कि—उन अन्य सर्पों से न बचा जाये। जब ११वी प्रतिमाधारी श्रावक के लिये ही उद्दिष्ट दोष का टालना जरूरी बताया है तो इसी से समझ लीजिये कि वह मुनियो के लिये कितना बडा दोष हो सकता है और इसीलिए टीकाकार ने 'परिहर्त्तु काम' पद देकर इसे टालने के लिये स्पष्ट निर्देश किया है। उद्दिष्टदोष १६ उद्गमादि दोषो मे आद्य और प्रमुख है क्योकि बाकी के १५ दोष भी मुनि के उद्देश्य से ही बनते है अत वे सब भी एक तरह से उद्दिष्ट दोष के ही अङ्ग हैं ऐसी हालत मे उद्दिष्ट दोष को मामूली-उपेक्षणीय दोष बताना अयुक्त है卐 मुनियो के २८

卐 मूलाचार अ० ६ गाथा ४२ की टीका मे लिखा है कि—उद्गमोत्पादनादि अध कर्म के अश = हिस्से होने से परित्याज्य हैं। इन दोनो को अध कर्म (मुनित्व नाशक) के ही भाग बताये हैं अत. ये सब

मूलगुणो के अन्तर्गत ५ समितियो के नाम आते हैं। उद्दिष्टादि दोष सहित आहार लेने वाले साधु के एषणा समिति का पालन नही होने से मूलगुण का घात होता है। मूलाचार के प्रथम अधिकार मे एषणा समिति का स्वरूप इसप्रकार बताया है—

छादाल दोससुद्धं कारणजुत्तं बिसुद्धणवकोडी।
सीदादीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणा समिदी ॥१३॥

अर्थ—जो आहार ४६ दोषो से रहित हो, और मन, वचन, काय, कृत कारित आदि नवकोटि से शुद्ध हो ऐसे आहार को कारणवश से लेना। तथा वह ठण्डा, गरम, रस, नीरस, रुक्ष कैसा भी हो उसके लेने मे समभाव रखना रागद्वेष नही करना इसे निर्मल एषणा समिति कहते है—

इसलिये भोजन मे उद्दिष्टादि दोषोका टालना मुनियोके लिये अत्यन्त आवश्यक है। आपके कथनानुसार ये नगण्य होते तो एषणासमिति नामक मूलगुण मे इनको टालने का आदेश

भी अध कर्म के ही उत्पादक हैं अत प्रखर दोष हैं इन दोषो से बचकर नही चलने वाला सीधा अध कर्म रूपी महागर्त्त मे गिरता है। उद्दिष्ट दोष से त्रस स्थावरो के पाप की अनुमोदना होती है अत यह त्याज्य ही है। महापुराण पर्व ३४ श्लोक १९९ मे बताया है कि उद्दिष्टादि दोष दूषित आहार को चाहे प्राण चले जायें वे मुनि ग्रहण नही करते थे।

शंकिताभिहृत दिद्दष्ट क्रयक्रीतादि लक्षण।
सूत्रे निषिद्ध माहार नैच्छन्प्राणात्ययेऽपि ते ॥१९९॥

नही दिया जाता। इन दोपो की अवहेलना करने का अर्थ है एपणा समिति का पालन नही करना। अर्थात् मूलगुण का घात करना। "नष्टे मूले कुत शाखा" जब मूलगुण ही नही तो साधु का अन्य आचार सब निरर्थक है। जैसा कि मूलाचार के समयसाराधिकार मे कहा है—

मूलं छित्ता समणे जो गिण्हादी य बाहिर जोगं।
बाहिर जोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्सति ॥२७॥

अथ—जो साधु मूलगुणो का विघात करके वृक्षमूलादि अन्य बाह्य योगो को साधता है। उस मूलघाती के वे बाह्ययोग किसी काम के नही है।

पुन कहा है—

वदसीलगुणा जम्हा भिक्खा चरिया विशुद्धिएठति।
तम्हा भिक्खाचरियं सोहिय साहू सदा विहारिज्जा ॥११२॥
भिक्खं वक्कं हृदयं सोधिय जो चरदि णिच्चसो साहू।
एसो सुटिठसाद्ध भणिओ जिणसासणे भयवं ॥११३॥

अर्थ—भिक्षा शुद्धि के होने पर ही व्रत शीलादि गुण तिष्ठते हैं। इसलिये साधु को सदा भिक्षाचर्या को शोधकर चलना चाहिये। टीकामे लिखा है कि—भिक्षाचर्या शुद्धिश्च प्रधान चारित्र सर्वशास्त्रसारभूतमिति।" भिक्षा की शुद्धि यह एक प्रधान चारित्र है और सकल शास्त्रो की सारभूत है ॥११२॥

जो साधु नित्य भिक्षा, वचन, और हृदय को शोधकर विचरता है। उसी को भगवान् ने जिन शासन मे श्रेष्ठ साधु माना है ॥११३॥

इन उद्धरणोसे सहज ही जाना जा सकताहै कि—जैन धर्मके आचार शास्त्रो मे भिक्षा शुद्धि के लिये उद्दिष्टादि दोषो के टालने को कितना महत्व दिया गया है। जिसे कि आप मामूली सनझते है। भिक्षा शुद्धि को अचौर्य व्रत की भावनाओ मे भी गिनाया है। अत' उसकी अवहेलना से महाव्रत के घात का भी प्रसग आता है। इसके सिवा मूलाचार अधिकार १० गाथा १८ मे अचेलकादि दस प्रकार का श्रमणकल्प बताया है उसमे दूसरे नम्बर पर अनौद्देशिक भेद भी बताया है ये श्रमणो के लिंग= चिह्न बतायेहैं इससे सिद्धहै कि—बिना उद्दिष्टादि त्यागके मुनित्व ही नही और इसीलिये उद्दिष्ट दोष को ४६ दोषो मे प्रथम स्थान दिया है। आचार्य ने जगह-जगह इन दोषो से बचते रहने का निर्देश किया है देखो मूलाचार अ० ६ गाथा ४६। अध्याय १० गाथा १६, २५, २६, ४०, ५२, ६३, ११२, १२२। अध्याय ५ गाथा २१०-२१८। अध्याय ६ गाथा ७-८ आदि। इस तरह जब ये दोष ही नही, किन्तु महाव्रतादि मूल गुणो के घातक प्रखर दोष सिद्ध होते है तब ये अवश्य प्रायश्चित के योग्य हैं क्योकि प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ ही यह है कि—प्राय यानी दोषो का चित्त यानी शुद्धीकरण। एक तरफ तो इन्हे दोष भी मानना और दूसरी तरफ प्रायश्चित्त के अयोग्य भी कहना यह परस्पर विरुद्धता है। किसी भी आचार्य ने इन्हे प्रायश्चित्त के अयोग्य नही बताया है क्या कोई दोष भी अङ्गीकार के लिए होते है? जब अङ्गीकार के लिए नही होते तो स्वत ही ये दोष प्रायश्चित्त के योग्य सिद्ध होते हैं। जितने असख्य विकृत परिणाम है, उतने ही प्रायश्चित्त भी होते हैं।

आपने जो उद्दिष्टादि दोषो को जान लेने पर भी उसकी शुद्धि प्रतिक्रमण से ही होजाना लिखा है वह भी मन कल्पित है,

प्रतिक्रमण कोई जादू का डण्डा नही है जो जानबूझकर निर्भय हो रोज दोष करते जाये, फिर भी उसके (मिच्छामि दुक्कड) पाठ मात्र से दोष दूर हो जाये । प्रतिक्रमण तो दोष लगो चाहे न लगो करना ही पडता है वह तो नित्यनैमित्तिक क्रिया है (देखो मूलाचार अ० ६ गाथा ६१)। दोषो का प्रायश्चित्त आलोचन करके भी पुन: उन्हे करने वाले साधु के अध कर्म बताया है और इहलोक परलोक की हानि बताई गई है (देखो मूलाचार अ० १० गाथा ३६)।

(२) आपने लिखा—वसतिका, पीछी, कमण्डलु आदि मुनियो के उद्देश्य से ही बनते हैं अत मुनियो के उद्देश्य से आहारादि के बनने मे कोई उद्दिष्ट दोष नही है। उद्दिष्ट का त्यागी मुनि होता है, श्रावक नही।

समीक्षा

आहारादि के बनाने मे मुनि का कोई योगदान हो इसे शायद आप उद्दिष्ट समझते हैं और इसी अभिप्राय से आप लिखते हैं कि—"उद्दिष्ट का त्यागी मुनि होता है श्रावक नही।" परन्तु उद्दिष्ट का यह लक्षण नही है। आहारादि के बननेमे मुनिका अनुमति आदि कोई भी सम्पर्क हो तो वह अध कर्म दोष कहलाता है। यह दोष उद्दिष्टादि ४६ दोषो से अलग है। और वह मुनित्व का घातक महान् दोष है। आहारादि के बनाने मे पचसूना के द्वारा छह काय के जीवो की विराधना होना अध. कर्म कहलाता है।* ऐसा कार्य गृहस्थ ही करता है।

---

* जिस रसोई के बनाने मे त्रस जीवों का घात हो उसे आपने अध कर्म कहा है। यह परिभाषा आपकी मनघढ़न्त है।

अगर ऐसा कार्य मन, वचन, काय, कारित, कृत, अनुमोदना से मुनि करे तो उसके अध कर्म दोष लगता है। इसको ही नवकोटि दोप कहते है। (देखो आचारसार अ० ८, श्लोक १६) उद्दिष्ट दोप इससे जुदा है। उसकी गणना ६ उद्गम दोषों मे की है। उद्गमादि मिला कर कुल ४६ दोप होते हैं। नवकोटि की अशुद्धि यह ४६ दोपो से अलग है। मूलाचार मे एषणा समिति का स्वरूप बताते हुए गाथा मे ४६ दोष और नवकोटि की अशुद्धि दोनो टालने का उपदेश दिया है। (यह गाथा प्रस्तुत लेख मे ऊपर उद्धृत की जा चुकी है) इससे सिद्ध होता है कि ४६ दोपो मे वर्णित उद्दिष्ट दोप और नवकोटि दोनो भिन्न २ हैं। इससे यही फलितार्थ निकलता है कि आहारादि के बनाने मे मुनि का अनुमति आदि कुछ भी सम्पर्क होना उद्दिष्ट दोष नही है। वैसा करना तो अध कर्म दोष होता है। तो फिर उद्दिष्ट दोप कौनसा है ? उसका स्वरूप निम्न प्रकार से बताया गया है —

मूलाचार पिण्ड शुद्धि अधिकार गाथा ६-७ मे जैन निर्ग्रंथ मुनियो को उद्देश्यकर यानी उनके निमित्त से बनाये गये आहार को उद्दिष्ट आहार माना है। उसको ग्रहण करने वाले मुनि के उद्दिष्ट दोष लगता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा सस्कृत टीका के पृष्ठ २८५ मे उद्दिष्ट की व्याख्या ऐसी की है—"पात्र-मुद्दिश्य निर्मापित· उद्दिष्ट·।" पात्र के उद्देश्य से बनाया उद्दिष्ट है।

इसका मतलब यह हुआ कि जिस आहार के बनाने मे मुनि का मन, वचन, काय, कृत, कारित अनुमोदना सम्बन्धी चाहे कुछ भी लगाव न हो, उसको श्रावक ने अपनी ही इच्छा

से मुनियो के निमित्त बनाया है तो ऐसा आहार भी उद्दिष्ट दोप से दूषित माना जाता है और वह मुनियो के लिए त्याज्य होता है। कोई कहे—सभी मुनि मन पर्यय ज्ञानी तो होते नही, उनको क्या मालूम कि दाता ने हमारे निमित्त से आहार बनाया है या नही बनाया है ? इसका उत्तर यह है कि एक यही नही दोप तो सभी प्राय मालूम होने पर ही लगते है। मालूम होने पर भी आहार को न त्यागे तभी दोप लगता है। यह नही कि आम लोगो के सामने यह स्पष्ट होते हुए भी कि – अमुक चौके मुनियो के निमित्त से ही बनते और खुद मुनि भी अपने मनमे ऐसा ही जान रहे है फिर भी वे मुनि उसमे जीमते रहे और ऊपर से यह कहते रहे कि हमको क्या पता कि ये हमारे लिए बनाते हैं तो यह तो अपने को निर्दोपी बताने का ढोग है। फल तो भावो का लगेगा। तथा अन्य निर्वाध हेतुओ से भोजन की उद्दिष्टता आदि स्पष्ट होते हुए भी नवधाभक्ति मे दाता के यह कह देने मात्र से कि—"भोजन शुद्ध है।" उसे शुद्ध मान लेना यह भी दोपो के परिहार का मार्ग नही है।

मूलाचार पिण्ड शुद्धि अधिकार की गाथा ८ मे लिखा है कि—"कोई श्रावक मुनि को देख कर उन्हे आहार देने के लिए अपने बनते हुए आहार मे और भी जल तन्दुल आदि डालकर आहार को बढालें तो वह अध्यधि नामक दोप होता है।

इस कथन से और भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक मुनियो के उद्देश्य से आहारादि बनावे तो वह सदोप आहार है। जिसका परित्याग मुनियो को करना पडता है कोई कहे—दोप तो यहाँ श्रावक ने किया, मुनि ने तो किया नही। इसका उत्तर यह है कि कोई भी करो आहार तो सदोष हो

गया। सदोष आहार को लेना मुनि के लिये निषिद्ध है। यदि ये दोष गृहस्थो तक ही सीमित होते तो एषणा समिति मे इन को टालने का उपदेश मुनियो को क्यो दिया जाता? एक उद्दिष्ट ही नही बाकी के १५ उद्गम दोष भी तो श्रावक द्वारा लगते है तो क्या वे भी मुनियों के त्यागने योग्य नही हैं? अन्तराय भी तो परकृत होते है फिर उन्हे भी नही टालना चाहिए? किन्तु ऐसी बात नही, परकृत होने पर भी दोष तो उन्हे ही लगता है जो इनका उपभोग करते है। जिस तरह विष का उपभोग करने वाले को ही मरण-दुख उठाना पड़ता है उसके बनाने वाले को नही। दोषो का करना गृहस्थ के ऊपर है तो उन्हे टालकर चलना तो साधु के हाथ मे है अगर अपने अधिकार की बात मे भी साधु प्रमाद करता है तो उसका दण्ड साधु को ही भुगतना पडेगा। ★ पद्मपुराण पर्व ४ श्लोक ९१ आदि मे लिखा है कि—

भरतजी मुनि के अर्थ बनाया भोजन लेकर समवशरण मे गये और वहां मुनियो को जीमने के लिये प्रार्थना करने लगे।

★ मुनिधर्म प्रदीप (कुन्थुसागर कृत सस्कृत ग्रथ) पृ० ४४-४५ मे एषणा समिति के वर्णन मे प० वर्धमानजी शास्त्री ने भावार्थ मे अध कर्म और औद्देषिक दोष के लिए इस प्रकार लिखा है जो गृहस्थ अनेक जीवो की विराधना करने वाली जीविका करते हैं उनके यहाँ आहार लेना अध कर्म दोष है। यह दोष पिण्ड शुद्धि को सबसे अधिक नाश करने वाला है॥ किसी देवता वा किसी दीन-दरिद्री के लिए बनाया हुआ आहार ग्रहण करना वा देना औद्देशिक दोष है। (मूलाचार से बिल्कुल विरुद्ध कथन हैं और आपत्तिजनक हैं)

तब भ० ऋषभदेव ने कहा "भरत! मुनि उनके लिये बनाया उद्दिष्ट भोजन कभी ग्रहण नही करते और न यह आहार-दान की रीति है कि तुम भोजन यहाँ लेकर आगये"

इससे भी स्पष्ट है कि—मुनि के निमित्त बनाया भोजन उद्दिष्ट है।

मूलाचार के उसी अधिकार मे लिखा और भी देखिये—

जह मच्छयाण पयदे मदणुदये मच्छया हि मज्जंति।
णहि मंडूगा एवं परट्ठकदे जदि विसुद्धो ॥६७॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई मच्छियो को पकडने के लिये जल मे ऐसी चीज डाल देता है जिससे मच्छियाँ गाफिल हो जावे तो उस मद-जल से मच्छियाँ ही गाफिल होगी वहा रहने वाले मेढक नही। उसी तरह जो भोजन जिन गृहस्थ कुटुम्बियो के निमित्त से बना है उससे उन्ही को दोप लगता है। मुनि के निमित्त नही बनने से उसको लेने मे मुनि को कोई दोष नही लगता है।

इस उदाहरण से भी ग्रन्थकार का आशय यही प्रगट होता है कि—मुनियो के निमित्त से आहार नही बनना चाहिये। अगर उनके निमित्त से बनेगा तो उसका दोप भी वह आहार ग्रहण करने पर इन मुनियो को ही लगेगा।

जो आपतियाँ मुनियो के उद्देश्य को लेकर बनने वाले आहार मे उठती है वे ही सब आपत्तियाँ मुनियो के उद्देश्य से बनने वाले वसतिका-उपकरणादि मे भी उठती हैं इसलिये मुनियो के लिये वसतिकादि भी उद्गमादि ४६ दोषो से रहित

ही ग्रहण योग्य मानी है। प्रमाण के लिये देखिये—

मूलाचार समयसाराधिकार मे लिखा है कि—

पिंडं सेज्जं उवधिं उग्गम उप्पायणे सणादीहिं।
चारित्तरक्खणट्ठं सोधणयं होदि सुचरितं ॥१६॥

अर्थ– जो मुनि चारित्र रक्षा के लिये भिक्षा, वसतिका, उपकरणादि को उद्‌गम-उत्पादन-एषणादि दोषो से शोधता हुआ उपभोग करता है वह उत्तम चरित्रवान् होता है।

पिंडो वधि सेज्जाओ, अविसाधिय जो य भुंजदे समणो।
मूलट्ठाण पत्तो, भुवणेसु हवे समण पोल्लो ॥२५॥
तस्स न सुज्झइ चरियं, तव संजम णिच्चकाल परिहीण।
आवासय ण सुज्झइ चिरपव्वइयो वि जइ होइ ॥२६॥

(**अर्थ**—जो श्रमण, भिक्षा उपकरण वसतिकादि को बिना परिशुद्ध किये उपभोग करता है वह गार्हस्थ्य को प्राप्त होता है, और तुच्छ निंदित श्रमण कहलाता है। उसके सब तप सयम आवश्यक कर्मादि सदा अशुद्ध ही रहते हैं चाहे चिर दीक्षित साधु ही क्यो न हो)

ऐसा ही भगवती आराधना की गाथा ११९७ मे लिखा है। १६ उद्‌गम, १६ उत्पादन, और १४ एषणा ये ४६ दोष है जो आहार सम्बन्धी माने जाते है। ये ही ४६ दोष वसतिका सम्बन्धी भी होते हैं। वे वसतिका मे किस तरह घटित होते है ऐसा विवेचन भगवती आराधना की गाथा २३० की विजयादया टीका और आशाधरजी कृत मूलाराधना टीका इनदोनो टीकाओ

मे किया है। भट्टारक शुभचन्द्र ने भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ४४६ की टीका मे वह प्रकरण विजयोदया टीका से उद्धृत किया है। उसका कुछ नमूना हम यहा हिन्दी मे लिख देते हैं—

"जो मुनि छह काय के जीवो की विराधना करके कारीगर से खुद वसतिका बनाता है या दूसरो के मारफत कारीगर से बनवाता है। वह अधःकर्म से दूषित वसतिका समझनी चाहिये। जितने दीन अनाथ व अन्य तापसी आयेगे अथवा निर्ग्रंथ मुनि आयेंगे उन सब के लिये यह वसतिका होगी इस उद्देश्य से श्रावक द्वारा बनाई गई वसतिका उद्दिष्ट दोष युक्त होती है। अपने लिये घर बनाते समय "यह कोठरी साधुओ के लिये होगी ऐसे खयाल से श्रावक द्वारा बनवाई गई वसतिका अध्यधि दोषयुक्त होती है।" इत्यादि

प० आशाधरजी ने भी सागारधर्मामृत अध्याय ५ श्लोक ४३ मे अतिथि के लिये आहार, औषध, आवास-पुस्तक-पीछी आदि को ४६ दोषो से रहित देने को कहा है।

आपने लिखा 'पीछी, कमडलु गरम पानी आदि वस्तुयें गृहस्थो के उपयोग मे नही आती वे तो मुनियो के निमित्त ही तैयार करनी पडती हैं।" इसका उत्तर यह है कि— पीछी कमडलु का उपयोग व्रती श्रावक प्रोषधोपवास मे करता है। और सचित्त त्यागी श्रावक गरम पानी को काम मे लेत है। गरम पानी तो गृहस्थ के यहा अन्य भी कई काम के वास्ते बनता रहता है। अत ये लोग इन वस्तुओ को अपने लिये य अन्य साधर्मी व्रती श्रावको के काम मे आने के लिए तैयार रखते है उन्ही मे से मुनियो को दे देते है। सर्दी, गरमी, बरसात

मे प्रोपधोपवास और सामायिक करने वाले श्रावक आराम से व्रत पाल सके इस खयाल से गृहस्थ निर्जन एकात स्थान मे वसतिकाये भी वनवाते थे। उनमे मुनियो को ठहराते थे। वैसे मुनि तो शून्यागार, विमोचितावास श्मशान गिरिकदरादि मे भी निवास करते है। इस तरह इन सव के ग्रहण करने मे भी मुनियो के उद्दिष्ट दोप आने की सम्भावना नही रहती है।

आपने लिखा—"कोनूर मे एक समय ७०० मुनि आये उन्हे वाधा होने पर राजा ने उसी समय ७०० गुफायें वनवाकर मुनियो की वाधा दूर की"। इस पर हम पूछना चाहते हैं कि-राजा भोज के पास क्या कोई जादू था जो उसने तत्काल एक दो नही किन्तु सात सौ गुफाये वनवा दी और अगर जादू नहीं था तो जव तक गुफायें वनने मे वर्ष महीने लगे तव तक क्या मुनि खडे ही रहे ?। इस तरह आपने अपने इस कथन से दि० मुनिचर्या (सिंह वृत्ति) का एक तरह से उपहास ही किया है।

आगे आप फिर इसी तरह लिखते है कि-तेरदालग्राम मे हजारो मुनियो के निमित्त तत्काल हजारो वसतिकाये वनवाई गई थी आदि" उत्तर मे निवेदन है कि हमे यह नहीं देखना है कि अमुक ने यह किया, वह किया। हमको तो मुख्यत यह देखना है कि "शास्त्राज्ञा क्या है ?" क्योंकि अविवेक-अज्ञान और शिथिलाचार कोई आज ही नया पैदा नही हुआ है यह तो अनादि से चल रहा है अत किसी हीन उदाहरण (नजीर) को विधेय नही माना जा सकता विधेय तो शास्त्र-समत क्रिया को ही माना जायगा।

(३) आपने लिखा— श्रावक अपने लिये आहार बनाकर उसमे से मुनि को देवे यह भी उद्दिष्ट ही है। उद्दिष्ट का

अर्थ ही यह है कि जो किसी के भी उद्देश्य से बनाया जावे।

समीक्षा

धन्य है महाराज आपकी अद्भुत सूझ को। खेद है कि शास्त्रो मे आपकी सूझ से प्रतिकूल लिखा मिलता है। देखिये—अमितगति श्रावकाचार का यह पद्य—

परिकल्प्य सविभागं स्व निमित्त कृताशनौषधा दीनाम्।
भोक्तव्य सागारैरतिथिव्रत पालिभि नित्यम् ॥८४॥
[अध्या० ६]

अर्थ—अतिथि सविभाग व्रत के पालन करने वाले गृहस्थ श्रावकोको अपने खुद के निमित्त बनाये हुये भोजन औषधादि मे से सम्यक् विभाग को अतिथि के लिये देकर नित्य भोजन करना चाहिये। स्पष्टत ऐसी ही पुरुषार्थ सिद्धपाय श्लो० १७४ मे है। एव इसी तरह का कथन प० आशाधरजी ने भी सागारधर्मामृत अध्याय ५ श्लोक ४१—५१ मे किया है। श्लोक-४१ की टीका मे "अतिथि सविभाग" वाक्य की व्याख्या करते हुये वे लिखते हैं कि—

"अतिथे सम्यक् निर्दोपो विभाग
स्वार्थ कृत भक्ताद्य ण दानरूप ।"

इसमे भी "दाता अपने खुद के लिये बनाये आहारादि मे से शुद्ध अश अतिथि को देवे।" ऐसा लिखा है।

अब चूडीवालजी बतावें कि हम आपकी बात माने या शास्त्रकारो की ? आपने अपने कथन की पुष्टि मे वीरनन्दि कृत आचारसार का यह प्रमाण दिया है —

यत्स्वमुद्दिश्य निष्पन्नमन्नमुद्दिष्ट मुच्यते ।
अथवा यमि पाखडि दुवलानखिलानपि ॥२१॥
[अध्या० ८]

अर्थ—यह खास मेरे ही लिये वनाया है ऐसा मुनि को मालूम हो जाये तो वह अन्न उद्दिष्ट कहलाता है। अथवा सभी जैन साधु अन्य साधु व गरीवो के लिये वनाया अन्न भी उद्दिष्ट कहलाता है।

इस श्लोक मे आये "यत्स्वमुद्दिश्य" का अर्थ आपने गृहस्थ के खुद के अर्थ वना आहार उद्दिष्ट है ऐसा किया है। ऐसा उत्सूत्र अर्थ करने वालो को हम क्या कहे ? हम तो इसे कलिकाल का ही प्रभाव समझते है। आपका किया अर्थ अन्य किसी भी शास्त्र से मिलता नही है और न किसी प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थकार ने ही ऐसा अर्थ किया है क्योकि आचारसार ग्रन्थ मुनियो का है अत वहाँ 'स्व' का अर्थ मुनि से ही है। वही आगे के श्लोक न० २२ मे तो इसे बिल्कुल स्पष्ट ही कर दिया है देखिये—

" शुद्धमप्यन्न मात्मार्थं कृत सेव्य न सयतै "

(शुद्ध भोजन भी अगर वह अपने लिए बनाया गया है तो मुनि उसका सेवन नही करे) हमारे इसी अर्थ का समर्थन ऊपर लिखे अमितगति और आशाधर के उद्धरणो से भी होता है आप तो कहते है गृहस्थ अपने निमित्त बना आहार मुनि को दे तो वह उद्दिष्ट दोष है। उधर शुभचन्द्र कार्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका (पृ० २८५) मे लिखते हैं कि—'पात्रमुद्देश्य निर्मापित. उद्दिष्ट ।" पात्र के निमित्त से बना आहार

उद्दिष्ट है। इसका मतलब हुआ गृहस्थ अपने निमित्त बना आहार मुनि को दे तो उसमे उद्दिष्ट दोष नही है। कहिये चूडीवालजी आपका कथन प्रमाण माना जाये या शुभचन्द्र आदिका। राजा श्रेयास ने भगवान् को आहार दिया था उस वक्त मुनिदान की प्रवृत्ति न हुई थी। वह आहार श्रेयाम के कुटुम्व के लिए ही बना बनाया तैयार रखा था उसे भगवान् ने लिया तो आपके सिद्धातानुसार क्या भगवान् ने उद्दिष्ट आहार लिया ?

आपने लिखा—"कुन्दकुन्द स्वामी की गिरनारजी की यात्रा मे सहस्रो श्रावक गाडी घोडे डेरा तम्वू सहित साथ मे गये थे रास्ते मे साधुओ को दान देने के लिए चौके भी बनते थे। उन चौको मे साधु आहार भी लेते थे।" ऐसा लिखकर आपने यह अभिप्राय प्रगट किया है कि यह सव आडम्वर मुनियो के निमित्त से ही हुआ था। उत्तर मे हमारा लिखना है कि-इस प्रकार का वर्णन कहा किसने कैमा लिखा है ? सो तो आपने वताया नही बताते तो हम उसकी प्रामाणिकता पर विचार करते। ऐसा सुनते हैं कि–कुन्दकुन्दाचार्य सघ सहित गिरनारजी गए थे वहा श्वेताबरो से विवाद हुआ (देखो वृन्दावनजी कृत-गुरुदेवस्तुति सघ सहित श्रीकुन्दकुन्दगुरु, वदन हेत गए गिरनार।) उस विवाद मे उन्होने पाषाण की बनी सरस्वती की मूर्ति मे से ये शब्द बुलवाए कि—"सत्यमार्ग दिगम्बरो का है।" इस घटना का उल्लेख शुभचन्द्र ने भी पाडव पुराण मे इस प्रकार किया है—

कुन्दकुन्दो गणी येनोर्जयंत गिरिमस्तके।
सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाण घटिता कलौ ॥१४॥

[प्रथमपर्वं]

अर्थ—जिन्होने इस पचमकाल मे गिरनारपर्वत के शिखर पर पाषाण निर्मित सरस्वती देवी को बुलवाया वे कुन्दकुन्दाचार्य मेरी रक्षा करें।

शास्त्रो मे "चतुर्विधाना श्रमणाना गण सघ." ऋषि,—मुनि यति अनगार ऐसे चार प्रकार के मुनियो का समुदाय सघ कहलाता है—ऐसी सघ शब्द की व्याख्या मिलती है। आचार्य कुन्दकुन्द भी इन चार प्रकार के मुनि सघ के साथ गिरनारजी गए होगे। विष्णु कुमार मुनि की कथा मे भी अकपनाचार्य सात सौ मुनियो के सघ सहित उज्जयिनी मे आए थे ऐसा तो लिखा है पर यह नही लिखा कि—हजारो श्रावक गाडी घोडे डेरा तम्बू उनके साथ थे। अन्य भी मुनिसघ की कथाओ मे ऐसा वर्णन नही आता है।

हा अलबत्ता ऐसा हो सकता है कि नन्दिसघ की गुर्वाबली मे कुन्दकुन्द की उपर्युक्त घटना का सम्बन्ध भट्टारक पद्मनन्दि के साथ लिखा है। कुन्दकुन्द का अपर नाम पद्मनन्दि भी है। अत भ्रम से पद्मनन्दि की घटना को कुन्दकुन्द के साथ लगादी है। पाषाण की बनी सरस्वती को बलात् बुलाने से ही वे भट्टारक पद्मनन्दी शायद सरस्वती गच्छ के कहलाते हैं। इस नामका गच्छ कुन्दकुन्द के वक्त नही था। इन पद्मनन्दी का समय उक्त गुर्वावली मे विक्रम स० १३८५ से १४५० लिखा है। चू कि ये भट्टारक थे इसलिए गाडी घोडे डेरा तम्बू आदि की सम्भावना भी इनके साथ तो हो सकती है। परन्तु कुन्दकुन्द के साथ नही। *

---

* कुन्दकुन्दाचार्य के तो चारणऋद्धि थी जिससे वे विदेह क्षेत्र मे सीमधरस्वामी के समवशरण मे गये थे। अत. ऋद्धि के बल से ही वे

और यह कुन्दकुन्द का उदाहरण जो आपने दिया वह तो आपके मतव्य के विरुद्ध पडता है। वह इस तरह कि वे श्रावक अपने किसी काम के निमित्त साथ मे गए थे या मुनियो के काम के निमित्त ? दोनो ही हालतो मे उद्दिदष्ट होता है। क्योकि आपने उद्दिदष्टका लक्षण ही यह माना है कि—जो किसी के भी उद्देश्य से हो। अर्थात् आप एक तरफ तो यह कहते है कि—श्रावक अपने खुद के निमित्त बनावे तो वह भी उद्दिदष्ट और मुनियो के निमित्त बनावे तो वह भी उद्दिदष्ट। दूसरी तरफ कहते हैं—गरम पानी, वसतिका, पीछी, कमण्डलु आदि तो मुनियो के उद्देश्य से ही बनते हैं। आपके इन परस्पर विरोधी वचनो से आप डावाडोल से नजर आते हैं।

(शास्त्र-विरुद्ध और मन कल्पित अर्थ करने वालो की यही स्थिति होती है)

जब श्रावक अपने निमित्त भी नही बनायेगा और मुनियो के निमित्त भी नही बनायेगा तो उसके यहा आहारादि सब बिना उद्देश्य के ही बनते रहेगे क्या। "प्रयोजनमनुद्दिश्य मदो पि न प्रवर्तते।" बिना प्रयोजन के तो मूर्ख भी काम नही करता है। श्रावक के घर मे कोई सचित्त त्यागी होगा तो उसके उद्देश्य से उसके लायक आहार नही बनेगा क्या ? और वह उसमे से मुनि को दान नही दे सकता है क्या ?

आपने लिखा - "आर्यिका के लिए साडी, क्षुल्लको के लिये लगी आदि वस्त्रो की व्यवस्था श्रावक खास पात्रो के लिए

क्षणभर मे गिरनारजी गये होगे। उन जैसे महर्षि के लिए यह कहनाकि—गिरनार यात्रा में गाडी घोडे तम्बू डेरे आदि लेकर उनके साथ श्रावक गए थे, यह उन महर्षि का अवर्णवाद है।

ही करता है।" उत्तर—

तो हम क्या करे ? यह सब दूषित मार्ग है। शास्त्रो मे तो इसे भी उद्दिष्ट दोष ही माना है। प्रमाण के लिये चारित्रसार का यह उल्लेख देखिये—

"उद्दिष्ट विनिवृत्तः स्वोद्दिष्ट पिंडोपधिशयन-
—वसनादेर्विरत.।"

अर्थ—अपने निमित्त (पात्र के निमित्त) बनाए हुए भोजन, उपधि, शय्या वस्त्रादि का त्याग उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है।

इसका अर्थ यह नही कि इस काम मे तो उद्दिष्ट दोष निश्चयत, आवेगा ही। यह काम भी उद्दिष्ट दोष से बचकर किया जा सकता है। गृहस्थ के यहा अपने खुद के उपभोग के लिए कपडो के थान पडे रहते हैं उनमे से फाडकर साडो लगोट चादर दिये जाने मे कोई उद्दिष्ट दोष नही आता है। ये तो सिले हुए भी नही होते है जिससे कि उद्दिष्टकी सम्भावना की जा सके। मतलब कि जो कोई उद्दिष्ट को दोष माने और उस दोष को बचाकर पात्र दान करना चाहे तो उसके लिए कई रास्ते निकल सकते हैं। इसमे असम्भव कुछ भी नही है। पात्रदान के अभिलाषी श्रावको को निर्दोष दान करने के साधन जुटाने मे कोई मुश्किल नही है। बशर्ते कि वे दोषो को टालना अनिवार्य समझ ले तो।

प्रश्न—आज के वक्त मे कोई मुनि तीर्थयात्रा करने को निकले और रास्ते मे श्रावक लोग उनके साथ चलकर उनकी आहार की व्यवस्था न करे तो मुनियो की तीर्थयात्रा ही नही

हो सकती है। क्योकि रास्ते मे ऐसे भी स्थान आते हैं जहाँ दूर-दूर तक जैनियो की वस्ती ही नही है ऐसे स्थानो मे साथ मे श्रावको के चौके न हो तो कैसे काम चल सकता है ?

उत्तर—श्रावक लोग साथ मे जावे और मुनियो को आहार दान भी देवे तव भी उद्दिष्ट दोष से वचा जा सकता है। सिर्फ परिणामो के वदलने की जरूरत है। वध मोक्ष की आधारशिला परिणाम ही तो है। श्रावाक लोग इस खयाल को लेकर साथ मे क्यो जावे कि "मुनियो को तीर्थ तक सकुशल पहुँचाने के लिए रास्ते मे उनके वास्ते आहार वनाकर उनको देते जायेगे।" किन्तु इस खयाल को लेकर साथ मे जाना चाहिए कि—हमको भी तीर्थ यात्रा करना है। यह अच्छा हुआ जो मुनियो का साथ मिला। मुनियो का धर्मोपदेश सुनने का यह एक उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है। इन मुनियो के प्रसग से तीर्थयात्रा का सव समय धर्म ध्यान मे व्यतीत होगा। इस प्रकार के खयाल रखकर साथ जाने वाले श्रावको की अगर उत्कट इच्छा पात्रदान देने की भी हो तो उन्हे भी नित्य शुद्ध भोजन करने का नियम ले लेना चाहिये卐 इससे उन श्रावको को अपने खुद के लिए शुद्ध भोजन वनाना जरूरी हो जायेगा।

卐 वीरनन्दिआचार्यकृत "आचारसार" ग्रन्थ के अ० ५ श्लोक १०५ मे—अव्रती के यहाँ आहार के लिए मुनि न जावे (व्रती के यहाँ ही जावे) ऐसा वताया है ऐसा ही अन्य अनेक शास्त्रो मे (मूलाचार प्रदीपादि मे) वताया है। व्रती के यहाँ आहारादि लेने पर अनेक उद्दिष्टादि दोषो से वचा जा सकता है। किन्तु आज प्राय अव्रती के यहाँ ही आहार होने से अनेक दोष उत्पन्न हो रहे हैं।

और वही भोजन मुनियो को भी दिया जा सकेगा। इस रीति से मुनियो के साथ जाने और उन्हे आहारदान देने मे कोई उद्दिष्ट दोष नही आ सकता है। जैन मुनियो को भक्ति पूर्वक निर्दोप दान देने से उत्तम भोग भूमि मिलती है। यह भोग भूमि इतनी सस्ती नही है जो किसी मनचले ने मुनि को कैसे भी आहार दे दिया और चट से भोग भूमि का टिकट मिल गया। इसके लिये भी दाता को त्याग और विवेक की बडी जरूरत है। आज तो इस दिशा मे गृहस्थो ने बडी उच्छृङ्खलता धारण कर रक्खी है। आज तो बिना तीर्थयात्रा के ही मुनियो के साथ रसोई का सामान लिए मोटरे घूमती हैं। और धनी लोग ऐसो मे पैसा लगाने को ही बडा पुण्य समझ रहे हैं। बलिहारी है कलिकाल की। अब तो मुनि के निमित्त आरभ सारम्भ करना एक आम रिवाज सा हो गया है। मुनि भी उसका प्रतिवाद करते नही दिखाई देते हैं।

(४) आपने लिखा—किन्ही खास मुनियो के उद्देश्य से न बनाकर मुनि सामान्य के उद्देश्य से बनाने मे उद्दिष्ट दोष नही आता।

समीक्षा

ऐसा कहना भी उचित नही है। क्योकि ऐसा कथन किसी आचार शास्त्र मे कही देखने मे नही आया है। बल्कि इसके विपरीत मूलाचार-पिण्ड शुद्धि अधिकार की गाथा ७ और उसकी टीका मे स्पष्ट ऐसा लिखा है—

"ये केवल निर्ग्रंथा· साधव· आगच्छति तेभ्यो सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्देश्य कृतमन्न औद्देशिक भवेत्।"

इसमे लिखा है कि—

"जो केवल निर्ग्रंथ जैनसाधु आयेंगे उन सबो के लिए देऊगा ऐसा उद्देश्य करके बनाया भोजन औद्देशिक कहलाता है।"

यहा किसी व्यक्ति मुनि के लिए नही लिखा है। किन्तु सभी मुनि मात्र के लिए बनाए भोजन को उद्दिष्ट बताया है। ऐसा ही उद्दिष्ट का लक्षण भगवती आराधना मे भी लिखा है। वह उद्धरण ऊपर हम वसतिका की चर्चा मे लिख आए है। इसी तरह हमने ऊपर आचारसार का पद्य उद्धृत किया है उसमे किसी एक खास मुनि के लिए और सभी मुनि मात्र के लिये दोनो ही के अर्थ बनाने को उद्दिष्ट बताया है। यदि मुनि सामान्य के निमित्त बनाये भोजनादि को अतिथि के लिए देना विधि मार्ग होता तो अमितगति और आशाधर यह नही लिखते कि—"दाता अपने लिए बनाए गए भोजनादि मे से अतिथि को दे।" ये उद्धरण भी ऊपर लिखे जा चुके हैं। इससे यही फलितार्थ निकलता है कि—दाता चाहे किसी खास मुनि के निमित्त से बनावे या मुनि समुदाय के निमित्त से बनावे दोनो ही हालतो मे वह उद्दिष्ट है।

एक बात यही भी समझने की है कि—जैन मुनियो की सिंहवृत्ति होती है। (देखो मूलाचार अ० ६ गा० २६ सिंहा इव नर सिंहा) उनको आहार की उतनी परवाह नही रहती है। जितनी कि अपने आचार नियमो की रक्षा की रहती है। इसलिए कोई श्रावक यह समझकर मुनियो को आहार देता हो कि—आहार सदोष हो तो हो हमारे दिये आहार से मुनि भूखे तो नही रहेगे। और उससे हम को भी पुण्यबन्ध होगा ही।

ऐसी समझ से जो सदोष आहार देते है वे परमार्थत मुनियो का अहित तो करते ही है साथ ही दानविधि की परिपाटी भी बिगाडते है। इस से पुण्यबन्ध भी उनको कैसे हो सकता है? अगर आचार नियमो का उल्लङ्घन करके भी मुनियो की बाधा मेट देने मे ही पुण्योत्पादन होता हो तब तो शीतकाल मे शीत की बाधा मेटने के लिये उन्हे कम्वल भी ओढा देना चाहिए।

यह ठीक है कि—मुनियो को आहारदि देना उनकी वैय्यावृत्य करना उनकी बाधा मेटना यह सब गृहस्थो का कर्तव्य है, गृहस्थो को करना चाहिए किन्तु करना चाहिए आचार शास्त्रो मे लिखे दोषो को बचाकर।

अन्त मे हमारा कहना है कि—उद्दिष्ट के विषय मे शास्त्रकारोका जो अभिमत है वह हमने इस लेखमे दिखाया है। उस अभिमत पर आप आपत्ति करते है कि—उद्दिष्ट का ऐसा स्वरूप मानने से तो आहार-औषध-वसतिका आदि दानो की व्यवस्था ही नही वन सकेगी। दान देना श्रावक का कर्तव्य है यह कहना ही निरर्थक हो जायेगा, मोक्षमार्ग ही वन्द हो जायगा।" आपकी इन आपत्तियो से यही समझा जायेगा कि आप शास्त्रकारो का खण्डन कर रहे है। खण्डन करते हुए आपने यही भी लिखा है कि—"उद्दिष्ट की ऐसी व्याख्या करना भारी अन्याय है, यह व्याख्या अनर्थकारी है। ऐसी व्याख्या करने वाले मोक्षमार्ग मे रोडा अटकाते है वे मोक्षमार्ग के घातक मिथ्या दृष्टि है।" आपके ये प्रहार भी सीधे शास्त्रकारो के ऊपर ही पडते है। जिनका आपको खयाल होना चाहिये।

(१) शास्त्रो मे पाच प्रकार के भ्रष्ट मुनि वताये है—

१ अवसन्न, २ पार्श्वस्थ, ३ कुशील, ४ सयुक्त और स्वच्छद (यथाछद)। देखो भगवती आराधना गाथा १६४६-५० इसकी विजयोदया टीका मे स्वच्छद मुनि के वर्णन मे लिखा है :— उद्देशिकादि भोजनेऽदोष इत्यादि निरूपणापरा स्वच्छन्दा इत्युच्यते। अर्थात्—जो मुनि ऐसा कहते हैं कि—उद्दिष्टादि भोजन मे कोई दोष नही है वे भ्रष्ट स्वच्छन्द मुनि हैं।

इस प्रमाण से उन सज्जनो को शिक्षा लेनी चाहिये जो उद्दिष्ट को कोई दोष ही नही बताने की स्वच्छन्दता करते हैं।

(२) पुरुषार्थ सिद्युपाय मे अमृतचन्द्र सूरि ने भी अतिथि सविभाग के वर्णन मे स्पष्ट लिखा है—कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्त मिति भावितस्त्याग. ।।१०४।।

अर्थात्—श्रावक मुनि के लिये भोजन नही बनावे किन्तु अपने लिए बनाये गये भोजन मे से ही मुनि को आहार दान दें।

(३) श्री चूडीवालजी ने जो यह लिखा कि—"गिरनार यात्रा मे कुन्दकुन्दाचार्य के साथ गाडी घोडे डेरे तम्बू आदि लेकर श्रावकगण गये थे, जो मुनियो के निमित्त आहारादि बनाते थे।

सो कुन्दकुन्दाचार्य के तो चारण ऋद्धि थी जिसके बल से वे विदेह क्षेत्र मे सीमधर स्वामी के समवशरण मे गये थे ऐसा शिलालेखादि मे लिखा है अत ऋद्धि के बल से ही वे क्षणभर मे गिरनारजी गये होगे। उनके निमित्त गाडी घोडे लेकर श्रावक सघ के उनके साथ जाने की बात लिखना उन महर्षि का अवर्णवाद है।

(४) दोष के होंने मे उतनी हानि नही है जितनी दोष को दोष ही नहीं मानने मे है। इससे भी ज्यादा हानि दोष को निर्दोष बताने के लिये शास्त्र विपर्यास करने में है किन्तु परिताप की बात है कि—यही सब कुप्रयास आज कुछ पडित आदि कर रहे हैं। ●

लवण रहित—अलूणा आहार ही आजकल साधु लेते हैं यह भी स्पष्ट उद्दिष्ट दोष को लिए हुए है क्योंकि ऐसा आहार श्रावक मुनि के लिए ही बताते हैं श्रावक कोई लवणरहित आहार खाते नही। शास्त्रों में तो अनेक जगह लवणयुक्त आहार करना ही साधुओ के लिए बताया है लिखा है कि– लवणादि छहो रसो से युक्त आहार कर सकते हैं, तृष्णा परिषह मे बताया है कि—अधिक लवण आहार मे हो जाने से अगर प्यास भी बढे तो साधु को उसे सहन करना चाहिए यह तृष्णा परिषह जय है ।। अठपहृस्या घी भी उद्दिष्ट दोष का उत्पादक होगया है। उसीतरह शहरो सर्वत्र नल का पानी है, कुए असुविधा कठिनता लब्ध हैं अत. यह भी समस्याजनक होगया है। मर्यादित शुद्ध दूध दही भी इसी स्थिति को लिए हैं। (अठपहस्या घी, कुए का जल, शुद्ध दूध दही आदि का अगर श्रावक भी उपयोग करे तो फिर भी कुछ उद्दिष्ट दोष से बचना हो सकता है सिर्फ मुनि जितना ही प्रबन्ध करना तो मुनि निमित्त ही होने से उद्दिष्ट-दूषित है।



५४

पूज्यापूज्य-विवेक और प्रतिष्ठापाठ

जैन सदेश अंक (१ फरवरी ६८) में हमारा लेख न० २ "सम्पादक जैन-दर्शन और प्रतिष्ठापाठ" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था उसका सम्पादक— जैन दर्शन ने फिर कोई जवाब नही दिया किन्तु अभी १३-५-६८ के जैन दर्शन मे एक लेख "क्या नमस्कार पूजा समान है" प्रकाशित हुआ है, जिस पर किसी का नाम नही दिया हुआ है फिर भी प्रकारान्तर से वह चांदमल जी चूडीवाल का सिद्ध है, लेख चाहे किसी का हो नीचे उस पर समीक्षा पूर्वक विचार किया जाता है —

(१) लेख के प्रारम्भ मे व्यर्थ की भूमिका बांधते हुए लिखा है—

"नमस्कार पूजा मे बडा अन्तर है, नमस्कार पूज्य पुरुषो को ही किया जाता है किन्तु पूजा यथा योग्य हर एक को जड पदार्थ तक की भी की जा सकती है इसी से शास्त्रो मे यथायोग्य देवादिको की पूजा (सत्कार) करने का उल्लेख है। यथायोग्य सबका आदर सत्कार किये बिना लोक व्यवहार ही नष्ट हो जाता है। पूजा शब्द का अर्थ सत्कार करना है, सो सत्कार, नमस्कार पूर्वक तो पूज्य-पुरुषो का ही किया जाता है, अन्य का नमस्कार पूर्वक सत्कार नही किया जाता किन्तु बिना नमस्कार

के यथायोग्य सम्मान सबका किया जाता है यदि आज कोई वैद्य, डाक्टर, साधु सन्यासी, मुसलमान आदि है तो उनके पास हम जायेंगे या उनको घर पर बुलायेंगे तो उनका यथा योग्य सन्मान भेट पूजा करनी पडेगी। यह लौकिक व्यवहार-शिष्टाचार है। ऐसा नही करने से व्रतो मे और सम्यक्त्व मे अवश्य हानि हो जाती है इसका कारण यह है कि– लौकिक व्यवहार का भी सम्बन्ध धर्म के साथ है।"

समीक्षा

नमस्कार भी पूजा—सत्कार की तरह सभी के लिये किया जाता है इसी से लोक मे नमस्ते, ढोक (पावाढोक प्रणाम बोलते और लिखते है अतः आपने जो नमस्कार केवल पूज्य (धार्मिक) पुरुषो के लिये ही बतायाहै वह गलत है। इसी तरह सत्कार (पूजा) पूर्वक नमस्कार भी लौकिक और धार्मिक (पूज्य) दोनों का होता है जैसे–डाक्टर साहिब को बैठने को कुर्सी देते है फीस भी देते हैं और साथ मे हाथ भी जोडते हैं फिर आप लौकिक मे नमस्कार पूर्वक सत्कार का निषेध कैसे करते हैं? जिस तरह पूजा को लौकिक और धार्मिक दोनो में ग्रहण किया है उसी तरह नमस्कार तथा सत्कार पूर्वक नमस्कार भी लौकिक और पूज्य (धार्मिक) दोनो मे होता है। इससे सिद्ध होता है कि - आपकी परिभाषायें सब अधूरी और व्यर्थ है।

रागी द्वेषी देवों की पूजा करना आप लौकिक सत्कार बताते है तो फिर जैसा वैद्यादिक सत्कार मे आपने लिखा है उसी तरह इन रागी द्वेषी देवों के यहां जाकर अथवा उन्हे अपने घरपर बुलाकर पूजा-सत्कार करिये किसी को कोई विशेष

आपत्ति नही किन्तु आप तो जिन मन्दिर मे और जिन बिम्ब प्रतिष्ठादि धर्मकार्यो मे इनकी पूजा करते हैं और वह भी अष्ट द्रव्यो से यह सब गलत पद्धति है और इसी से हमे विरोध है। देखिये स्वामी समन्तभद्र तो सम्यग्दृष्टि के लिये लौकिक धार्मिक सभी दृष्टि से कुदेव कुशास्त्र कुगुरु को नमस्कार और सत्कार तक का निषेध करते है।

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागम लिगिनां।
प्रणामं विनय चैव न कुर्यु. शुद्ध दृष्टयः॥

(अर्थ—भय, आशा, प्रेम, लोभ से भी कुदेव कुशास्त्र-कुगुरु को नमस्कार-सत्कार सम्यग्दृष्टि न करें।)

लौकिक सत्कार-व्यवहार नही करने से लौकिक कार्यों मे हानि सम्भव है किन्तु आप व्रत और सम्यक्त्व मे भी अवश्य हानि होना लिखते हैं यह अत्यन्त गलत है धार्मिक मर्यादा और लौकिक मर्यादा अलग-अलग है और इसी को लेकर आपने पूज्य और अपूज्य की भेदरेखा खीची है, किन्तु आपने फिर वापिस दोनो को एक कर गुड-गोबर कर दिया है। इतना ही नही, आपने लौकिक मर्यादा को धार्मिक मर्यादा से भी श्रेष्ठ बता दिया है इस तरह आपने धर्म पुरुषार्थ से काम पुरुषार्थ को श्रेष्ठ बताकर सारे जैन सिद्धात को ही उलट कर रख दिया है। ससार को बढाना ही आपकी दृष्टि मे सब कुछ है जबकि जैनाचार्य संसार से छुडाने का उपदेश करते हैं।

लौकिक सत्कार-व्यवहार के बिना आप व्रत और सम्यक्त्व मे अवश्य हानि बताते है तो फिर लौकिक व्यवहार को ही पूर्णतया पालन करते रहना चाहिए इसी से निश्रेयस की

प्राप्ति हो जायगी, धर्माचरण की क्या जरूरत ? फिर तो क्षुल्लकादिक और महाव्रती मुनियो को भी आपके इस लोक-व्यवहार-सत्कार का पालन करना चाहिए अन्यथा उनके व्रत और सम्यक्त्व मे अवश्य हानि हो जायगी। इस तरह गृहत्यागियो को भी आपने पुन ससार मे घसीटने का प्रयत्न किया है। आपके इस अपसिद्धात ने तीर्थंकरो तक को अपने लपेटे मे ले लिया है, क्योकि तीर्थंकर गृहस्थावस्था मे भी किसी को नमस्कार पूजा रूप लौकिक शिष्टाचार नही करते है। ऐसी हालत मे क्या उनके सम्यक्त्व और व्रत मे हानि हो जायगी ? कदापि नही। इस तरह आपका कथन अत्यन्त अविचारित रम्य सिद्ध होता है।

आपके महामान्य प० आशाधरजी ने व्रतो की बात तो जुदा दार्शनिक श्रावक तक के लिये रागीद्वेषी शासनदेवादि की पूजा का सर्वथा निषेध किया है और आप इस शासन देव पूजा-लौकिक सत्कार के बिना श्रावक के व्रत व सम्यक्त्व मे ही अवश्य हानि होना बताते हैं। किस का कथन ठीक है आप ही बताये ?

शासन देव पूजा की धुन मे आपने कितना शास्त्र विरुद्ध लिख दिया है, इसका आपको कुछ ध्यान ही नही रहा है।

आपने किसी भी साधु-सन्यासी का सत्कार करना लौकिक-व्यवहार मे लिखा है यह भी गलत और आपत्तिजनक है, क्योकि वे साधु सन्यासी किसी (अजैन धर्म-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि होते है) उनका पूजा-सत्कार गुरुमूढ़ता मे गर्भित होगा। आपने इस तरह लौकिक व्यवहार की धुन मे गुरुमूढता का भी पोषण कर दिया है।

और इस गुरुमूढता को जो नही करता उसके व्रत और सम्यक्त्व मे अवश्य हानि भी आपने बता दी हैं इससे "एक तो करेला कडवा और फिर नीम चढा" कहावत चरितार्थ हो गई है। इस तरह आपने देवमूढता (कुदेव पूजा) के साथ-साथ गुरुमूढता (कुगुरु पूजा) रूप मिथ्यात्व को भी विधेय बता दिया है इसमें क्या हित है ? यह आपकी अद्भुत बुद्धि ही समझ सकती है हम तो इसे कलिकाल का प्रभाव ही समझते हैं। इस तरह सिद्ध होता है कि—पूजा का अर्थ सत्कार कर देने मात्र से रागी द्वेषी देवो और गुरुओ की पूजा विधेय नही हो सकती, क्योकि एक तो अर्थ बदला नही है सिर्फ उसमे लघुता हुई है दूसरा क्षेत्र और पूजा-पद्धति वही धार्मिक है उसमे किंचित भी अन्तर नही है पूज्यत्व बुद्धि उसी तरह है। अतः जब तक धार्मिक मर्यादा रहेगी तब तक आपत्ति भी बनी रहेगी।

(२) आगे आप लिखते हैं "प० आशाधरजी आदि का प्रतिष्ठापाठ प्रमाणीभूत नही है तो उन पाठो से प्रतिष्ठा कराई हुई प्रतिमा प्रमाणिक (पूज्य) है या नही ?"

समीक्षा

किसी भी प्रतिमा पर यह नही लिखा रहता कि—यह प्रतिमा अमुक प्रतिष्ठा-पाठ से प्रतिष्ठित है। अत दि० वीतराग मूर्ति प्रमाणिक और पूज्य है। कुछ मूर्तियो पर तो साल सम्वत् कुछ भी नहीं लिखा रहता, फिर भी वे दि० वीतराग होने से पूज्य हैं। जो कुछ गलत-अशुद्ध क्रियाये और कुविधियां होती हैं उसका दोष प्रतिमा पर नही है। यह तो उन प्रतिष्ठाचार्यो और यजमान पर है और उसका कुफल भी उन्हे ही भोगना पड़ता है।

चतु संघ.-संहितया, जैनं बिम्ब प्रतिष्ठितम् ।
न पूज्यः परसघस्य, यतो न्यास-विपर्यय ॥१४॥

आपने परम मान्य इद्रनन्दि के नीतिसार समुच्चय का जो यह श्लोक आपने अपने लेख मे दिया है, उस पर से हम पू छना चाहते हैं कि जिन मूर्तियो पर काष्ठासघ, माथुर सघ स्पष्ट लिखा है [देखो भट्टारक सम्प्रदाय ग्रन्थ] वे मूर्तियाँ आपके लिये पूज्य और प्रमाणिक हैं या नही ? और माथुर सघादि के शास्त्र भी मान्य है या नही ? इद्रनन्दि के अनुसार तो ये अपूज्य और अमान्य ठहरते हैं, किन्तु काष्ठा सघादि की मूर्तियाँ और माथुर सघी (नि पिच्छक) अमितगति आचार्य के ग्रथ सभी जैन जनता पूजती और मानती आ रही है। अत अब आप ही बताये कौन ठीक है ? और क्यो ?

(३) आगे आप फिर लिखते हैं—"रागी द्वेषियो की पूजा मुख की होती है अर्थात् तिलक कर देना, गले मे पुष्पमाला पहना देना, पान-सुपारी नारियल आदि से सत्कार कर देना। यह तो सरागियो की पूजा हैं, किन्तु वीतरागियो की पूजा मुख की नही होती, उनकी पूजा चरणो की ही होती है। उनके मुख का तो केवल दर्शन होता है। अत पूजा पूजा मे बडा अन्तर है। जिनके चरणो की पूजा नही होती केवल मुख की पूजा होती है, उनमे पूज्यत्व बुद्धि नही रहती, क्योकि वे सरागी है। इसलिए प्रतिष्ठा पाठो मे जहाँ रागीद्वेषी देवो की पूजा का विधान है वहाँ पर उनको सन्तुष्ट रखने का ही अभिप्राय हैं। इसलिए कि वे प्रतिष्ठा महोत्सव मे स्वयम् उत्पात न करे और दूसरे करते हो तो उन्हे रोक दें। ऐसा न करने पर विघ्न उपस्थित हो सकते है। अत. आशाधरजी ने भी नवग्रहादि की

पूजा का विधान सन्मान की दृष्टि से ही किया है, नमस्कार-पूज्यत्व बुद्धि से नही। यदि उनका ऐसा उद्देश्य नही होता, वे उन देवो और सन्यासियो का सन्मान करने को क्यो लिखते? क्या वे उनको पूज्य समझते थे ? कदापि नही। सागार धर्मामृत मे उन्होने साफ लिखा है कि दार्शनिक श्रावक आपत्काल मे भी शासन देवो की आराधना नही करता।"

समीक्षा

व्रत कथा कोश में मुकुट सप्तमी व्रत की विधि मे श्रुतसागर ने और व्रत तिथि निर्णय ग्रन्थ [पृ० १६०-२३१] मे सिंहनन्दि ने जिनप्रतिमा के गले मे फूलो की माला पहिनाना और प्रतिमा के सिर पर फूलो का मुकुट बाधना लिखा है। आप बताये यह सरागियो की पूजा है या वीतरागियो की ? और इनमे आपकी पूज्यत्व बुद्धि है या नही ? आपके कथन से श्रुतसागर-सिंहनन्दि का कथन विरुद्ध है अत बतायें किनका कथन ठीक है ? और क्यो ?

दिग्पाल, नवग्रह, यक्षयक्षिणियाँ आदि जब आपके मत से भी सरागी है तो फिर इनकी मूर्तियाँ क्यो बनाई (प्रतिष्ठित कराई) जाती हैं और क्यो उनकी अष्ट द्रव्यो से पूजा की जाती है ? क्या यह सरागी पूजा नही है ? और जब यह सरागी है तो अष्ट द्रव्यो से उनकी चरण पूजा भी क्यो की जाती है ? आप तो सरागियो की चरण-पूजा नही बताते मुख-पूजा बताते है तो फिर अष्ट द्रव्यो से इनकी मुख-पूजा क्यो नही करते ? क्यो चरण पूजा करते हैं ? इस तरह आपके कथन और क्रिया मे परस्पर विरोध है आपने जो यह लिखा कि—"वीतरागियो

की मुखकी पूजा नही होती सिर्फ चरणो की ही होती है" यह भी गलत है, क्योकि भगवान् का सर्वांग ही पूज्य होता है। इसी से उनके सर्वांग का अभिषेक होता है [सिर्फ चरणो का ही नही] तथा उनके मस्तक पर तीनछत्र और मस्तक के पीछे भामण्डल लगाये जाते है और उन पर चमर ढोले जाते हैं और उनके मुख से निकली वाणी जिन वाणी के रूप से पूजी जाती है अत वीतरागियो की सिर्फ चरण पूजा ही बताना अयुक्त है। इससे आपकी परिभाषाये सब बडी बेतुकी हैं यह सिद्ध होता है।

आप विघ्न निवारणार्थ प्रतिष्ठा मे रागी द्वेषी देवो की स्थापना करना बताते है, तो फिर पुलिस चौकीदारो आदि का इन्तजाम क्यो किया जाता है ? शायद इसलिए कि पुलिस आदि से होने वाली सुरक्षा जहाँ प्रत्यक्ष है, वहाँ शासन देवों की तो कोरी कल्पना है। कल्पना के पीछे कौन अपना घर लुटाये, इससे जाना जा सकताहै कि-शासनदेवो मे उनके भक्तो तक को कितना विश्वास है। किसी ने पूछ पकडा दी सिर्फ इसीलिए अब उसे छोड़ना नही चाहते अथवा अविवेक के प्रकट होने का डर हो, बाकी निस्सारता तो सबके हृदय मे स्पष्ट अकित है। शासनदेव आते हुए दिखते नही, आह्वानन पूजन करने पर भी उन्होने किसी प्रतिष्ठा मे आकर विघ्न निवारण किया हो, ऐसा कहीं देखा नही गया। कुछ वर्षों पहिले घुआ [राजस्थान] ग्राम मे पचकल्याणक प्रतिष्ठा मे ऐसा अग्निकाड हुआ कि देखते-देखते हजारो रुपयो के चन्दवे, डेरे तम्बू आदि जलकर राख हो गये किसी शासनदेव ने आकर कोई सहायता नही की जबकि वहाँ इन देवो की पूजा आराधना की गई थी। अत. सब प्रपचो को छोड़कर एकमात्र पच परमेष्ठी का ही आराधन करना चाहिये

जिनके स्मरण मात्र से सभी विघ्न और सकट नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है—

विघ्नौघा. प्रलयं यांति शाकिनी भूत पन्नगा ।
विष निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥

आशाधरजी ने भी अनगार धर्मामृत मे ऐसा ही कहा है, देखो अ०९ श्लोक २६ ।

अब रही शासनदेवो के स्वय विघ्न करने की बात, सो वे तो जिनधर्मी होते है, वे स्वय कैसे विघ्न कर सकते हैं ? अतः आपका ऐसा लिखना भी गलत ही है ।

आपने जो यह लिखा कि—"आशाधरजी ने रागी-द्वेषी देवो और सन्यासियो (कुदेव कुगुरुओ) की पूजा सन्मानकी दृष्टि से बताईहै नमस्कार पूज्य दृष्टिसे नही तो फिर आप प्रतिष्ठादि मे नवग्रहादि अरिष्ट निवारणार्थ सभी अजैन सम्प्रदायो के साधुओ को बुलाकर उनकी पूजा क्यो नही करते ? बतायें ।

आशाधर जी ने रागी-द्वेषी देवो की पूजा के साथ उनके लिए नमस्कार भी लिखा है । देखो—प्रतिष्ठा सारोद्धार अध्याय ३ श्लोक ५९ और १९२ मे क्रमशः अच्युता देवी और वायु (दिग्पाल) को 'प्रणौमि' शब्द से नमस्कार करना लिखा है। अध्याय ४ श्लोक २१६ मे यक्षिणी को 'दुरित निवारिणी' लिखा है। अ० ६ श्लोक २५ के मन्त्र मे नन्दा रोहिणी देवियो के लिए 'नम ' (नमस्कार करना) लिखा है । इसी तरह अधो और उर्ध्व दिशा के दिग्पाल नाग एव ब्रह्म के लिए भी 'नम.' लिखा है ।

अत. इससे इन रागी-द्वेषी देवो के लिए स्पष्टत पूज्यत्व बुद्धि सिद्ध होती है और आपने जो वकालत की है, वह व्यर्थ है।

सचाई छिप नही सकती,
बनावट के उसूलो से ।
कि खुशबू आ नही सकती,
कभी कागज के फूलो से ।।

आशाधर जी ने अपने प्रतिष्ठा पाठ मे—नवग्रहो की पूजा का फल जैनेतर विविध साधुओ की पूजा के माध्यम से बताया है, सो नवग्रह और जैनेतर साधुओ मे परस्पर क्या तुक है ? नवग्रह सज्ञा भी जैनधर्म की नही। इस तरह आशाधर जी का यह सब कथन अजैन सम्प्रदाय का पोपक और कुगुरु पूजा रूप मिथ्यात्व को लिए हुए हैं। शायद आशाधरजी के ऐसे ही अयुक्त कथनो से ऊबकर नरेन्द्रसेन देव ने उन्हे अपने गच्छ से निकला था, जिसका उल्लेख 'भट्टारक सम्प्रदाय' मे दिया हुआ है उसका पृष्ठ २५२ तथा प्रस्तावना पृष्ठ २१ देखो।

ऐसी हालत मे हमने जो एक प्रामाणिक प्रतिष्ठापाठ की आवश्यकता प्रकट की थी, वह समुचित है।

आप लिखते है—आशाधरजी ने दार्शनिक श्रावक के लिए शासन देव पूजा का सर्वथा निषेध किया है, तो फिर जो प्रतिष्ठाचार्य प्रतिष्ठा कराते है उन्हें व्रत तो क्या अपने सम्यक्त्व तक को तिलाजलि देकर फिर प्रतिष्ठा करानी चाहिए क्या इसके लिए कोई तैयार है ? अगर किसी तरह कोई तैयार भी हो जाये तो ऐसे व्रत और सम्यक्त्व से हीन की प्रतिष्ठा कैसे मान्य होगी ? स्वयं आशाधरजी ने प्रतिष्ठाचार्य के लिए शुद्ध सम्यक्त्वी होना आवश्यक बताया है और वे ही प्रतिष्ठा मे रागी-द्वेषी देवो की पूजा भी लिखते जाते हैं और ऐसी पूजा अव्युत्पन्न दृष्टि करता है, ऐसा भी लिखते जाते है(देखो प्रतिष्ठा

सारोद्धार अ० ३ श्लोक १२७, अ० ६ श्लोक ४३) इस प्रकार उनके कथन परस्पर विरुद्ध होगये हैं। शासन देव पूजा के उनके कथन की अयुक्तता निम्न प्रकार से भी सिद्ध होती है —

(१) उनसे पूर्व वसुनन्दि श्रावकाचार के प्रतिष्ठा प्रकरण में पञ्चपरमेष्ठी के सिवा किसी भी रागी द्वेषी देवो और कुगुरुओ का पूजा विधान नही है, अत आशाधर का कथन पूर्वाचार्यों से विरुद्ध है।

(२) वसुनन्दि श्रावकाचार की गाथा ४०४ मे पूजक को अपने मे इन्द्र का सङ्कल्प करना बताया है, तदनुसार आशाधर ने भी मुख्य पूजक मे सौधर्मेन्द्र की स्थापना करना लिखा है। अब मुख्य पूजक को सौधर्मेन्द्र मान लिया गया, तो वह यागमण्डल मे अपने से निम्न श्रेणी के देवो की स्थापना कर और ३२ इन्द्रो मे स्वय अपनी भी स्थापना करके उनकी पूजा कैसे कर सकता है ? अत आशाधर का पञ्चपरमेष्ठी के सिवा अन्य कई देव-देवियो की स्थापना कर उनकी पूजा सौधर्मेन्द्र से कराना असङ्गत है इस तरह इन्द्र प्रतिष्ठा का विधान स्वयं उनकी कलम से निरर्थक होकर मखौल सा होगया है, जबकि वसुनन्दि का कथन सुसङ्गत है क्योकि उन्होने प्रतिष्ठा विधि मे रागी-द्वेषी देवो को स्थान नही दिया है। भगवान के पूजक मे इन्द्र की स्थापना से सिद्ध है कि पूज्य का स्थान इन्द्र से भी ऊँचा होना चाहिए और वे अर्हंतादि ही हो सकते हैं न कि व्यन्तरादि शासन देव जो इन्द्र से भी निम्न श्रेणी के है।

इस पर भी सरागी देवो की पूजा के लिए जब कुछ सज्जनो का दुराग्रह देखा जाता है तो भद्रबाहु चरित (रत्ननंदि कृत) के निम्नांकित श्लोक पर हमारी दृष्टि जाती है, उसमे

सम्राट् चन्द्रगुप्त के स्वप्नो पर भविष्यवाणी के रूप मे एक स्वप्न का कुफल इस प्रकार बताया है .—

भूतानां नर्तनं राजन्नद्राक्षी रद्भुतः ततः ।
नीच देव रता मूढाः भविष्यन्तीह मानवा. ॥३८॥
[अ० २]

अर्थ—हे राजन् जो तुमने भूतो का अद्भुत नृत्य देखा है उससे भविष्य मे लोग सरागी देवो की पूजा कर मूढ बनेंगे।

ऐसा ही कथन आदि पुराण पर्व ४१ श्लोक ७१ मे भरत चक्रवर्ती के दु स्वप्नो का कुफल बताते हुए किया है।

(४) पुनरपि आप लिखते है .—

'आशाधर जी ने पूर्वाचार्यों के अनुसार ही कथन किया है देखो, आदिपुराण (पर्व २६ श्लोक १ तथा पर्व ३१ श्लोक ५३) मे लिखा है— चक्रवर्ती ने चक्ररत्न की अष्ट द्रव्यो से पूजा की। पर्व ३९ मे —बालक का जहाँ पर नाल गाढते हैं उस भूमि की पूजा करके अर्घ चढाना लिखा है।'

समीक्षा

इन सब कथनो मे लौकिक दृष्टि से लौकिक कार्य सिद्धि के लिए लौकिक अङ्गो का पालन मात्र है, इनमे धार्मिक पूज्यता दृष्टि नही है। जबकि आशाधर जी की सरागी देवो की पूजा धार्मिक पूज्यता की दृष्टि से है, जैसाकि पूर्व मे हम बता चुके है। अत आपका यह सब लिखना भी गलत है। पर्व ३९ का जो आपने उल्लेख किया है, वह गलत है वह कथन पर्व ४० श्लोक १२१ से १२४ मे है। उसमे कही भी 'पूजा अर्घ शब्द नही

है आपने जो पूजा करके अर्घ चढाना लिखा है यह गलत है। यह सब कथन अन्य जन्म सस्कार क्रिया का है, जो लौकिक क्रिया है, अत उसका प्रमाण व्यर्थ है।

आगे आप लिखते है—'(पर्व ४० मे) आदिपुराण मे—इन्द्राय स्वाहा, ब्राह्मणाय स्वाहा देव ब्राह्मणाय स्वाहा इत्यादि मन्त्रो से आहुति देना लिखा है'। समीक्षा सो यह भी लौकिक विवाह जात कर्मादि क्रियाओ के लिए है जो घर पर ही की जाती है। इसके सिवा इनमे कही भी नम. (नमस्कार) नही लिखा है सिर्फ स्वाहा सन्मानस्मरणार्थ है। ··· ····'इन्द्राय स्वाहा, ब्राह्मणाय स्वाहा' ठीक ऐसे के ऐसे वाक्य महापुराण मे किन्ही भी मन्त्रो मे नही दिये गये है, खैर! आशाधर जी ने प्रतिष्ठा ग्रन्थ मे जो २४ यक्षयक्षियो, नवग्रह, दश दिग्पाल क्षेत्रपाल, रोहिणी जयादि देवियो की स्थापना कर पूजा करना लिखा है, इसमे से एक भी नाम जिनसेन के महापुराण मे इन पीठिकादि मन्त्रो मे नही पाया जाता है, अत: आपका आदिपुराण का प्रमाण देना गलत है।

(५) आगे आप फिर लिखते है :—कर्मकाड गाथा ६७१ मे बताया है कि चामुण्डराय ने चैत्यालय के सामने ऊचे स्तम्भ पर यक्ष की मूर्ति स्थापित की थी ' ··· । मङ्गलाष्टक श्लोक ४ मे सरागी देव देवियो से मङ्गल कामना की गई है।

समीक्षा

गोम्मटसार की उक्त गाथा मे यह भी लिखा है कि-वह यक्ष की मूर्ति सिद्धो के चरणो मे शिर झुकाये हुए थी। इसी प्रकार जिन प्रतिमा के पार्श्वभाग मे चमर लिये यक्ष-मूर्तियाँ होती हैं। ये सब सेवक रूप मे है, स्वयम् पूज्य नही है, पूज्य

तो जिन मूर्ति है इसी प्रकार कुछ मूर्तियो पर गजारूढ इन्द्र कलश करते हुए पुष्पवृष्टि करते देव गण, दुन्दुभि बजाते किन्नर आदि उत्कीर्ण रहते है, ये सब जिनेन्द्र की महत्ता के द्योतक हैं और सब भगवान् के किंकर हैं। अत. यक्षमूर्ति का आपका प्रमाण अकार्यकारी है।

मगलाष्टक का कर्ता कौन है ? किस वक्त की यह रचना है बतावे ? जब तक यह प्रमाणित नही होता, तब तक इस पर कैसे विचार किया जा सकता है ? आशाधरादि की मान्यता वाले किसी व्यक्ति की यह आधुनिक रचना मालूम होती है। इस तरह आपका यह उल्लेख भी अकार्यकारी है।

(३) अन्त मे आप लिखते है '—जब तक किसी प्राचीन भण्डार मे जयसेन प्रतिष्ठा पाठ की प्रति न मिल जाय तब तक इसकी प्रमाणिकता मे सन्देह ही है, क्योकि यह प्रतिष्ठा पाठ प्राचीन होता तो हर एक भण्डार मे मिलता। इसके विषय मे यह भी सुना जाता है कि किसी प्रतिष्ठा पाठ को हेरफेर कर के प० जवाहरलाल जी शास्त्री और झूथालालजी ने मिल कर इसे बनाया है और इसका नाम जयसेन प्रतिष्ठापाठ रख दिया है।

समीक्षा

किसी ग्रन्थ की एक ही प्रति मिलने से वह अप्रामाणिक और अप्राचीन है, यह अद्भुत न्याय है। बहुत से ऐसे ग्रथ है, जिनकी एकही प्रति उपलब्ध है, क्या इसीसे वे अप्रामाणिक और अप्राचीन (आधुनिक) हो जायेंगे ? कदापि नही। जिसे जरूरत हो उसे दूसरी प्रतियो की खोज करना चाहिये। खोज करने का

परिश्रम तो किया जावे नही और अपने प्रमाद एव अज्ञानता का दोष ग्रन्थ और ग्रन्थकार पर डाला जावे यह ठीक नही ।

सम्पादक—जैनदर्शन तो जयसेन प्रतिष्ठापाठ को १२वी शताब्दी का प्राचीन बताते है और आप आधुनिक । दोनो मे कौन ठीक है ? पहिले दोनो निर्णय करले । आपने जो यह लिखा है कि पं० जवाहरलालजी और झूंथालालजी ने किसी प्रतिष्ठापाठ को हेर फेर कर इसे बनाया है तो इसके लिये आपके पास क्या प्रमाण है ? किस प्रतिष्ठापाठ को हेर फेर कर बनाया है ? उसका नाम बताये ? आप लोग कभी बाबा दुलीचन्दजी द्वारा काटछांट किया हुआ लिखते हैं कभी क्या लिखते हैं इस तरह आप इस सद्ग्रन्थ का लोप करना चाहते हैं यह सब आपका कुप्रयास है । इस पर तुलसीदासजी का एक दोहा याद आ जाता है —

हरित भूमि तृण सकुलित,
समुझि पडे नहीं पथ ।
जिमि पाखडि विवाद तें,
लुप्त होहिं सद्ग्रन्थ ॥



५५

पं० जौंहरीलालजी रचित विद्यमान-विंशति तीर्थंकर-पूजा पर विचार

छपी हुई यह पूजा दो तरह की हमारे समक्ष मौजूद हैं। एक के कर्ता टौंक निवासी कवि थानसिंहजी अजमेरा है। यह पूजा वि० सं० १९३४ मे बनी है और दूसरी के कर्ता कवि जौंहरीलालजी जयपुर वाले है। जिसको उन्होने विक्रम सं० १९४९ मे बनाई है। दोनो ही पूजायें हिन्दी छन्दो मे लिखी गईं हैं और भादवाके पर्यूषण मे अक्सर पढी जाती हैं। इनमे से थानसिंहजी कृत पूजा में तो विदेहक्षेत्रो के विद्यमान २० तीर्थंकरो के माता-पिता, चिह्न और जन्म नगरियो के नाम मात्र बताये हैं। किन्तु जौंहरीलालजी ने स्वरचित पूजा मे ये सब बताते हुये जन्म नगरियो के नामो के साथ उनके स्थान भी लिखें हैं कि-अमुक नगरी, अमुक विदेह मे सीता या सीतोदा नदी के अमुक तट पर स्थित है।

इन तीर्थंकरों का कोई विशेष चरित्र ग्रन्थ तो देखने मे नहीं आया है। फिर न जाने इन पूजा-पाठोमे उनके माता-पिता चिह्न आदिको का कथन किस आधार पर किया गया है। खैर, बाधक प्रमाण मे वे भी सब माने जा सकते हैं। परन्तु जौंहरी-

लालजी ने जो अपनी पूजा मे इनके जन्म नगरियो का स्थान निर्देश किया है वह तो त्रिलोकसार आदि मान्य ग्रन्थो मे वैसा लिखा नही मिलता है। जैसे कि उन्होने दूसरे युगमन्धर तीर्थंकर की जन्मनगरी विजया को सुदर्शन मेरु के पूर्व विदेह मे सीता नदी के दक्षिण तट पर बताई है। किन्तु त्रिलोकसार मे उक्त विदेह की सीता नदी के दक्षिण तट पर की ८ राजधानी नगरियो के जो नाम लिखे हैं उनमे विजया नाम की कोई नगरी ही नही है। जैसा कि उसकी निम्न गाथा से प्रगट है—

सुसीमा कुण्डला चेवापराजिद पहंकरा।
अंका पद्मावदी चेव सुभा रयणसंचया ॥७१३॥

अर्थ—सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभकरा, अका, पद्मावती, शुभा और रत्नसञ्चया। ये ८ नगरियें पूर्व विदेह की सीता नदी के दक्षिण तटपर हैं।

इनमे विजया नाम की कोई नगरी नही है। यह नगरी तो त्रिलोकसार मे पश्चिम विदेह की सीतोदा नदी के उत्तर तटकी नगरियो मे बताई है।

इसी तरह जौहरीलालजी ने पूजा में तीसरे बाहु तीर्थंकर की जन्म नगरी का नाम सुसीमा लिखा है और उसे पश्चिम विदेह मे सीतोदा के दक्षिण तट पर बतायी है। यह नाम भी त्रिलोकसार मे उक्त स्थान की नगरियो मे नही है। जैसे—

अस्सपुरी सीहपुरी महापुरी तह य होदि विजयपुरी।
अरया बिरया चेवय असोगया वीदसोगा य ॥७१४॥

अर्थ—अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका, और वीतशोका। ये ८ नगरियें पश्चिम विदेह मे सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर जाननी।

इनमे भी सुसीमाका नाम नहीहै। यह नाम तो पूर्वविदेह मे मीता के दक्षिण तट की नगरियो मे है देखो गाथा ७१३वीं।

इसके अलावा जौहरीलालजी ने ५ वें सजातक तीर्थंकर की जन्म-नगरी का नाम अलकापुरी लिखा है। सो भी ठीक नही है। यह नाम तो त्रिलोकसार मे किसी नगरी का ही नहीं है।

तथा जम्बूद्वीप स्थित मेरु के अलावा शेष ४ मेरु सम्बन्धी विदेह के तीर्थंकरो की जन्म-नगरियो के नाम भी जम्बूद्वीप के विदेह के क्रमकी तरह ही होने चाहिये थे। परन्तु जौंहरीलाल जी की पूजा में वह क्रम नही है।

इस प्रकार जौंहरीलालजी की पूजा का कथन त्रिलोकसार से भिन्न पडता है। इस विषय मे जैसा कथन त्रिलोकसार मे है वैसा ही त्रिलोकप्रज्ञप्ति, राजवार्तिक, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, हरिवंशपुराण, लोकविभाग और सिद्धांतसार (नरेन्द्रसेनकृत) मे है। और वैसा ही लोकप्रकाश श्वेतांबर ग्रथ मे हैं। इस तरह जौंहरीलालजी की पूजा का कथन आचार्यप्रणीत उक्त सभी ग्रथो के अनुकूल नही है। यह पूजा विक्रम स० १६४६ मे बनी है और बहुत ही आधुनिक है।

इस पूजा मे ऐसा विरुद्ध कथन क्यो किया गया ? इसका कारण ऐसा मालूम पडता है कि पूर्व पश्चिम विदेह मे सीता सीतोदा के उत्तर दक्षिण तटो पर जिस क्रम से शास्त्रो में नगरियो का स्थान निर्देश किया है उसी क्रम के साथ सोमन्धरादि तीर्थंकरों की जन्म नगरियों को पूजा मे बैठाया गया हैं, उसी से यह गड़बड़ी हुई है।

मेरुसे पूर्वमे सीता नदीका उत्तर दक्षिणतट और पश्चिम मे सीतोदा का दक्षिण-उत्तर तट ये कुछ ४ स्थान विदेह मे माने जाते हैं। इनका क्रम ऐसा है कि—सीता के उत्तर तट का पहिला स्थान, सीता के दक्षिण तट का दूसरा स्थान, सीतोदा के दक्षिण तट का तीसरा स्थान और सितोदा के उत्तर तट का चौथा स्थान ऐसे मेरु के प्रदिक्षणा रूप से चार स्थान शास्त्रो मे विदेह के माने हैं। प्रत्येक स्थान मे इस वक्त एक-एक तीर्थंकर मोजूद हैं। प्रत्येक स्थान मे आठ-आठ देश होते हैं और प्रत्येक देश मे एक-एक राजधानी नगरी होती है। प्रत्येक स्थान के ८ देशो की ८ नगरियो मे से किसी एक नगरी मे विद्यमान वीस तीर्थंकरो मे से किसी एक तीर्थंकरो का जन्म हुआ है।

प० जोहरीलालजी ने या उनसे पूर्व और किसी कवि ने यह समझ लिया है कि जिस क्रम से विदेह मे ४ स्थानो की स्थिति है उसी क्रम से उनमे सीमधरादि तीर्थंकरो की नाम क्रम से जन्म-नगरियें हुई हैं। पहिला तीर्थंकर प्रथम स्थान की नगरियो मे से किसी एक (पुण्डरीकिणी मे) हुआ तो दूसरा तीर्थंकर दूसरे स्थान की नगरियो मे और तीसरा तीसरे स्थान की नगरियो मे व चौथा चौथे स्थान की नगरियो मे होना चाहिऐ। इसी समझ के अनुसार उन्होने पूजा मे दूसरे तीर्थंकर युग्मधर की जन्म-नगरी विजया की दूसरे स्थान सीता के दक्षिण तट पर लिख दी है और तीसरे तीर्थंकर बाहु की जन्म-नगरी सुसीमा को तीसरे स्थान सीतोदा के दक्षिण तट पर लिखी है।

इस प्रकार उन्होने ऐसा लिखकर तीर्थंकरो और उनकी जन्मनगरियो का स्थान क्रम तो बैठा दिया किन्तु ऐसा पूर्वाचार्यों के प्रतिकूल पड़ेगा यह ख्याल उनको नही आया। अयोध्या को

उन्होने पूजा मे चौथे स्थान मे चौथे तीर्थंकर सुबाहु की जन्मनगरी बताई है। यहा नगरी मे ही गलती की गई है क्योकि यह नगरी सीतोदा के उत्तर तट पर है, इसी तट पर विजया नगरी है जो पूजा मे युग्मधर तीर्थंकर की पहिले जन्म नगरी बताई जा चुकी है। एक ही तटपर दो तीर्थंकरो की दो जन्म नगरिये नही हो सकती हैं। क्योकि विद्यमान २० तीर्थंकरो मे से किसी एक तीर्थंकर का जन्म एक ही तट पर हुआ करता है ऐसा शास्त्र नियम है।

पूजा मे जो नगरियो के नाम (अयोध्या को छोडकर) और उनके साथ तीर्थंकरो के नाम लिखे हैं, उनको हम यदि सही मानकर चले तो शास्त्रानुसार प्रथम सीमन्धर स्वामी की जन्म नगरी पुण्डरीकिणी नगरी सीता के उत्तर तट पर है जिस पर तो कोई विवाद ही नही है।

दूसरे युग्मंधर की जन्म नगरी विजया को सीतोदा के उत्तर तट पर माननी होगी। तीसरे बाहु की जन्म नगरी सुसीमा को सीता के दक्षिण तट पर माननी होगी और शेष बचा सीतोदा का दक्षिण तट उस पर चौथे तीर्थंकर सुबाहु की जन्म नगरी (वीतशोका) माननी होगी। सरित् देश मे वीतशोका का उल्लेख उत्तरपुराण पर्व ६२ श्लोक ३६ मे आचार्य गुणभद्र ने भी किया है। बाकी १६ तीर्थंकरो की जन्म नगरियें और उनके स्थान भी इसी तरह इसी क्रमसे व बाकी ४ मेरु सम्बन्धी विदेहो मे समझ लेना चाहिये।

विनयविजय कृत सस्कृत के लोकप्रकाश नामक श्वेतांबर ग्रन्थ के सर्ग १७ श्लोक ३५, ३८, ५२, ५५ मे सीमधरादि ४

तीर्थंकरो का स्थान क्रमश पुष्कलावती, बम, वत्स और नलिनावती (दिगम्बर ग्रन्थो मे इसकी जगह सरित् नाम लिखा मिलता है) इन ४ देशो मे बताया है। इन्ही ४ देशो की ४ राजधानियो के नाम क्रमश पुण्डरीकिणी, विजया, सुसीमा और वीतशोका है जो इस लेख मे ऊपर लिखी गई है। ये चारो नगरियें और चारो देश पूर्व-पश्चिम विदेह मे सीता के उत्तर-दक्षिण तट और सीतोदा के दक्षिण-उत्तर तट पर देवारण्य व भूतारण्य की वेदी के पास के स्थानो पर है।

इस प्रकार प० जोहरीलालजी कृत विद्यमानविंशति तीर्थंकर पूजा मे तीर्थंकरो की जन्मनगरियो के जो स्थान बताये गये हैं वे स्थान चाहे जोहरीलालजी ने खुदने कल्पना करके लिखे हो या उनसे पूर्व के किसी अन्य ग्रन्थकार ने लिखे हो, यह तो निश्चित है कि उनका ऐसा लिखना पूर्वाचार्यों के ग्रन्थो से मेल नही खाता है।

अत वह उपेक्षा के योग्य है। हा अगर स्थान क्रमकी अपेक्षा से तीर्थंकरो के नामो का क्रम माना जावे यानी पहिले स्थान मे पहिला तीर्थंकर दूसरे स्थान मे दूसरा तर्थंकर इस तरह सीमन्धरादिको का क्रमबार होना माना जावे तो पूजा मे लिखी उनकी जन्मनगरियों के नाम गलत मानने पडेंगे। चाहे पूजा मे लिखे नगरियो के स्थान गलत हो या नगरियो के नाम गलत हो, दोनो में एक गलत जरूर है।

भारतवर्षीय दि० जैन संघ के वर्तमान में उपलब्ध प्रकाशन

१.	कसाय पाहुडं भाग १	२५)
२	” ” २	प्रेस में
३	” ” १०	२४)
४	” ” ११	२४)
५.	” ” १२	२४)
६	” ” १३	२४)
७.	” ” १४	४०)
८	” ” १५	५५)
९.	” ” १६	३०)
१०.	जैनधर्म	१६)
११	तत्वार्थ सूत्र	१५)
१२.	ईश्वर मीमांसा	१०)
१३	सत्यार्थ दर्पण	५)
१४	विराग काव्य	२)
१५	रत्नावली भाग २	३०)
१६	चारूदत्त चारित्र	१)
१७	रिलीजन एण्ड पीस (अंग्रेजी)	७)

नोट– ३००) के आर्डर पर २५ प्रतिशत छूट। पौस्टेज, पैकिंग व रेलभाड़ा अतिरिक्त।

कार्यालय·
भारतवर्षीय दि० जैन संघ
चौरासी मथुरा
(उ० प्र०) २८१००४
फोन : ६७११

॥ श्री ॥

ग्रन्थ-संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७	प्रारम्भ	मुक्ति का	भक्ति का
५६	१७	वेही	वैसे ही
६१	प्रारम्भ	४	५
६२	६	तको	तक
७१	२४	इस स	इस सब
७२	१७	श्वभ्रया	श्वभ्राया
८४	१	जनमुनियो	जैन मुनियो
८५	५	के केई	केई
९१	२१	विमेषय	विषय मे
९७	प्रारम्भ	६	७
९७	६	अघक	अधिक
१००	१३	वा० सा०	चा० सा०
१०४	प्रारम्भ	७	८
११६	१९	आपु	आयु
११९	प्रारम्भ	८	९
१२४	टिप्पणी	पचवर्षं	पचवर्षं
१२५	१४	मूलाधार	मूलाचार
१२६	प्रारम्भ	९	१०
१२६	२	भेटने	मेटने
१२७	७	आश्वासर	आश्वास २

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३०	७	गृहस्थे के	गृहस्थ के
१३०	१६	क्रियाकों	क्रियाओ
१३०	१७	स्यदत	स्यादतः
१३१	१८	श्रवकों	श्रावकों
१३२	६	वक	क्षव
१३६	२३	दीघ	दीर्घ
१४६	प्रारम्भ	जैनधर्मे	जैनधर्म मे
१६०	११	नहति भु जज्येत्	नहनि भु जेन्वेत्
१६६	१५	आदि देवी की	आदि देवी
१६७	१	जिनच द्रादि	जिनचन्द्रादि
१६७	१८	किन्न अकुरा	कि अंकुरा
१६८	६	इन्द्रनदी के	इन्द्रनंदी इनके
१७२	१४	भावसेन ने	भावसेन के
१७३	३	लेखों से	लेखन से
१७३	४	भवन मे	भव वन में
२१२	टिप्पण १	बनने का	बनाने का
२१७	७	हितषिणा	हितैषिणा
२५६	१६	अन्न मे	अन्त मे
२७३	६	पउम चरिय	पउम चरिय में
२७७	टिप्पणी	तीनों पंक्तियां	×
३२०	टिप्पणी	卐	卐 अमर कोष काण्ड २ वर्ग १ श्लो० ३९ "नग्नोऽवासा दिगंबर" मे नग्न आदमी के ३ नाम दिये हैं ये नाम बहरे गूंगे तिरस्कृत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
			आदमियो के नामो के बीच में दिये हैं। अगर अमरकोश के कर्त्ता दि० जैन होते तो वे नग्नता (दि० त्व) की ऐसी अवमानना कभी नही करते।
३२८	२३	भारतीत	भारतीय
३६४	२०	पातजाप	पातजल
३६४	२२	अमतचन्द्र	अमृत चन्द्र
४०१	२३	उसने	उससे
४२२	अन्तिम	वैज्ञानिक के	वैज्ञामिको के
४३७	२४	देखिये–	×
४७५	१०	कल	काल
४७७	२३	मधुर	मधुर
४७७	२३	दोषेरपेन	दोषैरपेत
४७८	२	सम सम	सम
,,	,,	जन	जैन
४७६	१	तियग्	तिर्यग्
४७६	१२	सज्ञा	सज्ञी
४८०	६	तदनतर च	तदनतर च
४८०	१८	आक्षर	साक्षर
४८२	टिप्पणी	सग्रह	धर्मसग्रह
४८३	२	सर्वज्ञ के	सर्वज्ञ
४८३	५	सवज्ञस्य	सर्वज्ञस्य
४८४	६	त्यात्	स्यात्
४८४	१३	ग्रहस्थावस्था	गृहस्थावस्था

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८६	१७	प्रतिमाधारी	प्रतिभाधारी
४९३	२०	वध	वध
५०३	१५	तक	तर्क
५०६	४	पचास्तिकाय	पचास्तिकाय
५०७	३	शात	सान्त
५०७	१९	यथात्यय	यथात्यन्त
५०७	२१	चले हुए	जले हुए
५१७	प्रारम्भ	सभी	कभी
५१९	,,	,,	,,
५१७	८	खडिता'	खडिता'
५१९	२	समत	समत
५२०	१५	जनपत्रो	जैनपत्रों
५२२	९	कवि के	कवि ने
५२२	२०	एक एक	एक
५३६	४	प्रति पत्रि	प्रतिपत्ति
५४४	१४	समिदा	समिदी
५४८	६	वराग्यस्य	वैराग्यस्य
५६२	९	अकेलक	अचेलक
५६२	१४	गवेपक	गवेषक
५६३	१६	विशेष और	विशेष अन्तर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६४	११	किये हैं	दिये हैं
५६७	१७	प्रस्तुत	प्रत्युत
५६८	४	पालनभी	×
५६८	२३	बनाने	बनाये
५८८	३	चतुर्थ ६३ षष्ठ अनु	चतुर्थ भक्त षष्ठ भक्त
५८६	२१	सेउ	उसे
५६६	१२	तागर	सागर
५६६	१७	सत्यमजु	सत्यभक्त जो
६१६	२२	ठोरते हैं	ढोरते हैं
६१६	२३	रसानिब	रसानिध
६२१	अंतिम	मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ	मोक्षमार्गप्रकाशकपृ १६४
६५८	टिप्पण ३	बताते हैं	बनाते हैं
,,	,, ८	तय है ॥ अठपहस्या	जय है ॥ अठपहर्‌या
,,	,, ६	शहरो	शहरो मे
,,	,, ११	अठ पहस्या	अठ पहर्‌या
६६२	अन्तिम	पाषण	पोषण
६६४	१	सष	सघ·
६६४	३	आपने	अपने
६६८	१२	निकला था	निकाला था
६६६	१०-११	पजक	पूजक
६७७	११	तीर्थंकरो का	तीर्थंकर का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६७६	१७	दूसरा तर्थंकर	दूसरा तीर्थंकर
६८०	१७	१५ रत्नावली	१५ जैन निबन्ध रत्नावली
६८०	१८	चारित्र	चरित्र

नोट – ये थोडी सी गलतिया जो सरसरी तौर पर नजर आई हैं सशोधन मे वे ही दी गई हैं। प्राकृत सस्कृतादि श्लोको की तथा अनुस्वार विसर्ग, मात्रा, रेफा, कॉमा फुलस्टॉप, आदि की अन्य बहुतसी गलतियां हैं सुज्ञ पाठक ध्यान से अध्ययन करें।

—रतनलाल कटारिया



भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

हरिश चन्द्र ढोलिया
15, नवजीवन उपवन,
मोती डूंगरी रोड, जयपुर-4

मंगलम्

जयति त्रिजगद्व्याप्तमिथ्यात्वध्वान्तनाशिन ।
श्रीवर्द्धमानतीर्थेशा केवलज्ञानभास्करा ॥१॥
प्रमाणनयनिर्णीत - वस्तुतत्त्वमबाधितम् ।
हितावह समीचीनं युक्तिमज्जिनशासने ॥२॥
कालदोषादभूत्तत्राऽपसिद्धांतविवेचना ।
युक्त्यागमविरुद्धा च विपरीतक्रियापरा ॥३॥
पक्षव्यामोह–सग्रस्ता केचित् पण्डितमानिन ।
यथामत्यार्हती वाणीमाहु श्रद्दधतेऽपि च ॥४॥
अनाकलय्य सत्यार्थं सन्मार्गस्य विडम्बनाम् ।
कृत्वैके जैनजनता-मति विभ्रमयन्ति च ॥५॥
सत्यासत्य-विवेकायोद्धृत्य सूक्तिसुधारसम् ।
मिलापचन्द्र शास्त्राब्धेर्व्यंतरच्चेत्किमद्भुतम् ॥६॥
सत्पथ-प्रचलमाय किचना–ऽऽलेखि विज्ञजनसम्मतं मतम् ।
तज्जिनेन्द्रनयनिर्णिनीषवो विज्ञगोष्ठिषु विमृश्य सन्वताम् ॥७॥
शास्त्रार्थ-नवनीतेनाऽनेन नूताऽस्तु भारती ।
सतां दृग्ज्ञानचारित्रदायिनी वरदायिनी ॥८॥
मगल भगवान् वीरो, मंगल जिनभारती ।
मगल साधवो नित्य, मगल धार्मिका जना ॥९॥

● ● ●